राजकमल प्रकाशन

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ५ अङ्क १ | पूर्णाङ्क १७ | जनवरी, १९५६

वार्षिक मूल्य (?) | इस अङ्क का २)

सूची

सम्पादकीय

दायित्व और स्वातन्त्र्य : अविच्छिन्न मूल्य[1]

अन्ततः सामाजिक दायित्व का अर्थ यह नहीं है कि समाज का व्यक्ति के निर्माण के प्रति क्या दृष्टिकोण है, वरन् यह है कि व्यक्ति समाज की मूल्यगत उपलब्धियों के प्रति क्या भाव रखता है या रखना चाहता है। फिर इसलिए भी यह व्यक्ति का दायित्व है कि वह अपनी स्व प्रकृति तथा व्यक्तित्व में स्वतन्त्रता पूर्वक अपने उद्देश्य के अनुकूल निश्चय तथा निर्णय करके कार्य करने वाला प्राणी है। इसी तर्क पद्धति से यह अपने आप सिद्ध हो जाता है कि दायित्व आरोपित कर्तव्य नहीं है। हमको यह करना है, ऐसा करना ही है, वह चाहे समाज के हित के लिए ही क्यों न हो—दायित्व नहीं है, विवशता है, नियन्त्रण है। इस प्रकार सामाजिक दायित्व का अर्थ है नैतिक दायित्व, जिसके अन्तर्गत सामाजिक सापेक्षता निहित है। कहा गया है कि समाज रूप में व्यक्ति कभी परिवार के प्रति, कभी पास पड़ोस के प्रति, कभी जाति बिरादरी के प्रति, कभी धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति और कभी राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व की बात सोचता है। पर यह परिवार इसलिए है और इसी सीमा तक है कि वह हमारा है अर्थात् व्यक्ति से भिन्न उसकी स्वीकृति नहीं। इस भावात्मक अभिन्नता के बिना व्यक्ति के लिए दायित्व का निर्वाह आरोपित रह जायगा और ऐसे आरोपित दायित्व के मध्य परिवार भले ही चलता रहे पर पारिवारिकता की कल्पना असम्भव हो जायगी। यही बात समाज के प्रत्येक रूप के विषय में समान रूप से लागू है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी उपलब्धि से सामाजिक उपलब्धि को भिन्न नहीं मानता, साधारण स्तर पर अपने हितों और स्वार्थों से सामाजिक हित को अलग नहीं मान पाता। व्यक्ति की प्रगति इसीमें है कि वह सामाजिक समष्टि को गतिशील कर सके, उसका कल्याण यही है कि वह सामाजिक कल्याण में योग दान दे सके। साथ ही उसको इसका अनुभव भी न हो कि वह कुछ दे रहा है या पा रहा है, क्योंकि समाज उससे अविच्छिन्न है और वह समाज की पूर्णता है।

पुनः इस प्रश्न पर एक दूसरे दृष्टिकोण से

[1] १६वें अंक का शेष

विचार करना भी अनिवार्य है। दायित्व का सवाल व्यक्तित्व का इसीलिए है कि सामाजिक चेतना में वह सचेष्ट इकाई के रूप में उद्देश्य का आकांक्षा करने में समर्थ है। सामाजिक अर्थ में दायित्व मात्र उपलब्धि है उस मर्यादा की, जो अपने आपमें कार्य कारण की अपेक्षा स्थिति ही अधिक है। उदाहरण के लिए साहचर्य, प्रेम, सहानुभूति अथवा सौहार्द्य आदि ऐसे किसी भी दायित्व को जो सामाजिक कहा जा सकता है, वास्तव में मूल्य ही माना जाना चाहिए जो व्यक्ति की किसी अपेक्षा को अपने आपमें साधक प्रक्रिया है। जब तक दायित्व व्यक्ति के लिए समाज को देने की बात है अथवा समाज के लिए पाने की बात है, तब तक यह उसकी चेतन प्रक्रिया न होकर कार्य परिणाम के रूप में अधिक सगत जान पड़ता है। यदि व्यक्ति सहानुभूति रखना समाज के प्रति अपना दायित्व मानता है अथवा समाज व्यक्ति से सहानुभूति की माँग दायित्व रूप में करता है, तो ऐसा जान पड़ता है सहानुभूति ऐसा कृत्य है जो व्यक्ति को करना है अर्थात् वह कुछ ऐसा है जो उससे अलग है। इस प्रकार का दायित्व व्यक्ति की स्वकीय इच्छा का प्रतिफलन न होकर आरोपित कार्य की दिशा का संकेत मात्र देता है। वस्तुत सहानुभूति, प्रेम या कल्याण की भावना जब व्यक्ति का स्वभाव बन सके तभी वह उसके दायित्व का सहज रूप है। इस रूप में दायित्व उसके व्यक्तित्व की स्वतन्त्र भूमि व्यक्ति है, क्योंकि उसकी अपनी स्वीकृति है। इसका अनुभव वह अलग आरोपित वस्तु के समान नहीं करता वह तो उसकी अपनी प्रकृति, अपने स्वधर्म का अङ्ग बन जाता है।

× × ×

यहाँ से दायित्व का प्रश्न एक ऐसी सीमा निर्धारित कर लेता है, जहाँ वह व्यक्ति के व्यक्तित्व का अङ्ग नहीं बन जाता, वरन् उसके स्वातन्त्र्य की व्याख्या भी करता है। व्यक्तित्व यदि निर्माण की स्थिति है तो दायित्व उस प्रक्रिया की दिशा है। पर इस दिशा को निर्धारित कौन करेगा? इस निर्माण की प्रक्रिया का साक्षी कौन है, उसकी सापेक्षता क्या है। इन प्रश्नों का उत्तर ऊपर की धारणा में अन्तर्निहित है। इस निर्माण की प्रक्रिया की सापेक्षता निश्चय ही मानवता के रूप में जिस समाज की व्याख्या की गई है, उसीसे निर्धारित होती रही है, क्योंकि मानव मूल्यों की उपलब्धि इसका उद्देश्य है। अपनी निर्णय करने की विवेक शक्ति के कारण व्यक्ति इसका साक्षी है। परन्तु दायित्व जब स्वधर्म है, तब उसका निर्धारण 'स्व' (Person) की अपनी प्रेरणा करेगी, किसी बाह्य आधार की अपेक्षा उसे नहीं होगी। यह स्वधर्म वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के रूप में उद्भासित होगा। इस विवेक स्वातन्त्र्य से ही व्यक्ति अपनी परम्परा, अपने पक्षपातों, पूर्वग्रहों के बीच अपने दायित्व (स्वधर्म के रूप में) के वास्तविक अर्थ का ग्रहण करता है। यहाँ स्वातन्त्र्य का अर्थ है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व में अन्तर्निहित मानवीयता को (मानव मूल्यों के अर्थ में) समस्त संस्कारों से मुक्त होकर अर्थवान करता है और क्योंकि उसका व्यक्ति समस्त सामाजिक व्यक्तियों की समष्टि में ही गतिशील है, इस कारण इस स्वातन्त्र्य के अन्तर्गत अन्य सभी व्यक्तियों के स्वातन्त्र्य का भाव समाहित है। प्रत्येक व्यक्ति का स्वातन्त्र्य दूसरे के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य से इस प्रकार बाधित न होकर उसका पूरक ही सिद्ध होता है और स्वातन्त्र्य व्यक्ति के अपने स्वातन्त्र्य के साथ दूसरों की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की स्वीकृति भी है। इस प्रकार आन्तरिक स्वधर्म को अनुभूत सत्य के रूप में स्वातन्त्र्य ही उपलब्ध कराता है, इस कारण इसे मौलिक

मानवीय प्रतिमान (अर्थात् समाज के गत्यात्मक प्रतिमान) के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

इस बात को अधिक स्पष्ट रूप में सामने रखना अपेक्षित है। अनेक बार व्यक्तिवादी (Individualistic) स्वतन्त्रता और वैयक्तिक (Personel) स्वतन्त्रता को समान अर्थ में समझने का भ्रम किया जाता है।[1] पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता का विकास हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तिगत महत्त्व का आग्रह बना है। इस स्वतन्त्रता में दूसरे अनेक व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का अपहरण भी सम्मिलित था। नये प्रतिमान के रूप में स्वीकृत वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अर्थ है समाज के प्रत्येक व्यक्ति की मुक्ति। इस स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की मुक्ति में अपनी मुक्ति को पा सकेगा। ऐसे समाज में प्रत्येक व्यक्ति यह प्रयत्न करने के बजाय कि दूसरे व्यक्ति उसका मत स्वीकार करें, उसके विचार को ग्रहण करें, उसका अनुसरण करें, अथवा उसके प्रभाव में रहें, उसका प्रयत्न होगा कि प्रत्येक दूसरा व्यक्ति स्वयं स्वतन्त्र रूप से सोच समझ सके, निर्णय ले सके, और स्वयं अपना स्वधर्म निर्धारित करने में समर्थ हो सके। व्यक्ति अपने विचार में स्वतन्त्र है, उसको प्रकट करने में उस सीमा तक स्वतन्त्र रहेगा, जिस सीमा तक दूसरे की विचार करने की पद्धति को कुण्ठित न करे। पर कार्य रूप में परिणत करने के पूर्व उसे दूसरों की इच्छाओं, आकांक्षाओं, विचारों तथा मान्यताओं का समादर करना होगा, क्योंकि उसे दूसरों के व्यक्तित्व के स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठा करनी है। वस्तुतः जिस गतिशील समाज की व्याख्या की गई है, उसमें समष्टिगत भावना के साथ वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की यह निर्बाध स्थिति सहज है, क्योंकि दायित्व (स्वधर्म) के रूप में यह स्वतन्त्र मानवता का मौलिक प्रतिमान है, जिसमें विरोध की सम्भावना नहीं है। इस प्रकार दायित्व और स्वातन्त्र्य एक ही प्रक्रिया की (अथवा मूल्य की) दो स्थितियाँ मात्र हैं और उनके साथ 'वैयक्तिक' लगाना उतना ही निरर्थक है जितना 'सामाजिक', वे एक दूसरे से अविच्छिन्न मूल्य हैं।

× × ×

अन्त में साहित्यकार के दायित्व का प्रश्न आता है और इसके साथ ही उसके व्यक्तित्व तथा स्वातन्त्र्य का प्रश्न भी सन्निहित है। पूछा जा सकता है कि साहित्यकार के प्रश्न को इस प्रकार अलग क्यों रखा गया है। दायित्व के क्षेत्र में अथवा व्यक्तित्व की दृष्टि से उसका विशिष्ट महत्त्व क्या है? उसके महत्त्व के लिए तर्क देना कि साहित्य का प्रभाव क्षेत्र विस्तृत है, अधिक तर्क सगत नहीं है। इस दृष्टि से अन्य अनेक व्यक्ति हैं (धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक नेता) जो बहुत बड़े जन समाज को प्रभावित और नियन्त्रित करते हैं। पर इस प्रकार की व्यक्तिगत महत्ता के विषय में काफी

1 बर्डेव के अनुसार "व्यक्तिवाद (Individualism) एक सीमित मनोवृत्ति है जो असंस्कृत, असामाजिक, अन्ध प्रेरणाओं से या एक विशेष सामाजिक स्थिति के प्रति मानसिक प्रक्रिया के रूप में हमारे व्यक्तित्व में उद्भूत हो जाती है और हमारे अपने स्वार्थों और सीमाओं की ओर उन्मुख करती है। वैयक्तिकता (personalism) व्यक्ति का आन्तरिक धर्म है, विकासोन्मुखी सृजनात्मक वृत्ति है जो स्थायी व्यापक मानवीय मूल्यों को उनकी सम्पूर्ण पूर्णता में पहचानकर, उन्हें दायित्व के रूप में स्वीकार करके अपने व्यवहार को मर्यादित करती है।"

कहा जा चुका है। सामाजिक जीवन के अर्थ में साहित्यकार के व्यक्तित्व की समस्या व्यक्ति मात्र की समस्या से भिन्न नहीं मानी जा सकती। वह अपनी प्रकृति से ही व्यक्तिवादी महत्त्वाकांक्षा से पीड़ित नहीं होता, इस कारण उसमें शासक, अधिनायक अथवा नियंता होने की सम्भावनाएँ नहीं रहतीं। पर साथ ही उसकी स्थिति विशिष्ट अवश्य है और उसके व्यक्तित्व की यह विशेषता उसकी रचनात्मक प्रक्रिया की है। वह सामाजिक जीवन का भोक्ता है, साथ ही उसका स्रष्टा भी है और यहीं से प्रश्न एक नवीन मोड़ लेता है। इसी स्थल से उसके दायित्व की व्यंजना और उसके स्वातन्त्र्य का अर्थ किंचित् बदलता है।

कहा गया है कि व्यक्ति महत्त्वपूर्ण होकर (शक्ति, प्रभाव अथवा प्रतिभा की दृष्टि से) समस्त समाज को शासित, मर्यादित अथवा नियंत्रित करने का अधिकार चाहते हैं। वे वस्तुतः विवेक तथा संयम से हीन हो रहते हैं, क्योंकि उनके लिए विधि-विधानों का महत्त्व है, उनमें अपने मत को प्रतिपादित करने का आग्रह होता है और दूसरों को मनोनुकूल प्रेरित करने की वांछा विद्यमान रहती है परन्तु साहित्यकार अपनी रचनात्मक प्रक्रिया में इस प्रकार के पक्षपातों से सहज ही अलग रह सकता है, क्योंकि वह समस्त जीवन (मानवता) के प्रति आस्थावान है। वह अपने रचनात्मक क्षणों में यह नहीं सोचता कि उसका क्या मत है, उसका क्या पक्ष है, उसका क्या वर्ग है। वह बुद्धि से अधिक अपने आन्तरिक विवेक से जीवन को ग्रहण करता है। यदि वह अपनी आन्तरिक संवेदना से हटकर बौद्धिक स्तर पर वस्तु-स्थिति के सत्य को ग्रहण करेगा तो वह जीवन को उपलब्धि के रूप में प्राप्त न करके अपने समस्त पक्षपातों तथा पूर्वग्रहों को व्यक्त करने के लिए विवश हो जाता है। यह सर्जना की प्रकृति का सत्य है कि साहित्यकार अपने जीवन के स्थान पर दूसरों के क्षणों में जीवित रहता है। वह वस्तुतः अपनी वैयक्तिक सीमा में समस्त समाज को आत्मसात् करने की प्रक्रिया में ही साहित्य सृजन करता है।

ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति और समाज एक ही गत्यात्मक प्रक्रिया के रूप हैं, इस कारण उनकी उपलब्धियाँ एक हैं, उनके मूल्य एक हैं। साहित्यकार सामाजिक जीवन की इसी गति को ग्रहण करता है, इस कारण वह मानव के दायित्व अथवा स्वातन्त्र्य सम्बन्धी मौलिक प्रतिमान को अनिवार्यतः महत्त्व देगा। यह स्थिति उसके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि साहित्य मनुष्य के सांस्कृतिक मूल्यों की उपलब्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है। साहित्यकार उसके प्रति तभी ईमानदार रह सकता है, जब वह स्वतन्त्र विवेक अर्थात् आन्तरिक संवेदन से अपने दायित्व की जाँच करे। इस स्थिति में स्पष्टतः दायित्व (साहित्यिक) उसकी सृजनात्मक प्रक्रिया का अंग बन जायगा। आत्मोपलब्धि के बिना प्रक्रिया का अंग कुछ नहीं बन सकता, ऐसी स्थिति में साहित्यकार के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह समस्त सामाजिक दायित्व को आत्मोपलब्धि के रूप में ग्रहण करे।

वाल्मीकि, कालिदास, होमर, गेटे, शेक्सपियर, मिल्टन, तुलसी या सूर किसी को भी लें, वे अपनी अपनी सामाजिक परिस्थिति में जीवन बिताते हुए भी अपनी रचना-प्रक्रिया में अपने सीमित संस्कारों, अनुराग-विराग, ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठकर ही अपने युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों के अनुकूल मानव-हृदय को चित्रित कर सके हैं। मानव-मूल्य के इसी महत्त्व के कारण आज भी उनके साहित्य में हमारे लिए आकर्षण है। ऐसी नहीं है कि समस्त साहित्य और सारे साहित्यकार अपने

पक्षपातों और पूर्वग्रहों से मुक्त हो जाते हैं। पर धर्म, सम्प्रदाय पर लिखा गया, राजाश्रय में राजा की प्रशंसा में तथा शृंगार की नाना विधियों और उद्दीपनों पर लिखा गया और विभिन्न मतवादों के प्रचार के लिए लिखा गया साहित्य वस्तुतः साहित्य की संज्ञा का अधिकारी नहीं रहा है। इसी प्रकार कल्पना को उद्दीप्त करने वाला और व्यक्तिगत वासनाओं को उत्तेजित करने वाला साहित्य भी साहित्य के अन्तर्गत नहीं आता, क्योंकि यह समस्त साहित्य लेखक की विचार परतन्त्रता, संयमहीनता तथा स्वार्थपरता का द्योतक है और यह दूसरों को भी इसी प्रकार की प्रेरणा देता है। यह साहित्य वास्तव में साहित्य नहीं माना जाता, परन्तु हमने इस कारण इस पर विचार किया है कि अनेक विचारकों ने इस प्रसंग में अश्लीलता तथा उच्छृङ्खलता आदि के प्रश्न को उठाया है। इस प्रकार का साहित्य न तो साहित्यकार के वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का द्योतक है और न यह दूसरों की मुक्ति में किसी भी रूप में सहायक हो सकता है, क्योंकि ऐसा साहित्य व्यक्ति की कुण्ठाओं, वासनाओं तथा आवेगों को आक्रान्त करके उसे निष्क्रिय करता है। पर इस प्रकार के साहित्य के लिए सामाजिक चेतना ही सबसे बड़ा प्रतिरोध होती है।

जो साहित्य समय की कसौटी पर खरा उतरा है, या जो युग युग का साहित्य हो गया है, वह निश्चय ही लेखक की आत्मोपलब्धि का साहित्य है। इन साहित्यकारों ने अपने युग के सामाजिक जीवन को सांस्कृतिक चेतना के रूप में ग्रहण किया है। उन्होंने मात्र राजाओं का वर्णन, घटनाओं का चित्रण तथा विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन नहीं कराया है और न मात्र मतों, सम्प्रदायों तथा विश्वासों का प्रवर्तन किया है। उन्होंने युग जीवन को आत्मगत सत्य के रूप में ग्रहण किया है और अपने साहित्य को युगीन सांस्कृतिक उपलब्धियों का वाहक बनाया है। साहित्यकार की आन्तरिक सर्जना उसके वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की शर्त है और इसीके माध्यम से वह मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में समर्थ हो पाता है। इस संदर्भ में यदि हम आज के साहित्यकार के व्यक्तित्व के प्रश्न को रखें, तो निश्चय ही उसके स्वातन्त्र्य का आग्रह उसके दायित्व की माँग सिद्ध होगा। उसके इस विवेक स्वातन्त्र्य को अस्वीकार करने का अर्थ होगा कि हम उसकी आन्तरिक सर्जनशीलता को नियन्त्रित करना चाहते हैं, अर्थात् उसकी रचना प्रक्रिया को शासित करना चाहते हैं। स्पष्ट ही जिसका अर्थ है कि उसको समाप्त करने की आग्रह प्रकट करते हैं। इस स्वातन्त्र्य को दायित्वहीन, अराजक, उच्छृङ्खल तथा समाज विरोधी कहना व्यक्ति और समाज के गत्यात्मक सम्बन्ध को अस्वीकार करने के साथ साहित्यकार की रचनात्मक प्रक्रिया न समझना है।

साहित्य की सर्जन प्रक्रिया की विशिष्ट स्थिति के कारण प्रत्येक युग में यह सम्भव हो सका है कि साहित्यकार धार्मिक मतवादों, दार्शनिक चिन्तन पद्धतियों तथा राजनीतिक संघर्षों के विरोध के बीच भी सामञ्जस्य और समन्वय का मार्ग प्रशस्त करता आया है। उन सभी पिछले युगों में जिनमें व्यक्ति की सत्ता अपने व्यक्तिवादी रूप में सारे समाज को नियन्त्रित करती रही है (राजा, पुरोहित, पूँजीपति अथवा अधिनायक के रूप में), साहित्यकार ने अपने वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की रक्षा की है और सामाजिक (मानवीय) मूल्यों को गति प्रदान की है। इसका कारण यह है कि साहित्यकार का साहित्यिक सर्जन के क्षेत्र में व्यक्तिगत कुछ नहीं रहा है। साहित्य उपलब्धि के रूप में भी प्रेषणीय है, इसलिए उसके साथ समष्टि का प्रश्न चिरंतन है। साहित्यिक व्यक्तित्व और

उसका स्वात य रचना की प्रपणीयता के कारण व्यक्तिवादी होकर अपने आपको कुण्ठित ही कर लेगा। उसके लिए स्वात्न्य मात्र दायित्व की चेष्टा है और यह समाज (वगगत नहीं) का आ तरिक मर्यादा की सापेक्षता में प्रतिफलित होता है। मानवीय जीवन के अ य क्षेत्रों में जो कुछ सास्कृतिक उपलब्धियों के रूप में स्वीकृत होता रहा है, वह भी इसी आधार पर कि वह मानवीय प्रतिमानों की परम्परा को अग्रसर करने में अविरोधी तत्त्व है। उसने मानवीय मर्यादा को खण्डित न करके इतिहास के क्रम में आगे ही बढ़ाया है। मानवता को खण्डित रूप में मानने वाले धर्म, दशन और नीतियाँ हमारे सास्कृतिक विकास में बाधक हो रही हैं। पर तु साहित्य ने, निर तर मानव सस्कृति को वहन किया है, युग विशेष की उपलब्धियों को आगत युगों के लिए सुरक्षित रखा है और यह स्वात य का प्रतिमान साहित्य की रचनात्मक प्रक्रिया की आ तरिक प्रकृति से उद्भूत है।

साहित्यकार जीवन के अ दर से जीवन का साक्षात्कार करता है। वह अ य ज्ञानी विज्ञानियों के समान मानव जीवन को वस्तु नहीं मानता और विश्लेषण करके उसकी परीक्षा नहीं करता। इन अनुभूत क्षणों को वह दूसरों के लिए प्रेषणीय बनाता है। इस सवेदन और सम्प्रेषण की स्थिति में साहित्यकार का व्यक्तित्व इस सीमा तक सामाजिक रागात्मकता का अग बन जाता है कि शायद दूसरा व्यक्ति अपने किसी क्षण में कम ही उस सीमा तक पहुँच सकता है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति तथा समाज की सीमा अभिन्न हो जाती है, वह सामाजिक जीवन के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को व्यजित करता है। इस कारण यहाँ यह कहना अप्रासगिक नहीं है कि साहित्यकार का व्यक्तित्व सामान्य होकर भी, अपनी सृजनशील प्रकृति के कारण विशिष्ट है ऐसी स्थिति में उसके स्वात्न्य की आकाक्षा उसके दायित्व की सबसे बड़ी स्वीकृति है, वस्तुत यह स्वत त्रता उसके लिए सबसे महान् दायित्व है, क्योंकि उसका दायित्व किसी वर्ग, जाति अथवा राष्ट्र आदि देश कालगत स्थिर रूपों के प्रति न होकर सम्पूर्ण मानवता के प्रति है, जिसका निर्णय उसका स्वत त्र व्यक्तित्व ही कर सकता है।

ऐसी स्थिति में साहित्यकार (कलाकार) के वैयक्तिक स्वात य का प्रस्ताव मानव मूल्यों और प्रतिमानों की स्वीकृति तथा उसकी मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिए महत्त्वपूर्ण शर्त है। यहाँ यह भी समझना आवश्यक है कि यह स्वात य उसके व्यक्तिगत सामाजिक जीवन की स्वतन्त्रता से अभि न होकर भी विशिष्ट अवश्य है। पर तु साहित्यकार की रचनात्मक परिस्थिति के सम्ब ध में स्वात य का प्रश्न मौलिक (Basic) और अनिवार्य है, क्योंकि जैसा कहा गया है कि इसका सम्बन्ध साहि य की मूल प्रकृति से है। समाज का सास्कृतिक जीवन मानवीय मूल्यों की श्रेष्ठतम अनुभूतियों से सचालित और उद्दीप्त उपलब्धियों पर आधारित और विकसित होता है। साहित्य इस सास्कृतिक सचरण का समर्थ और महत्त्वपूर्ण वाहक है। अत यदि साहित्यकार मानवीय स्वाधीनता को अपनी साहित्य रचना का मौलिक प्रतिमान स्वीकार करता है तो यह उसकी रचना प्रक्रिया (Creative Process) के मुक्त होने की स्वीकृति के साथ अपने गम्भीर दायित्व के प्रति जागरूक होने की घोषणा भी है। इस प्रकार उसके लिए दायि व और स्वात्न्य अविच्छिन्न मूल्य हैं, एक का भाव दूसरे में आ जाता है, एक में ही दूसरे की स्वीकृति हो जाती है।

रमाशंकर तिवारी

साधारणीकरण का नवीन स्तर

काव्य जीवन और जगत् से 'मार्मिक छवियों' का संकलन करता है। सत्य या सौन्दर्य की जो झलक कवि को प्राप्त होती है, उसे वह अखिल लोक में विकीर्ण कर देने के लिए छटपटाने लगता है। उसकी अनुभूतियाँ, उसकी कामनाएँ और अभिलाषाएँ उसे इतनी प्यारी होती हैं कि वह उन्हें छिपाकर रखने में असमर्थ हो जाता है। कृपण की तरह वह उनके प्रति एक गाढ़ी ममता रखता है, किन्तु कर्ण की तरह वह उन्हें विश्व में बिखेर देना भी चाहता है। बात यह है कि वह अपनी 'व्यक्तिगत' संकीर्ण सीमाओं का अतिक्रमण करके अपनी अनुभूतियों एवं प्रतीतियों के लिए लोक मान्यता चाहता है। अभिव्यक्ति में उसे अपनी अस्मिता की तृप्ति होती है और वह 'व्यक्ति' से 'विश्व' बन जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जिस मार्मिक छवि का चित्रण कवि करता है, वह भावक अथवा सहृदय को कैसे प्रभावित करती है, और स्वयं उसका दृष्टिकोण क्या रहता है? दूसरे प्रश्न का उत्तर अत्यन्त स्पष्ट है—कवि ने सौन्दर्य अथवा सत्य का साक्षात्कार किया है 'व्यक्ति' के रूप में, किन्तु वह उसे दूसरों तक पहुँचाना चाहता है 'मानव प्रतिनिधि' के रूप में। उसकी समस्त कला, उसका समग्र शिल्प विधान इसी चरम लक्ष्य की सिद्धि के निमित्त नियोजित होता है कि *उसकी अनुभूतियाँ व्यक्ति का सम्बन्ध विसर्जन करके सामान्य मनुष्यता की सम्पत्ति बन जायँ।* कवि के इस दृष्टिकोण से प्रथम प्रश्न का उत्तर भी प्राप्त हो जाता है—काव्य चित्र, अपने विशिष्ट वैयक्तिक सम्बन्धों से समन्वित होते हुए भी, भावक के ऊपर पड़ने वाले प्रभाव में सार्वजनीन स्वरूप ग्रहण कर लेता है। मनोवैज्ञानिक तथ्य भी यही है कि जो वस्तु दूसरे की है, जिससे हम कोई सम्बन्ध सरोकार नहीं उसका गहरा प्रभाव हमारे ऊपर क्योंकर पड़ सकता है? कवि द्वारा अंकित चित्र हमें इसीलिए आकर्षित करता है कि उसमें हम कुछ अपनी वस्तु पाते हैं, अपनी ममता का कोई आलम्बन पाते हैं। सभी सहृदय व्यक्ति उस चित्र में अपनी अपनी अन्तरात्माओं का अनुरणन लाभ करते हैं। वे भूल जाते हैं कि *वह संगीत किसी अन्य* के हृदय से सम्भूत है, तथा उन्हें यही अनुभव होता है कि वह तान उनकी अपनी ही अन्तर्वीणा की झंकार है। अतएव, जब सभी सहृदय कवि द्वारा चित्रित मनोरम मूर्ति पर अपने निजी

सिद्ध अविकार की भावना से अनुप्राणित होते हैं, तब उसकी वैयक्तिकता का विसर्जन हो जाता है और वह सामान्य सहृदय मात्र की सम्पत्ति बन जाती है। अभिनव गुप्त के "सकलसहृदयसंवाद भाजा" में इसी सत्य की स्वीकृति विद्यमान है। उस भाव मूर्ति की विश्वजनीन ममता प्राप्त करने की सामर्थ्य ही, शास्त्रीय शब्दावली में, 'साधारणीकरण' की शक्ति है।

वस्तुतः आचार्यों ने जब आश्रय एवं आलम्बन के साधारणीकृत होने का सिद्धान्त निरूपित किया, तब उनके समक्ष, समीक्षा के लिए केवल ऐसे काव्य उपस्थित थे जिनमें वर्णित चरित्र आसानी से मनुष्य जाति के प्रतिनिधि हो सकते थे। उनमें ऐसे मोटे, स्थूल गुणों की प्रतिष्ठा हुई रहती थी कि वे 'व्यक्ति' न होकर 'टाइप' ही अधिक होते थे। उनके प्रेम में और घृणा में, हास्य में एवं रुदन में, कहीं कोई उलझन नहीं रहती थी। फलतः सभी प्रेमी प्रेमिकाओं अथवा नायक नायिकाओं को एक ही मापदण्ड से एक ही कसौटी पर रखकर, नापा जा सकता था। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की गहराई के अभाव में, न तो कवि और न भावक ही, ऐसे चित्रों अथवा चरित्रों की कल्पना कर सकते थे, जो सामान्य की सीमाओं को लाँघकर, कुछ जटिल अथवा अपरिचित से लगें। अतएव, सब स्वीकृत ढाँचे में ढले होने के कारण, काव्यगत पात्र अथवा चरित्र अधिकांशतः सामान्य ही होते थे। जिन काव्यों में आदर्श पात्रों की सृष्टि होती थी उनमें आपाततः कुछ असाधारणता दृष्टिगोचर हो सकती थी लेकिन वहाँ भी ऐसे ही गुणों की अतिरंजना पूर्ण प्रतिष्ठा कवि का लक्ष्य होता था जो सामान्य मानवता की ममता के भाजन होते थे। इस प्रकार काव्य वर्णित विभावादिकों का साधारणीकरण मानने में पुराने आचार्यों को कोई मानसिक उलझन नहीं हो सकती थी। यदि सीता या शकुन्तला में सामान्य कामिनीत्व, और राम या दुष्यन्त में सामान्य प्रेमात्व की कल्पना की गई तो इसमें क्या आपत्ति उठाई जा सकती थी? आचार्यों ने विभावादि के साथ स्थायी भाव का भी साधारणीकरण स्वीकृत किया। वस्तुतः जब भाव निर्व्यक्तिक हो गया हो तो उस भाव को धारण करने वाला व्यक्ति अथवा पात्र अपना वैयक्तिकता क्योंकर बनाए रख सकता है? भावों में विशिष्टता होने से ही व्यक्तित्व में विशिष्टता आ सकती है। 'व्यक्तित्व' को 'व्यक्ति' से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव व्यक्तित्व के साधारणीकृत हो जाने पर व्यक्ति का भी साधारणीकरण सम्पन्न हो जायगा। परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने विभावादि के साधारणीकरण के साथ ही, भावक का आश्रय के साथ तादात्म्य ('अभेद') मानकर प्रश्न को थोड़ा उलझा दिया है। साधारणीकरण का अभिप्राय यह नहीं है कि आश्रय के साथ पाठक या प्रेक्षक सदैव आत्मीयता का अनुभव करे। प्रेम के मधुर प्रसंगों में तो यह सम्भव हो सकता है, लेकिन अप्रिय आश्रय अथवा कटु भाव के प्रसंग में उसकी सम्भावना नहीं हो सकती। पुनः, जहाँ आश्रय मनुष्य न होकर कोई इतर प्राणी होगा, वहाँ आश्रय के साथ भावक के तादात्म्य स्थापन की बात असंगत प्रतीत होगी। 'शाकुन्तलम्' में भयग्रस्त हरिण का जो चित्र दिया गया है, उसमें हरिण के साथ पाठक का तादात्म्य क्या अर्थ रख सकता है? भट्टनायक और अभिनव गुप्त ने आश्रय के साथ अभेद का कोई उल्लेख नहीं किया। अतएव, आश्रय के साथ भावक का तादात्म्य अनेक कारणों से सर्वदा सम्पन्न नहीं हो सकता। तथापि, इस तादात्म्य के अभाव में भी कुछ ऐसे विभावादिकों का साधारणीकरण सम्पन्न हो सकेगा जो सामान्य मनुष्यता अथवा उसके किसी एक अंग विशेष या समुदाय विशेष के प्रतीक रूप में कल्पित एवं

चित्रित किये गए हैं। आश्रय के साथ तादात्म्य की तर्कना का सहारा लेकर ही, कतिपय आधुनिक विद्वानों ने आश्रय के साधारणीकरण की मान्यता का प्रत्याख्यान किया है[१] जो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। मेरी समझ में, साधारणीकरण के मूल में विभावों की प्रातिनिधिक प्रकृति की स्वीकृति ही सन्निहित थी। उनकी देश कालादि की सीमाओं के अतिक्रमण की कल्पना का संकेत इसी ओर था। वास्तव में, यह साधारणीकरण तभी सम्पन्न नहीं होगा जब काव्य वर्णित विभावादि जटिल एवं असाधारण ढंग के रहेंगे। अतएव, इसीके आधार पर, विभावादिकों का साधारणीकरण नहीं माना जाय तो यह उचित ही कहा जाना चाहिए, क्योंकि रचयिता ऐसी होनी चाहिए जो सभी परिस्थितियों में ग्राह्य हो।

आलम्बन का साधारणीकरण भी उपर्युक्त तर्कनाओं के आलोक में बाधित हो जाता है। कथा काव्यों के अतिरिक्त, किसी आत्मनिष्ठ, प्रगीतात्मक अथवा प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करने वाली आधुनिक रचना पर विचार करने से बात अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'दिनकर' की प्रसिद्ध कविता 'हिमालय' हमारी अनेक स्मृतियों को उद्बुद्ध करती है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उससे सभी समानरूपेण उत्तुङ्ग पर्वतमालाओं का भाव हमारे हृदय में उदित हो जाता है, अथवा यह कि विश्व के वैसे ही गगनचुम्बी गिरिशिखर हममें वैसी ही चेतनाएँ जाग्रत करने में समर्थ हो सकेंगे। इसी प्रकार अँगरेजी कवि कीट्स की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना 'ओड टु दि नाइटेंगेल' को लीजिए। उसमें उस बुलबुल के मधुर एवं तीखे स्वर के आलम्बन से कवि के अन्तर में जो विषादमयी भावनाएँ प्रादुर्भूत हुई हैं, वे क्या सभी समय, सभी परिस्थितियों में, सभी बुलबुलों के स्वर को सुनने से पैदा हो सकती थीं? स्पष्ट है कि यहाँ उस बुलबुल का साधारणीकरण कोई अर्थ नहीं रखता। जैसा ऊपर कहा गया है, सर्व सामान्य ढाँचे में ढले होने के कारण शकुन्तला इत्यादि साधारण कामिनी के रूप में प्रतिभासित हो सकती हैं, किन्तु आधुनिक काल में जैसे चरित्रों की कुतूहलमूलक सृष्टि हुई है या हो रही है, उनका साधारणीकरण कठिन ज्ञात होता है। उदाहरण के लिए, हार्डी के उपन्यासों के नारी पात्रों को लीजिए। ये नारियाँ या तो अनेक से प्रेम करती हैं या अनेक द्वारा प्रेम की भाजन बनाई जाती हैं, या अनेक को प्रवंचित एवं प्रतारित कर, किसी एक से, और बाद को दूसरे से, विवाह कर लेती हैं। इन नारियों को साधारणीकृत स्त्रियों के रूप में क्योंकर समझा जा सकता है, क्योंकि अन्ततोगत्वा सामाजिक का मानस ही तो साधारणीकरण सम्पन्न करता है? इन कठिनाइयों से बचने के लिए आचार्य शुक्ल की यह तर्कना साधारणतः स्वीकार्य प्रतीत होती है कि काव्य का अनुशीलन करते समय 'कल्पना' में मूर्ति तो विशेष की ही होगी, पर वह मूर्ति ऐसी होगी जो प्रस्तुत भाव का आलम्बन हो सके, जो उसी भाव को पाठक या श्रोता के मन में भी जगा सके जिसकी व्यंजना आश्रय अथवा कवि करता है। इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है—तात्पर्य यह कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं'—इसका तात्पर्य यही है कि रसमग्न पाठक के

१ डॉ० नगेन्द्र 'रीतिकाव्य की भूमिका', पृ० ४४-४० ।

मन में यह भेद भाव नहीं रहता कि आलम्बन मेरा है या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है। उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।[1] डॉ० नगेन्द्र का यह कथन कि 'शुक्ल जी का आशय आलम्बन का साधारणीकरण है,'[2] युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। शुक्ल जी उसी प्रसंग में आगे कहते हैं "साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं।" अर्थात्, सभी सहृदयों में प्रस्तुत आलम्बन के प्रति लगभग एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया ('रेसपान्स') का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात्, सहृदयों की मानसिक प्रतिक्रियाएँ साधारणीभूत होती हैं, उनकी चित्त वृत्तियों का साधारणीकरण होता है। शुक्ल जी के निरूपण की दुर्बलता वस्तुतः है, "आलम्बनत्व धर्म" का भी साधारणीकरण, अर्थात् आलम्बन में लोक सामान्य धर्मों की स्थापना मानना जिससे ही—वे सोचते प्रतीत होते हैं—सभी भावकों के मानस पर लगभग समान प्रभाव पड़ सकेगा। लेकिन, आलम्बन में असामान्य एवं असाधारण धर्मों की प्रतिष्ठा होने पर भी, भावकों में समान प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न हो सकती हैं यदि उनमें काव्यानुशीलन के द्वारा अभ्यास के कारण 'तन्मयीभवनयोग्यता' का विकास हो गया हो।

अब तक हमने देखा है कि आश्रय तथा आलम्बन का साधारणीकरण अप्रतिहत सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतएव, कवि की अनुभूति तथा भावक के स्थायी भाव का साधारणीकरण ही अब विवेचनीय ठहरता है।

किसी भी काव्य कथित प्रसंग में दो प्रकार के चित्रों का प्रतिष्ठान होता है। पहला चित्र 'स्थूल' होता है जिसकी प्रतीति कवि द्वारा नियोजित शब्द विन्यास के सहारे होती है। नाटक में नटों की वेश भूषा इत्यादि से भी इसी स्थूल चित्र के प्रकाशित या चित्रित होने में सहायता मिलती है। लेकिन, कवि का वास्तविक अभीष्ट वह 'भाव चित्र' हुआ करता है जिसकी संवेदनीयता के हेतु उसकी समस्त कला अपेक्षित रहती है। यह भाव मूर्ति ही साधारणीकरण की अपेक्षा रखती है तथा इस प्रक्रिया में कवि एवं सहृदय, दोनों ही परस्पर सहयोग करते हैं। भारतेन्दु कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' में श्मशान भूमि में पुत्र मरण के शोक से अभिभूत होकर विलाप करने वाली शैव्या पर विचार कीजिए। शैव्या को मर्मस्पर्शी अश्रु बहाते हम देखते हैं। प्रथमतः प्रसंग का स्थूल चित्र, अपने व्यक्तिगत भौतिक आवेष्टन के साथ, हमारी कल्पना में या नेत्रों के समक्ष, उतर आता है। हम शैव्या की वास्तविक परिस्थिति से अभिज्ञता प्राप्त करते हैं। कवि अपनी कला निपुणता से, अपनी कुशल शिल्प योजना से, ऐसी स्थिति प्रस्तुत कर देता है कि विलाप करने वाली शैव्या का अत्यन्त मर्म-द्रावक चित्र सामाजिक के मानस में अंकित हो जाता है। अभी तक हम 'स्थूल चित्र' को ही, उसकी समग्र पूर्णता के साथ, हृदयंगम कर चुके हैं। रंगमंच पर अभिनय की मात्रा अग्रसर है। कुमारी धीरे धीरे उत्पन्न हो रहा है और चित्र की स्थूलता क्रमशः सहृदय प्रेक्षक के मानस से कपूर की नाईं उड़ती जा रही है। कुछ समय के पश्चात् कवि की अभीप्सित भाव मूर्ति, आध्यात्मिक या मानसिक सूक्ष्मता से आवेष्टित होकर हमारी अन्तरात्मा को अभिभूत कर लेती है। उसी क्षण हममें उस "स्नेहानुभूति" का आविर्भाव होता है जब हम भूल जाते हैं कि शैव्या की वेदना, शैव्या

---

१ 'रस मीमांसा', पृ० ३१२ १४।

२ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ४८।

की अपनी निजी वेदना है। उस समय हमारे अन्तःकरण का वासनात्मक वेदना भाव वैसे ही फूट पड़ता है जैसे मृतिका पात्र में जल स्पर्श से उसकी अव्यक्त गंध अथवा परशु के आघात से चन्दन वृक्ष का नैसर्गिक सौरभ। इसी 'स्टेज' पर कवि का 'सवेदन' अथवा अनुभूति (क्योंकि श्रोता को रुलाने के पहले कवि स्वयं रो चुका है।) सामाजिक की संस्कारगत अनुभूति को अति शीघ्रतापूर्वक उद्दीप्त करती है। इसका फल यह होता है कि वह भी मर्म व्यथा के आँसू बहाने लग जाता है, श्रोता की वेदना उसकी वेदना बन जाती है तथा अन्त में, उसकी व्यथा विश्व अन्तरात्मा विश्वात्मा के साथ मिल जाती है, 'एकरस हो जाती है'—अर्थात्, उसकी व्यथा का विस्तार हो जाता है, साधारणीकरण (Universalisation) हो जाता है। तदनन्तर यदि कोई विघ्न नहीं हुआ तो उस 'मूड' में अपेक्षित घनत्व का उदय हो जाता है और सामाजिक रसोद्रेक की चर्वणा में तल्लीन हो जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि कवि की अनुभूति भावक की अनुभूति के साथ, दूध चीनी की तरह मिल जाती है और इस अनिर्वचनीय भाव माया का जनन करती है जिसमें कवि भी, 'व्यक्ति' की परिधियों का अतिक्रमण करके, मनुष्य-मात्र का प्रतिनिधि हो जाता है। ऐसी दशा में कवि की अनुभूतियों का भी साधारणीकरण सम्पन्न होता है। पहले हमने कहा है कि कवि को, अपनी अनुभूतियों की विज्ञप्ति करने में अपने 'अहं' अथवा 'अस्मिता' के प्रसार का स्वर्ण-संयोग मिलता है। आदिकवि वाल्मीकि के अन्तःकरण पर कामासक्त क्रौंच के निर्मम वध से जो गहरा आघात पहुँचा, उससे उनका समग्र संवेदनात्मक अस्तित्व ही हिल उठा। उस समय जो मर्मस्पर्शी अनुभूति उनकी अन्तरात्मा में आविर्भूत हुई, वह "मा निषाद ... " के वाङ्‌निर्झर से निखिल विश्व में विज्ञापित कर दी गई—अब वह निष्करुण कृत्य केवल महर्षि की आत्मा द्वारा ही अभिशप्त नहीं हुआ, प्रत्युत समस्त विश्व के अन्तःकरण की भर्त्सना का भाजन बना। अतएव, कवि की भावनाओं को सार्वजनीन बनाना प्रत्येक कला कृति का मूल उद्देश्य हुआ करता है अथच उसकी अनुभूतियों की सान्द्रता एवं सचाई के संघर्ष में आकर, भावक के वासनामूलक भाव स्रोत, उचित कला की योजना से, प्रस्फुटित हो जाते हैं। अतएव, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि और भावक, दोनों की अनुभूतियों का साधारणीकरण होता है। अथात् और आगे बढ़कर, हमें यह कहना चाहिए कि किसी 'व्यक्ति' या 'सत्ता' का नहीं, अपितु 'भाव तत्त्व' का साधारणीकरण घटित होता है जिसमें कवि एवं सहृदय, दोनों बराबरी के साझेदार होते हैं।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि काव्य चित्रित भाव मात्र जगत् के परम प्रिय एवं सर्वसाधारण गृहीत भाव ही नहीं होते, यद्यपि यह सच है कि ऐसे भावों का साधारणीकरण अधिक आसानी से हो सकता है। काव्य को लोक हित से समन्वित करने के कारण शुक्ल जी ने "लोक सामान्य भाव भूमि" का उल्लेख किया है। मेरा विचार है कि यह 'लोकसामान्यता' उतनी ही दूर तक स्वीकार की जानी चाहिए जितने से काव्य की सम्प्रेषणीयता को बल मिलता है तथा उसमें घोर, उद्दाम वैयक्तिकता के निर्बाध विकास की सम्भावना नियंत्रित होती है। वर्ड्सवर्थ ने सर्व साधारण में व्याप्त राग विरागों (Joys in the widest commonality spread) के चित्रण की संस्तुति की है। इससे शुक्ल जी की 'लोक सामान्य भावभूमि' को अनुमोदन मिलता है। तथापि, यह समझ लेना कि कवि की सम्पूर्ण अनुभूतियाँ इस भाव भूमि तक पहुँच जायँगी, भ्रान्तिपूर्ण होगा। काव्य वस्तुतः हमें अपने क्षुद्र स्वार्थों एवं सकीर्ण प्रयोजनों

की परिधि से बाहर ले जाता है। [illegible] की सामान्य दिनचर्या में हम 'स्व' से बहुत ऊपर नहीं उठ पाते। हमारे समस्त कार्य कलाप, हमारी समस्त चिंतन धारा, हमारा सत्य, हमारा सौंदर्य, हमारा शिव, सभी प्रयोजन सापेक्ष होते हैं। सामान्य जीवन की कुण्ठाओं से विमुक्त करने का मंगलमय अनुष्ठान कवि द्वारा सम्पन्न होता है। उस समय वह उच्चतर सत्य, श्रेष्ठतर सौंदर्य और गम्भीरतर शिव का हमें दर्शन कराता है। जितनी योग्यता एवं प्रभविष्णुता के साथ वह उस लोकोत्तर सृष्टि का उन्मीलन करता है, उसी परिमाण में वह अपने व्यक्तित्व की सीमाओं को लाँघकर विश्वात्मा से तादात्म्य स्थापित करने में सफल होता है। काव्य हमें इसी प्रयोजनातीत सौंदर्य एवं सत्य की अनुभूति कराता है। इसी अर्थ में काव्य विश्वजनीन बनता है और इसी अर्थ में काव्य के भाव तत्त्व का साधारणीकरण मानना उचित होगा। 'कामायनी' की दार्शनिक भाव भूमि लोक सामान्यता की परिधि में नहीं आ सकती वह स्वयं का। 'इमॉर्टलिटी ओड', शेली का 'स्काइलार्क' तथा 'क्लिम्बिंग' और छायावादी कवियों की अनेक रचनाएँ लोक सामान्य भाव भूमि का अनुमोदन प्राप्त नहीं कर सकतीं। गेटे का 'फॉस्ट' तथा दाँते की 'डिवाइन कॉमेडी' लोक सामान्य के धरातल पर नहीं घसीटे जा सकते। फिर भी, यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी भावभूमियों का साधारणीकरण नहीं होता। एक सुदीर्घ काल तक इन रचनाओं को जो सम्मान मिलता आया है, उसका रहस्य इस बात के अतिरिक्त और क्या हो सकता है कि इनमें काव्यानुरागियों ने अपनी ममता के लिए कोई न कोई अवलम्बन प्राप्त किया है? यह दूसरी बात है कि सामान्य पाठकों के बीच ये काव्य बहुत लोकप्रिय न हों। साधारणीकरण के लिए परमावश्यक यह है कि काव्यगत भावों में यथेष्ट संचार, गहराई एवं ज्वलनशीलता रहे तथा उनकी अभिव्यंजना भी मर्मस्पर्शी रहे जिससे हमारे अनुरूप वासनात्मक भाव स्रोत सफलतापूर्वक उद्वेलित हो सकें। यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि केवल कवि की अनुभूतियों का साधारणीकरण मानना एकांगी स्थापना कही जायगी, क्योंकि सहृदता के सहयोग के बिना काव्य के आस्वादित होने की कल्पना की ही नहीं जा सकती। इसलिए, अभिनव गुप्त ने कवि एवं प्रमाता, दोनों के अनुभवों के साधारणीकरण का निरूपण किया है।

उपर्युक्त स्थापना से एक महत्त्व का निष्कर्ष यह निकलता है कि कवि के साथ भावक का तादात्म्य होना चाहिए— (स्मरण रहे कि कवि के साथ तादात्म्य का अर्थ सर्वदा यह नहीं होगा कि काव्य वर्णित आश्रय के साथ भी हमारा तादात्म्य हो।) जब कवि और सहृदय, दोनों की अनुभूतियाँ या वासनात्मक भावनाएँ, साधारणीकृत अवस्था में, एक दूसरे में लय हो जाती हैं, तब यह मानने में कोई संकोच अथवा बाधा नहीं होगी कि कवि और भावक, दोनों का पूर्ण तादात्म्य रसानुभूति के स्तर पर सम्पन्न हो जाता है। इस दृष्टि से पाश्चात्य पण्डित भी साधारणीकरण के अनुमोदन के अत्यंत निकट पहुँच जाते हैं। Einfuhlung अथवा Empathy का सिद्धांत इस स्वीकृति का निरूपण है कि भावक अपनी स्वतन्त्र सत्ता का विस्मरण करके काव्यगत वस्तु, चित्र अथवा चरित्र से (अपनी मानसिक प्रवृत्तियों का प्रक्षेपण करके ही सही) पूर्ण तादात्म्य उपलब्ध कर लेता है।[1] क्रोचे ने भी यह माना है कि काव्य के रसास्वादन में कवि तथा भावक, दोनों के अलौकिक व्यक्तित्व मिल जाते हैं और वे दोनों एक

[1] 'Empathy connotes the state of the reader or spectator who has lost for a while his personal self-consciousness and is identifying himself with some character in the story or screen — A. E. Mander

ही बन जाते हैं ।[1] अपने लौकिक (Empirical) व्यक्तित्व में वे व्यक्तिगत प्रयोजनों की परिधि को अतिक्रमित करने में असमर्थ होते हैं । किन्तु, अपने सहज या आदर्श (Spontaneous or ideal) रूप में उनकी चित्तभूमियों का एकतान मिलन हो जाता है जहाँ वे विश्वात्मा से अभिन्नता प्राप्त कर लेते हैं । यही अवस्था साधारणीकरण की अभीष्ट दशा है ।

वर्तमान कविता में बौद्धिकता के विस्फोट से दाहक होकर अनेक विद्वानों को साधारणीकरण के सामर्थ्य में संदेह होने लगा है। लेकिन, यह ध्यान में रखने की वस्तु है कि प्रत्येक 'विचार' के साथ कोई न कोई 'रागात्मक प्रसंग' अवश्य संलग्न रहता है तथा उस विचार से अभिज्ञ होने पर सम्बद्ध 'भाव क्षेत्र' निश्चय ही जाग्रत हो जाता है ।[2] अतएव, बौद्धिकता का कितना ही अनिश्चयतापूर्ण पल्लवन कविता में क्यों न हो, यदि वह कविता की परिधि में परिगणित होने योग्य होगी, तो उसमें कोई 'भावमूर्ति' अवश्य छिपी होगी, वही सहृदय पाठक को आकृष्ट करेगी और उसीके माध्यम से कवि एवं प्रमाता, दोनों की अनुभूतियों का साधारणीकरण सम्भव न होगा। सम्भव है, सम्प्रति हम रसास्वाद की 'वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यता' में विश्वास न करें, किन्तु वह दूसरी बात होगी। हाँ, यहाँ पर यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रयोगवादी कुछ कविताओं का साधारणीकरण कदाचित् कभी सम्भव न हो सके क्योंकि ऐसे कवि छंद के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सौंदर्य अथवा भाव के क्षेत्र में भी अनर्गल प्रयोग करने के लिए लालायित हो उठते हैं। निम्न पंक्तियों का 'सत्य' अथवा 'सौंदर्य' निश्चय ही कवि की व्यक्तिगत सम्पत्ति मात्र रह जायगा।

(१) "निरन्तर धँसती हुई छत, ग्राद में निर्वेद
मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा नतग्रीव
धैर्य धन गदहा।"

(२) 'सरग था ऊपर,
नीचे पाताल था।"
अपच के मारे बहुत बुरा हाल था,
दिल दिमाग भुस का, खद्दर का ख्याल था।"

मानो कवि काव्य के चिराचरित कोमल, उदात्त एवं शालीन व्यवहार से ऊब गया है अथवा उस धरातल तक उठने की अपनी अभ्यान्तरिक अक्षमता का अनुभव करके नीचे के तल देश में ही अपना मनबहलाव कर रहा है। अर्थात्, वह स्वयं नहीं चाहता कि उसकी धारणाएँ सार्वजनीन स्वीकृति प्राप्त करें। व्यक्तित्व के एक विशिष्ट स्तर पर ही, सात्विकता के एक विशिष्ट उद्रेक के फलस्वरूप ही कवि उस स्पृहणीय 'मधुमती भूमिका' को उपलब्ध कर सकता है।

---

१ 'In order to Judge Dante, we must raise ourselvs to his level Let it be understood that *empirically neither we are Dante nor Dante we* but in the moment of Judgement and Contemplation, our spirit is one with that of the poet and in that moment we and he are one single thing' —B Croce

२ 'Poetry will, therefore, be words which do communicate a 'thought and the 'emotional field' which it excites, from the mind of the poet to the mind of the reader — J Middleton Murry

लक्ष्मीकान्त वर्मा

प्रयोग, प्रगति और परम्परा

नई कविता को लेकर इधर जो कुछ भी विभिन्न आलोचकों द्वारा कहा सुना गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश धारणाएं कविता के अन्तःसौन्दर्य एवं उसकी मार्मिक संवेदनाओं पर आधारित नहीं की जातीं वरन् नई कविता को केवल बाह्यारोपित मतवाद के कटघरे में बन्द करने का प्रयास किया जाता है। इन सबका परिणाम यह है कि आज जहाँ और प्रकार की आलोचनाएँ नई कविता के सम्बन्ध में प्रस्तुत की जाती हैं वहाँ। शेष रूप से इस बात पर बल दिया जाता है कि नई कविता प्रयोगशील है इसलिए न तो वह प्रगतिशील हो सकती है और न ही परम्परा का अनुसरण ही करती है। काव्य के गुण दोष, और दायित्व निर्वाह पर विचार विमर्श न करके सारा विवाद 'प्रयोगवाद', 'प्रगतिवाद' और 'परम्परावाद' पर ही केन्द्रित कर दिया जाता है और जब कोई भी आलोचक रूढ़िवाद में किसी भी मतवाद को स्वीकारता है, चाहे वह प्रयोगवाद हो, प्रगतिवाद हो अथवा परम्परावाद हो, तो वह सदैव विषय वस्तु का मूल्यांकन न करके अपने पूर्वग्रहों की रक्षा को ही अपना ध्येय मान बैठता है। कहीं कहीं यह सारा विवाद अनर्गल प्रलाप की सीमा तक ही रह जाता है, क्योंकि सिवा इसके कि पूर्वग्रहों के कारण वह असन्तुलित, असंगत और अनुचित रूप में काव्य और उसके प्रतिमानों को विवेचित करें और दूसरा रचनात्मक दृष्टिकोण न तो वह स्वयं मान पाते हैं और न ही उसके विकास में विश्वास ही प्रदर्शित कर पाते हैं। फलस्वरूप आज यह आवश्यकता अधिक संगत मालूम पड़ती है कि प्रयोग, प्रगति और परम्परा की वास्तविक मर्यादा को गलत प्रकार के पूर्वग्रहों से पृथक् करके सोचा जाय, उसका मूल्यांकन किया जाय, और उनके विश्लेषण के आधार पर वह सारा सब कुछ, जो असंगत और असंतुलित धारणा के रूप में आज प्रतिपादित किया जा रहा है उसका वास्तविक रूप जाना और समझा जाय।

प्रत्येक नई प्रवृत्ति से चौंककर जो कुछ भी प्रगति और परम्परा के नाम पर कहा जाता है उसमें केवल उन सड़े हुए तीखे अंशों की झलक मात्र प्रदर्शित होती है जो समय के विकास के साथ विकसित नहीं हो सके हैं और इसलिए निर्जीव प्रेत से केवल आतंक फैलाने में सक्रिय हैं। यदि प्रगतिवाद केवल गति की लकीर पीटकर आज की नई प्रवृत्ति को गलत सिद्ध करना चाहता है तो परम्परा का अनुयायी उस गति के विकास में अनावश्यक रूढ़ियों की इतनी दुहाई देता है कि इतिहास, सभ्यता, संस्कृति और मानवता के समस्त विकासशील तत्त्व कुण्ठित हो जाते हैं और इतनी विषम पंगु स्थिति का भास होने लगता है कि उसके बाद न तो प्रगति ही सम्भव है और न प्रयोग। लेकिन इस सारी स्थिति का जीवन्त मजाक यह है कि प्रगति और परम्परा जैसे दो विरोधी तत्त्व एक साथ मिलकर प्रयोग पर आक्रमण करने लगते हैं। प्रगतिवाद आधुनिक

प्रयोग को इसलिए भी बुरा कहता है क्योंकि प्रयोग में सहानुभूति की सशक्त स्वीकृति है और यह स्वीकृति भी ऐसी कि जिसमें दलगत अथवा सम्प्रदायवादी मान्यताओं के विरोध में नये बिन्दुओं को विकसित करने की सम्भावना निहित है। परम्परावादी इसलिए प्रयोग का विरोध करता है क्योंकि उसकी स्थिति ठीक उस योग्य पिता के अयोग्य पुत्र के समान बन जाती है जो अपनी अकर्मण्यता के कारण पैतृक सम्पत्ति की रक्षा ही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य मान बैठा है, उसके पास अपना कुछ नहीं है, वह जीना चाहता है केवल उस पूँजी पर जो कि पूर्वजों ने अपनी मानसिक एवं आत्मिक अनुभूतियों के आधार पर एकत्र की है। संकीर्ण प्रगतिवादी भी परम्परा की दुहाई महज जनमत को अपने वश में करने के लिए देता है। उसका मोह या उसका आकर्षण किसी के प्रति नहीं है। विशेषतया अपनी सांस्कृतिक थाती के प्रति तो है ही नहीं। तुलसी से लेकर पंत तक में वह वर्गचेतना से आक्रान्त पलायनवादी साहित्य की परम्परा सिद्ध कर सकता है बशर्ते कि सम्प्रदायवादी दल उसको ऐसा करने की छूट दे और जब यह छूट मिली है तब उसने ऐसा किया भी है।

जहाँ तक परम्परावादियों का प्रश्न है वह भी यह महत्त्व तर्क के नहीं रखता जो उसे अपने पूर्वजों से मिली है इसलिए वह केवल आँख बन्द करके शब्द बंध पर अग्रसर होना चाहता है। परम्परा की रक्षा पर जोर देने वाले परम्परा की वृद्धि के प्रति विश्वास नहीं रखते। वह केवल उसकी रक्षा से सन्तुष्ट हो लेते हैं, क्योंकि उस सम्पत्ति के आधार पर आगे बढ़ने की शक्ति उनके पास नहीं है। इसलिए योग्य पिता के निकम्मे पुत्र की तरह वह अपने पूर्वजों के पुराने यश को सस्ते दामों गिरवी रखकर अपनी लाज ढकने का प्रयास करता है।

लेकिन इन प्रगतिवादी और परम्परावादी आलोचकों से भिन्न एक तीसरा वर्ग भी है जो नई प्रवृत्ति को स्वीकार करने में सर्वथा नया ढंग अपनाता है। इस वर्ग की स्थिति अजीब है। वह प्रयोग अथवा नई प्रवृत्ति की खुलकर भर्त्सना भी नहीं करता लेकिन वह उसे स्वीकार करता हो ऐसा भी नहीं है।[1] अतिवादी परम्परावादी के समान वह परम्परा का पूर्ण समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाता है। प्रगतिवादी वह इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि वह स्वयं अन्तर्मन में प्रयोग से प्रभावित है, प्रयोग का समर्थन वह इसलिए नहीं करता क्योंकि उसमें इसका दृढ़ विश्वास नहीं है। यह वर्ग इसलिए तटवर्ती नगर के नागरिक की भाँति नदी की गति देखता है, बाढ़ में खतरे के बिन्दु पर आँख गड़ाये तट से दोनों का रस लेता है, उनका भी जो अभियान के क्षणों में हर लहर के साथ नये प्रतिमान स्थापित कर रहे हैं, साथ ही उनका भी जो नदी में दूध डाली का तर्पण देकर पितरों को सन्तुष्ट करने के नाम पर हिंसक पशुओं को पिंडदान खिला रहे हैं। यह वर्ग बहुत ही निर्लिप्त होकर वस्तुस्थिति पर पैंतरे बदलता है, लेकिन हर पैंतरे के बाद अनुभव करता है कि वह कहीं किसी दिशा में एक सूत भी नहीं बढ़ा है, जहाँ था वहीं है, यह बात और है कि परिस्थिति बदल गई है, मूल्यों और दृष्टिकोणों में परिवर्तन आ गया है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है—

---

1 देखिए, 'नयी कविता का भविष्य' गिरजा कुमार माथुर आलोचना।
देखिए, 'नयी कविता मूल्यांकन' बालकृष्ण राव आलोचना।
देखिए, 'प्रयोगवादी कवि एक चेतावनी' डा० देवराज 'नयी कविता' २।

नहीं है वह अन्तमन और अन्तश्चेतन में विचारों की विद्रोहमयी परम्परा का प्रतिनिधित्व भी करती है। प्रयोग प्रगति की दृष्टि से परिचालित होता है। यदि प्रगति की भावना न हो, आगे बढ़ने की चेष्टा न हो, तो प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। प्रयोग तो विचारों की नवीन क्रियाशीलता की सजग अभिव्यक्ति है। सजग, प्रबुद्ध और व्यक्तिगत अनुभूति की ईमानदारी में विश्वास रखने के नाते ही वह तथाकथित प्रगतिवाद से भिन्न है, क्योंकि प्रगतिवाद में सजगता कला अथवा कलाकार की चेतना की नहीं होती वह शास्त्रीय होती है, उसकी प्रबुद्ध सत्ता विचार स्वातन्त्र्य से अंकुरित नहीं होती वरन् दलगत स्वार्थ से परिचालित होती है, उसमें व्यक्ति अनुभूति का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वह एक निर्धारित समाजवाद की चेतना के फ्रेम में बंधी हुई स्वतन्त्रता होती है। फ्रेम के भीतर, उसके वृत्त में जितनी चीजें आती हैं वे स्वीकार की जाती हैं, उस फ्रेम के बाहर की चीज उनके लिए अस्पृश्य है। यही कारण है कि प्रयोगवाद की प्रगति आस्था में और तथाकथित प्रगतिवाद में एक स्वाभाविक विरोधाभास दिखलाई पड़ता है। जो भी कला विशेषज्ञ किसी भी कला कृति में कलाकार की इस मूल मन स्थिति पर बाह्यारोपित मतवाद को देखने की चेष्टा करता है वह निश्चय ही प्रयोग की प्रगति निष्ठा से प्रभावित नहीं होगा क्योंकि वास्तविक प्रगति और प्रगतिवाद में उतना ही अन्तर है जितना कि किसी भी कला की तात्विकानुभूति में और उसके ऊपर लादे हुए रूप और शिल्प के आडम्बर में। प्रयोग की प्रगति, कलाकार की अनुभूति की प्रगति से परिचालित होने के नाते सौन्दर्य बोध के स्तरों में मानव प्रज्ञा को सन्तुलित करने की क्षमता रखती है। यह सन्तुलन बाह्यारोपित न होकर आत्म नियन्त्रित ही होगा, इसीलिए ऐसे मतवादी जो साहित्य की प्रगति को उपज और खपत के सैद्धान्तिक मानदण्डों से देखने की चेष्टा करते हैं वे निश्चय ही अन्यथा आरोप लगाकर किसी अन्य मन्तव्य को सिद्ध करने की इच्छा रखते हैं। प्रयोग में अन्तमन की संवेदनशीलता उपजेगी, उसमें ईमानदारी होगी और तभी वह ग्राह्य हो सकेगा। किसी भी साहित्य में किस सीमा तक गति देने की शक्ति है, किस सीमा पर जाकर वह मात्र भार में बदल जाने के कारण अनूदित भारस्थित है, इसका भी पता इस प्रयोग प्रगति और परम्परा के स्पष्ट दृष्टिकोण से ही लगेगा। प्रयोग का आधार दृष्टि की नवीनता है (Navvision)। जिस भी कला कृति में यह नवीनता नहीं है, अथवा जिसमें घुटन है, अथवा जो केवल उपदेशक की गाथा है, वह ललित साहित्य तो हो ही नहीं सकता, और चाहे जो हो।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्रयोग पूर्वग्रहों से अधिक अनुभूति और रागात्मक अनुभव में विश्वास करता है और कला में इस रागात्मकता की गहराई सिवा कलाकार के कोई दूसरा नहीं दे सकता क्योंकि रागात्मक बोध में व्यक्तित्व की ऊँचाई ही दृष्टि प्रदान कर सकती है। उस अनुभव के क्षण को कोई भी उपदेशक कलाकार के लिए नहीं अनुभव कर सकता इसलिए वह कोई भी बाह्य आरोप लेकर उसकी अनुभूति को अच्छा या बुरा कहने का अधिकारी भी नहीं हो सकता। रागात्मक बोध व्यक्तिगत अनुभव होने के नाते परम्परा से भी उतना ही

Truth gains more even by errors of one who with due study and preparation thinks for himself than by the true opinions of those who only hold them because they do not suffer themselves to think

—John Stuart Mill

भिन्न हो सकता है जितना कि किसी भी पूर्वनिर्धारित मतवाद से। इसीलिए प्रयोग, उस आत्म सत्य की प्रतिष्ठा का हेतु है वह स्वयं पूर्ति नहीं है। वह मात्र शिल्प सज्जा भी नहीं है, वह देश काल के वातावरण से उत्पन्न हुआ प्रयोग है। इसी कारण से यह कहना उचित होगा कि प्रयोग केवल चमत्कार की अनुभूति नहीं है, इसमें युग का ध्येय लक्षित हुआ है। इसमें देश काल से सम्बंधित जीवन की, व्यापक मानव जीवन की ग्रहणशीलता का प्रयास मिलता है, क्योंकि

जीवन है कुछ इतना विराट् इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह, सबका महत्व
ओ मेजों[१] की कोरों पर माथा रख रखकर रोने वाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ, यह सबका है

हर एक दर्द को नये अर्थ तक जाने दो
(ठण्डा लोहा पृ० ६१)

३

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रगति अपनी वस्तुस्थिति में प्रयोग की सहज मनोवृत्ति है जो प्रयोग से अलग नहीं की जा सकती, लेकिन प्रगतिवाद प्रयोग की प्रतिक्रिया है, जो अनावश्यक हासोन्मुख प्रवृत्ति का परिचय देता है। जहाँ कहीं भी विचार धारा में, मूल्यों में और मर्यादाओं में विकास होगा वहाँ प्रयोग[१] में यह विकासशील तत्व व्यक्त होगा। प्रयोग साहित्यिक अभिरुचि और विकास का मुख्य अंग है।

लेकिन तथा कथित प्रगतिवाद प्रयोग को असामाजिक घोषित करके उसको उद्देश्यहीन सिद्ध करना चाहता है। मूलत: ऊपर की व्याख्या के बाद वह स्वयं विरोधाभास का भागी बन जाता है, क्योंकि सत् साहित्य जहाँ प्रयोग के माध्यम को शक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए अपनाता है वहीं वह उस भाव स्तर को भी व्यक्त करना चाहता है जिसमें साहित्यिक दायित्व के साथ सामाजिक दायित्व भी निहित है। किन्तु प्रयोग के माध्यम से व्यक्त सामाजिक दायित्व में और तथाकथित प्रगतिवाद द्वारा व्यक्त सामाजिक दायित्व में एक महान् अन्तर है। वह यह कि प्रयोग में यह दायित्व कलाकार के व्यक्तित्व से उभरकर व्यक्त होता है जब कि प्रगति के माध्यम से वही सत्य खण्डित व्यक्तित्व के माध्यम से व्यक्त होने के नाते स्थायी एवं ग्राह्य नहीं हो पाता। ऐसा होने का भी एक कारण है। प्रयोग में व्यापक मानव का विराट् रूप व्यक्त होता है, खण्डित सामाजिक सत्य नहीं, क्योंकि प्रयोग कला को प्रचार का यन्त्र नहीं मानता वरन् उसे वह व्यापक मानव की करुणा और पीड़ा को आत्मसात् करने का माध्यम मानता है। जब साहित्यिक स्तर पर सामाजिक दायित्व की बात आती है तो प्रयोग उस समस्त चेतना को केवल सीमित परिधि में बाँधकर रखने में अपने को असमर्थ पाता है। वह मानवात्मा की मूल समस्या को अंकित करने के साथ एक वर्ग विशेष की बात नहीं कर

१ Style consists in adding to a given thought all the circumstances calculated to produce the whole effect that the thought ought to produce
J Middleton Murray

पाता। उसके लिए समस्त मानव समाज ही अपना है। उसकी विराट् सम्भावनाओं के प्रति वह अपनी वैयक्तिक अनुभूति को किसी भी साम्प्रदायिक अनुभूति से अधिक स्पष्ट और ईमानदार पाता है क्योंकि वह व्यक्ति अनुभूति और बाह्य स्थिति के बीच सीधा और अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करके रचना करता है। सत्य को दूसरों की आँखों से देखना प्रगतिवाद की अपनी विशेषता है, उसके पास अपनी दृष्टि नहीं है इसीलिए उसके माध्यम से ऊँचे ऊँचे नारे भले ही सुनने को मिलें, उसमें उसका व्यक्ति कहीं भी नहीं है। सम्प्रदायवाद का आधार मानव व्यक्ति नहीं बनता बल्कि सामूहिक मतवाद उसका आधार सहज रूप में ही बन जाता है। यही कारण है कि कोई भी सामूहिक व्यवस्था कला और साहित्य के क्षेत्र में, समस्त जीवन के उपकरणों में अन्वेषण और आत्मसात् को प्रश्रय देने में असमर्थ रहती है, क्योंकि "मानव की समूह चेतना" की यह व्यवस्था केवल निर्धारित वस्तुस्थिति को नियन्त्रित रूप में देखने के लिए बाध्य करती है, केवल उतनी ही सीमा तक ज्ञान वृद्धि की सीमा मानती है जहाँ तक जाना जा चुका है अथवा जो सामूहिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक मतवाद जानने की आज्ञा देता है। इसके विपरीत आत्मविश्वासी कलाकार जानी हुई सचित बातों को साभार ग्रहण करते हुए उसके आगे बढ़ने की चेष्टा में प्रयोगशील होना पसन्द करता है। वह नये खतरे पैदा करता है, पुरानी धारणाएँ तोड़ता है, नई धारणाएँ बनाता है क्योंकि वह सजग है, सचेत है और जीवन्त रुचियों से ओत प्रोत है।[1]

अस्तु, प्रगतिवाद और प्रयोग में संघर्ष है 'सामूहिक मानव' और 'व्यक्ति मानव' का। 'सम्प्रदायवादी मतवाद' का और 'सगुण सचेत मानव प्रतिमा' का। जो व्यापक मानवता की अपेक्षा समूह में विश्वास करता है वह यथार्थ को आत्मसात् नहीं कर सकता है। इसीलिए समूहवादी चेतना मानवीय व्यापकता को अपना ही नहीं सकती और 'समूह' अधिनायकवाद, फासिस्टवाद को विकसित करता है, स्वतन्त्र सचेत मानववाद को व्यापक आस्था स्पष्ट करती है। 'समूह' व्यापकता में विश्वास ही नहीं कर सकता और जो व्यापकता में विश्वास रखता है वह निश्चय ही समूह की बँधी हुई सीमा से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। तथाकथित प्रगतिवाद समूह की सकीर्णता के साथ सम्बद्ध है जिसमें न तो व्यक्ति का महत्त्व है, न व्यापकता का। इसके विपरीत आज की नई कविता अथवा नया प्रयोग व्यापक मानवता के प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में विश्वास रखता है—उसकी संवेदना की कोई सीमित परिधि नहीं है। वह उसे व्यापक मनुष्य परम्परा से ग्रहण करता है और व्यापक मानव सम्भावनाओं को प्रतिक्षण सौंपता चलता है। प्रगतिवाद समूह की प्रशासित ध्वनि होने के नाते आत्महीन, विवेक रहित समूह सत्ता को स्वीकृति है। प्रयोग इस प्रकार की मान्यता के विरोध में ही जन्म ले सकता है। किन्तु वह व्यापकता के प्रति आस्थावान है क्योंकि उस व्यापकता में ही वह अपनी और व्यक्ति की मर्यादा की रक्षा कर सकता है, अपने स्वातन्त्र्य को अर्थ दे सकता है।

1　इसी बात को टामस मैन ने एक स्थान पर बड़े सुन्दर ढंग से कहा है　My writings are full of all vices abhored by communism such as formalism, psychologism Scepticism a weakness for truth For love of truth is a weakness according to any absolutist partisan　I have not much faith nor much faith in faith　I put more faith in goodness which can exist without faith and may indeed be the product of doubt

आज जिस मोड़ पर साहित्यिक विचारों की अन्तर्दृष्टि पहुँचती है वह यह स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देती है कि किसी भी कथित स्वप्न (Utopiam dream) के लिए आज मनुष्य घुट घुटकर मर जाय, यह सगत नहीं है। मार्क्सवाद की परिणति इधर जिस रूप में तथाकथित प्रगतिवाद में व्यक्त हो रही है उसमें एक नया स्वर फूटता दीख रहा है और वह यह कि आज की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को समूह को समर्पित कर दो, कल व्यापक निष्ठा की रचना के लिए यह आवश्यक है। यहीं वह सन्देह होता है कि जिसका सकेत पिछले तीस वर्ष के इतिहास में मिलता है। यही तर्क फासिस्टों का भी था। यही तर्क कम्यूनिज्म का भी है। व्यापक दृष्टिकोण 'समूह' की सकीर्णता से पनपेगा यह केवल भ्रम है और इसीलिए यह नरमेध यज्ञ वाछनीय नहीं प्रतीत होता।

प्रगति का वास्तविक अर्थ मानव की विकासशील प्रवृत्ति में निहित है। इसीलिए प्रगति की वास्तविक मर्यादा मनुष्य की 'आन्तरिक' मर्यादा है।[1] यह 'आन्तरिक' मर्यादा बाह्यारोपित मतवाद के आधार पर नहीं विकसित हो सकती। उसके लिए कला की मूल आस्था के प्रति विश्वास विकसित करना पड़ेगा। किसी भी पैम्फलेट में और किसी भी साहित्यिक कृति में बाहरी और आन्तरिक वहाँ उन दोनों की विकास प्रक्रिया में भी एक मौलिक भेद है। व्यक्ति की, समाज की, मानवता की मर्यादा के अतिरिक्त एक कला की स्वत विकसित मर्यादा भी है जो साहित्य और उपदेश में, प्रगति और प्रयोग में, रूढि और परम्परा में एक निर्यन्त्रित विवेक पैदा करती है। कलाकार की रचनानुभूति और उसकी आत्मग्राहता ही किसी भी कृति को केवल प्लैटिट्यूड की सीमा तक लाकर छोड़ सकती अथवा उसे व्यापक रूप दे सकती है। प्रगतिवाद इस रचनानुभूति में विश्वास नहीं करता, प्रयोग इस रचनानुभूति की ईमानदारी में विश्वास करके चलता है। प्रयोग की आधारभूत भावना रचनानुभूति की प्रेरणा में प्रश्रय पाने के कारण कला को सजीव और नवीन शक्ति प्रदान करने में समर्थ होती है इसीलिए यह वाद से मुक्त है, प्रयोग करते हुए भी वह प्रयोग के तथाकथित वाद से भी मुक्त है, क्योंकि उसका वास्तविक सत्य आत्म सत्य है जो हर वाद विवाद से ऊँचा है।

प्रगतिवाद आत्म सत्य को स्वीकार नहीं करता वह बाह्य सत्य को ही सर्वस्व मानता है किन्तु जैसा कि स्पष्ट है कोई भी बाह्य सत्य निरपेक्ष हो ही नहीं सकता इसलिए प्रगतिवाद की मूल धारणा को कला कृति की अपेक्षा बाह्य दर्शन, सम्प्रदायवाद एव नारों का माध्यम स्वीकार करना पड़ता है। प्रगतिवाद जिस बाह्य सत्य अथवा वस्तु सत्य की चर्चा करता है वास्तव में वह असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक बाह्य सत्य व्यक्ति से रागात्मक सम्बन्ध रखे बिना प्रभावित ही नहीं कर सकता, रचना की प्रेरणा दे ही नहीं सकता। जो लोग इस सम्बन्ध की वास्तविकता नहीं

1 'साहित्य की नई मर्यादा'—डा० धर्मवीर भारती, आलोचना ११।

1 "निरे तथ्य और सत्य में, यह कह लीजिये वस्तु सत्य और व्यक्ति सत्य में यह भेद है कि सत्य वह तथ्य है जिसके साथ हमारा रागात्मक सम्बन्ध है। बिना इस सम्बन्ध के वह एक बाह्य वास्तविकता है जो तद्वत् काव्य में स्थान नहीं पा सकती। लेकिन जैसे जैसे बाह्य वास्तविकता बदलती है वैसे वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी बदलती हैं और अगर नहीं बदलतीं तो उस बाह्य वास्तविकता से हमारा सम्बन्ध टूट जाता है।
—अज्ञेय 'तार सप्तक' २।

समझ पाते, उसकी अनिवार्यता नहीं मानते, वे साहित्य के मर्म को भी नहीं समझ पाते। वे तो और भी नहीं समझ सकते जो इन रागात्मक सम्बन्धों के परिवर्तन में विश्वास नहीं रखते, क्योंकि वे स्वयं विकास नहीं कर पाते, देश काल की सीमाओं को समझ नहीं पाते। इस दृष्टि से प्रयोग इसलिए बाह्य सत्य और व्यक्ति चेतना के एकाकार होने की प्रक्रिया है, जो सत्य और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध को एक सापेक्ष मूल्य प्रदान करता है। यही कारण है कि प्रयोग केवल उस रागात्मक सम्बन्ध को अभिव्यक्ति देने का साधन है, लक्ष्य नहीं।

प्रगतिवाद और प्रयोग के विषय में एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है वह यह कि प्रगतिवाद एक विशेष राजनीतिक मतवाद का लक्ष्यपूर्ण आन्दोलन है जिसका सम्बन्ध साहित्यिक मानदण्ड से निर्धारित नहीं होता वरन् राजनीतिक परिस्थितियों और आवश्यकताओं द्वारा सचालित होता है। उनका सामाजिक दायित्व भी उन्हीं राजनीतिक मन्तव्यों से प्रकाशित होता रहता है और इसलिए उसके विधान का बहुत बड़ा अंश साहित्यकारों द्वारा निर्धारित न होकर दलगत राजनीतिक व्यक्तियों द्वारा सचालित होता है। जीवन का यथार्थ अंकन भी इसलिए अनेक दाँव पेच के साथ साहित्य में व्यक्त किया जाता है। उसका अधिकांश उस बाह्य सत्ता के मार्ग प्रदर्शन का फल है जो साहित्यिक रुचि से अनभिज्ञ और अपरिचित है। इसका उचित प्रदर्शन हमें स्वयं प्रगतिवाद के विभिन्न मतों द्वारा समय समय पर होता रहा है। इस सकीर्ण मनोवृत्ति के कारण ही प्रगतिवाद आज के व्यापक यथार्थ को वहन करने में असमर्थ है।

प्रयोग या नई काव्य प्रवृत्ति आज के जीवन के यथार्थ को स्वीकार करती है और यही एक अनिवार्यता है जो इसे आज के यथार्थ को चित्रित करने की शक्ति देती है। क्लासिक या रोमांटिक भाव धारा इसे नहीं वहन कर सकती, क्योंकि उसके शिल्प विधान और व्यवधान में कसे हुए घेरे में आज का यथार्थ आ नहीं पाता। आज की जीवन अनुभूति की व्यापकता और उसका आत्म सत्य न तो क्लासिक विधान की रूढ़ियों में व्यक्त हो सकते हैं और न रोमांटिक कोमलता पर ठहर सकते हैं वह न तो छायावाद की कोमल पदावली के अनुकूल है और न ही वह 'भारत भारती' की शैली में लिखी जा सकता है। इसलिए प्रयोग आज का फैशन नहीं है, वह वर्तमान जीवन की अनिवार्यता है। जो इस अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता वह कला सृजन की मूलभूत वैज्ञानिक क्षमता को भी स्वीकार नहीं करता और न आधुनिक मानव सवेदना को स्वीकृति दे पाता है।

२

यह तो हुई प्रगति और प्रयोग की बात। इसीमें सम्बन्धित प्रयोग और परम्परा का भी विषय है जिसको लेकर मनमाने ढंग के राग अलापे जाते हैं। प्रयोग की हेयता को सिद्ध करने के लिए जैसे प्रगतिवाद प्रगति की दुहाई देता है वैसे ही प्रयोग को असफल सिद्ध करने के लिए रूढ़िवादी परम्परा की दुहाई देता है और यह भूल जाता है कि प्रयोग की प्रेरणा परम्परा में ही निहित रहती है[1] यदि कोई परम्परा विकास की अपेक्षा स्थिरता, प्रयोगहीनता

[1] No poet no artist has his complete meaning alone His significance his appreciation is the appreciation of his relations to the dead poets and

को प्रश्रय देता है तो वह परम्परा तो नहीं ही हो सकती और चाहे जो हो। वस्तुत प्रयोग प्रगतिनिष्ठ होने के नाते परम्परा के सशक्त स्वरों को स्वीकार करके नई सम्भावनाएँ अंकित करता है। प्रत्येक प्रयोग कालान्तर में परम्परा बन जाता है इसलिए जिस परम्परा में आगे प्रयोग, करने की प्रेरणा निहित नहीं होती वह उतनी ही निरर्थक होती है जितना कि वह प्रयोग जो नई परम्पराएँ स्थापित करने में असमर्थ होता है। प्रयोग और परम्परा में यही अनिवार्य सम्बन्ध है। आज का प्रयोग आने वाले युग की परम्परा निर्धारित करेगा, ऐसी परम्परा, जिसमें ठहराव नहीं होगा, गति होगी और जिसकी गतिशीलता ही नये प्रयोगों को प्रेरणा देगी।

परम्परा और रीति की रूढ़ि भी प्रयोग के विरोध में प्रस्तुत की जाती है और बहुधा रीतिवादी प्रवृत्ति को परम्परा का नाम देकर गाया जाता है। प्रयोग अथवा नई काव्य प्रवृत्ति इस रीतिवादी परम्परा को स्वीकार करने में असमर्थ है। काव्य किसी निश्चित फार्मूले द्वारा नहीं लिखा जाता। काव्यानुभूति में विविधता का एक महत्त्व है, सत्य को अनेक दृष्टियों से देखने की सम्भावना है। यह सम्भावना व्यक्तिगत विवेक द्वारा ही विकसित होती है। जैसे प्रगतिवाद बाह्यारोपित मतवाद के माध्यम से काव्य गुण को निर्देशित नहीं कर सकता वैसे ही रीतिवादी परम्परा कलाकार की सृजन शक्ति को किन्हीं विशिष्ट सिद्धान्तों में नहीं बाँध सकता। जब तक काव्य का सम्बन्ध जीवन और उसकी व्यापकता से रहेगा तब तक काव्य प्रतिभा इन सीमाओं तक नहीं रह सकती, वह पुरानी सीमाएँ तोड़ेगी, नई बनायगी, नई से भी आगे नई सम्भावनाओं की ओर विकसित होगी, क्योंकि मानव प्रज्ञा सतत नई अनुभूतियों से अनुप्राणित होती रहती है। जीवन का प्रत्येक क्षण उसे नई अनुभूति देता है, नई प्रेरणा शक्ति देता है, नया स्वर, नये लय और नये प्रतिबिम्ब, प्रतीक, शब्द और रचना शक्ति का ओज उसमें विकसित होता रहता है इसलिए प्रतिभा सम्पन्न कलाकार इस परम्परा को रूढ़िवादी व्यंजना को कभी ग्रहण ही नहीं कर सकता। वह सदैव नये जीवन सत्यों को विकसित प्रवृत्ति की ओर उत्सुक होगा।

तथाकथित परम्परावादी बहुधा प्रयोग पर यह भी आरोप लगाते हैं कि आधुनिक प्रयोग में कोई दार्शनिक तत्त्व नहीं है। एक सीमा तक यह आरोप निरर्थक है और कुछ सीमा तक यह सही है। गलत इसलिए है क्योंकि काव्य का गुण है कुछ संचित भावों को प्रधान रूप में उसके भावलय के साथ व्यक्त करना। तुलसीदास या सूरदास की कविता पहले काव्य है, बाद में वह उनके जीवन दर्शन का माध्यम। प्रत्येक काव्य कृति का मुख्यतः काव्य होना चाहिए और यदि वह मुख्यतः काव्य है तो उसमें निश्चय ही कवि का सौंदर्य बोध, उसका दृष्टिकोण, उसका व्यक्तिगत जीवन दर्शन भी उसमें होगा ही। आज का यथार्थ किसी यूटोपिया की अपेक्षा नहीं रखता। उसे विशिष्ट मतवादी दार्शनिक प्रचार की भी आवश्यकता नहीं है। यदि आज का कवि अनास्थावादी है और वह अपनी अनास्था को भी सचल ढंग से व्यक्त करता है तो वह भी दार्शनिक हो सकता है। लेकिन उसका दार्शनिक होना भी काव्यगत प्रक्रिया के बाहर की वस्तु नहीं है। दर्शन और काव्य में मौलिक अन्तर है। दर्शन वस्तुतः वस्तुपरक व्याख्या का निष्कर्ष है। कविता आत्मपरक अनुभूति की रागात्मक अभिव्यञ्जना है। जो काव्य रचना

artists that the poet should be altered by the present as much as the present is directed by the past

T S Eliot Sacred Wood

यार्थात्मक होगी उसका काव्य गुण नष्ट हो जायगा। जिसमें आत्मपरक अनुभूति होगी वह प्रभावपूर्ण कला बन जायगी। दर्शन को काव्य में प्रतिपादित करने के लिए प्रयास करना निरर्थक है। जितना दर्शन कवि के व्यक्तित्व से छनकर उसकी कृति में आता है, काव्य में उतना ही ग्राह्य है। यदि ऐसा नहीं होगा तो एक कविता (Mannerism) "रीति के चंगुल में मर जायगी। न तो उसमें प्रेषणीयता होगी, न काव्य विशेषता। वह केवल विद्रूप रचना बनकर रह जायगी।

फिर भी प्रश्न यह उठ सकता है परम्परा की ग्राह्यता का मानदण्ड क्या है? वस्तुत परम्परा की ग्राह्यता का मानदण्ड मात्र यह है कि वह प्रगति में बाधक न बने, उसकी सहज विकासशील प्रवृत्ति को उत्तरोत्तर विकसित होने दे। परम्परा का उतना ही अंश महत्वपूर्ण है जो हमें संस्कार देता है और वह संस्कार भी ऐसा, जिसमें उदारता हो जो समूचे व्यक्तित्व में उदात्त चेतना समाहित करने के साथ आत्मपरक पृथकत्व को बनाये रहे। बहुधा लोग आज के समूचे साहित्य की नई प्रवृत्ति को यह कहकर तिरस्कृत करने की चेष्टा करते हैं कि उसमें पन्त, प्रसाद, प्रेमचन्द[1] का परम्परा का निर्वाह नहीं है। समझ में नहीं आता कि इन आचार्यों का मन्तव्य क्या है? पंत, प्रसाद, प्रेमचन्द ने भी रूढ़ियों को तोड़ा था और तब सहसा एक नई प्रवृत्ति को वह विकसित कर सके थे। यदि ऐसा न होता तो पंत, प्रसाद, महादेवी केवल 'भारत भारती' का नवीन संस्करण लिखते, प्रेमचन्द 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की बाईसवीं पीढ़ी की गाथा लिखते और देवकीनन्दन खत्री की निर्जीव परम्परा के सिरहाने बैठकर फातिहा पढ़ते होते। फिर जब प्रेमचन्द या पंत, निराला, प्रसाद, महादेवी ने अपने पूर्व की परम्परा को छोड़कर नया मार्ग अपनाया तो वह मात्र इसलिए कि उस परम्परा में उस देश काल के यथार्थ को वहन करने की क्षमता नहीं थी। ऐसी स्थिति में यदि आज का लेखक या कवि कलाकार आज के यथार्थ के अनुकूल नये प्रयोग करता है, नई व्यंजना देता है तो कहाँ परम्परा को तोड़ता है या उसे सशक्त नहीं बनाता है?

४

आज की नई कविता इन दृष्टियों से कई प्रकार की स्थितियों से गुजर रही है। परम्परा का उचित दायित्व जिस प्रकार नई कविता ने स्वीकार किया है उससे कुछ लोगों को अनावश्यक उत्तेजना मिली है और वह इसको ह्रासोन्मुख भी घोषित करना अपना कर्तव्य समझते हैं। दूसरे वर्ग के लोग आचार्यों के मतों और नई कविता के उदरणों में साम्य स्थापित करना चाहते हैं, तीसरा वर्ग उनका है जो आज का यथार्थ जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करने में आज की कविता में दृष्टि का अभाव पाते हैं।[2] पता नहीं ऐसे लोग नई कविता के प्रयोगों को किस प्रकार देखते हैं। दृष्टि से प्रधान कविता दृष्टि की सार्थकता इसी सीमा तक स्वीकार कर सकती है कि स्वतः कविता का भावस्तर उसे दृष्टि प्रदान करे। कुछ शाश्वत साहित्य के समर्थक आधुनिक प्रयोगों में शाश्वतता की कमी पाते हैं किन्तु इस दिशा में हम इतना ही कहना

१ 'परिमल' द्वारा आयोजित गोष्ठी में नन्ददुलारे वाजपेयी का उद्घाटन भाषण।

२ 'साम्प्रतिक प्रयोगवाद की तीन मुख्य कमियाँ हैं, कविगण नई दृष्टि द्वारा नूतनता उत्पन्न न कर सिर्फ शब्दों और अलंकारों द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं।'

(नयी कविता, संख्या २ पृष्ठ ८)

है कि

हमें किसी अजरता का मोह नहीं
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें
उसकी विविक्त अद्वितीयता
आपको किमपि को, क, ख, ग को
अपनी सी पहचनवा सके
रसमय करके दिखा सके
शाश्वत हमारे लिए वही है
अजर अमर है
वेदित व अक्षर है

एक क्षण क्षण में प्रवाहमान
व्याप्त सम्पूर्णता।
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो
पिया था अगस्त्य ने[1]

अर्थात् वे आलोचक जो नयी कविता के प्रयोग को आज के यथार्थ, अनुभूति क्षण की मार्मिक गवेषणा से मुक्त करके देखते हैं वे उस शाश्वत परम्परा की दुहाई देते हैं जिसमें उनकी समस्त रूढ़िवादी मन स्थितियाँ प्रश्रय पाती हैं। वे यह नहीं समझते कि शाश्वत यह क्षण भी हो सकता है, यह अनुभूति भी हो सकती है जिसे हम उस समय उस क्षण से सम्बद्ध होकर भोगते हैं।

नई कविता का प्रयोग अनास्था से नहीं व्यक्त हुआ है। जो लोग यह समझते हैं कि आज के कवि के व्यक्तित्व में कमी है या अभाव है या इसमें अनुकरण या पारस्परिक होड है, उनकी धारणा मिथ्या है। यह कहना भी उतना ही गलत है कि प्रथम सप्तक के प्रयोगों के बाद नई कविता ने कोई प्रगति नहीं की है। वस्तुतः प्रथम सप्तक के प्रायः सभी कवि संशय, द्विविधा और अनास्था मत के कवि हैं। अज्ञेय को छोड़कर प्रथम सप्तक में आज की भाँति स्पष्ट कवि शायद ही दूसरा हो। प्रभाकर माचवे की यह कविता देखिए
लक्ष्यहीन संदिग्धता का स्वर

"मुझे कौन दे संजीवन ? दिल का प्याला कब से खाली है
शून्य दिशायें, आधी लपटें, मैं हूँ, यह था की प्याली है"[2]

आतंक एवं भयग्रस्त व्यक्तित्व का रूप

जबकि अन्दर खोखलापन कीट सा
है सतत घर कर रहा आराम से,

1 अज्ञेय नयी कविता २।
२ माचवे।

क्यों न जीवन का बृहत् अश्वत्थ यह
ढह चले तूफ़ान के ही नाम से[1]

× × ×

परम्परा को तोड़ने के पूर्व ही नये पथ के प्रति अविश्वास

कौन सा पथ है ?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही यों पुकारा

अन्तरात्मा अनिश्चय संशय ग्रसित
क्रांतिगति अनुसरण योग्य है न पद सामर्थ्य
कौन सा पथ है[2]

× × ×

पराजित मनोभावनाओं से आक्रान्त काव्य प्रतिमा किसी कोष्ठ में बन्द होकर कहती है

मार्ग दर्शक बोल दो
हो रही है पुतलियाँ धुँधली अनवरत चेष्टा से
देखने की
जो कि माना व्यंग्य से
उपहास से
निर्मम
सरकता जा रहा है[3]

× × ×

उपर्युक्त पंक्तियाँ उस समय के प्रगतिवादी कवियों की हैं जिनमें अविश्वास, पथ की अस्पष्टता आदि का बड़ा ही सफल और स्वाभाविक मिश्रण है। यह अविश्वास उस समय के प्रगतिवादी जीवन का एक अंश था। जो लोग यह कहते हैं कि प्रगतिवाद या प्रथम सप्तक के कवियों में जीवन दृष्टि और व्यापकता अधिक थी वे शायद इन कवियों की मार्मिक संवेदना को समझने में असमर्थ रहे हैं। इसके विपरीत दूसरे सप्तक के कवियों में यह संशय, यह संभ्रम और यह अविश्वास इस मात्रा में नहीं मिलेगा

इस पुरानी ज़िन्दगी की जेल में
जन्म लेता है नया मन

जल रहीं प्राचीनताएँ बाँध छाती पर मरण का एक क्षण
इस अँधेरे की पुरानी ओढ़नी को ओढ़कर
आ रही ऊपर नये युग की किरण[4]

---

१ मुक्तिबोध।
२ भारत भूषण अग्रवाल।
३ नेमिचन्द्र जैन।
४ हरिनारायण व्यास।

मैं, तुम, यह, वह
मन के चारों कोने
और व्यक्ति की यह सीमाएँ
कब टूटेंगी ?
जब तुम होगी मुझसे दूर
यह भी अपना
वह भी अपना
होगा
मैं अपने वश में हाऊँगा
तब तथास्तु[1]

× × ×

प्रलय से निराशा तुझे हो गई
इसी ध्वंस से मूर्छिता हो कहीं
पड़ी हो नयी जिन्दगी, क्या पता ?
सृजन की थकन भूल जा देवता !
क्या हुआ दुनिया अगर मरघट बनी
अभी मेरी आखिरी आवाज बाकी है
लो तुम्हें मैं फिर नया विश्वास देती हूँ
नया इतिहास देती हूँ ।
कौन कहता है कि कविता मर गई ।[2]

जैसा कि स्पष्ट है दूसरे सप्तक के कवियों में निश्चय ही प्रथम सप्तक के कवियों से अधिक आत्मविश्वास, आस्था और आशा है। ये कवि प्रथम सप्तक के कवियों की भाँति पथ के संशय में डूबे नहीं हैं, उन्होंने अपना पथ बना लिया है। ये यदि चाहेंगे तो उस नये पथ का संगठन अवश्य होगा। जहाँ प्रथम सप्तक के कवियों की भाषा, भाव भूमि उनके विकास के प्रति आस्था विकसित कर रही है वहीं प्रथम सप्तक के कवियों में वह संदेह से विकसित होकर *छायावादी परम्परा, जो रीति बनकर रूढ़ि बन रही रही थी, उसके प्रति विद्रोह भी था।* प्रथम सप्तक के कवियों में यह सन्देह और भ्रम होना स्वाभाविक था, क्योंकि जब कभी भी किसी प्रतिष्ठित परम्परा के प्रति विद्रोह का कदम उठाया जाता है तो उसके प्रवर्तकों में सन्देह ही वह वस्तु होती है जो परम्परा की रूढ़िगत रीति वाली प्रवृत्ति के विरोध में खड़े होने का साहस प्रदान करती है, प्रयोग की दृष्टि से प्रथम सप्तक का महत्त्व है, उसकी सहानुभूति परक वेदना जो नये यथार्थ के प्रति है, लेकिन उसमें वह दोष भी है जो किसी भी नई प्रवृत्ति के प्रेरकों में होता है। छायावाद की मिथ्या उदात्त भावना को पहले सप्तक ने मध्यम वर्ग के जीवन से सम्बद्ध करके उस नये यथार्थ को स्वीकृति देने का प्रयास किया है जो आज की नई कविता में अधिक आयामों के साथ विकसित हो रहा है।

१ रघुवीर सहाय।
२ धर्मवीर भारती।

लेकिन परम्परा की मूल स्थापना में कोई दोष नहीं होता। जब वह रूढ़ि बन जाती है, तभी उसमें दोष होता है। प्रगति की मूल मानव भावना से प्रेरित होकर जब इस रूढ़िवादी परम्परा के समर्थक प्रयोग होते हैं तब उसकी प्रतिक्रिया में तथाकथित प्रगतिवाद अपना स्वर बेढंगे तरीके से मिलाने लगता है। अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता 'नदी के द्वीप' एक सशक्त चिरन्तन सत्य की सापेक्षता को स्वीकार करती हुई व्यक्ति मानव की अहंनिष्ठा को प्रतिष्ठित करती है। उसके स्वर में परिवर्तन के प्रवाह में लीन होकर उसे स्वीकार करके फिर उस व्यक्ति निष्ठा को नये ढंग से विकसित करने की बात 'नदी के द्वीप' के माध्यम से कही गई है। लेकिन भारतभूषण अग्रवाल की कविता 'हम नहीं हैं नदी के द्वीप' कविता महज प्रतिक्रियात्मक भावना के कारण काव्य बोध की अपेक्षा आवेश में बदल गई है। जहाँ अज्ञेय व्यक्ति निष्ठा को इतना व्यापक अर्थ देते हैं कि

द्वीप हैं हम
यह नहीं है शाप
यह अपनी नियति है
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड में
वह बृहद् भूखंड से हमको मिलाती है
और वह भूखंड अपना पिता है

तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे
यह स्रोतस्विनी हो कमनाशा कीर्तिनाशा
घोर काल प्रवहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर फिर छनेंगे हम।
जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार
मात, उसे फिर संस्कार तुम देना—[१]

यह नया प्रयोग है। व्यक्ति की मूल मर्यादा के प्रति कवि की सहज और स्वाभाविक आस्था है। इसमें कुण्ठा नहीं है। वेग, प्रवाह, स्रोतस्विनी के प्रति आत्मसमर्पण करते हुए भी व्यक्ति मर्यादा और उसके अस्तित्व के प्रति विश्वासपूर्ण स्वर है। परम्परा, प्रगति और प्रयोग की तीनों स्थितियाँ इसमें स्पष्ट हैं लेकिन इसी की प्रतिक्रिया भारतभूषण अग्रवाल की कविता में इसप्रकार व्यक्त होती है।

हम सरोवर हैं
नहीं है धार
अब नहीं हममें तरंगित गान
और बन्धन की व्यथा में खो गया अभिमान
विवश हम अब बह नहीं सकते
और अपनी और अपने आपमें ही बंद

१ अज्ञेय 'नदी के द्वीप'।

अपनी बात आपस में किसी से कह नहीं सकते

तुम अगर हो द्वीप
रूखी रेत के बेडौल टीले
तो भले ही तुम रहो ऊँचे महान
पर यह न सोचो,
धार की हर लहर जो आती हमारे पास
छोकती है हमारी पीठ [१]

जो भी काव्य कृति मात्र प्रतिक्रिया में लिखी जायगी उसमें यह दोष रहता ही। न तो वह परम्परा के औचित्य को निभा सकती है और न हा उसमें प्रगति के तत्त्व आ सकते हैं और जब इन दोनों के प्रति उचित दृष्टिकोण भी नहीं विकसित हो सकेगा तो प्रयोग की स्वच्छता भी उस रचना में नहीं रहेगी। यदि यह कहा जाय कि नदी के द्वीप की रेत स्वच्छ, पवित्र रेत का विकसित रूप है और सरोवर नदी के छोड़े हुए जल की सड़ाँध है तो द्वीप और सरोवर की स्वाभाविक और प्रतिक्रियावादिता की परख स्पष्ट हो जायगी। आज का प्रगतिवाद न तो परम्परा के दायित्व को ही निभा सकता है और न प्रयोग के, क्योंकि वह मात्र प्रतिक्रिया से विकसित होकर कुण्ठाओं में डूब जाता है।

किसी अन्य स्थान पर पहले सप्तक के एक प्रतिष्ठित कवि ने नई कविता की आलोचना करते हुए यह लिखा है कि उसमें पहले सप्तक के बाद कोई विकास नहीं हो सकता है। पता नहीं यह बात कैसे कही गई है, क्योंकि पहले सप्तक के बाद दूसरे सप्तक में बात अधिक स्पष्ट रूप से कही गई है और दूसरे सप्तक से भी अधिक स्पष्ट स्वरों में नई कविता में व्यक्त हुई है। प्रयोग में जीवन का कटु सत्य भी अंकित होता है उससे मुँह बिचकाकर छुट्टी नहीं ली जा सकती। शायद आज का नया कवि अधिक तीखे स्वर में स्पष्ट बातें करता है। शायद इतना स्पष्ट स्वर किसी का नहा रहा है

कहने को बहुत कुछ है
कहते नहीं बनता
वाणी की तपस्या
दर्द की ताड़का से हार गई
(राम ! ईश्वर, अजन्मा हे राम)
लगता है कहीं कोई ठौर नहीं
आज मनुष्य
गर्भ से धक्के देकर निकाला हुआ
ऋषि पुत्र। [२]

इसी प्रकार उस प्रचारवादी प्रगतिवाद की अपेक्षा मूल मानव-भावना के प्रति आज के कवि की आस्था अधिक तीव्र है। इस समूहवादी जीवन में विकल मानव जीवन का दुःख,

१ भारत भूषण हम नहीं है द्वीप।
२ राजेन्द्र किशोर नयी कविता २।

उसकी विषमता इससे अधिक स्पष्ट स्वरों में न तो पहले सप्तक में कहा है और न ही इसकी आशा छायावादी कवि से की जाती है। आज की नई कविता जहाँ परम्परा की रूढ़ियों के प्रति अपना यह विश्वास रखती है

ओ महा प्रलय के बाद नये उग शिखरो,
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त वि ध्य मालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना।
आ सूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख
कितने अगस्त्य आयेंगे गुरु का वेश धर,
आशीष वचन कहने वाले
चिर विनत तुम्हारा मस्तक या ही झुका छोड़
ये गुरुवर वापस नहीं लौटकर आयेंगे।[1]

वहीं उसकी नई जिज्ञासा तथाकथित प्रगतिवाद के बीच घुटती मानवता के प्रति अधिक सजग है। उसे प्रचार से अधिक साहित्य प्रिय है, मतवाद से अधिक मनुष्य में विश्वास है, समूह मानव के यंत्रात्मक अस्तित्व से अधिक साधारण मनुष्यप्रिय है। वह स्वर स्पष्ट रूप में कहता है

पोस्टर विशालकाय पोस्टर
लोग उन्हें देखकर हँसते हैं
मुँह बनाते हैं, सीटियाँ बजाते हैं
उदास हो जाते हैं

और मैं उनके सामने
नन्हा सा दुबा खड़ा हूँ
बेजाना बे पहचाना
इस प्रतीक्षा में कि शायद
कभी कोई भूली हुई दृष्टि
मुझ पर टिक जाय,
शायद कोई मुझे आवाज दे

लेकिन मैं देखता हूँ
कि आज के जमाने में
आदमी से ज्यादा लोग
पोस्टरों को पहचानते हैं
वे आदमी से बड़ा सत्य हैं[2]

नई कविता के प्रयोग का यही महत्त्व है कि उसमें किसी भी मतवाद की अपेक्षा किसी

1 विनयदेव नारायण साही युग चेतना।
2 सर्वेश्वर नयी कविता।

भी रूढ़िग्रस्त परम्परा की अपेक्षा पावन मनुष्यत्व में विश्वास किया है। उसने परम्परा से शील लिया है और उस शीलवान उत्तराधिकारी की भाँति वह सब ग्रहण किया है जो उसे उचित रूप में उत्तराधिकारी होने के नाते मिला है। जो त्याज्य था उसका उसने परित्याग किया है, इसीलिए उसकी आस्था में प्रगति है और प्रयोग वह उस नये मार्ग को प्रशस्त करने के लिए कर रहा है जिसमें देश काल की मर्यादा के साथ नया यथार्थ उसको संदेश देता है। परम्परा का सहज अधिकारी आज का प्रयोग है, जो प्रगति का विश्वास रखते हुए किसी भी मतवाद की संकीर्णता को बिना स्वीकार किये आगे बढ़ने में संलग्न है।

व्रजविलास श्रीवास्तव

हिन्दी-उपन्यास मे नये प्रयोग

साहित्य में प्रयोग शब्द का व्यवहार सामान्यतया परम्परा के विरोध के अर्थ में किया जाता है। अंग्रेजी में कुछ आलोचकों द्वारा आधुनिक अंग्रेजी साहित्य—विशेष रूप से उपन्यास और कविता का—प्रयोगवादी (experimentalist) और परम्परावादी (Traditionalist) इन दो वर्गों में बाँटा जाना इसी अर्थ की ओर संकेत करता है। इसी दृष्टि से जेम्स ज्वायस, डारोथी, रिचर्डसन और वर्जिनिया वुल्फ के उपन्यासों को प्रयोगवादी वर्ग में रखा जाता है। इन लेखकों ने अपने युग के नये यथार्थ को मनोवैज्ञानिक या मनोविश्लेषणात्मक आधार पर अभिव्यक्त करने के लिए पिछले उपन्यासों द्वारा स्थापित परम्परागत मानों, मूल्यों और रूप शिल्प को अनुपयुक्त और युग सत्य की अभिव्यक्ति में बाधक घोषित किया। वर्जिनिया वुल्फ के शब्दों में 'इस समय कथा साहित्य का जो रूप प्रचलित है उसमें अपेक्षित वस्तु पकड़ में न आकर प्राय छूट जाती है चाहे हम उसे जीवन कहें या आत्मा, सत्य कहें या वास्तविकता, उसे हम जिस ढाँचे में रखना चाहते हैं वह अनुपयुक्त होने के कारण उसे व्यक्त नहीं कर पाता।' जीवन के गहन यथार्थ को चित्रित करने के लिए उपन्यास के प्रचलित रूप विधान के स्थान पर नये रूप विधान की आवश्यकता महसूस की गई। और इसके लिए उपन्यास कला ने लेखक की कल्पना में मूर्त होकर अपने एकाधिकार और यौवन की पुनः प्राप्ति के लिए उपन्यासकारों को इस बात की पूरी छूट दे दी कि वे जैसे चाहें उसके अंगों को तोड़ मोड़कर उसे नया रूप दे सकते हैं।[1] परिणामस्वरूप उपन्यास कला को नया रूप और नई शक्ति देने के लिए इन उपन्यासकारों ने अनेक प्रयोग किये यह अलग प्रश्न है कि उनमें से कितने प्रयोग सफल हुए। अंग्रेजी के इन प्रयोगवादी कहे जाने वाले उपन्यासकारों ने अपने युग की वास्तविकता को किस सीमा तक अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किया अथवा उनकी वास्तविकता का स्वरूप या उसको पकड़ का साधन क्या था, इस सम्बन्ध में विचार करने का यहाँ अवसर नहीं। इतना बता देना पर्याप्त है कि उनके इस नये यथार्थ को युग सत्य का समानार्थी मानने के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उपन्यास कला को नई दिशा में मोड़ने में ये प्रयोगकर्ता पूर्ण रूप से सफल हुए। उपन्यास के परम्परागत रूप विधान में इतना अधिक परिवर्तन न सह सकने वाले परम्परावादी आलोचकों और उपन्यासकारों ने इन प्रयोगों को असुन्दर, विरोधी और प्रयोगकर्ताओं को बौद्धिक अराजकतावादी घोषित किया।

परम्परा और प्रयोग सम्बन्धी यह विवाद अंग्रेजी साहित्य में बहुत दिनों तक चलता रहा, हिन्दी में भी नये प्रयोगों के प्रारम्भ होने के कुछ ही वर्ष बाद परम्परावाद का सिद्धान्त

1 Modern Fiction —The Common Reader Virginia Woolf

भी विशेष रूप में सामने आया। यह दूसरी बात है कि हिन्दी में यह विवाद अभी भी ज्यों का त्यों समस्या के रूप में बना हुआ है, जबकि अंग्रेजी में इसे समाप्त हुए २०-३० वर्षों का एक लम्बा युग बीत चुका है। सच तो यह है कि सच्चे साहित्य के सम्बन्ध में परम्परा और प्रयोग का विवाद उतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता क्योंकि प्रयोगवाद घिसे पिटे परम्परावादी साहित्य के ही विरोध में आता है और ये घिसे पिटे परम्परावादी साहित्यिक ही प्रयोग के विरोध में परम्परावाद के सिद्धान्त की आत्म रक्षा के लिए आड़ लेते हैं। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि नये प्रयोगों के कारण खण्डित होने वाली जिस परम्परा की यहाँ चर्चा की जा रही है, वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलने वाली परम्परा है जिसे साहित्यकार उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करता है। परम्परावादियों के अनुसार साहित्य में आनयन्त्रित नये प्रयोगों द्वारा इसी परम्परा की अक्षुण्णता बाधित होती है और यही कारण है कि परम्परा विच्छिन्न नये प्रयोगों में दुरूहता और अस्पष्टता आ जाती है। इस अस्पष्टता के कारण प्रयोगवादी रचना में प्रेषणीयता का गुण नहीं रह जाता। फलस्वरूप प्रयोगकर्ता का मूल उद्देश्य—अपनी नई बात को नये माध्यम से पाठक तक पहुँचाना—ही नष्ट हो जाता है। परम्परावादियों के इस सिद्धान्त—प्रयोग परम्परा विरोधी होता है—का खण्डन साहित्य में नये प्रयोग के सबसे बड़े समर्थक टी० एस० इलियट ने अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक अपने निबन्ध 'ट्रेडिशन एण्ड इण्डिविजुअल टैलेंट' में किया है। इलियट ने परम्परा के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा को भ्रान्त बतलाते हुए कहा है कि यदि परम्परा का अर्थ अपनी ठीक पूर्व की पीढ़ी का अन्धानुकरण करना या उसकी सफलताओं से चिपके रहना है, तो उसकी निश्चित रूप से उपेक्षा होनी चाहिए। नवीनता आवृत्ति से कहीं अच्छी है। परम्परा इससे कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है, वह उत्तराधिकार के रूप में नहीं प्राप्त होती, बल्कि उसकी प्राप्ति के लिए उस ऐतिहासिक दृष्टि की आवश्यकता होती है जिससे भूत के बीते हुए रूप को ही नहीं बल्कि वर्तमान में उसकी विद्यमानता को भी देखने की शक्ति प्राप्त होती है। इस ऐतिहासिक दृष्टि से युक्त प्रतिभाशाली साहित्यकार अपनी प्रतिभा से नई वास्तविकता को पकड़ पाने और अभिव्यंजना प्रणाली के नये प्रयोगों द्वारा उसे ठीक ठीक अभिव्यक्त करने में सफल होता है। इलियट के इस कथन में सत्य का बहुत अधिक अंश है। वास्तव में इस तरह के प्रयोग से ही परम्परा का विकास होता है। परम्परा स्थिर और निर्जीव वस्तु नहीं, वह विकासमान और गतिशील होती है। पिछली पीढ़ी के अनुकरण अथवा आवृत्ति द्वारा परम्परा का विकास रुक जाता है। अतः परम्परा को उसके प्रचलित और सीमित अर्थ में स्वीकार करके रचना करने वाले साहित्यकार वास्तव में परम्परा के समर्थक नहीं माने जा सकते।

किसी साहित्य रूप में प्रयोग उसके रूप शिल्प (Form) में ही होता है, कम से कम प्रयोग की पहचान रूप शिल्प, अभिव्यंजना प्रणाली और भाषा शैली आदि से ही होती है। रूप शिल्प में प्रयोग का अर्थ है किसी साहित्य रूप के परम्परागत रूप विधान के स्थान पर किसी सीमा तक नवीन रूप विधान का अन्वेषण। किन्तु नवीन रूप विधान भी अपने आपमें उतना महत्त्व नहीं रखता जितना कि उस रूप के अन्वेषण या प्रयोग के लिए बाध्य करने वाला लेखक का वह कथ्य, जिसे वह परम्परागत रूपों अथवा अन्य किन्हीं प्रचलित रूपों द्वारा उतनी प्रभविष्णुता और गहराई से व्यक्त नहीं कर सकता। प्रयोग के लिए प्रयोग तो वे रूपवादी

करते हैं, जिनके पास कहने को कुछ नहीं होता। निष्कर्ष यह कि वास्तविक प्रयोग उसीको कहा जा सकता है जिसमें कथ्य की नवीनता रूप शिल्प में नवीनता लाने के लिए बाध्य करता है। सच पूछा जाय तो प्रयोग की सारी समस्या वक्तव्य वस्तु अथवा लेखक के अभीप्सित उद्देश्य और प्रभाव सृष्टि को लेकर ही है। कलात्मक नवीनता से प्राप्त होने वाले सौंदर्य बोधात्मक आनंद (Aesthetic pleasure) की उपलब्धि भी इन्हीं प्रयोगों द्वारा होती है।

यहीं एक और प्रश्न यह उठता है कि वक्तव्य वस्तु की नवीनता से क्या अभिप्राय है? सम्भवत कोई भी प्रबुद्ध साहित्यकार इससे इन्कार नहीं कर सकता कि प्रत्येक युग बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ ही नई समस्याएँ, नये मूल्य और नई मर्यादाएँ साथ लाता है। परिवर्तित परिस्थिति में वास्तविकता का स्वरूप भी वह नहीं रह जाता जो उसके पूर्व युग की परिस्थितियों में था। इन बदली हुई परिस्थितियों और उनके बीच संघर्ष रत मनुष्य के चित्रण द्वारा नये मानव मूल्यों और नई मर्यादाओं की खोज और उनकी स्थापना ही साहित्यकार, विशेष रूप से उपन्यासकार का प्रमुख दायित्व है। इस दायित्व को स्वीकार करके चलने वाले लेखकों के लिए प्राय नये माध्यमों का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। पूर्वयुगीन सत्यों और मानव मूल्यों को अभिव्यक्ति देने में जो रूप विधान पूर्णतया सफल हुए हैं, सम्भव है वे ही नई परिस्थिति में जन्म लेने वाले नये सत्यों और नये जीवन-मूल्यों को प्रेषित कर पाने में असफल सिद्ध हों। अत साहित्य में नये प्रयोगों में की आवश्यकता और सार्थकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

इस दायित्व निर्वाह का सबसे अधिक बोझ उपन्यासकार के ऊपर ही है, क्योंकि परिस्थितियों से संघर्ष रत मानव और उसकी उपलब्धियों को जितनी पूर्णता और सफलता के साथ उपन्यासकार हमारे सामने रख सकता है, उतनी पूर्णता और सफलता के साथ कवि, नाटककार अथवा अन्य कोई नहीं। किन्तु आज के उपन्यासकार के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि आज की वास्तविकता को ठीक ठीक पकड़ने वाली दृष्टि क्या है? १६वीं सदी में जब फ्रेञ्च उपन्यासों का अंग्रेज़ी पर तेज़ी से प्रभाव पड़ रहा था जॉन मूर ने उपन्यास की परिभाषा स्थिर करते हुए लिखा था कि 'उपन्यास समकालीन इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वह जिस युग में हम जी रहे हैं, उसके सामाजिक परिवेश का बिलकुल पूर्ण और सही सही पुनर्निर्माण है।'[१] इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक श्रेष्ठ उपन्यास किसी सीमा तक अपने युग का इतिहास होता है। फिर भी आज का उपन्यासकार उक्त परिभाषा की व्याख्या चाहेगा। वह यह प्रश्न करेगा सही सही से क्या अभिप्राय है? पूर्ण का क्या अर्थ है? इससे भी आगे बढ़ कर वह यह पूछ सकता है कि पुनर्निर्माण सही माने में किसे कहते हैं? आदि। यहाँ तक कि अपने युग को भी वह व्याख्या चाहेगा, क्योंकि इन प्रश्नों का उत्तर आज उतना सरल नहीं रह गया है जितना पूर्ववर्ती युगों में था। आज के उपन्यासकार के लिए केवल दो मार्ग हैं। या तो वह इन प्रश्नों से अपने को बचा जाय और कोई भी किस्सा कहकर अपने दायित्व की इतिश्री समझ ले या वह उन प्रश्नों की गहराई में जाकर उनका उत्तर ढूँढे और सत्य को पाने का प्रयत्न करे। आज का सजग उपन्यासकार इन प्रश्नों को अपने सामने रखता है और उनकी

१ The novel if it be anything is contemporary history an exact complete reproduction of the social surroundings of the age we live in

जटिलता के कारण कोई स्पष्ट उत्तर न पाकर विविध रूपों में उन समस्याओं को सामने रखता और उनका उत्तर ढूँढने का प्रयास करता है। परिणामस्वरूप आज के उपन्यासों में रूप शिल्प सम्बन्धी विविध नये प्रयोगों के साथ साथ उपन्यासकार के कथ्य और उसकी दृष्टि में भी क्रान्ति कारी परिवर्तन दिखलाई पड़ता है।

जहाँ तक हिन्दी के नये उपन्यासों के रूप गठन का प्रश्न है उनमें अंग्रेजी के आधुनिकतावादी (Modernist) उपन्यासों की तरह का कोई ऐसा क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है, जो रूप शिल्प की दृष्टि से उन्हें पिछले उपन्यासों से इस सीमा तक विच्छिन्न कर दे कि वे भिन्न जाति के मालूम पड़ें और समीक्षकों तथा पाठकों को इस साहित्य रूप के सम्बन्ध में नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य होना पड़े। अंग्रेजी के उपन्यासों में हुए प्रयोगों और रूप शिल्प सम्बन्धी क्रान्तिकारी परिवर्तनों का अनुमान तो इसीसे लगाया जा सकता है कि वर्जिनिया वुल्फ अपने उपन्यासों को प्रचलित अर्थों में उपन्यास मानती ही नहीं। प्रसिद्ध उपन्यासकार ह्यू वाल पोल ने अंग्रेजी उपन्यास की आधुनिक प्रवृत्तियों की विवेचना करते हुए लिखा है कि 'वर्जिनिया वुल्फ अपनी कला के लिए, यदि मिल जाय तो, कोई नया नाम गढ़ने के लिए तैयार है। आल्डस हक्स्ले को इस बात की बिलकुल परवाह नहीं कि कोई उन्हें उपन्यासकार मानता है या नहीं। इस समय (१९३० ३४ के आस पास) इंग्लैण्ड में कोई भी यह ठीक ठीक नहीं जानता कि उपन्यास क्या है। बड़े आलोचक दृढ़ता पूर्वक यह मानते हैं कि यह कुछ ऐसी चीज है जो सामान्य पाठकों की समझ में न आए, जब कि छोटे आलोचक उतनी ही दृढ़ता से कहते हैं कि बड़े आलोचक जिसे उपन्यास की संज्ञा देते हैं, वह उपन्यास नहीं।'[1] जेम्स ज्वॉयस के 'यूलिसिस' और 'फिनेगं सवेक', वर्जिनिया वुल्फ के 'मिसेज डालोवे', 'बिट्वीन द एक्ट्स' तथा फिलिप टायनी के 'टी विथ मिसेज गुडमैन' को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है। 'यूलिसिस' के प्रयोग का अन्दाज तो इसीसे लगाया जा सकता है कि जुंग ने इसके बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि इसका आदि अन्त कुछ नहीं है और इसे सीधे आगे की ओर और उलटे पीछे की ओर, किसी ओर से पढ़ा जा सकता है, कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। यूलिसिस के बारे में न सही, किन्तु 'फिनेगं सवेक' के बारे में यह कथन बिलकुल सच है। जिस वाक्य के मध्य से उपन्यास प्रारम्भ होता है, उसी वाक्य के मध्य में समाप्त भी होता है। इसे आगे पीछे किसी तरफ से पढ़ सकते हैं। भाषा जेम्स ज्वॉयस की बहुत कुछ स्वयं गढ़ी हुई बिलकुल मौलिक है, एकदम अछूती और अप्रयुक्त। यह उपन्यास वस्तुतः श्रव्य है अर्थात् जेम्स ज्वॉयस के अनुसार इसे समझने और आनन्द लेने के लिए इसका सस्वर पाठ सुनना चाहिए। आदर्श पाठक जेम्स ज्वॉयस ही हो सकते थे, इसलिए उन्होंने इस महत्वपूर्ण उपन्यास का स्वयं किया हुआ पाठ रेकर्ड भी करवा डाला।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि जेम्स ज्वॉयस, डारोथी रिचर्ड्सन, वर्जिनिया वुल्फ, फिलिप टायनबी, होरेस मेकॉय आदि अंग्रेजी के अधिकांश प्रयोगवादी उपन्यासकार अन्तश्चेतनावादी हैं, जो मनोविश्लेषणात्मक स्तर पर मानव मन या अन्तश्चेतन की गहराइयों को—चाहे वे जैसी भी हों—उभारकर पाठकों के सम्मुख रखने के दायित्व में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी उपन्यासों में प्रयोगवाद अन्तश्चेतनात्मक के अर्थ में बहुत अंश तक

[1] Tendencies of Modern novel—English

रूढ़ हो गया है। यद्यपि अंग्रेजी में ऐसे भी उपन्यास हैं जिनमें प्रयोग की पर्याप्त नवीनता है और जो सतत प्रवहमान अन्तश्चेतन की बारीकियों का दर्शन कराने वाले उपन्यासों से भिन्न कोटि के हैं। सच पूछा जाय तो अंग्रेजी के आधुनिक उपन्यास साहित्य में परम्परावादियों और इन तथाकथित प्रयोगवादियों का सारा विवाद बहुत कुछ समय तत्त्व को लेकर है। परम्परावादियों की तरह ये प्रयोगकर्त्ता यह नहीं स्वीकार करते कि समय सेकण्ड, मिनट और घण्टे के निश्चित अन्तर और क्रम से प्रतीत होता है। परम्परावादी समय और क्रिया तथा समय और घटना में सामञ्जस्य बनाये रखने पर जोर देते हैं, जब कि अन्तश्चेतनावादी एक क्षण के विचार अथवा क्षणस्थायी चेतना प्रवाह का चित्रण इस प्रकार कर सकते हैं कि वर्षों का समय और अनगिन घटनाएँ उसके सामने तुच्छ और छोटी मालूम पड़ें। प्रयोगवादी यह नहीं मानते कि समय अपने आपमें कोई विधेयात्मक गुण रखता है, उनके अनुसार समयगत मूल्य (Time value) और उसकी अवधि अन्य परिवर्तनशील कारणों पर आधारित है। समय की निरंकुशता को समाप्त कर देने के प्रयत्न ने आधुनिक अंग्रेजी कथा साहित्य में क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। समयगत रूढ़ि को मानकर रचना करने वाले उपन्यासकारों के लिए पुराने और प्रचलित रूप विधान तथा कथानक, चरित्र और क्रिया सम्बन्धी परम्परावादी धारणा मान्य थी किन्तु प्रयोगवादी परम्परावाद के इस अत्याचार को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। १९१९ में वर्जिनिया वुल्फ ने 'माडर्न फिक्शन' शीर्षक प्रसिद्ध लेख में परम्परावाद के इस अत्याचार की चर्चा करते हुए लिखा है कि ऐसा मालूम होता है कि लेखक अपनी स्वतन्त्र इच्छा से नहीं बल्कि किसी अत्यन्त शक्तिशाली और सिद्धान्तहीन अत्याचारी के चंगुल में अवश पड़ा हुआ उपन्यास में कथानक देने, उसे सुखान्त या दुखान्त बनाने तथा उसमें प्रेम और दिलचस्पी की बातें लाने के लिए बाध्य कर दिया जाता है।[1] वुल्फ ने जीवन की यह नई व्याख्या सामने रखी

Life is not a series of big lamps symmetrically arranged life is a luminous holo a semitransparent envelope surrounding us from the beginning of consciousness to the end

इस परिभाषा के अनुसार उपन्यासकार का यह कर्त्तव्य माना गया कि वह मन पर पड़ने वाले, प्रत्येक घटना और प्रत्येक दृश्य के प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव को उपन्यास में क्रम पूर्वक सजाकर रखे, चाहे वह कितना भी विशृंखल और असम्बद्ध क्यों न हो।[2] परिणाम स्वरूप इन लेखकों के प्राय सभी उपन्यासों में कथानक और चरित्र क्रिया और विचार 'चेतना प्रवाह' (Stream of consciousness) में डूबकर अस्तित्वहीन से हो गए हैं।

× × × × ×

हिन्दी उपन्यास के नये प्रयोगों पर विचार करते समय सबसे पहला प्रश्न यह होता है कि उसका परम्परागत रूप (Traditional shape) क्या है? अर्थात् हिन्दी उपन्यासों की रूप गठन और रचना सम्बन्धी वे कौन सी विशेषताएँ और मान्यताएँ हैं जिन्हें आज का प्रयोगकर्ता ज्यों का त्यों न ग्रहण करके अथवा अपने कथ्य उद्देश्य और प्रभाव सृष्टि के लिए उस ढाँचे को उपयुक्त माध्यम न समझकर नई टकनीक और नये कौशलों का सहारा लेता है।

१ Modern Fiction—the common reader

२ वही।

अंग्रेजी उपन्यासों की तुलना में हिन्दी-उपन्यासों की परम्परा नहीं के बराबर है, फिर भी 'परीक्षा गुरु' से लेकर 'गोदान' और 'चित्रलेखा' तक आते आते हिन्दी उपन्यासों का एक परम्परागत रूप स्थिर हो चुका था जिसमें आज भी अनेक प्रौढ़ उपन्यासकार उपन्यास रचना कर रहे हैं। मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण शास्त्र के अस्तित्व में आने के पूर्व विश्व उपन्यास में उपन्यास रचना के सम्बन्ध में बहुत कुछ एक ही प्रकार की धारणा दिखलाई पड़ती है। इस धारणा के अनुसार उपन्यास में कथा अवश्य होनी चाहिए, साथ ही वह कथा पूर्वापर-सम्बन्ध और कार्य कारण शृङ्खला से युक्त होनी चाहिए। साथ ही उसमें सशक्त और महत्त्वपूर्ण चरित्र का होना आवश्यक है।

अंग्रेजी के अन्तश्चेतनावादी प्रयोगात्मक उपन्यासों की भूमिका में यदि हम हिन्दी के मनोवैज्ञानिक कहे जाने वाले उपन्यासों पर विचार करें तो हमें पता चलेगा कि जैनेन्द्र अथवा इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास मूलतः इनसे भिन्न कोटि के हैं। यही कारण है कि हिन्दी उपन्यास के प्रचलित रूप विधान में इन्होंने कोई मौलिक परिवर्तन नहीं उपस्थित किया है। इनके उपन्यास उसी अर्थ में और उसी सीमा तक मनोवैज्ञानिक हैं, जिस अर्थ में और जिस सीमा तक यशपाल के उपन्यास मार्क्सवादी हैं। जिस तरह मार्क्सवादी दृष्टि के अपनाने मात्र से मार्क्सवादी कहे जाने वाले उपन्यासों के कथा शिल्प और रूप विधान में कोई प्रयोगात्मक परिवर्तन (Experimental change) नहीं घटित हुआ है, उसी प्रकार 'परख', 'सुनीता', 'कल्याणी', 'संन्यासी' या 'पर्दे की रानी' में भी इस तरह का कोई परिवर्तन नहीं मिलेगा, जो रूप गठन की दृष्टि से इन्हें पूर्ववर्ती तथा समकालीन उपन्यासों से भिन्न श्रेणी का सिद्ध करता हो। कारण यह है कि इनको मनोवैज्ञानिक दृष्टि किसी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि द्वारा नायक नायिकाओं की क्रियाओं—मानसिक तथा व्यावहारिक दोनों—और उनके सामाजिक सम्बन्धों के यांत्रिक नियमन तक ही सीमित है, जबकि जेम्स ज्वॉयस, डारोथी रिचर्डसन और वूल्फ आदि के उपन्यासों में वह कई दिशाओं में काम करती है। कहानी कहना इनका उद्देश्य नहीं, फिर भी कहानी ये कहते रहे हैं, भले ही वह कहानी 'कन्वैस' पर परिस्थितियों से जूझने वाले मनुष्य, उसके परिवेश और उसके सामाजिक सम्बन्धों की कहानी न होकर अपनी कुण्ठाओं और ग्रन्थियों के वशीभूत आत्मकेन्द्रित व्यक्ति की ही कहानी क्यों न हो।

सच पूछा जाय तो हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में सबसे पहला प्रयोग 'अज्ञेय' ने 'शेखर एक जीवनी' (प्रथम भाग) में किया। इसकी प्रयोगात्मकता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि उपन्यास की एक निश्चित परिभाषा स्वीकार करने वाले (यद्यपि यह परिभाषा भी पूर्ववर्ती लक्ष्य ग्रन्थों के ही आधार पर बनी है) इसे उपन्यास मानने के लिए तैयार नहीं, क्योंकि उनके अनुसार इसमें कथानक की कार्य कारण शृङ्खला से युक्त सम्बद्धता नहीं है। इस उपन्यास की मौलिकता भी यही है। पूरा उपन्यास 'स्मृत्यालोक' (Flash back) की टेक्नीक में लिखा गया है। स्मृतियाँ एक साथ ही सम्पूर्णतः सम्बद्ध रूप में नहीं आतीं, वह खण्डों (Fragments) में आती हैं, यही कारण है कि उपन्यासकार ने वस्तु गठन में खण्ड चित्रों की पद्धति (Fragmentory method) को अपनाया है। यद्यपि ये दोनों पद्धतियाँ अंग्रेजी उपन्यासों में बहुत अधिक प्रयुक्त होकर नवीनता का आकर्षण खो चुकी हैं, किन्तु हिन्दी के लिए अभी भी ये बिलकुल नई हैं। हिन्दी में स्मृत्यालोक पद्धति का प्रयोग न किया गया हो ऐसी बात नहीं,

गुलेरी जी की 'उसने कहा था' कहानी में इस पद्धति का बहुत सुन्दर ढंग से उपयोग किया गया है। किन्तु हिन्दी में कोई उपन्यास पूरा का पूरा इस टेक्नीक को आधार बनाकर लिखा हुआ नहीं मिलेगा। इस प्रसंग में अंग्रेजी के दो आधुनिक उपन्यासों की चर्चा करना चाहता हूँ, मेसिडनेयर का 'द लाइफ एण्ड डेथ अव हैरिएट फ्रीन' और होरेस मेकाय का 'दे शूट द हॉसेज़ डोण्ट दे'। 'द लाइफ एण्ड डेथ अव हैरिएट फ्रीन' में 'शेखर एक जीवनी' की तरह ही स्मृत्यालोक पद्धति द्वारा हैरिएट की आत्म कथा कही गई है। डूबती हुई हैरिएट का चेतना में डूबने के समय के क्षण भर के प्रत्यावलोकन में ही उसका सारा भूत जीवन बिजली की तरह कौंध जाता है। उसके भूत जीवन के अनेक मानस चित्र सिनेमा की रील्स की तरह आते और चले जाते हैं और इन मानस चित्रों के रूप में ही उसके ७० वर्षों की जीवन कथा लगभग २०० पृष्ठों में कही गई है। होरेस मेकाय के उपन्यास में सारा स्मृत्यालोक फाँसी की सजा सुनाई जाने के कुछ मिनटों के अवकाश में ही प्रकाशित होता है। कहा जाता है कि मृत्यु के कुछ समय पहले मनुष्य को उसका भूत जीवन विविध मानस चित्रों के रूप में दीखने लगता है। इसीलिए इन उपन्यासकारों ने स्मृत्यालोक के लिए प्रायः इसी भूमिका को चुना है। 'शेखर एक जीवनी' के सारे स्मृत्यालोक की भूमिका यही है—फाँसी, मृत्यु अथवा मृत्यु की अनिवार्यता का बोध।

'फाँसी !

सिद्धि कैसी—काहे की ? मेरी मृत्यु की क्या सिद्धि होगी—मेरे जीवन की क्या थी। मैं अपने जीवन का प्रत्यावलोकन कर रहा हूँ, अपने अतीत जीवन को दुबारा जी रहा हूँ।'

इस प्रत्यावलोकन में शेखर के चेतना प्रवाह में भी अनेक तरंगें उठती हैं। स्मृति के दर्पण में वह अपने सम्पूर्ण भूत को प्रतिबिम्बित होते देखता है। उसका सारा पिछला जीवन विभिन्न मानस चित्रों (Mental images) के रूप में प्रत्यक्ष होता है और जिस क्रम से वे चित्र उसे दीखते हैं, उसी अनुक्रम में उन्हें रखा गया है। इसलिए 'शेखर एक जीवनी' (प्रथम भाग) में घटनाओं के पूर्वापर सम्बन्ध और कार्य कारण शृङ्खला से युक्त कथानक ढूँढना व्यर्थ है। स्मृतियों का विशृङ्खल और असम्बद्ध होना ही अधिक मनोवैज्ञानिक है, वह भी उस व्यक्ति की स्मृतियों का जो मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है, जिसके मस्तिष्क में इस दण्ड विधान को लेकर, आज के जीवन मूल्यों और मान्यताओं को लेकर विचारों की आँधी उठ रही है और जो आमूल परिवर्तन चाहने वाली अपनी मूल्यवान् (?) विद्रोही भावना का मूल्य मृत्यु के रूप में पाकर क्षुब्ध हो उठा है। इस उपन्यास के कथानक पर विचार करते समय इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है। शेखर एक जीवनी' में प्रयोग यही है, उसकी मौलिकता यही है। अनुक्रम इसमें घटनाओं और दृश्यों का नहीं, भावों और मनःस्थितियों का है। इन्हीं भावों और मनःस्थितियों के उत्तरोत्तर विकास का, उन घटनाओं और दृश्यों के साथ, जिन पर वे आश्रित हैं, चित्रण और विश्लेषण करना ही उपन्यासकार का प्रमुख उद्देश्य है। ये चित्र अपने आपमें बहुत कुछ स्वतन्त्र न होते हुए भी समन्वित प्रभाव की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं।

'शेखर एक जीवनी' के बाद इस दिशा में इस तरह का कोई प्रयोगात्मक उपन्यास नहीं लिखा गया। ऐतिहासिक उपन्यासों की दिशा में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का उपन्यास 'बाणभट्ट

की आत्मकथा' निश्चित रूप से एक अभिनव प्रयोग है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि न जाने कितने पाठकों के मन में इस उपन्यास ने यह भ्रान्ति उत्पन्न की है कि बाण भट्ट ने सचमुच कोई आत्म चरित लिखा था और द्विवेदी जी ने इस 'आत्म कथा' के रूप में उसका रूपान्तर मात्र किया है। आत्मकथा में वास्तविकता और प्रामाणिकता का आभास उत्पन्न करने के लिए लेखक ने अनेक कौशलों का सहारा लिया है। 'आमुख', उपसंहार और पाद टिप्पणियों का प्रयोग इसी कौशल के रूप में हुआ है। पूरा उपन्यास संस्कृत की कथा आख्यायिका—विशेष रूप से कादम्बरी और हर्षचरित—की शैली को ध्यान में रखकर लिखा गया है। भामह ने आख्यायिका के जो लक्षण बताए हैं, वे भी इसमें मिल जाते हैं। इसमें गद्य काव्य से युक्त सरस कथा कही गई है, यह उच्छ्वासों में विभक्त है और कथा कहने वाला स्वयं नायक है। कादम्बरी की तरह रूप रंग, शोभा, सौन्दर्य आदि के प्रचुर वर्णन के कारण इसमें भी कथा रुक रुककर आगे बढ़ती है। बाणभट्ट की शैली के अनुरूप रसघनत्व, आलंकारिक वस्तु वर्णन और पद विन्यास द्वारा पाठकों के मन में आत्म कथा की प्रामाणिकता उद्भासित करने में लेखक पूर्ण रूप से सफल हुआ है। फिर भी इसे प्राचीन कथा आख्यायिका न कहकर आधुनिक ढंग का उपन्यास ही कहा जायगा। जैसा कि लेखक ने उपसंहार में संकेत किया है, इसमें 'बाणभट्ट की शैली के साथ ऊपर ऊपर से साम्य होते हुए भी' आधुनिक शैली की यह नवीनता भी बहुत अधिक है, जो संस्कृत साहित्य में नहीं मिल सकती, प्रेम के गूढ़ और अटल भाव की व्यंजना में यह शैली विशेष रूप से दिखलाई पड़ती है। अतः उद्देश्य के अनुरूप प्राचीन शैली के साथ गूढ़ भावों को व्यंजित करने वाली आधुनिक शैली का सामञ्जस्य स्थापित करके लेखक ने हिन्दी उपन्यास में निश्चित रूप से बिलकुल मौलिक प्रयोग किया है।

× × ×

'शेखर: एक जीवनी' (प्रथम भाग) और 'बाणभट्ट की आत्म कथा' के बाद हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में जो भी नये प्रयोग हुए, वे पिछले तीन चार वर्षों में नई पौध के उन लेखकों द्वारा हुए जिनके प्रयोग की दिशा और जिनका उद्देश्य पिछले दोनों उपन्यासों से बिलकुल भिन्न है। धर्मवीर भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' का 'बहती गंगा', गिरिधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर', नागार्जुन का 'बाबा बटेसरनाथ', फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'सोया हुआ जल' इस दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसमें रचना शिल्प की नवीनता और ताजगी तो है ही, साथ ही इनमें आज के यथार्थ को कई स्तरों पर उभारने का प्रयत्न किया गया है।

किसी उपन्यास का कई कहानियों के रूप में लिखा जाना हिन्दी में ही नहीं अन्य भाषाओं में भी बिलकुल नया प्रयोग है। हिन्दी में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' इस टेकनीक में लिखा गया हिन्दी का प्रथम उपन्यास है। यह उपन्यास छः कहानियों के रूप में लिखा गया है। ये कहानियाँ परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी बड़े कौशल से एक दूसरे से जोड़ दी गई हैं। उपन्यास का गठन और कहानी कहने का ढंग बहुत पुराना और परिचित है। जैसा कि 'भूमिका' में श्री अज्ञेय ने लिखा है—"अलफलैला वाला ढंग, पंचतन्त्र वाला ढंग, बोकैच्छियो वाला ढंग, जिसमें रोज किस्सागोई की मजलिस जुटती है, फिर कहानी में से कहानी निकलती है।" 'कथासरित्सागर' में नरवाहनदत्त, मदनमंचुका और रानियों आदि में

कभी कभी प्रेम के किसी पहलू को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाता है और हर व्यक्ति अपने निष्कर्ष की सत्यता किसी कथा के माध्यम से सिद्ध करता है। यहाँ एक ही वस्तु को कई व्यक्ति कई कोणों से कई सन्दर्भों में रखकर देखते हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में बहुत कुछ इसी पद्धति का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। इसमें कहानी कहने वाले कई व्यक्ति नहीं, एक ही व्यक्ति माणिकमुल्ला है। उपन्यासकार की सारी मौलिकता इस बात में है कि उसने इस पुराने ढंग का उपयोग अपने उद्देश्य के अनुरूप इतने नये रूप में और इतने कौशल से किया है कि इस 'ग्रामीण' लगने वाला पद्धति में भी मौलिकता और नवीनता का अद्भुत आकर्षण आ गया है। प्रत्येक कहानी का अन्त भी पुरानी पोथियों के 'इति श्री कृत' पुस्तकस्य प्रथमो तरंग (लम्बक, अध्याय) समाप्त' के ढंग पर 'इस तरह माणिकमुल्ला की अमुक निष्कर्षवादी कहानी समाप्त हुई' के साथ होता है। अनिश्चित अनध्याय वाला अध्याय उपन्यासकार की अपनी मौलिक सूझ है और वह प्रयोजन विशेष से रखा गया है। कहानियों के रूप में लिखे जाने के कारण ही इसमें मध्यवर्गीय प्रेम और उसके भूठे नैतिक मूल्यों को इतने छोटे फलक पर, विभिन्न सन्दर्भों में कई कोणों से उभार सकना सम्भव हो सका है। यही उपन्यासकार का उद्देश्य भी है। दूसरी विशेषता यह है कि टेकनीक के इस प्रयोग में मनोविश्लेषणात्मक प्रयोगों की तरह की जटिलता नहीं है, बिलकुल सादा ढंग है, यहाँ तक कि कहीं कहीं आवश्यकता से भी अधिक सादगी आ गई है। किन्तु टेकनीक की दृष्टि से किसी उपन्यास का कहानी के फार्म में लिखा जाना उतना महत्त्व नहीं रखता, जितना कि वह कौशल जिसके द्वारा उपन्यासकार उन कहानियों में औपन्यासिक एकसूत्रता और सम्बद्धता स्थापित करता है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में माणिकमुल्ला का व्यक्तित्व तो इन कहानियों में एकसूत्रता स्थापित करने में योग देता ही है, साथ ही अन्य पात्र भी एक से अधिक कहानियों में बार बार आकर उस सम्बन्ध सूत्र को दृढ़ करने में सहायता पहुँचाते हैं। उपन्यास की यह टेकनीक बहुत सफल सिद्ध हुई है। अंग्रेजी और रूसी भाषा में कई नये उपन्यास कहानियों के रूप में लिखे गए हैं।

कई कहानियों के रूप में लिखी गई हिन्दी की दूसरी कृति—शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र' की 'बहती गंगा' है, जिसमें काशी के २०० वर्षों का प्रवहमान जीवन धारा को १७ तरंगों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। तत्कालीन सामाजिक जीवन के विविध भागों, उसके विभिन्न स्तरों को सींचने वाली ये तरंगें परस्पर स्वतन्त्र होते हुए भी 'धारा तरंग न्याय से' एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। किन्तु कहानियों के रूप में लिखी गई किसी कृति को उपन्यास का रूप देने के लिए जिस कौशलपूर्ण सम्बन्ध सूत्र की आवश्यकता होती है, वह सूत्र इस कृति में नहीं है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में यह सम्बन्ध सूत्र इसलिए है कि उसकी परस्पर स्वतन्त्र दीखने वाली कहानियाँ उपन्यास की कथानक योजना के अभिन्न अंग के रूप में लिखी गई हैं। यही कारण है कि स्वतन्त्र कहानी के रूप में लिखी जाने पर भी वे बच्चों की कहानियों जैसी महत्त्वहीन मालूम पड़ेंगी। इसके विपरीत 'बहती गंगा' की कहानियाँ परस्पर स्वतन्त्र ही नहीं, कहानी कला की दृष्टि से अपने आपमें पूर्ण उत्कृष्ट कोटि की कहानियाँ हैं। इन कहानियों की यह कलात्मक पूर्णता यह प्रमाणित करती है कि ये किसी उपन्यास के अंग के रूप में नहीं, बल्कि समय समय पर स्वतन्त्र कहानी के रूप में लिखी गई हैं। इन कहानियों में दृढ़ सम्बन्ध सूत्र के अभाव का मूल कारण यही है। फिर प्रश्न यह उठता है कि 'बहती गंगा' को क्या माना जाय, कहानियों का

संग्रह या कहानी रूप में उपन्यास या और कुछ। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी विभिन्न कहानियों और घटनाओं में सम्बद्धता और एकसूत्रता का अभाव इसके औपन्यासिक स्वरूप की पूर्णता में बाधक है, किन्तु साथ ही यह भी सच है कि 'बहती गंगा' काशी की जिन्दगी को लेकर लिखी गई कुछ कहानियों का संग्रह मात्र नहीं है, क्योंकि ये कहानियाँ जिस काल क्रम में रखी गई हैं उससे दो सौ वर्षों के भीतर काशी के सामाजिक जीवन में होने वाले क्रमिक विकास का पता चलता है। वस्तुतः 'बहती गंगा' को कहानी रूप में उपन्यास न कहकर कहानियों के रूप में दो सौ वर्षों के भीतर काशी के सामाजिक जीवन में होने वाले परिवर्तन और विकास का इतिहास कहा जा सकता है। इस दृष्टि से 'बहती गंगा' हिन्दी साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण और मौलिक कृति है, इतनी मौलिक कि अपनी नवीनता और मौलिकता के बल पर आलोचकों से नये साहित्य रूप के नाम की माँग कर सकती है। वैसे, यदि कोई चाहे तो किसी उचित नाम के अभाव में उपन्यास की सीमाओं को थोड़ा और बढ़ाकर इसे उपन्यास की संज्ञा दे सकता है।

× × × ×

कहा जा चुका है कि अंग्रेजी के परम्परावादी और मनोविश्लेषणवादी प्रयोगवादी उपन्यासकारों का मूल विवाद समयगत मूल्य (Time value) को लेकर है। प्रयोगवादियों का समयगत मूल्य को अन्य परिवर्तनशील कारणों पर आश्रित मानने का एक प्रभाव उपन्यासों पर यह पड़ा कि उनमें कथानक की काल सीमा धीरे धीरे सीमित होती गई, क्योंकि इन उपन्यासकारों के अनुसार समयगत मूल्य की दृष्टि से एक व्यक्ति की सम्पूर्ण जीवन कथा की अपेक्षा सम्भव है किसी अन्य व्यक्ति की २४ घण्टे की (या उससे भी कम) जिन्दगी अधिक महत्त्वपूर्ण हो। चूँकि मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकारों का उद्देश्य मानव मन पर पड़ने वाले प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव का क्रमपूर्वक विश्लेषण करना था, इसलिए समय सम्बन्धी यह मान्यता उनके लिए अधिक अनुकूल थी। लम्बा काल फलक लेकर प्रत्येक क्षण के प्रत्येक प्रभाव को चित्रित करना उनके बूते की बात नहीं थी। इस पद्धति के आचार्य जेम्स ज्वॉयस को २४ घण्टे की जिन्दगी का विश्लेषण करने में ही ७ वर्ष लग गए, तब लगभग ८०० पृष्ठों की 'यूलिसिस' तैयार हुई, 'फिनेग सवेक' में इसी कार्य को और अधिक बारीकी से करने में उन्हें १६ वर्ष लग गए।

समय सम्बन्धी इस प्रयोग ने मनोवैज्ञानिक यथार्थ के चित्रण में ही नहीं, सामाजिक यथार्थ, यहाँ तक कि समाजवादी यथार्थ के चित्रण की दिशा में भी अपनी उपयोगिता सिद्ध की। आधुनिक रूसी उपन्यासकार कातेइव (Kataev) के प्रसिद्ध उपन्यास 'फार्वर्ड, ओ टाइम' में भी कथा एक कस्बे की २४ घण्टे की जिन्दगी तक ही सीमित है।

हिन्दी में हाल ही में प्रकाशित गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी के खण्डहर' और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के लघु उपन्यास 'सोया हुआ जल' में समय सम्बन्धी इस प्रयोग को अपनाया गया है। 'चाँदनी के खण्डहर' की काल सीमा है २४ घण्टा, 'सोया हुआ जल' की इससे भी कम सिर्फ १२ घण्टा। इन उपन्यासों पर विचार करने के पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि सीमित समय को लेकर बृहद्काय और लघु दोनों तरह के उपन्यास लिखे गए हैं। 'चाँदनी के खण्डहर' और 'सोया हुआ जल' लघु उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। मेरे विचार से लघु उपन्यासों में ही समय सम्बन्धी यह प्रयोग अधिक सफल हो सकता है। क्योंकि लघु उपन्यासों का उद्देश्य जीवन को उसकी सम्पूर्णता में चित्रित करना नहीं, बल्कि उसके किसी एक पक्ष पर

या कुछ पक्षों पर तीव्र और गहरा प्रकाश डालना होता है। इनमें लघु कथाओं जैसी गहनता, तीव्रता और प्रभविष्णुता लाने के लिए उपन्यासकार को ऐसी ही घटनाओं, परिस्थितियों और मनस्थितियों का चुनाव करना होता है, जो अभीष्ट प्रभाव की अन्विति में उसे अधिक से अधिक तीव्र और गहरा बनाने में योग देती हैं। कथा की काल सीमा कम रखने वाले उपन्यासकारों का उद्देश्य इस प्रभाव को और अधिक एकोन्मुख करना होता है। समय-सम्बन्धी इस प्रयोग को अपनाकर लिखे गए उपन्यासों में उपन्यासकार का उद्देश्य कोई कहानी कहना नहीं होता, क्योंकि सीमित समय के कारण उसके पास कथा गढ़ने लायक कथा सूत्रों और घटनाओं की कमी रहती है।

'चाँदनी के खडहर' में भी लेखक का उद्देश्य कहानी कहना नहीं है। उसका उद्देश्य वर्णन और चित्रण शैली के बल पर मध्यवर्ग का वर्तमान स्थिति का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करना है। एक मध्यवर्गीय परिवार का आर्थिक स्थिति और उसकी पृष्ठभूमि में समूचे परिवार को भीतर ही भीतर निगलने वाली निराशा, कुण्ठा और आन्तरिक खोखलेपन का इतना तीखा और पाठक के मन और बुद्धि को झकझोरने वाला चित्र हिन्दी में कम ही मिलेगा। बसन्त को ५ वर्ष बाद लन्दन से ले आने में मध्यवर्ग की उच्चाकांक्षा दिखाने के अतिरिक्त उपन्यासकार के दो और उद्देश्य हैं —

१—मध्यवर्ग की आर्थिक स्थिति में तेजी से होने वाले परिवर्तन की ओर संकेत करना। आज का मध्यवर्ग कितना तेजी से खोखला होता जा रहा है, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते, बिलकुल उसी तरह जैसे बसन्त सोच भी नहीं पाता कि ५ वर्ष के भीतर ही उसके परिवार को, परिवार के प्रत्येक व्यक्ति को इतना अधिक किसने बदल दिया।

२—इस परिवर्तन के आन्तरिक और बाह्य प्रभाव की तीव्रता और गहराई दिखाना। परिवार के किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से इस प्रभाव की तीव्रता और गहराई नहीं व्यक्त की जा सकती थी, क्योंकि वह स्वयं बदलने की इस प्रक्रिया का अंग होने के कारण बहुत कुछ उसका अभ्यस्त हो गया है उसे बसन्त की तरह एक साथ ही इतना बड़ा परिवर्तन देखने, झेलने या अनुभव करने को नहीं मिलता है। लम्बी अवधि के बाद उम्मीदों का एक नई दुनिया साथ लेकर लौटा हुआ व्यक्ति जितना तीव्रता और गहराई से इसका अनुभव कर सकता है, उतना उस परिवर्तन को नित्य देखने या झेलने वाला व्यक्ति नहीं। साथ ही बसन्त के मन पर पड़ने वाले प्रभाव में भी जितनी तीव्रता और गहराई पहले दिन सम्भव है, उतना दूसरे दिन नहीं। उपन्यास के कथानक को २४ घण्टे का काल सीमा में बाँधने का यही कारण है। परिवार की उत्तरोत्तर बिगड़ती हुई स्थिति के सूचक सूत्रों को एक-एक करके खोलने में उपन्यास के वस्तु गठन का सारा कौशल निहित है। यदि बसन्त के प्रारम्भिक उत्साह और उमग के अतिरंजित वर्णन को लेखक थोड़ा सँभाल पाता, तो इस अत्यधिक उमग के कारण उपन्यास के प्रारम्भिक अंश में जो थोड़ी कचाई आ गई है, वह न आ पाती। 'कन्ट्रास्ट' दिखाने के लिए आवश्यकता से अधिक उमग का चित्रण जरूरी नहीं था।

'चाँदनी के खण्डहर' में यदि एक परिवार की एक दिन की जिन्दगी का वर्णन है तो 'खोया हुआ जल' में एक यात्रिशाला (डाक बँगला) के यात्रियों की एक रात की जिन्दगी का। इसके अतिरिक्त दोनों में कोई सादृश्य नहीं है। वस्तु शिल्प, रूप गठन, शैली, उद्देश्य सभी

दृष्टियों से 'सोया हुआ जल' बिलकुल भिन्न कोटि का उपन्यास है और अत्यन्त लघु होते हुए भी वह कई दृष्टियों से हिन्दी में बहुत ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। पूरा उपन्यास सिने-रियो टेकनीक में लिखा गया है। लगता है कि लेखक ने अंग्रेजी के नये उपन्यासों की टेकनीक का विशेष अध्ययन किया है। इस टेकनीक की विशेषता यह है कि इससे कई व्यक्तियों के भावों, विचारों और कार्यों, यहाँ तक की एक ही व्यक्ति के विभिन्न भावों और मनस्थितियों का समकालवर्तित्व (Simultaneity) दिखलाया जा सकता है। एक ही व्यक्ति के समकालवर्ती (Simultaneous) बाह्याचरण और आन्तरिक भाव में असंगति दिखलाने के लिए उपन्यासकार ने स्वप्न पद्धति का सहारा लिया है। इस पद्धति के द्वारा लेखक विभा और राजेश के वैवाहिक मधुर सम्बन्ध और उनके अन्तश्चेतन में पर पुरुष और पर स्त्री के लिए वर्तमान अतृप्त प्यास (विभा का मोहन के और राजेश का एक गोरी लड़की के प्रति) की सहस्थिति दिखलाने में सफल हो सका है। यात्रिशाला में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों के समकालवर्ती (Simultaneous) भावों, विचारों और कार्यों का चित्रण लेखक ने उस बूढ़े पहरेदार के माध्यम से किया है जिसके कान प्रत्येक कमरे से आने वाली आवाज को सुनते हैं, जिसकी दृष्टि प्रत्येक व्यक्ति के कार्यों और व्यवहारों को देखती है। पति पत्नी, प्रेमी प्रेमिका, जन नायक, शराबी, मौजी, आवारा, सभी प्रकार के लोग उस यात्रिशाला में रहते हैं, इसलिए एक ही समय में विभिन्न ढंग के काम, विभिन्न प्रकार की बातें उसे देखने सुनने को मिलती हैं।

उपन्यास की प्रमुख विशेषता, उसकी प्रतीकात्मकता है। चाहे तो इसे प्रतीकात्मक उपन्यास (Symbolic novel) भी कह सकते हैं। स्वप्न दूत के माध्यम से इस प्रतीकार्थ को स्पष्ट भी कर दिया गया है। बूढ़े पहरेदार को स्वप्न दूत बतलाता है कि—

'मैं रोज यहाँ आता हूँ लेकिन तुमसे बिना मिले चला जाता था। आज तुम्हें बीमार देखकर तुम्हारे पास आ गया।

'तुम यहाँ रोज किस लिए आते हो ?

प्यासी आत्माओं की शांति के लिए।'

'यात्रिशाला' शब्द सोद्देश्य रखा गया है, वह इस संसार का प्रतीक है जिसमें नियत समय के निवास के लिए आये यात्री जीव रहते हैं। उन सभी यात्री जीवों की आत्माएँ प्यासी हैं। लेखक कहना चाहता है कि सारी अशान्ति, सम्पूर्ण विशृंखलता (Chaos) के मूल में यह आन्तरिक प्यास है, मानव की अतृप्त आकांक्षाएं और वासनाएँ हैं। 'सोया हुआ जल' अन्तश्चेतन में सोए हुए इसी आन्तरिक प्यास का प्रतीक है। जर्जर मानवता अथवा मनुष्य को जाग्रत और सावधान रहने के लिए सचेत करने वाली उच्च मानवीय चेतना का प्रतीक है। बूढ़ा पहरेदार, जो बीमार है, अफीम खाकर पड़ा हुआ है और जो अन्त में मर जाता है। कमरा नं० ११ से आने वाली आवाज को यदि लेखक की आवाज मान लिया जाय तो मानवता की रक्षा का, इस विशृंखलता और अशान्ति को दूर करने का एक मात्र उपाय यह है कि 'इंसान को भीतर से बदलने दो, बाहर से बदलने से कोई काम नहीं चलेगा।'

कुछ लोगों का खयाल है कि 'डूबते मस्तूल' में भी उमय सम्भवी यह प्रयोग है। इसीलिए 'डूबते मस्तूल', 'चाँदनी के खण्डहर' और कभी कभी जानकारी प्रकट करने के लिए 'पुलिसिया' को भी एक ही वर्ग में रख दिया जाता है। ऐसे लोग यह भूल जाते हैं कि समय

सम्बन्धी इस प्रयोग का सम्बन्ध उपन्यास की कथा से है, जबकि 'डूबते मस्तूल' में उसकी कथा का काल सीमा २४ घण्टे नहीं बल्कि रञ्जना द्वारा अपनी जीवन कथा सुनाए जाने का काल सीमा २४ घण्टे (या उससे भी कम, क्योंकि रञ्जना की जीवन कथा सुनने के लिए प्रथम पुरुष को स्टेशन से रञ्जना के बंगले तक आने और भोजन स्नानादि में कुछ घण्टे खर्च हो गए हैं) है। इसमें सन्देह नहीं कि यह जेम्स ज्वायस की प्रेरणा से ही लेखक ने उपन्यास में '२४ घण्टे का प्रयोग' किया है। यही कारण है कि प्रयोग की भ्रान्ति में वह यह भूल गया है कि इससे उपन्यास में असंगति और अस्वाभाविकता का कितना बड़ा दोष आ गया है। पहला प्रश्न यह है कि रञ्जना की जीवन कथा को प्रस्तुत करने का इतना अस्वाभाविक ढंग क्यों अपनाया गया है। क्या यह अस्वाभाविक नहीं है कि एक स्त्री एक अपरिचित व्यक्ति को अपने साथ किये गए व्यभिचार और बलात्कार की कहानी लगातार १४-१५ घण्टे दिन रात जगकर सुनाती रहे? और यह जानते हुए कि वह व्यक्ति उसका प्रेमी अकलंक नहीं है, उसे जबरदस्ती अकलंक मानकर, और अजीब अस्वाभाविक ढंग से उससे भी जबरदस्ती मनवाकर सारी कथा सुनाई जाती है। कथा का वह अंश तो विशेष द्रष्टव्य है, जिसमें रञ्जना अपने 'उस' अकलंक की प्रेम-कथा विस्तारपूर्वक अपने 'इस' अकलंक को सुनाती है।

रञ्जना वह असाधारण नारी चरित्र है जिसके साथ हर व्यक्ति प्रेम का स्वाँग रचकर, धोखा देकर, बलपूर्वक उठा ले जाकर या कमरे में अकेला पाकर व्यभिचार और बलात्कार कर सकता है और जो बिना किसी विरोध के आत्म समर्पण कर सकती है, हर किसी स्थिति से समझौता कर सकती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि इस अद्भुत सुन्दरी की सृष्टि ही ईश्वर ने इसी काम के लिए की थी और यह भी मान लिया जाय कि इस प्रकार वह निष्काम कर्मयोगी रमणी विशिष्ट मनःस्थिति में पहुँचकर किसी भी व्यक्ति को चाहे जहाँ से अपने एकान्त गृह में बुलाकर खिला-पिलाकर और स्पर्श सुख देकर अपनी इतनी महत्त्वपूर्ण जीवन गाथा सुना सकती है, तब भी यह बात समझ में नहीं आती कि कथा सुनाने का यह 'दास्तानगोई' ढंग क्यों अपनाया गया है। एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को समेटने वाली इतनी लम्बी कथा को अनवरत रूप से १७-१८ घण्टे की अस्वाभाविक लगने वाली एक लम्बी बैठक में ही कहलवाने की जल्दबाजी क्यों? सिवा इसके कि उपन्यासकार को '२४ घण्टे का प्रयोग' करना है, दूसरा कोई कारण नहीं समझ में आता। प्रयोग की इस सीमा का ही यह परिणाम है कि कथानक की सारी मौलिकता तो नष्ट हो ही गया है साथ ही उपन्यास में अस्वाभाविकता का इतना बड़ा दोष आ गया है कि यह साधारण उपन्यासों से अधिक महत्त्व का नहीं रह गया है। किन्तु इतना अधिक दूर जाकर भी लेखक समय-सम्बन्धी प्रयोग को उपन्यास में नहीं ला सका है। कथा को कुछ घण्टे की काल सीमा में बाँधकर लिखे गए उपन्यास 'डूबते मस्तूल' की तरह रचना प्रधान नहीं हुआ करते।

प्रयोग के लिए प्रयोग का इससे भी अच्छा उदाहरण प्रभाकर माचवे के शुद्ध प्रयोग वाला उपन्यास 'परन्तु' है। सम्भवतः यह हिन्दी का पहला उपन्यास है, जिसमें 'व्याकरण पद्धति' के प्रयोग को अपनाया गया है। इस प्रयोग के कारण इस उपन्यास में मौलिकता और नवीनता का अद्भुत आकर्षण आ गया है। इस दृष्टि से 'परन्तु' निश्चित रूप से 'अपने ढंग का अकेला उपन्यास' है। उपन्यास के अधिकांश पात्र उच्चवर्ग के अध्येता हैं और वे प्राय अपनी जाब

के अनुसार विविध विषयों की पुस्तकें पढ़ते रहते हैं—कुमार सम्भव, गीता, पैराडाइज़ लास्ट, अव्यक्तिमुक्तकता और टी० एस० इलियट की कविता से लेकर नाट्यशास्त्र, जीव विज्ञान और अखबारों की कटिंग तक। यथार्थ के तकाज़े को स्वीकार करके वे जो कुछ पढ़ते हैं, उसे लेखक ज्यों-का त्यों उद्धृत करता गया है। इस प्रकार डबल क्राउन साइज़ में छपे ८४ पृष्ठों के इस उपन्यास का लगभग एक चौथाई भाग इन महत्त्वपूर्ण उद्धरणों से भरा है। पाठकों को कहानियों के माध्यम से विविध विषयों का 'सामान्य ज्ञान' कराने की दिशा में इसे एक महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है। अपने उद्देश्य की दृष्टि से यह उपन्यास 'हितोपदेश' और 'मित्र लाभ' की परम्परा में आता है, उस परम्परा को आगे बढ़ाने में योग देता है। इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें इस 'उद्धरण पद्धति' का अंग्रेजी के अन्तश्चेतनावादी उपन्यासों की 'चेतना प्रवाह' पद्धति के साथ अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया गया है। अन्यथा पात्रों के अन्तश्चेतन या अन्तर्मन में कोई पुस्तक पढ़ते समय या अध्यापक का भाषण सुनते समय अनेक असम्बद्ध विचार तरंगें उठती हैं। मनोवैज्ञानिक यथार्थ के आग्रह को मानकर लेखक इन असम्बद्ध विचारों को ज्यों का त्यों बीच बीच में उद्धृत करता गया है।

उपन्यासकार का सूक्ष्म निरीक्षण तो आश्चर्य में डाल देने वाला है। उदाहरण के लिए अविनाश के कमरे में, विशेष रूप से उसकी मेज़ पर रखी हुई वस्तुओं की सूची देखी जा सकती है। मेज़ पर रखा हुआ स्याहीसोख का टुकड़ा और उस टुकड़े पर लिखी हुई अर्थशून्य आकृतियाँ और आँकड़े तक दे दिये गए हैं। इस पद्धति के आचार्य जेम्स ज्वायस में भी निरीक्षण की यह बारीकी शायद ही ढूँढने से मिले। इस प्रकार इन तीन नई पद्धतियों—उद्धरण पद्धति, चेतना प्रवाह पद्धति और विस्तृत सूची—के सम्मिलित प्रभाव से इस उपन्यास में मौलिकता और नवीनता का गुण अवश्य आ गया है, परन्तु वह उपन्यास किस प्रकार है यह प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है।

× × × ×

हिन्दी के नये उपन्यासों में आंचलिक और स्थानीय रंग (Regional touch and local colour) की इधर काफ़ी चर्चा है। 'मैला आँचल' के प्रकाशन ने इस चर्चा को और गति दी है। उपन्यास में आंचलिक तत्त्व और स्थानीय रंग को मैं नया प्रयोग नहीं मानता। उपन्यास में अधिक से अधिक यथार्थानुसारिता और स्वाभाविकता लाने के लिए पहले भी उपन्यासकार किसी स्थान अथवा अंचल विशेष की भाषा, रीति रिवाज आदि का प्रसंगानुसार चित्रण करते रहे हैं। किन्तु 'मैला आँचल' जैसा आंचलिक उपन्यास निश्चित रूप से हिन्दी में एक नया प्रयोग है। बात को स्पष्ट रूप से समझने के लिए आंचलिक उपन्यास और उपन्यास में यथास्थान आंचलिक और स्थानीय चित्रण के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। अन्तर उद्देश्य और प्रधानता का है। किसी अंचल विशेष की भौगोलिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का चित्रण करना आंचलिक उपन्यास का प्रमुख उद्देश्य होता है, इसलिए उपन्यासकार वहाँ की भौगोलिक विशेषताओं के साथ साथ वहाँ के लोगों के जीवन स्तर, रीति रिवाज, त्यौहार, धर्म, लोक विश्वास, भाषा आदि का चित्रण विशेष रूप से अपने उपन्यास में करता है, इसके लिए वह अवसर ढूँढकर किसी न किसी रूप में इन विशेषताओं को उपन्यास में लाता ही है। ऐसे उपन्यासों में कथा सूत्र क्षीण, जीवन वैविध्य अधिक और इस

वैविध्य चित्रण में सहायक पात्रों का आधिक्य होता है। वर्णन की अधिकता के कारण आँच लिक उपन्यास में कथा काफी रुक रुककर चलती है, किंतु इससे रोचकता कम नहीं होती। अच्छे आंचलिक उपन्यास में ऐसे वर्णनात्मक स्थलों में उत्कृष्ट बोर्ड के स्केच जैसी—उससे भी अधिक—रोचकता होती है। दूसरी ओर ऐसे उपन्यास भी है या हो सकते हैं जिनमें आंच लिक और स्थानीय रंग के होते हुए भी, जिन्हें आंचलिक उपन्यास नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास अपना इस विशेषता के लिए प्रसिद्ध होते हुए भी आंचलिक नहीं हैं। ऐसे उपन्यासों में वातावरण को अधिक सजीव और यथार्थ बनाने और पात्रों में स्वाभाविकता लाने के लिए, कथा के विकास क्रम में परिस्थिति के अनुकूल यथास्थान आंचलिक और स्थानीय रंगों—रीति रिवाज, भाषा आदि का पुट दे दिया जाता है। इससे उपन्यास के कथा प्रवाह या रूप गठन पर आंचलिक उपन्यासों की तरह का कोई असर नहीं पड़ता।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आँचल' आंचलिक उपन्यास का एक उत्कृष्ट उदाहरण है और सम्भवतः हिंदी का यह पहला आंचलिक उपन्यास है। मेरे विचार से वही आंचलिक उपन्यास अधिक सफल सिद्ध हो सकता है जिसमें कथा बुनने के लिए ऐसे अञ्चल को चुना गया हो जिसकी विशेषताओं से लोग कम परिचित हों। साथ ही उपन्यासकार का उस प्रदेश के लोक जीवन से घनिष्ट परिचय भी आवश्यक है। 'मैला आँचल' में पूर्णिया जिले को लिया गया है। पूर्णिया जिले की निश्चित रूप से कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, इन विशेषताओं में नेपाल, बंगाल, संथाल परगना और मिथिला आदि सीमावर्ती प्रदेशों की अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं का प्रभाव भी मिला हुआ है। पूर्णिया जिले के एक गाँव को आधार बनाकर लिखे गए इस उपन्यास में इन विशेषताओं को ही मुख्य रूप से उभारा गया है। इसलिए गाँवों की जिंदगी को लेकर लिखे गए अन्य उपन्यासों से यह भिन्न कोटि का उपन्यास है। गाँवों की जिंदगी—विशेष रूप से इस अंचल की जिन्दगी का जितना वैविध्यपूर्ण चित्र इस उपन्यास में मिलेगा, उतना सम्भवतः हिंदी के किसी अन्य उपन्यास में नहीं। एक गाँव की जिंदगी के इतने अधिक पक्षों का इतना सजीव और यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की दिशा में यह उपन्यास सम्भवतः प्रेमचंद के उपन्यासों से भी आगे बढ़ा हुआ है। किंतु इस उपन्यास के महत्त्व का आकलन करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि इसकी आंचलिकता यदि एक ओर इसमें जीवन वैविध्य लाने और यथार्थ को अधिक से अधिक सजीव बनाने में योग देती है, तो दूसरी ओर कुछ सीमाएँ भी बाँध देती है। अतः सुनियोजित कथानक और सशक्त चरित्र विधान इसमें नहीं मिलेगा। होरी की तरह का आज के किसानों का प्रतिनिधित्व करने वाला सशक्त चरित्र इसमें कोई नहीं है। कारण यह है कि इस उपन्यास का उद्देश्य एक किसान की सम्पूर्ण जिंदगी बताना नहीं, बल्कि एक गाँव की अथवा एक अंचल विशेष की जिंदगी को सामने रखना है। गाँवों में अनेक प्रकार के लोग रहते हैं और उनमें अलग अलग चारित्रिक विशेषताएं होती हैं। इस उपन्यास में पात्र इन सभी चारित्रिक विशेषताओं को सामने रखने के लिए साधन रूप में आए हैं। एक गाँव की भौगोलिक स्थिति, उस स्थिति का वहाँ के निवासियों के जीवन पर प्रभाव, विभिन्न जातियों और समुदायों की स्थिति और उनका पारस्परिक सम्बन्ध, रीति रिवाज, धार्मिक स्थिति, राजनीतिक चेतना आदि का यथार्थ और सजी

विवरण देना ही इस उपन्यास का उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति में उपन्यासकार निश्चित रूप से सफल हुआ है। यही कारण है कि इस उपन्यास के किसी भी पात्र में नायक होने की क्षमता नहीं है। उपन्यास का नायक मेरीगंज गाँव ही हो सकता है, कोई पात्र नहीं।

साथ ही यह भी ध्यान में रखना है कि मेरीगंज गाँव पिछड़े गाँवों का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। जैसा कि उपन्यासकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि उसने इस गाँव को पिछड़े हुए गाँवों का प्रतीक मानकर अपनी कथा का क्षेत्र चुना है। अतः इसमें आज की बदली हुई परिस्थिति में भारतीय ग्रामीण जीवन के विकास का गत्यात्मक रूप नहीं मिलेगा। उपन्यासकार का यह उद्देश्य भी नहीं है। उपन्यास को आंचलिक रूप देने के साथ ही उसे कुछ हद तक इन सीमाओं में भी बँधना पड़ा है। ऐसे उपन्यासों का समाजशास्त्रीय मूल्य ही उनको श्रेष्ठता प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। इस दृष्टि से 'मैला आँचल' हिंदी में एक नया और महत्त्वपूर्ण प्रयोग तो है ही, साथ ही वह हिन्दी उपन्यास को एक नई दिशा की ओर भी संकेत करता है।

गाँवों की जिंदगी को लेकर नये लेखकों द्वारा इधर कई अच्छे उपन्यास लिखे गए हैं। इनमें डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'बया का घोंसला और साँप' तथा नागार्जुन का 'बलचनमा', 'नई पौध' और 'बाबा बटेसरनाथ' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें कथा शिल्प सम्बन्धी नया प्रयोग केवल 'बाबा बटेसरनाथ' में है। 'बाबा बटेसरनाथ' की कथा का अधिकांश एक पुरातन बट वृक्ष के द्वारा कहलाया गया है। इस वृहद् अंश में मुख्य रूप से बट वृक्ष की ही आत्म कथा कही गई है। कथा कहने की इस पद्धति का उद्देश्य बट वृक्ष की आत्म कथा कहना भी है, इसमें संदेह नहीं। किंतु उपन्यास के पूरे गठन को देखते हुए लगता है कि कपास और कपय की आत्म कहानी की तरह बट वृक्ष की आत्म कहानी कहना ही उपन्यासकार का मुख्य उद्देश्य नहीं है, यद्यपि प्रधानता उसमें बट वृक्ष की ही है। सैकड़ों वर्ष की लम्बी आयु वाले बट वृक्ष के माध्यम से उपन्यासकार चार पीढ़ी पूर्व से लेकर अब तक के १०० १५० वर्षों के लम्बे काल में गाँव की जिन्दगी में होने वाले परिवर्तन का संक्षिप्त विवरण भी देना चाहता है। किन्तु दुहरे उद्देश्य और स्थान के अभाव के कारण इतने लम्बे काल की दो धाराओं में बड़ी घटनाओं को उपन्यासकार ठीक से समेट नहीं सका है। साथ ही इतने लम्बे काल का कथा को रात भर में ही बट वृक्ष द्वारा कहलवाने के कारण उसमें विवरणात्मकता भी आ गई है और उसके कुछ अंश सचमुच ही 'प्रवचन' मालूम पड़ते हैं। बट वृक्ष की 'आप बीती' से निश्चित रूप से नागार्जुन जी की मौलिक प्रतिभा और ग्रामीण जीवन से उनके घनिष्ठ सम्बन्ध का पता चलता है। यदि नागार्जुन जी अधिक सँभालने का लोभ थोड़ा सँभाल पाते, तो शायद वे ग्रामीण जीवन के घनिष्ठ परिचय से प्राप्त अपने महत्त्वपूर्ण सत्य को अधिक व्यापक स्तर पर और अधिक सफलता से व्यक्त कर सकते।

अमृतलाल नागर का हास्य प्रधान उपन्यास 'सेठ बाँकेमल' आगरा की बोल चाल की भाषा में लिखा हुआ अपने ढंग का अकेला उपन्यास है। भाषा और कथा शिल्प दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी उपन्यास में यह एक नया प्रयोग है। दुकान पर ही बैठे बैठे आगरा के सेठ बाँकेमल अपनी और अपने मित्र चौबेजी की जवानी के दिनों की मस्ती, जिंदादिली और 'तरदैदी' की कहानियाँ अपने भतीजे (चौबेजी के पुत्र) को बिलकुल आगरा की बातचीत के लहजे में सुनाना शुरू करते हैं और दुकान बंद होने तक सुनाते रहते हैं। साथ ही इस गप्प की दौरान में आने

वाले ग्राहकों तथा अन्य व्यक्तियों को भी बीच बीच में निपटाते जाते हैं। सेठ बाँकेमल द्वारा कुछ ही घण्टों के भीतर कही गई उनकी मस्ती, रंगीन दिल्लगी और विलक्षण हास्य पैंच सम्बन्धी गप्प (सं० गप्प) ही इस उपन्यास की कथावस्तु है। उपन्यास का सारा आकर्षण सेठ बाँकेमल के व्यक्तित्व में निहित है, जो पुराने तजुर्बेकार बुड्ढे की तरह हर किसी बात पर अपनी और अपने जमाने की तारीफ करना शुरू करते हैं, जिसमें गप्प का अंश ही अधिक रहता है। पात्रों को अधिक से अधिक यथार्थ और स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करने तथा उनके अनुकूल स्वाभाविक भाषा के प्रयोग में नागर जी जैसी कुशलता कम उपन्यासकारों में पाई जाती है।

× × ×

हिन्दी के प्रयोगात्मक उपन्यासों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि उनमें से अधिकांश में रूप शिल्प सम्बन्धी नये प्रयोग किसी निश्चित उद्देश्य की सिद्धि के लिए किये गए हैं। प्रयोग के उद्देश्य को लेकर ही प्रयोग की सार्थकता और उसके महत्त्व पर विचार किया जा सकता है, तात्पर्य यह कि प्रयोग की सारी सार्थकता नवीन रूप शिल्प के अन्वेषण के लिए बाध्य करने वाले उद्देश्य को लेकर है। उदाहरण के लिए 'सोया हुआ जल' में उपन्यासकार अनेक व्यक्तियों के भावों, विचारों और कार्यों की समकालवर्तिता दिखाना चाहता है, इसके लिए उसे अन्य होकर सिनेरियो टकनीक को अपनाना पड़ा है क्योंकि हिन्दी उपन्यासों की किसी प्रचलित पद्धति द्वारा वह अन्य इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता था। इस उद्देश्य की सिद्धि के साथ ही, उसके रूप शिल्प सम्बन्धी नये प्रयोग की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। यह अलग प्रश्न है कि जिस यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए वह यह समकालवर्तिता दिखाना चाहता है, वह कितने महत्त्व का है। सम्भव है कोई दूसरा उपन्यासकार यथार्थ के किसी अन्य पहलू को दिखाने के लिए इसी पद्धति का सहारा ले। उपन्यास के महत्त्व और श्रेष्ठता आदि का आकलन करते समय अवश्य उसके प्रयोग के महत्त्व के साथ साथ उस यथार्थ की महत्ता और लघुता तथा अन्य बहुत सी बातों पर विचार करना होगा। यह कसौटी प्रयोगात्मक उपन्यासों के लिए जितनी सही है, उतनी ही परम्परागत रूप शिल्प में लिखे गए उपन्यासों के लिए भी। फिर भी इस विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि आज के यथार्थ का कोई पक्ष ऐसा हो सकता है जिसके चित्रण के लिए कुछ हद तक नये रूप विधान का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। किन्तु प्रयोग की नवीनता बिलकुल मौलिक और नई उद्भावना में ही नहीं होती पुराने लेखकों द्वारा प्रयुक्त शैली को, उसमें थोड़ा परिवर्तन अथवा विस्तार लाकर अपने उद्देश्य के अनुरूप नये ढंग से, नये रूप में प्रयोग करने में भी उतनी ही नवीनता आ जाती है।

इन उपन्यासों के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन प्रयोगों द्वारा हिन्दी उपन्यास एक नई दिशा की ओर मुड़ रहा है और उनमें स्वस्थ सामाजिकता की प्रवृत्ति के साथ साथ शिल्प के नये स्तरों का विकास हो रहा है। प्रयोग की दिशा में प्रारम्भिक प्रयत्न होने के कारण, इनमें कई अभाव (विशेषकर चरित्र के अभाव की ओर सबसे पहले ध्यान जाता है) हो सकते हैं या हैं, किन्तु जिस दिशा में ये प्रयोग हो रहे हैं, वह दिशा स्वस्थ है, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है। इसलिए आज के यथार्थ को, मानव व्यक्तित्व के संघर्षात्मक और निर्माणात्मक तत्त्वों को विभिन्न कोणों से, विभिन्न आयामों में चित्रित कर सकने के लिए आज का उपन्यासकार जिन नई पद्धतियों का प्रयोग कर रहा है, उनका केवल इसलिए

तिरस्कार नहीं किया जा सकता कि जिन उपन्यासों में ये प्रयोग किये गए हैं, उनमें अन्य दृष्टियों से कुछ कमियाँ हैं, या टालस्टॉय, डिकेन्स या प्रेमचन्द की तुलना में वे सामान्य कोटि के ठहरते हैं। ऐसा करना साहित्यिक प्रगति की प्रक्रिया से अनभिज्ञता प्रकट करना तो होगा ही, साथ ही उसकी असीम सम्भावनाओं को लक्ष्य न करके प्रारम्भ में ही उसका गला घोंट देना होगा। निश्चित ही यहाँ मैं उन निरुद्देश्य प्रयोगों का समर्थन नहीं कर रहा हूँ जो केवल चौंकाने और सस्ती ख्याति प्राप्त करने के लिए ही किये जाते हैं।

स्वेतोजार पत्रोविच

यूगोस्लावियन साहित्य की वर्तमान समस्या

यूगोस्लाविया के प्रमुख साहित्यिक पत्रों ने इस वर्ष अपने प्रथम अंकों में गत नवम्बर को बेल्ग्रेड में हुए एक साहित्यिक वाद विवाद की कार्यवाही प्रकाशित की। इस वाद विवाद का आयोजन 'यूगोस्लावियन लेखक संघ' ने किया था, जिसके लगभग सभी समकालीन यूगोस्लाव साहित्यिक सदस्य हैं। इस संघ के द्वारा आयोजित सभी समारोहों तथा सभाओं में यूगोस्लाविया के असाहित्यिक जन भी रुचि रखते थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि ये सभाएँ प्रायः सामान्य जनता तथा देश के राजनीतिक जीवन में नवीन धाराओं का प्रवहन करती थीं और देश के सैद्धान्तिक विकास को गत महायुद्ध के बाद से काफी प्रभावित किया करती थीं।

बेल्ग्रेड में हुआ यह साहित्यिक वाद विवाद समकालीन यूगोस्लाव साहित्य[1] में कोई युगान्तरकारी घटना नहीं मानी जा सकती। कला और साहित्य के सम्बन्ध में होने वाले तर्क साहित्यिक क्रान्तियों को जन्म नहीं दे सकते। परन्तु इस अन्तिम वाद विवाद ने तो लोगों की चिन्तन पद्धति को उतना भी परिवर्तित नहीं किया जितना कि पहले के वाद विवाद किया करते थे। फिर भी बेल्ग्रेड के परिसंवाद ने यूगोस्लाव के साहित्य तथा संस्कृति की एक प्रक्रिया को पूर्ण रूप दिया, जो वहाँ कुछ वर्षों पूर्व प्रारम्भ हुई थी। विकसित होती हुई कई चिन्तन धाराएँ इसमें कुछ और परिपक्व तथा निश्चित हुई हैं तथा कुछ नवीन दिशाओं का आभास भी मिला है।

---

1 प्रस्तुत निबन्ध में यूगोस्लाव साहित्य की चर्चा है। किन्तु वस्तुतः यूगोस्लाव साहित्य कोई एक नहीं है। ९वीं से ११वीं शती तक एक प्राचीन स्लावानिक साहित्य वर्तमान था जिसके सभी स्लाव भागी थे—दाक्षिणात्य (स्लोवीन, क्रोअट्स, सर्ब्स, मैसीडोनियन्स, बल्गेरियन्स), पश्चिमी (चेक, स्लोवाक्स, पोल्स) तथा पूर्वी (रूसी, यूक्रेनियन और पूर्वी रूसी)। तब से कई शताब्दियाँ व्यतीत हो गईं और वे पारस्परिक बन्धन जो समस्त स्लाव जाति को बाँधे हुए थे भौगोलिक दूरी, चिन्तन वैभिन्न्य तथा राजनीतिक और धार्मिक शक्तियों के प्रभाव के फलस्वरूप टूट गए। तब से दाक्षिणात्य (यूगोस्लाव) लोगों ने अपने आपको स्वतन्त्र राष्ट्रीय वर्गों में विकसित कर लिया। १९१८ ई० तक दाक्षिणात्य स्लाव (बल्गेरियन लोगों के अतिरिक्त) एक संयुक्त राष्ट्र बना चुके थे। परन्तु अब तक भी पृथक्करण विच्छिन्नता समाप्त नहीं हुई थी और विभिन्न भाषाएँ तथा परम्पराएँ स्लोवीन, क्रोअट, सर्ब तथा मैसीडोनियन्स साहित्य को जन्म दे चुकी हैं। परन्तु फिर भी एक विदेशी के लिए उनमें विरोध की अपेक्षा समानता ही अधिक दिखाई देती है। इसीलिए एक यूगोस्लाव साहित्य की चर्चा करना सम्भवतः बहुत गलत न होगा।

१

दिसम्बर १६४६ में जाग्रेब में हुई यूगोस्लाव लेखक संघ की द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर प्रथम बार साहित्यिक प्रश्नों पर नये ढंग से बात शुरू हुई। कांग्रेस की बहसों में एक नये लेखक पेतर शेगेदिन का साहित्यिक आलोचन पर भाषण अत्यंत महत्त्वपूर्ण था।

शेगेदिन साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में मार्क्स लेनिनीय पद्धति को अपनाने तथा एक यथार्थवादी एवं समीक्षा शास्त्र को विकसित करने का समर्थन कर रहा था। वह उस युद्ध का भी समर्थक था जो 'दूर पतनोन्मुख, आकारात्मक तथा अस्वस्थ' प्रवृत्तियों को साहित्य से निष्कासित करने के लिए भूल रहा था, क्योंकि इस प्रकार का युद्ध हुआ तत्त्वों के अवशेष के विरुद्ध था। परन्तु उसका भाषण प्रायः समस्त रूप से यूगोस्लाव साहित्य में उदित होने वाली कुछ 'नकारात्मक प्रवृत्तियों' के विरोध में था, जो "हमारे अपने जीवन की परिस्थितियों तथा उन नियमों के फलस्वरूप था जो हमारे कलात्मक प्रयोगों के दौरान में परीक्षित नहीं हुए थे।"

उसने सावधान होने की सलाह दी "मनुष्य इतिहास का निर्माता है और वही उसका निर्णायक है, अतः यद्यपि वह मार्क्स लेनिनीय सौन्दर्य शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुकूल चले भी फिर भी वह भ्रम गलत रास्ता पकड़ सकता है (ऐसा सोचने में)। यहीं प्रश्न उठता है समीक्षा की कसौटी का।"

अपने भाषण में शेगेदिन ने मार्क्स की "१८४४ ई० की आर्थिक तथा दार्शनिक पाण्डुलिपियों से एक ऐसे स्थल से उद्धरण दिया जहाँ पर उसने अपनी 'मानवीय भावना सम्बन्धी' धारणा की परिभाषा दी है और इसे समकालीन यूगोस्लावी साहित्यिक आलोचना की कुछ प्रवृत्तियों के विरोध में दिखाया है।" हमारे आलोचकों ने प्रायः सीमित राजनीतिक प्रयोगों के लिए पक्षधर साहित्य के सिद्धान्तों को गलत समझा है और ऐसा करने में वे तात्कालिक आवश्यकता से प्रभावित हुए हैं और मार्क्स के उस वाक्य को भूल गए हैं, जिसके अनुसार, गहरी तात्कालिक आवश्यकता से बँधे हुए भाव का एक सीमित अर्थ होता है। एक समीक्षक, जिसने एक सक्रिय आदर्श के समक्ष अपने आपको झुका दिया है, जब 'स्वाभाविक मानव की उत्कृष्टता'[1] की भावना को अलग रख देता है तब वह केवल इसी विश्वास से अभिभूत रहता है कि उसे एक मतवाद के लिए आवश्यक रूप से कार्य करना है और इस प्रकार कार्य करने से वह उस धरातल पर पहुँचता है जिसे मार्क्स ने 'मानवीय भावना' के नाम से सम्बोधित किया है और भी, "जब (साहित्य का) एक सामाजिक तथा वर्ग नियमन एक सकीर्ण व्यावहारिक दृष्टि से, जो मानवीय मूल्य को सीमित करता है, बदल जाता है, तो उसके घातक परिणाम अवश्यम्भावी हैं।"

"मैं नये लेखकों की कविता की समीक्षा पढ़ रहा था और मैं उसकी गतिविधि देखकर क्षुब्ध हुआ। एक भी कविता, एक भी चरण मार्क्स के अर्थ में आलोचना का विषय नहीं बन सका (मेरा विषय वही बन सकता है जो मेरे अस्तित्व की भावना को पुष्ट करता है)। एक ओर की बातचीत बहुत चातुर्यपूर्ण है, उसमें ज्ञान के बड़े भण्डार का प्रयोग हुआ है—केवल इन पंक्तियों को छोड़कर

---

१ मार्क्स से एक उद्धरण।

हेमंत का महीना था हम सब बच्चे थे,
और तभी मैंने किस्मत को देखा
उसने मुझे आधी की आधी पेस्ट्री दी
और गहरी भावना से उसने सिर झुका लिया।

आलोचक लिखता है 'कभी कभी जीवन के प्रति यह निश्छल दृष्टिकोण जब सामयिक समस्याओं से अलग हो जाता है तो कुछ आ भावनाओं को जन्म देता है।"

"यह निश्चय ही महान् कविता नहीं है शायद मौलिक भी नहीं है। पर मैं कहता हूँ कि मैं इस व्यक्ति के साथ कठिनाई से ही रह सकूँगा जिसको इस प्रकार की कविताएँ सामयिक समस्याओं से सम्बद्ध नहीं दिखाई देतीं। जैसा कि कवि कहता है, मनुष्य को इस 'किस्मत' से वंचित क्यों रखा जाय? और वह भी किस नाम पर? शौर्य के नाम पर, दुःख के नाम पर, बुद्धिमत्ता के नाम पर, त्याग के नाम पर।"

अपने भाषण के दौरान में, साहित्यिक आलोचना के क्षेत्र में विकसित क्रान्तिकारी नायक की ओर संकेत करते हुए शेगेदिन ने इस बात पर बल दिया कि कोई भी नायक वहाँ नहीं रह सकता जहाँ 'मानवीय भावना' लुप्त हो गई है। 'वह एक राक्षस हो सकता है, परन्तु मानवीय नायक नहीं।"

शेगेदिन ने फॉर्मलिज्म तथा डिकेडेंस के विरुद्ध किये जाने वाले आक्रमणों की भी चर्चा की। उसने 'वस्तु तत्त्व' के लिए उस पागलपन को दिखाया जिसने एक ऐसे वातावरण को जन्म दिया जिसमें 'रूप' से सम्बन्धित किसी भी विवेचना को सन्देह की निगाह से देखा जाने लगा। उसके अनुसार 'रूप' का यह तिरस्कार भी डिकेडेंस का ही एक उदाहरण है।

२

आज के युगोस्लाविया में शेगेदिन का भाषण सम्भवतः ही किसी को स्पर्श कर सकता है। लगभग छः वर्ष के बाद अब उस पर लोग केवल मुसकरा देते हैं।

१९४९ से स्थिति में काफी परिवर्तन आ गया है।

तब से युगोस्लाव के साम्यवादी यह समझ गए हैं कि अपने आन्तरिक नियमों से विकसित होने वाले समाज अथवा वर्ग विनिर्मित समुदाय की मार्क्सीय भावना का उस सामान्य विश्वास से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, जिसके अनुसार 'जीवन के सभी क्षेत्रों को' एक संगठित ढंग से प्रभावित किया जा सकता है, चाहे वे मानवीय हों अथवा अमानवीय हों। एक आधुनिक युगोस्लाव की दृष्टि में एक दल के लिए एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को संगठित कर पाना बहुत कठिन है, भले ही उसके ऐतिहासिक उद्देश्य महान् हों।

शेगेदिन का भाषण साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से भी बहुत ऊँचा नहीं माना जा सकता। इसकी कट्टर विद्वत्ता तथापि थकाने वाला है। मानवीय भावना के मार्क्सीय विचार पर उसका अधिक बल देना समुचित नहीं था और जब यह मानवीय भावना साहित्यिक वाद विवादों में दुहराया जाने वाला सामान्य नारा हो गया तो शेगेदिन के निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण नहीं रहे वरन् एक सामान्य असम्बद्ध अर्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया जो उक्त शब्द से सम्बद्ध कर दिया गया। कुल मिलाकर शेगेदिन का भाषण एक विराट् प्रेरणा तथा स्पष्ट अनुसन्धान के रूप

में नहीं था बरन् यह एक ईमानदार तथा साहसपूर्ण वक्तृता थी। उसकी समीक्षा दृष्टि (निर्णय के सिद्धान्त का प्रश्न ?) नई थी। यह तथ्य तो और भी नया था कि एक ऐसा व्यक्ति जो राजनीति के क्षेत्र में प्रसिद्ध नहीं था बिना किसी दलगत नियन्त्रण के यूगोस्लाव साहित्य के सम्बन्ध में अपना मत दे सके।

कोमिनफॉर्म के यूगोस्लाविया पर आक्रमण (१९४८ ई०) के बाद से एक वास्तविक परिवर्तन हुआ। धनिक स्कूलों की कुछ समस्याओं पर सेंट्रल कमेटी द्वारा एक प्रस्ताव पास किये जाने के बाद, जिसके अनुसार व्यक्ति को साम्यवादी अर्थात् स्वतन्त्र बनाया जाय, उक्त परिवर्तन हुआ। यूगोस्लाविया की संस्कृति व राजनीतिक मतवाद पर यह पहला आक्रमण था। प्रथम बार विभिन्न मतों के स्वतन्त्र संघर्ष का अनुमोदन किया गया।

द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर शगेदिन के भाषण की प्रशंसा भी हुई और उसका विरोध भी किया गया। पत्र पत्रिकाओं में भी कुछ दिनों से वाद विवाद चल रहे हैं। शायद ये वाद विवाद पूर्णत स्वस्थ नहीं थे। कम से कम एक केन्द्र में तो इसका आभास शगेदिन के भाषण से भी मिला था।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे समीक्षकों पर भी आक्रमण चलते रहे जिन्होंने पहले कभी जैनोनग का अनुसरण किया था। रावान जोगोविच, सेंट्रल कमेटी के प्रचार विभाग का भूतपूर्व सदस्य तथा एक प्रतिभावान कवि इस प्रकार के आक्रमणों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त समझा गया। तभी उसने अपने आपको यूगोस्लाविया के विरुद्ध कोमिनफॉर्म के प्रस्ताव के समर्थक के रूप में घोषित किया।

३

प्रथम महायुद्ध के दौरान में नवयुवक यूगोस्लाव लेखकों की एक पीढ़ी ने रूसी तथा पाश्चात्य क्रान्तिकारी साहित्य से प्रेरणा ली थी। जीवन के वातावरण में रूसी क्रान्ति का स्वागत किया और उसके द्वारा साम्राज्यवादी युद्ध के विरोध का समर्थन किया। युद्ध के बाद एक राजा की तानाशाही में आर्थिक निर्धनता से जकड़े एक पिछड़े हुए बालकन देश के निवासी के रूप में वे साम्यवाद की ओर उन्मुख हुए। उनका आदर्श था "एक ऐसा संघ, जिसमें एक का स्वतन्त्र विकास सबके स्वतन्त्र विकास की अपेक्षा रखता है, जैसा कि एक शताब्दी पूर्व के घोषणा पत्र में कहा गया था। उनके साम्यवादी आदर्श में एक ऐसा समाज था जिसमें राज्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और वह फिर कभी सिर नहीं उठाती। फ्रेडरिक एंगल्स के समान ही उनके लिए सामाजिक क्रान्ति का अर्थ था 'मानवता का आवश्यकता के क्षेत्र से उठकर स्वतन्त्रता के क्षेत्र में प्रवेश।' एक कट्टर तथा संकुचित समाज का सामना करते हुए वे अकेले ही स्वतन्त्र चीन तथा स्वतन्त्र अनुसंधान के वातावरण के लिए पच्चीस वर्ष तक लड़ते रहे। इस प्रकार वे कार्ल मार्क्स के निकट थे जिसने अपना प्रिय मुहावरा बताया था प्रत्येक वस्तु संदिग्ध है।

१९३३ ई० में ही कुछ दूरदर्शियों ने यह देख लिया था कि 'समाजवाद के प्रथम देश' में कुछ गड़बड़ चल रही है। उन्होंने अपने सन्देह सबके सम्मुख व्यक्त किये परन्तु उन्होंने अपनी बात मुलायमियत से कही, क्योंकि इतनी दूरवर्ती घटनाओं पर उचित निर्णय एक एक देना कठिन था, इसलिए और भी क्योंकि जिस संस्था के द्वारा उन्हें ये समाचार

मिलते थे, उसकी तटस्थता तथा ईमानदारी में उन्हें पूरा संदेह था।

इसके बाद फासिस्ट खतरा आया, और फिर युद्ध का प्रारम्भ हुआ। फासिस्टों ने देश पर कब्जा कर लिया और उन सबको उन्होंने सहयोग दिया जो उनकी सहायता करना चाहते थे। और यूगोस्लाव राष्ट्रों के सभी विरोधी उन्हें सहयोग देने के लिए तैयार थे, क्योंकि इसके लिए उन्हें उनके चर्चों ने प्रोत्साहन दिया था। उस युद्ध में सभी पक्ष घृणा का प्रचार कर रहे थे, राइफल और चाकू को धर्म परिवर्तन का माध्यम बनाया गया था। १७ लाख व्यक्ति अर्थात् प्रति १० यूगोस्लाव व्यक्तियों में से एक व्यक्ति मारा गया था। इस युद्ध में यूगोस्लाव की कम्यूनिस्ट पार्टी भ्रातृत्व तथा एकता के नारे के साथ लड़ रही थी। इस प्रकार युद्ध को क्रान्ति में बदल दिया गया था। न केवल युद्ध पूर्व युग के वाम पक्षी लेखक वरन् लगभग सभी महत्त्वपूर्ण यूगोस्लाव लेखक इसमें सम्मिलित हो चुके थे। तभी युद्ध की समाप्ति हुई और राष्ट्र का नव निर्माण प्रारम्भ हुआ। इस बात से क्या अन्तर पड़ता था, यदि कई साहित्यिक सिद्धान्तों की बलि अन्तिम लक्ष्य के लिए दे दी गई।

तभी १६४८ ई० में कोमिनफार्म का प्रस्ताव आया। इससे बड़ा धक्का लगा। कुछ तो इसे सहन नहीं कर सके। जो कर भी सके उन्होंने बहुत-सी बातों को नये प्रकाश में देखा। उदाहरणार्थ उन्होंने समझा कि यदि लक्ष्य प्राप्त करना है तो कुछ भी त्याग करने का आवश्यकता नहीं, तथा जिस माध्यम से कोई व्यक्ति किसी मार्ग पर आया है उस वह मार्ग पर चलन के समय भूल सकता है।

पिछले तीस अथवा चालीस वर्षों में एक सामान्य यूगोस्लाव बुद्धिजीवी का इतिहास लगभग इसी प्रकार का रहा है।

इस सम्बन्ध में और भी विस्तृत विवरण दिया जा सकता है—उदाहरणार्थ मिरोस्लाव कुलेजा का।

४

१६५३ ई० में मिरोस्लाव कुलेजा की ६० वीं वर्षगाँठ मनाई गई थी। उस समय बहुत से प्रशंसकों के लिए कुलेजा निर्विवाद रूप से सबसे महान् लेखक था। कुछ लोग तो उसको यूगोस्लाव इतिहास का सबसे महान् व्यक्तित्व मानते थे। आलोचक उस समय पिछले ३ या ४ दशकों को कुलेजा युग कहकर अभिहित करते थे। जो लोग इतना नहीं मानते थे उनके लिए भी कुलेजा एक प्रतिभावान् लेखक तो था ही। अस्तु उस समय उसके बारे में कुछ खरी बातें भी कही गई थीं, यद्यपि आज यह निश्चित रूप से माना जाता है कि कुलेजा अभी सबसे विवादास्पद लेखक है।

जो भी हो अच्छा हो या बुरा कुलेजा का प्रभाव यूगोस्लाव के बौद्धिक तथा साहित्यिक वातावरण में अत्यधिक था। जब प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर उसने साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया जिसके पूर्व उसके प्रारम्भिक प्रयत्नों को कोई मान्यता नहीं दी गई थी, तो उसके युद्ध गीतों तथा प्रतीकात्मक नाटकों ने (जो अभिनेय नहीं हैं, यद्यपि कुलेजा के अनुसार वे अभिनेय हैं।) लोगों को सबसे अधिक प्रभावित किया।

जैसे जैसे समय व्यतीत होता गया अधिकाधिक संख्या में बुद्धिजीवी तथा साहित्यकार

कुलेजा की रचनाओं की ओर आकृष्ट होते गए । लगभग समस्त दो पीढ़ियाँ उनके कुलेजा के प्रति दृष्टिकोण के आधार पर विभक्त किया जा सकता है । यूगोस्लाव सघ म कुलेजा शैली को मान्यता दी गई और उसका प्रभाव अब भी कम नहीं हुआ है । इससे भी अधिक कुलेजा अपने सहयोगियों को एक दृष्टि दे रहा था । लगभग सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उसकी रचनाएँ उपलब्ध हैं ।

प्रथम पद्रह वर्षों तक कुलेजा पर दक्षिण पथी दल तथा रूढ़िवादी साहित्यिकों के आक्रमण होते रहे । वामपक्षीय आक्रमण प्रथम बार १९३३ में हुआ ।

५

१९३० के आस पास सोवियत यूनियन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे । प्रथम निष्कासना का युग था और दर्शन तथा साहित्य में प्रथम बार विद्रोह हो रहा था । उसी समय पार्टी के साहित्य सम्बन्धी निर्णयों को घोषित किया गया और सोवियत लेखकों की प्रथम काँग्रेस (१९३४) की तैयारी होने लगी । 'सामाजिक यथार्थवाद' का कार्यक्रम निर्धारित हुआ जिसके अनुसार जदानोव का प्रथम महत्त्वपूर्ण भाषण हुआ ।

१९३३ ई० में कुलेजा ने कृस्तो हेगेदुशिच के चित्रों के सकलन की भूमिका लिखी जिसे प्राय 'कुलेजा की भूमिका' कहा जाता है । इस भूमिका म कुलेजा के कला और साहित्य सम्बन्धी विचार थे । भूमिका में कुलेजा ने कहा कि "कला इसी दुनिया की चीज है, उसमें दिव्य तत्त्व कुछ भी नहीं है ।

"निरस देह सौन्दर्य तटस्थ तथा इस ससार से परे नहीं हो सकता । परन्तु एक कला कृति का सामाजिक प्रभाव प्राय वैसा नहीं हो सकता जिसे कलाकार चाहता है और कभी कभी तो किसी कला कृति का प्रभाव लेखक की कोई इच्छा न रहने पर भी बहुत व्यापक हो जाता है । इसके अतिरिक्त एक ही कृति का प्रभाव विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार का हो सकता है और इसलिए किसी कला कृति का मूल्य आँकने के लिए उसका सामाजिक प्रभाव कसौटी नहीं माना जा सकता ।

भूमिका के प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद किन्हीं अज्ञात महोदय ने एक वामपक्षी साहित्यिक पत्रिका म कला पर आक्रमण किया । उक्त लेखक ने कुलेजा को विश्वास-घाती सिद्ध किया और कहा वह दक्षिण पथी होता जा रहा है । वह कला के सामाजिक अर्थ को नहीं समझ पा रहा है । वह अबौद्धिकता का समर्थक है । कुल मिलाकर कुलेजा मार्क्सवादी न होकर पतनोन्मुख तथा बुर्जुआ है । उसकी कृतियों म निराशावाद भरा हुआ है और वह जीवन के अन्धकारमय पक्ष को ही चित्रित कर सका है ।

इस अज्ञात लेखक को उस समय कोई सहयोग न मिल सका । कम्युनिस्ट पार्टी के दाएँ बाएँ आने वाले साहित्यिक पत्रों ने उसका खुले आम विरोध किया ।

और तभी यूगोस्लाविया भी युद्ध में सम्मिलित हो गया ।

६

युद्धोपरान्त कुलेजा की स्थिति आरम्भ में कुछ विचित्र सी हो गई । वह राजनीतिक

तथा सामाजिक समस्याओं पर विशेष रूप से लिप्त रहा था और उसका समर्थन क्रान्ति के लिए था। परन्तु साहित्य के बारे में उसने कुछ भी नहीं लिखा। यह अनुमान लगाना कठिन है कि उसके मौन का कारण वह वाद विवाद था जो बड़ी असुखद परिस्थितियों में समाप्त हुआ, अथवा गलत बातों में क्रान्ति का विरोध करने के लिए उसकी अनिच्छा ही इसका प्रधान कारण थी।

कोमिनफॉर्म के प्रस्ताव (१९४८ ई०) के बाद ही क्रुलेजा ने फिर युगोस्लावी साहित्यिक वातावरण में प्रवेश किया। एक प्रकार से उस समय की नाटकीय घटनाओं में क्रुलेजा की आत्मा उपस्थित थी। विश्वास की अपेक्षा चिन्तन का प्राधान्य, आदर्शों की अपेक्षा तर्क के प्रति सम्मान, अन्धसिद्धान्तों के प्रति अरुचि—युगोस्लाव कम्युनिस्ट आन्दोलन की विशेषताएँ रही हैं।

युगोस्लाव लेखक संघ की दूसरी कांग्रेस के अवसर पर क्रुलेजा की याद सबको आई। पेतर शेगेदिन के भाषण के माध्यम से उसके प्रभाव का भान लोगों को हुआ। कांग्रेस के अवसर पर वह स्वत भी बोला। वह राजाओं और सम्राटों तथा रोम और बाइज़ेन्टियम के महन्तों दुःस्वप्नवत् जुलूस के बारे में कह रहा था जो दक्षिण स्लॉव देश में रक्त तथा मृत्यु की गन्ध लिये अतीत के एक हजार वर्ष पूर्व से आ रहा था।

और यह जुलूस अब एक दूसरी ओर से भी आ रहा था। 'मानवीय आत्मा के स्रष्टाओं' में से एक ने 'बुडापेस्ट ट्रायल'[1] के शिकार व्यक्तियों के बारे में लिखा कि अपनी सभा अनैतिकता के साथ वे 'टीटोवादी जन्तु' अदालत में उसी प्रकार खड़े थे जैसे मध्यकालीन जादूगरनी। मार्क्सवादी की दृष्टि से मैनीफेस्टो के एक शताब्दी बाद मध्यकालीन जादूगरनी प्रश्नकारी अदालत के सम्मुख अपनी सारी अनैतिकता के साथ खड़ी हुई हैं और वे एक निर्णीत हत्या की अपराधी नहीं वरन् टीटोवादी जन्तु हैं। इसीको मार्क्सीय तर्क शास्त्र कहते हैं, जिसके बारे में सन्देह करना खतरनाक है, क्योंकि ये उदार आलोचक तथा 'मानवीय आत्मा के शिल्पी' हमारे घर के चारों ओर फाँसी के स्थल बना रहे हैं।

तीसरी कांग्रेस के अवसर पर मिरोस्लाव क्रुलेजा साहित्य की प्रवृत्तियों के बारे में फिर बोल रहा था। उसने कहा कि युगोस्लाव लेखकों को ऐसी प्रवृत्ति का विरोध करना चाहिए, जो कला को किसी राजनीतिक वाद का अनुयायी बना देती है। यह प्रवृत्ति समकालीन सोवियत सौन्दर्य शास्त्र को पश्चिमी यूरोप के १९वीं शती के हुए उपयोगितावादी सिद्धान्तों से द्वितीय सामाजिक तथा प्रजातान्त्रिक इंटरनेशनल के माध्यम से मिला। इसी प्रकार उनको ऐसी धार्मिक, रूढ़िवादी तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का भी विरोध करना चाहिए जो साहित्य को किसी भी रूप में पक्षधर बनाना चाहती हैं। परन्तु युगोस्लाव लेखक भी उस समाज के प्रति तटस्थ नहीं रह सकते जो निष्पक्ष पश्चिमी यूरोपीय सौन्दर्य शास्त्र का प्रचार कर रहा है। समाजवाद के लिए संघर्ष वस्तुत मनुष्य के तथा उसकी जीवन पद्धति के मानवीकरण के लिए

1 सितम्बर १९४९ ई० में बुडापेस्ट में लास्लोराज्य तथा अन्य व्यक्तियों पर अमेरिका जासूस विभाग के संरक्षण में टीटो द्वारा आयोजित जासूसी तथा विद्रोह के लिए मुकद्दमा चलाया गया। अभियोगी ने अपराध स्वीकार किया। लास्को को राज्य से फाँसी मिली। मृत्यु से बचकर जो लोग कारागार गए वे थोड़े दिन हुए, निर्दोष कहकर बरी किये गए हैं।

संघर्ष के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अत प्रत्येक इमानदार कला कृति इस संघर्ष में समाजवाद को सहयोग देती है। इस मात से पिछली शताब्दी के 'कला कला के लिए' सिद्धान्त को मानने वाले कलाकार भी सामाजिक रूप से प्रगतिशील थे। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि ईश्वर के अभाव में भी एक अच्छा चित्र बनाया जा सकता है। वे गोलगोथा के कथानकों पर आधारित धार्मिक चित्रावली के विरोध में थे, जो शताब्दियों से यह सिखा रही थी कि इस संसार को सदैव ही अश्रु तथा रुदन से आप्लावित रहना है।

जनवरी १९५४ ई० में मिलोवान जिलास यूगोस्लाव की संघीय कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। जिलास की राजनीतिक पद्धति को यदि हम छोड़ दें तो कहा जा सकता है कि उसने यूगोस्लाव साहित्य की बहुत बड़ी सहायता ऐसे समय में की थी, जब वह (साहित्य) समाज में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहा था।

जिलास के पतन के पश्चात् कई ऐसी भविष्य वाणियाँ की गई जिनके अनुसार साहित्य में फिर से पार्टी प्रतिबन्ध लगाए जाने की आशंका थी। उसी समय लेखकों के एक समुदाय ने जिलास के विरुद्ध आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। इस तीखे वाद विवाद में यह पता चलाना कठिन हो गया कि ये लगाये हुए आरोप कहाँ तक सही हैं। सम्भवत इनमें कुछ सत्य का अंश रहा हो, यद्यपि 'नोवामीसाओ' संघ के व्यक्तियों का प्रभाव बेग्रोग्रेड के अतिरिक्त और किसी साहित्य केन्द्र में अनुभव नहीं किया गया। इस समय यह बात अधिक महत्वपूर्ण थी कि 'नोवामीसाओ' के उन आलोचकों ने इस बात में अधिक दिलचस्पी दिखाई कि वे साहित्य के सम्बन्ध में पार्टी की नई विचार धारा का निर्माण कर सकें और उसका प्रतिनिधित्व कर कर सकें यह अनिश्चय कुछ समय तक ही चला। फिर यह बताया गया कि एक राजनीतिक संगठन के रूप में कम्युनिस्ट पार्टी किसी विशिष्ट साहित्यिक वर्ग अथवा मान्यता का समर्थन नहीं करना चाहती और सिद्धान्तों के प्रश्न पर साधारणत तर्क के सहारे वह हस्तक्षेप कर सकती है। इसके अतिरिक्त कोई शासकीय हस्तक्षेप नहीं होने दिया जायगा।

७

युगोस्लाव लेखक-संघ द्वारा आयोजित पिछले वाद-विवाद (नवम्बर १९५४) ने एक विभाजित चित्र उपस्थित किया, ऐसा चित्र जो इसके पूर्व पिछले महायुद्ध से लेकर अब तक कोई साहित्यिक वाद विवाद उपस्थित न कर सका था।

ऊपर से देखने पर जान पड़ेगा कि जो मत वैभिन्न्य समस्याओं को लेकर कुछ दिनों से चला आ रहा है—'यथार्थवादी' और 'आधुनिक', 'परम्परावादी' और 'ऐहिक वर्गीय', 'पुराने' और 'नये' के बीच सदा रहता है। फिर भी यह मत वैभिन्न्य प्राय दिखावे के लिए थे। जैसा कि एम० क्रुलेजा को लेकर कुछ नवयुवक लेखकों ने बल देकर कहा भी था, अथवा उससे भी अधिक बल देकर जो बातें उस वर्ष के प्रथम महीनों में होने वाले वाद विवाद को लेकर कही गई थीं।

एक वास्तविक वाद विवाद होने की अपेक्षा वस्तुत बेग्रोग्राद में होने वाला यह वाद विवाद लगभग तीन भाषाओं का एक सकलन अधिक था। व्यक्तिगत लेखकों की समस्याएँ प्राय विभिन्न चिन्तन पद्धतियों से सम्बद्ध थीं। उनकी भाषा और उनका दृष्टिकोण भी उतना

ही विभिन्न था। जब कभी वे एक ही शब्द को एक से अधिक बार कहते थे, तो निश्चय ही उनके अर्थ अलग अलग होते थे।

स्वभावत एक ऐसे वाद विवाद का संक्षिप्त रूप देना इतने कम पृष्ठों में सम्भव नहीं। यही नहीं ऐसा लगता है कि प्रस्तुत निबन्ध में यह अधिक उचित भी नहीं! पाठक को यह ज्ञान हो सकता है कि युगोस्लावियन आलोचना अब एक ऐसी संक्रान्तिकालीन स्थिति में है, जैसी स्थिति इसके पूर्व के तीखे वाद विवादों में भी नहीं रही (वस्तुत नियमित रूप से होने वाले मत वैभिन्न्य साहित्य के लिए एक शुभ लक्षण हैं)। सम्भवत यह संक्रान्तिकालीन स्थिति कोमनफाम के प्रस्ताव के बाद वाली स्थिति से साम्य रखता हो, यद्यपि इस बार साहित्यिक समस्याएँ नैतिक और राजनीतिक प्रश्नों से भी अधिक उलझ गई हैं। यह आशा की जा सकती है कि इस संक्रान्तिकालीन स्थिति में से नये मूल्यों का उदय होगा, यद्यपि वे मूल्य नवीन तथा उत्कृष्टतर होने पर भी अन्तिम नहीं कहे जा सकेंगे। फिर भी बेओग्राद के इस वाद विवाद को पिछले साहित्यिक झगडों को तय करने वाला माना जा सकता है, यद्यपि इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि कुछ नये साहित्यिक प्रश्न फिर से उभरकर आवें। अत इस सम्बन्ध में पूरा विचार भविष्य के सन्दर्भ में ही हो सकेगा।

प्रस्तुत प्रश्न

डॉ० शम्भूनाथ सिंह

लेखक का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण है

साहित्य में अश्लीलता का प्रश्न आज के युग का कोई बिलकुल नवीन प्रश्न हो ऐसी बात नहीं है। पूर्ववर्ती युगों में भी साहित्य में यौन सम्बन्धों का नग्न और अतिरंजित चित्रण बहुत अधिक मिलता है। कालिदास ने 'कुमार सम्भव' के आठवें सर्ग में तथा 'मेघदूत' में कुछ स्थलों पर जैसी अश्लील उपमाएँ दी हैं वैसा आज के साहित्य में भी बहुत कम मिलेगा। संस्कृत और हिन्दी के रीति साहित्य में शृङ्गार के अन्तर्गत नायक नायिका के नख शिख सौन्दर्य, हाव भाव चेष्टा, अनुभाव, दूती, अभिसार तथा काम विलास के विविध पक्षों का इतनी सूक्ष्मता और विस्तार से वर्णन किया गया है कि उन्हें आज के युग में सभ्य समाज में दुहराना भी लज्जास्पद माना जाता है। और तो और, हिन्दी के भक्त और सन्त कवियों में भी कहीं कहीं यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। अत अश्लील चित्रण आज के साहित्य की नई वस्तु नहीं है। फिर भी आज इस प्रश्न ने जैसा रूप धारण कर लिया है वैसा पूर्ववर्ती युगों में कभी नहीं था। वस्तुत यह प्रश्न आज के सचेत और प्रबुद्ध पाठकों, आलोचकों और चिन्तकों के सम्मुख एक गम्भीर समस्या का रूप धारण करके उपस्थित हुआ है। अत इस सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण से तथा साहित्य को उसके सामाजिक परिपार्श्व में रखकर विचार करने की आवश्यकता है।

भारतवर्ष का आधुनिक युग से पूर्व का डेढ़ हजार वर्षों का साहित्य सामन्ती युग में निर्मित और विकसित साहित्य है। सामन्ती युग में समाज के राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढाँचे की तरह सांस्कृतिक और सौन्दर्यबोधात्मक, क्रियाशीलता और रुचियों का स्वरूप भी सामन्ती वर्ग राजा, सामन्त, सेठ साहूकार आदि के संस्कार व्यवहार और विचार परम्परा के अनुरूप निर्मित होता है। इस वर्ग की अवकाशजन्य विलासिता और नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब तत्कालीन साहित्य में बहुत स्पष्टता से दिखाई पड़ता है। विकासशील सामन्त युग के साहित्य में शृङ्गारिकता की यह प्रवृत्ति उतनी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक रूप में नहीं मिलती जितनी परवर्ती ह्रासोन्मुख सामन्ती युग में। ह्रासोन्मुख सामन्ती युग (जैसे हिन्दी का रीति काल) के सामाजिक ढाँचे के भीतर साहित्य विलास का साधन मात्र था, अत उस काल के साहित्य में अश्लील चित्रणों की अधिकता स्वाभाविक है। सम्भवत उस समय की सामाजिक रुचि ही

इतनी विकृत हो गई थी कि समाज के बीच इस तरह की नग्न और अशोभनीय बातों का वर्णन लज्जाजनक नहीं माना जाता था। भक्ति के क्षेत्र में भी यह विकृत रुचि प्रविष्ट हो गई थी जो जयदेव, विद्यापति तथा कुछ कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। भक्तिपरक साहित्य में फिर भी गनीमत थी, क्योंकि वहाँ आध्यात्मिक प्रतीकों का आवरण तो था, किन्तु लोकपरक साहित्य में राधा कृष्ण के नाम का आवरण इतना क्षीण या अशक्त सिद्ध हुआ कि उससे अशोभनीय या अश्लील जीवन दृश्यों और तथ्यों के वर्णन में वृद्धि ही हुई। शृङ्गारिकता की यह प्रवृत्ति औद्योगिक युग की नई सामाजिकता और विचार परम्परा के कारण कम हुई। सांस्कृतिक पुनरुत्थान और मानववादी विचार धारा के प्रसार के साथ नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना हुई। प्रारम्भ में तो शृङ्गारिकता की प्रतिक्रिया अनुदारता की सीमा तक पहुँच गई और शृगार वर्णन ही वर्जित समझा जाने लगा किन्तु बाद में पूँजीवादी व्यक्तिवाद के विकास के साथ स्वच्छन्दतावादी विद्रोह और व्यक्तिवादी स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति ने इस प्रकार के अनुदार नियन्त्रण को अस्वीकार कर दिया। फलत आधुनिक छायावादी साहित्य में शृगार का सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक चित्रण होने लगा। ऐसे साहित्य में स्थूल शृङ्गारिकता और अश्लील चित्रणों के लिए अवकाश नहीं था, क्योंकि साहित्य के उद्देश्य के सम्बन्ध में लोगों की मान्यता अब बिलकुल बदल गई थी। किन्तु इसी युग में पाश्चात्य मानववादी विचार धारा के सम्पर्क के कारण यथार्थवादी साहित्य का भी उदय हुआ जिसमें जीवन का कोई भी अंग या पक्ष अवर्ण्य या वर्जित नहीं माना जाता था। इसी धारणा के परिणामस्वरूप 'उग्र', ऋषभचरण जैन आदि कथाकारों ने समाज के गोपन और अश्लील किन्तु अछूते पक्षों का नग्न चित्रण किया। यद्यपि ऐसे लेखकों की ओर से तक यह दिया गया कि समाज के सुधार के लिए ही ऐसे साहित्य का निर्माण किया जाता है। इस प्रकार के साहित्य को आदर्शवादी आलोचकों ने 'घासलेटी' साहित्य की संज्ञा दी, किन्तु ध्यान देने की बात है कि महात्मा गांधी जैसे आदर्शवादी व्यक्ति ने 'उग्र' के ऐसे साहित्य की समाज सुधार की दृष्टि से सराहना की।

आधुनिक युग के छायावादोत्तर काल में यथार्थवाद की इस परम्परा ने नवीन रूप धारण किया। वह चार धाराओं में विकसित हुई—१–सामाजिक यथार्थवाद की धारा, २–मनोविश्लेषणात्मक धारा, ३–प्रयोगमूलक कलावादी धारा, ४–व्यक्तिवादी उच्छृङ्खलता की धारा। इन चारों ही धाराओं में यथार्थ चित्रण के नाम पर अश्लील और अशोभनीय वर्णन मिलते हैं। किन्तु इन धाराओं से भी अधिक अश्लील चित्रण आज एक ऐसी धारा में मिलता है जो न तो यथार्थवादी है, न आदर्शवादी और न शुद्ध साहित्यिक। इस सस्ते काल्पनिक रोमांचक साहित्य की रचना का एक मात्र उद्देश्य अपरिपक्व मस्तिष्क वाले पाठकों की भावुकता का अनुचित लाभ उठाकर पैसा पैदा करना है। इस प्रकार का साहित्य आज रेलवे बुकस्टालों तथा शहर की दुकानों पर ढेर का-ढेर खुले आम बिकता है, क्योंकि ऐसे साहित्य के प्रकाशक पुस्तक विक्रेताओं को मुँहमाँगा कमीशन देते हैं। ऐसे ही साहित्य की बिक्री आज सबसे अधिक हो रही है और समाज के युवक युवतियों का मस्तिष्क उसके द्वारा बहुत तीव्र गति से और बड़े पैमाने पर निरन्तर विकृत किया जा रहा है। इस तरह गम्भीर साहित्य और बाजारू साहित्य, दोनों में आज अश्लीलता की प्रवृत्ति इस सीमा तक बढ़ गई है और समाज पर उसका इतना बुरा प्रभाव पड़ रहा है कि इस प्रश्न ने एक गम्भीर समस्या का रूप धारण कर लिया है। वह

समस्या इस कारण और भी उलझनपूर्ण बन गई है कि उच्च शिक्षा प्राप्त, सुसंस्कृत और विद्वान् आलोचकों में से कुछ लोग जिस ग्रंथ को अश्लील बताते हैं उसे ही अन्य आलोचक अश्लीलता रहित और महान् कला कृति घोषित करते हैं। 'घेरे के बाहर' नामक उपन्यास के सम्बन्ध में इसी प्रकार के परस्पर विरोधी मत व्यक्त किये गए हैं। अतः इस समस्या के सम्बन्ध में प्रधान विचारणीय प्रश्न ये हैं—अश्लीलता की यह प्रवृत्ति आज इतनी क्यों बढ़ गई है? अश्लीलता की सामान्य मान्यता क्या है? आज के साहित्य में अश्लीलता किस सीमा तक ग्राह्य या अग्राह्य है और अग्राह्य अश्लील चित्रण से युक्त साहित्य के प्रति समाज और साहित्यकार का क्या रुख होना चाहिए।

भारतीय समाज आज एक जबरदस्त आन्तरिक विरोध के बीच से होकर गुजर रहा है। सम्भवतः वह किसी गुणात्मक परिवर्तन के द्वार पर आ खड़ा हुआ है। समाज का आर्थिक ढाँचा पूँजीवादी व्यवस्था पर आधारित है। विश्व में पूँजीवादी व्यवस्था ह्रासोन्मुख होकर अपने नाश की ओर अग्रसर हो रही है। किन्तु भारत में पूँजीवाद को समाप्त करने की जगह उसे और भी प्रश्रय दिया जा रहा है। इधर मध्यवर्गीय जनता का जीवन आर्थिक कठिनाइयों के भार से उत्तरोत्तर पिसता जा रहा है, बेकारी, विशेषकर शिक्षितों की बेकारी, की समस्या निरन्तर उग्र होती जा रही है। शिक्षित बेकारों के सामने दो ही रास्ते रह गए हैं, या तो वे अवैध कार्यों द्वारा जीवन यापन करें या इस प्रकार के काल्पनिक, रोमाञ्चक और उत्तेजक साहित्य में अपने मन को रमाकर यथार्थ जीवन के संघर्ष से पलायन करें। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के भीतर अपराधप्रेरक, सस्ते, रोमाञ्चक और कामोत्तेजक साहित्य की खपत बहुत होती है। यही कारण है कि आज जासूसी, हत्याओं से सम्बन्धित तथा काल्पनिक और नग्न यौन चित्रणों वाले साहित्य का निर्माण बहुत अधिक हो रहा है। ध्यान देने की बात है कि इस प्रकार के साहित्य के निर्माता अधिकतर वे लोग हैं, जिन्हें सम्यक् शिक्षा प्राप्त न होने से अथवा समुचित परिस्थिति के अभाव में जीविकोपार्जन का अन्य कोई रास्ता न मिला, जिससे वे सस्ते बाजारू साहित्य के लेखक बनकर सरलतापूर्वक अर्थोपार्जन करने लगे हैं।

किन्तु इस प्रकार के साहित्य को बाजारू या साहित्येतर रचना मानकर टाल देने के बाद भी समस्या का अन्त नहीं हो जाता। अश्लीलता की यह प्रवृत्ति जब शिष्ट या गम्भीर साहित्य के भीतर भी दिखाई पड़ती है और कुछ लोगों द्वारा यथार्थवाद, मनोविश्लेषण शास्त्र या कलावाद के नाम पर उसका समर्थन किया जाता है तो प्रश्न और भी विचारणीय बन जाता है। वस्तुतः एक ही सामाजिक व्यवस्था के भीतर उपर्युक्त दोनों प्रकार के साहित्य की रचना होती है, अतः गम्भीर साहित्य में भी उस व्यवस्था का प्रतिबिम्बन और प्रतिफलन होना स्वाभाविक है। यथार्थवादी और मनोविश्लेषणात्मक साहित्य में सामाजिक और वैयक्तिक जीवन के उन पक्षों को उद्घाटित किया जाता है जो वास्तविक होते हुए भी गोपनीय होते हैं अथवा जिनके बारे में लोगों को अधिक जानकारी नहीं होती। यथार्थवादी साहित्यकारों का लक्ष्य समाज की छिपी हुई बुराइयों, विशेषकर नारी की वास्तविक स्थिति का चित्रण करके समाज को सचेत करना और उसकी दुरवस्था को दूर करना होता है। अतः साहित्य में यौन सम्बन्धों, मानव के गोपनीय अंगों, कामिक चेष्टाओं आदि का जो उनमें नग्न चित्रण मिलता है वह उनके महत्तर लक्ष्य की पूर्ति का साधन मात्र होता है।

मनोविश्लेषणात्मक साहित्य भी यथार्थवाद की सीमा के भीतर ही आता है यद्यपि उसे सामाजिक यथार्थवाद से भिन्न करने के लिए मनोवैज्ञानिक या व्यक्तिवादी यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती है। पूँजीवादी समाज में नाना प्रकार की सामाजिक विवशताओं से उलझकर वैयक्तिक चेतना कुण्ठित हो जाती है, व्यक्ति की दमित या अतृप्त वासनाएँ विकृत होकर अनेक प्रकार के उपद्रव करती और अपराध तथा अस्वाभाविक और अस्वस्थ यौन सम्बन्धों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं। व्यक्ति के इन्हीं रहस्यमय रूपों का चित्रण मनोविश्लेषणात्मक साहित्य करता है। इस प्रकार के साहित्य का उद्देश्य भी व्यक्ति के माध्यम से समाज का सुधार ही होता है, जिसके लिए लेखक साधन रूप में अश्लील चित्रों का सहारा लेता है। कलावादी साहित्य में लेखक की सम्पूर्ण शक्ति रूप विधान के निखार और नवीन रूप शिल्प की खोज या प्रयोग में लगती है। उसके लिए कोई भी वस्तु अश्लील, अनैतिक या पापमय नहीं होती, वस्तुतः वह विषय वस्तु या कथ्य को महत्त्व ही नहीं देता, क्योंकि वह उसे रूप शिल्प से भिन्न नहीं मानता। रूप शिल्प या कलात्मक पूर्णता ही उसका लक्ष्य होता है। अतः अश्लील या अनैतिक तथ्यों या वस्तुओं के चित्रण को वह बुरा नहीं मानता क्योंकि उसके अनुसार कला की सीमा में आकर सब कुछ *शुभ और शिव बन जाता है। कलावाद (रूपवाद) के अनुसार* कला के क्षेत्र में श्लील या अश्लील, पाप या पुण्य, शिव या अशिव का प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो केवल यही देखा जाता है कि कोई वस्तु सुन्दर है या असुन्दर। चौथी साहित्यिक धारा व्यक्तिवादी उच्छृङ्खलता की धारा है जिसमें लेखक अपने निजी ऐन्द्रिक और जुगुप्साजनक अनुभवों का वर्णन सच्ची सीधी अभिव्यक्ति के नाम पर करता है। कवि अपनी प्रेयसी के साथ प्रेमालाप, आलिंगन, चुम्बन, अभिसार आदि का सीधा और अभिधात्मक वर्णन करते हैं। बच्चन, नरेन्द्र और नीरज से प्रभावित आज के अनेक नये कवियों में, जो कवि सम्मेलनों की सस्ती लोकप्रियता को ही सब कुछ मानते हैं, यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। अतिशय और नग्न ऐन्द्रिकता का यह प्रवृत्ति कविता में ही नहीं, कथा साहित्य में भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

समसामयिक हिन्दी साहित्य में अश्लीलता की प्रवृत्ति क्या और किस सीमा तक बढ़ गई है, इसका संक्षिप्त विवेचन कर लेने के बाद भी यह प्रश्न हो सकता है कि अश्लीलता को समस्या बनाकर उपस्थित करना संकीर्ण या अनुदार मनोवृत्ति का परिचय देना अथवा साहित्य के स्वतन्त्र अस्तित्व को धार्मिक और नैतिक नियमों में बाँधना है। यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक साहित्य में अश्लीलता का इतना विस्तार देखना अतिरंजना है, क्योंकि इस प्रकार का अधिकांश साहित्य वास्तव में अश्लील नहीं है। अतः इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अश्लीलता क्या है, इस बात को समझ लेना आवश्यक है।

भारतीय साहित्य परम्परा में नाटकों में सम्भोग, चुम्बन, आलिंगन आदि रति विषयक कार्यों तथा जुगुप्साजनक और अमंगलसूचक क्रियाओं का प्रदर्शन वर्जित है। किन्तु अन्य काव्य में शृंगार, बीभत्स और करुण रसों के भीतर उन्हीं का वर्णन बराबर होता रहा है। *इसका अर्थ यह हुआ कि अश्लील या जुगुप्साजनक* कार्य देखने में तो बुरे माने जाते थे पर उन्हें सुनाई नहीं माना जाता था। लेकिन प्रभाव की दृष्टि से वस्तुतः देखने और सुनने की क्रियाओं में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, मात्रा का अन्तर भले ही हो। इसी कारण आधुनिक युग

में पाश्चात्य नाटकों की तरह भारतीय नाटकों में भी पुरानी वर्जनाओं को अस्वीकार करके भोजन मृत्यु आदि काय प्रदर्शित किये जाते हैं, यद्यपि अश्लील दृश्यों का प्रदर्शन अब भी बुरा माना जाता है। यह हमारे सभ्य जीवन की एक बहुत बड़ी व्याधि है कि हमारी वाणी और क्रिया में सामञ्जस्य नहीं रह गया है। असभ्य आदिवासी जातियों का जीवन सभ्यता की कृत्रिम वर्जनाओं से कुण्ठित नहीं हुआ है। इस कारण उनके दृष्टिकोण, वाणी और क्रिया में कोई विरोध नहीं दिखाई पड़ता। संस्कृति के एक सामान्य स्तर पर पहुँचकर मानव ने आचार सम्बन्धी कुछ ऐसे नियम बनाये जो सभी देशों, जातियों और कालों में समान रूप से मान्य रहे हैं। यौन क्रियाओं की गोपनीयता और शरीर के गुप्तांगों को आवृत रखने की प्रथा भी मानव के उन्हीं सामान्य और सार्वभौम आचारिक नियमों में से है। इन क्रियाओं और अंगों का समाज के बीच वर्णन या उद्घाटन करने वाला व्यक्ति या तो असभ्य और अशिष्ट माना जाता है या वह स्वयं मानसिक विक्षिप्तता की अवस्था में होता है। किन्तु चिकित्सा शास्त्र और और काम शास्त्र के क्षेत्र में ये बातें गोपनीय नहीं हैं, क्योंकि वहाँ जीवन को सुरक्षित और व्यवस्थित बनाने के उद्देश्य से उन क्रियाओं और अंगों का वैज्ञानिक विश्लेषण और ज्ञान आवश्यक होता है। किन्तु व्यावहारिक दैनन्दिन जीवन में खुले आम व क्रियाएँ न तो की जातीं और न कही जाती हैं। इस तरह निष्कर्ष यह निकलता है कि यौन क्रियाओं और शरीर के गुप्तांगों का समाज के बीच खुले आम प्रदर्शन या वर्णन ही अश्लीलता है, चाहे वह जीवन में हो या साहित्य में।

आज हमारे समाज में कृत्रिम सभ्यता के कारण इतनी अधिक सामाजिक और आचारिक वर्जनाएँ, रूढ़ि रूप में, व्यक्ति को जकड़कर, फैली हुई हैं कि उनसे नाना प्रकार की मानसिक ग्रन्थियाँ और कुण्ठाएँ उत्पन्न होकर व्यक्ति के मन को विकृत बना रही हैं। यही विकृति या उन रूढ़ियों के विरुद्ध होने वाली अस्वस्थ प्रतिक्रिया आज के साहित्य में अश्लील चित्रण के रूप में अभिव्यक्त हो रही है। कोई प्रतिक्रिया अस्वस्थ तब होती है जब वह औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर देती है। सामाजिक औचित्य यह है कि रूढ़िगत, आचारिक नियन्त्रणों के विरुद्ध विद्रोह होना चाहिए और सामान्य सार्वभौम आचारिक नियमों की रक्षा होनी चाहिए। जब इस औचित्य की सीमा को तोड़कर सामान्य मानवीय आचारों का भी विरोध होने लगता है तो उसका परिणाम साहित्य में अश्लील चित्रण या कुण्ठाओं के समर्थन के रूप में दिखलाई पड़ता है। प्रारम्भ में जिस सामाजिक अन्तर्विरोध की चर्चा की गई है वह इस बात में भी दिखलाई पड़ती है कि ऐसे साहित्यकारों के भीतर इतना साहस नहीं कि साहित्य में वे जिन बातों को अश्लील या गोपनीय समझकर भी निःसंकोच रूप में व्यक्त करते हैं, व्यावहारिक जीवन में भी उनके अनुसार खुले आम आचरण करें। क्रिया और वाणी के बीच यह विरोध हमारे नैतिक ह्रास का द्योतक है। क्रिया और वाणी के सामञ्जस्य का अर्थ यह है कि व्यावहारिक जीवन में जो आचारिक दृष्टि से गोपनीय या वर्जित नहीं है उसे ही सार्वजनिक उपयोग के लिए वाणी बद्ध किया जाय और जो गोपनीय या वर्जित है उसे साहित्य में भी गोपनीय और वर्जित माना जाय।

किन्तु जिस तरह व्यावहारिक जीवन में गोपनीय और अवर्ण्य मानी जाने वाली बातें भी काम शास्त्र और चिकित्सा शास्त्र में विचारणीय और वर्णनीय मानी जाती हैं उस तरह

साहित्य में भी आवश्यकता पड़ने पर इनका वर्णन किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य को काम शास्त्र या चिकित्सा शास्त्र का रूप दे दिया जाय। जैसा कुछ मनोविश्लेषणवादी साहित्यकार इस समय कर रहे हैं। साहित्य का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वरूप है पर वह जीवन के सभी पक्षों और विषयों से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध भी है। जीवन में सामाजिक आचारों का जितना महत्त्व है उतना ही साहित्य में भी होना चाहिए और उसी तरह काम शास्त्र या चिकित्सा शास्त्र का जीवन में जो स्थान है, साहित्य में उनका भी उनके अनुरूप चित्रण होना चाहिए। यदि मानव का साध्य जीवन का चरम आनन्द है तो आचार शास्त्र, काम शास्त्र आदि सभी उनके साधन हैं। अतएव इन साधनों में परस्पर विरोध नहीं, सामञ्जस्य होना चाहिए। एक बात ही आचार शास्त्र, की दृष्टि से अश्लील और कामशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर अश्लीलता रहित प्रतीत हो सकती है। किन्तु साहित्यकार के पास वह सामञ्जस्य बुद्धि होनी चाहिए जिसके द्वारा वह साहित्य और जीवन के चरम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए आचार शास्त्र और काम शास्त्र के बीच प्रतिभासित होने वाले विरोधों का शमन कर सके। विरोध शमन का एक मात्र उपाय यह है कि लेखक का दृष्टिकोण स्वस्थ और उदार हो, उसका उद्देश्य स्पष्ट और महान् हो और उसमें मानसिक ग्रन्थियाँ तथा कुण्ठाएँ न हों।

ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है कि यौन क्रियाओं और अवर्णनीय अवयवों का वर्णन साहित्य में हर हालत में बुरा ही नहीं होता। लेखक यदि पाठकों में अपने उद्देश्य के अनुरूप प्रभाव उत्पन्न करने के लिए इस प्रकार का वर्णन करता है तथा इस पद्धति द्वारा उद्देश्य सिद्धि में सफलता प्राप्त करता है तो उसका यह कार्य अनौचित्यपूर्ण या असामाजिक नहीं माना जायगा। आधुनिक युग के अनेक महान् कथाकारों—गोर्की, जोला, आस्कर वाइल्ड, डी० एच लारेन्स आदि ने इस प्रकार के अश्लील वर्णन किये हैं पर इससे उनकी महानता में कमी नहीं आई और न उनकी कला को ही कोई दोषी ठहराता है। वस्तुतः प्रधान तत्त्व किसी रचना का प्रभाव है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अश्लील सदैव अश्लील है जिस तरह चोरी या झूठ सदैव चोरी और झूठ हैं, किन्तु ये सदैव बुरे भी होते हैं ऐसी बात नहीं है। कोई वस्तु अपने आपमें अच्छी या बुरी नहीं होती, उपयोग और प्रभाव से ही अच्छे और बुरे का निर्णय होता है। यदि अश्लीलता का उपयोग सदुद्देश्य के लिए होता है और उसका प्रभाव भी बुरा नहीं, अच्छा पड़ता है तो अश्लीलता बुरी नहीं हो सकती। इसके विपरीत वह अश्लील चित्रण श्लाघनीय माना जायगा। जो व्यक्ति की अस्वस्थ मानसिक ग्रन्थियों और कुण्ठाओं और समाज के दुराचारों और कुरीतियों को मिटाने के लिए साधन रूप में प्रयुक्त हुआ हो। यदि लेखक स्वयं उसमें रस लेता और पाठकों की पाशविक या काम वृत्तियों को उत्तेजित करने के लिए ऐसा चित्रण करता है और इससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो वह अश्लील चित्रण अवश्य अग्राह्य तथा निन्दनीय है। जेम्स ज्वायस के उपन्यास पर 'युलिसिस' पर अमरिका में रोक लगा दी गई थी। उस सम्बन्ध में हुए मुकदमे अमेरिका के एक हाईकोर्ट के जज ने यह निर्णय दिया कि 'युलिसिस' को अश्लील उपन्यास नहीं माना जा सकता, क्योंकि उससे समाज पर बुरा प्रभाव पड़ने की कोई आशंका नहीं है। हिन्दी के उपन्यासों में 'सुनीता' और 'शेखर एक जीवनी' के बारे में भी यही बात कही जा सकती है।

किन्तु अनेक उपन्यास ऐसे भी हैं जिनमें उद्देश्य की महत्ता नहीं अथवा जिनका कोई उद्देश्य ही नहीं है, साथ ही उनमें विस्तार के साथ रति क्रियाओं का वर्णन मिलता है। ऐसा साहित्य, चाहे वह मनोविश्लेषणवाद के नाम पर, किसी भी आधार पर श्लाघनीय नहीं हो सकता। ऐसे निरुद्देश्य और असामाजिक अश्लील चित्रणयुक्त साहित्य के प्रति साहित्यकार, समाज और शासक वर्ग का क्या रुख होना चाहिए, यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

O

विजयदेव नारायण साही

साहित्यिक 'अश्लीलता' का प्रश्न

जब बालज़ाक जैसा उपन्यासकार 'ड्रोल स्टोरीज़' लिखने के लिए प्रस्तुत हो जाता है तो हम विवश हो जाते हैं कि साहित्य में श्लीलता अश्लीलता का विवेक सोच समझकर करें। सतही तौर से देखने पर, तसवीर का एक ही पहलू दीखेगा। किन्तु परिणाम यह होगा कि बहुत से महान् नेत्रों और उत्कृष्ट कला कृतियों को ताले में बन्द कर देना होगा। यह निश्चित करना होगा कि नंगी मूर्तियाँ या नंगे चित्र क्यों अश्लीलता की कोटि में नहीं आते, या आते भी हैं तो उत्कृष्ट कला कृति क्यों माने जाते हैं? क्या कोई कृति अश्लील और साथ ही साथ उत्कृष्ट कला कृति हो सकती है? या कला की उत्कृष्टता अश्लील विषय को भी अश्लील नहीं रहने देती? या ऐसी कौन सी मजबूरी है कि बालज़ाक 'ड्रोल' कहानियों की ओर प्रेरित होता है या बायरन जैसा कवि अपनी पूरी शक्ति के साथ 'प्लेटो' और उसके 'प्लेटोनिक प्रेम' पर तीखे प्रहार करता हुआ उल्लासमय, जीवन्त, किन्तु वासनामय प्रेम का चित्र खींचता है और फिर गेटे जैसा विचारक, सुधारक और कलाकार बजाय छि छि करने के कहता है कि बायरन जैसा मस्तिष्क शेक्सपीयर के अतिरिक्त इंगलैण्ड में हुआ ही नहीं।

अमूर्त सिद्धान्तों के सम्बन्ध में संसार में कभी भी विवाद नहीं हुआ है। कठिनाई तब होती है जब अमूर्त सिद्धान्त मूर्त और व्यावहारिक रूप धारण करने लगते हैं। तब विवाद उपजते हैं। अधिक से अधिक शुभाशंसा प्राप्त करने का तरीका यह है कि अमूर्त सिद्धान्तों में, निराकार सूत्रों में बात कही जाय। सब सहमत, प्रसन्न और सुखी होंगे। सिर्फ एक ही बात नहीं होगी—अर्थ कुछ नहीं निकलेगा। विचारक नामधारियों में से प्रायः निरर्थक बात कहने से उतना संकोच नहीं करते जितना सार्थक वाक्य से। क्योंकि सार्थक वाक्य खतरनाक होता है। वह बचकर निकल भागने या समय रहते बदल जाने का रास्ता नहीं छोड़ता। उदाहरण के लिए साहित्य लोक मंगल के लिए है, यह एक अमूर्त, अतः निर्विवाद, अतः निरर्थक सूत्र है। इससे पुराण और पुराण विरोध दोनों ही सिद्ध किया जा सकता है। साहित्य के क्षेत्र में ऐसा ही एक अमूर्त सिद्धान्त यह भी है कि अश्लीलता अवाञ्छनीय है।

देश काल से निरपेक्ष इस वक्तव्य से असहमत होना असम्भव है। क्योंकि इस वक्तव्य का कोई अर्थ नहीं है। वक्ता या विचारक हमेशा 'किन्तु कालिदास की बात दूसरी है' अथवा 'कृष्ण और गोपियों का रास वर्णन अश्लीलता में नहीं आता' कहकर छूट सकता है। एकाध तुलाधार ऐसे भी हैं, जिन्हें सूरदास या कालिदास या व्यास की चर्चा करते समय केवल ऊँचे सिद्धान्त, वेदान्त और वेदित व, ही दिखते हैं और समकालीन नये लेखकों की ओर मुड़ते हैं तो सिवाय अश्लीलता के उन्हें कोई आलोच्य ही नहीं जान पड़ता। स्पष्ट है कि पुरानों के लिए आँख बचा जाना और नयों के लिए गला फाड़कर चिल्लाना हमारी श्रद्धा वृत्ति चाहे व्यक्त करे, बौद्धिक सन्तुलन का प्रमाण तो प्रस्तुत ही नहीं करता।

विवेचन के लिए मूल प्रश्न यह है कि साहित्य में अश्लीलता क्या है, इसका निरूपण कैसे किया जाय?

अश्लीलता के अन्तर्गत मूलतः यौन आचार ही का विवेचन किया जाता है। यद्यपि इसको मात्र यौन आचार तक सीमित रखने का कारण नहीं है। साहित्य में श्लीलता अश्लीलता सुरुचि और संस्कृति का प्रश्न है, नैतिकता का नहीं। इस वास्तविकता का हृदयंगम करना आवश्यक है। चूँकि साहित्य में यौन आचार का विषय मुख्यतः उठता है, अतः मैं भी इसी दृष्टि से विचार करूँगा।

श्लीलता अश्लीलता का जो हमारा विवेक या संस्कार है, उसका आधार क्या है? जब हम यह निश्चित करते हैं, या अनुभव करते हैं कि अमुक शब्द अथवा कृति अश्लील है, तो हमारे लिए निर्णायक संकेत क्या होते हैं? इसे समझने के लिए संस्कृति के मौलिक तत्त्व को समझना आवश्यक होगा। मानवीय संस्कृति का सतत प्रयास पाशविक स्थिति से दूर हटने की ओर रहा है। हमारी प्राथमिक शारीरिक क्रियाएँ हममें और पशुओं में साम्य प्रस्तुत करती हैं। संस्कृति बुद्धि, इच्छा और अन्तरात्मा की कोटियों को हमारी शारीरिक प्रक्रियाओं में प्रविष्ट करती है। जितना ही ये मानसिक आवरण हमारी क्रियाओं को ढकते जाते हैं, हमारा संस्कार होता जाता है। अनुभूतियाँ सूक्ष्मतर होती हैं। और हम पशुत्व से ऊँचे उठते हैं। यौन प्रक्रिया अथवा स्त्री पुरुष का समागम जीवन की अनिवार्य और अत्यन्त सशक्त प्रेरणाओं में से एक है। शारीरिक, अर्थात् पाशविक परिणति तो इसमें मानकर ही चलना होगा। किन्तु हमारा जो दृष्टिकोण इस यौन आकर्षण के प्रति रहा है, उसमें हमें अपनी सांस्कृतिक अन्तरात्मा की प्रतिच्छाया मिलेगी। जितना ही अधिक हम इस आकर्षण में शारीरिक (अर्थात् पाशविक) वासना का अभाव दिखला सके हैं उतना ही यह आकर्षण उदात्त, मंगलमय, नैसर्गिक माना गया है। यहाँ तक कि इसके सर्वोच्च स्वरूप की कल्पना वह है जहाँ शारीरिक सायुज्य का प्रश्न ही नहीं रह जाता, प्रेम मात्र आध्यात्मिक हो जाता है, आत्मा ही आत्मा में रमण करती है। ऐसे प्रेम का चित्रण न केवल कि अश्लील नहीं माना जाता, बल्कि परम पावन और पुनीत सम्बन्धों को व्यक्त करने के लिए बार बार प्रयुक्त होता है। दूसरी ओर का सीमा निन्तात पाशविकता को है जहाँ आकर्षण और शारीरिक प्रक्रिया एक ही वस्तु है, बीच में मानसिक मध्यन्तर का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सर्वाधिक अश्लील चित्रण होगा।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि समस्त मानवीय प्रक्रिया मूलतः अथवा

अन्ततः शारीरिक है किन्तु संस्कृति के विकास की दिशा यह रही है कि शारीरिक प्रेरणा और प्रतिक्रिया के बीच मानसिक आरोहण अवरोहण के अधिक से अधिक सोपान प्रस्तुत करें। इन सोपानों के कारण हमारी क्रियाशीलता में परिष्कार आता है और जीवन के हर क्षण की अनुभूति प्रखर होती जाती है। इस निरन्तर विकासशील सांस्कृतिक स्थिति में निश्चय ही अश्लीलता (अर्थात् पाशविक क्रिया से निकटता) वही होगी, जो हमें सीधे शरीर की अनुभूतिहीन प्रक्रिया की ओर खींचेगी। अब कितना वर्णन, कितना संकेत, हमें केवल अनुभूति के सोपानों पर छोड़ जायगा और कहाँ से फिसलन इतनी तीव्र होगी कि हम बिना रुके पाशविक शारीरिक प्रक्रिया तक पहुँच जायेंगे, यह हमारे सांस्कृतिक स्तर और कलाकार की अनुभूति प्रवणता पर निर्भर करता है। सांस्कृतिक स्तर से मेरा तात्पर्य परम्परा से समृहीत उस मानसिक अनुभूति कोष से है जिसके द्वारा हम जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं को गहराइ, विविधता, और सूक्ष्मता प्रदान कर पाते हैं। इसको एक उदाहरण से अच्छी तरह समझा जा सकता है। हमारे कवियों, विचारकों, कलाकारों ने नारी पुरुष के परस्पर चुम्बन को विभिन्न अनुभूतिगम्य गहराइयों, विविधताओं, सूक्ष्मताओं से सम्बद्ध कर दिया है। अतः जब हम कविता या उपन्यास में साधारणतः चुम्बन का शब्द देखते हैं तो हमारे मन में मात्र शारीरिक तरंगें नहीं उठतीं। बल्कि वे तो शायद बहुत ही गौण होती हैं। चुम्बन शब्द सर्वप्रथम हमारे मस्तिष्क में अनुभूति—मानसिक प्रक्रिया—स्नेह, विह्वलता, शान्ति, कातरता आदि की कल्पना प्रस्तुत करता है। जो अनुभव हम प्राप्त करते हैं वह शारीरिक न होकर भावनात्मक (emotive) अथवा सौंदर्यात्मक (Aesthetic) अनुभव हो जाता है। इसके विपरीत चुम्बन का ही वर्णन यों भी हो सकता है कि अनुभूतिहीनता और अश्लीलता उत्पन्न हो जाय। इसके विपरीत रति क्रिया का वर्णन (यद्यपि उसके भी कारण वही हो सकते हैं जो चुम्बन को जन्म देते हैं) अधिकतर अश्लील हो जायगा, इसकी सम्भावना अधिक है।[1] क्योंकि प्रायः यह प्रक्रिया अविकसित रही है और हमने इसे चुम्बन या आलिंगन की भाँति विविध और सूक्ष्म मानसिक अनुभूतियों से सम्बद्ध करना नहीं सीखा है। जैसे जैसे संस्कृति अथवा सभ्यता का विकास होता जाता है हमारी अनुभूतियाँ समृद्ध, सूक्ष्म, गहन और विविध होती जाती हैं। हम एक ऐसे स्तर की कल्पना कर सकते हैं जब रति क्रिया का सुस्पष्ट वर्णन हमें उसी प्रकार भाव प्रवण छोड़ जाय जिस तरह छायावादी कविता में अनन्त से आने वाले अज्ञातप्रिय का आध्यात्मिक दर्शन मात्र। 'गीत गोविन्द' ही नहीं, संसार की अन्य कृतियों में भी इस वर्णन को पुराने आचार्यों ने लिया है, वे कभी सफल रहे हैं, कभी विफल। अन्यान्य कारणों से आधुनिक युग के लेखकों में इसकी खोज अधिक दीखती है। जब हम पूछते हैं कि कहाँ पर ऐसा प्रयास अश्लील हो जाता है और कहाँ नहीं, तो हमारा मूल प्रश्न यही होता है कि क्या यह शारीरिक वर्णन हमारे अनुभव में कोई नया आयाम जोड़ जाता है? क्या इसने जीवन की हमारी सामान्य अनुभूति में गहराइ, सूक्ष्मता, विविधता जोड़ी है? क्या हम जिस तरह एक फूल की सुगन्ध को दूसरे फूल की सुगन्ध से अलग कर सकते हैं, उसी तरह कलाकार हमें ऐसे अनुभवों की ओर ले गया है जो हमारे नितान्त शारीरिक अनुभव का सौन्दर्यात्मक अथवा भावनात्मक अनुभूति बनाकर मूल्यवान बना सकें?

---

[1] इस सम्बन्ध में जयदेव के 'गीत गोविन्द' का विश्लेषण कि कौन से तत्त्व हैं जिनसे अश्लीलता उत्पन्न होती है या नहीं होती है, मूल्यवान होगा।

यदि इन प्रश्नों का उत्तर हाँ है, तो निश्चय ही कृति, कला कृति है और अश्लील नहीं है, यदि हम अश्लीलता के विवेचन को मूलत सुरुचि का प्रश्न मानते हैं तो हमारे लिए मानना अनिवार्य होगा कि कला कृति अश्लील हो ही नहीं सकती। यदि वह अश्लील है तो कला-कृति नहीं होगी। क्योंकि सुरुचि, स्वय ही कलात्मक परिष्कार है, जो हमें मानसिक गहराई की ओर ले जाती है।

दो एक प्रचलित धारणाओं पर विचार करना आवश्यक है। प्राय कहा जाता है कि हमारा सामयिक सामाजिक वातावरण विशेष करके अश्लील हो गया है, जब कि प्राचीन काल में इतनी अश्लीलता अथवा सामाजिक उच्छृङ्खलता नहीं थी। मुझे यह धारणा अनैतिहासिक लगती है। उच्छृङ्खलता को सही प्रमाणित करने के लिए मनुष्य ने हर युग में बहाने बनाए हैं। यहाँ तक कि वामाचार की तांत्रिक साधना तक चला डाली। अत यह न तो आज के भारत की नई बात है, न यूरोप के भौतिकवाद, न फ्रायड के मनोविज्ञान की विशेष देना है। इसके विपरीत आधुनिक युग सगठित विलास के अर्थ में उच्छृंखल सामाजिक व्यवहार का अधिक विरोधी है।

एक प्रकार का मस्तिष्क मानो ढग से हर कृति को इस कसौटी पर कसना चाहता है क्या इस पुस्तक को 'बहू बेटियों' के हाथ में दिया जा सकता है? क्या इसे आचार्यगण शिशुवत् शिष्यों को पढ़ा सकते हैं? ऐसे प्रश्नों के पीछे एक अप्रमाणित स्वीकारोक्ति यह होती है कि सारा साहित्य बहू बेटियों, या शिशुवत् शिष्यों के लिए लिखा जाता है या लिखा जाना चाहिए। वस्तुत साहित्य इस कसौटी पर न तो खरा उतरा है, न उतरेगा। बहू बेटियों की लाठी से हाँकने पर तो व्यास और वाल्मीकि भी भागते नजर आयेंगे, कालिदास और शेक्सपियर का तो कुछ कहना ही नहीं। इस प्रकार का शुद्धतावादी नैतिक हठयोग साहित्य को उसके मर्म से वंचित कर देता है। जो मस्तिष्क अश्लीलता का विरोध मात्र इस आधार पर करता है कि इसका प्रभाव लोगों के चरित्र पर क्या पड़ेगा, वह अपरिपक्व, पण्डिताऊ और अक्षम्य है। क्रुद्ध उस्तरे से शल्यक्रिया करने वाला स्वस्थ अग को भी काटकर निकाल फेंकेगा इसीकी सम्भावना अधिक है। क्योंकि जैसा हमने ऊपर विचार किया है बहुत सी कृतियाँ, या बहुत से विषय सतही तौर से अश्लील लगते हुए भी विशिष्ट कलात्मक सन्दर्भ में अश्लील नहीं होते।

पूछा जा सकता है कि श्लीलता के नाम पर यदि हम नैतिक शुद्धता अथवा पूर्ण सात्विक वातावरण की माँग साहित्यकार से करें भी, तो हर्ज क्या है? माना कि वासनात्मक दलदल का एक भाग सख्त है और उस पर चलने में डूबने का खतरा नहीं है, तो भी क्या आवश्यक है कि हम पक्की जमीन छोड़कर उधर जायँ ही? आखिरकार कहने के लिए 'ससार में एक से एक अच्छी बातें पड़ी हुई हैं, लोगों के चरित्र को ऊँचा उठाना भी तो एक काम है, एमी कौन-सी बाधा आ पड़ी है कि साहित्यकार ख्वाह मख्वाह अश्लीलता का आभास देने वाला चित्रण करे ही और बाद में बाल की खाल निकालकर यह कि मैं काजल की कोठरी से अछूता निकल आया हूँ? क्या यह मात्र मानसिक विकृति नहीं है? मान भी लिया जाय कि कलात्मक सौष्ठव से शायद एकाध ऐसे वर्णन अश्लीलता की सीमा से बाहर आ जाते हों, फिर भी यह चमत्कार दिखलाने की आवश्यकता क्या है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि शायद ही कोई भाषा हो जिसमें चोटी के साहित्यकारों ने अश्लीलता का दलदल पर पैर न रखा हो।

अच्छा हो कि हम इस महत्व में पुरानी महान् कृतियों को ध्यान में रखें। हम इतना मानकर आरम्भ कर सकते हैं कि शरत् बाबू के शब्दों में 'नितान्त बाध्य' न होने पर इन महान् कृतिकारों ने जीवन व्यापार के वे चित्र न प्रस्तुत किये होंगे, जो अश्लीलता का आभास दे जाते हैं। क्या है वह जो 'नितान्त बाध्य करता है'? बीनड से ऐसा कौन सा दुर्निवार आकर्षण है?

उत्तर इस पर निर्भर करता है कि हम साहित्यकार को क्या समझते हैं, क्या वह स्वयम्भू है, ऋषि है, ब्रह्म है अथवा साधारण मानव है, जिसमें ऊपर से असम्पृक्त लगने वाली अनुभूतियों को एक साथ जोड़कर समर्थक बनाने की, अत जीवन अनुभव को प्रखर बनाने की शक्ति विद्यमान है। जो लोग साहित्य को उदात्त और मंगलकारी आर्ष वाणी मात्र मानते हैं उनसे बहस नहीं की जा सकती। अच्छे और सुन्दर उपदेशों की प्रचुरता को अवाञ्छनीय ठहराने का साहस कौन कर सकता है? हितोपदेशक शुद्धतावादी निवश इसलिए हो जाते हैं कि रूखा उपदेश पशु और प्रभावहीन हो जाता है ताकि वह रसमय, और प्रभावशाली हो सके एक आदर्शेतर तत्त्व—यथार्थ—की आवश्यकता पड़ती है। यह ऋषि से ऋषित्व से नीचे की वस्तु है। मनीषी का तत्त्व दर्शन नहीं, ब्रह्म की चिन्मयता नहीं, आचार्य का उद्घोष नहीं—सीधे सादे मनुष्य की वाणी है जो सामाओं में बँधी है, लालसा है, गोचर है, यथार्थ है, जीवन पंक में लिपटी है और इसीलिए हमारी अपनी है, प्यारी है, आत्मीय है। यथार्थ का यह एक दुर्निवार आकर्षण है।

सात्त्विक उपदेश में एक और कमी है। वह नीचे बहने वाली विकृतियों का छिपाने के लिए पर्दे का काम करता है। कालान्तर से हर शुद्धतावादी आचार, कपट, दुहरी नैतिकता, सामाजिक प्रतिक्रियावाद और छिछले वाह्याडम्बर का पर्याय बन जाता है। दो स्तरों का अ ऋजु जीवन मानव को विचलित करता है। साहित्यकार को प्रखर अनुभूति दे जाता है। अत यथार्थ की 'नितान्त बाध्यता' साहित्यकार को विवश करती है कि उस वास्तविक स्तर को ऊपर लाये। कलाकार का मानस इसलिए नहीं विचलित होता कि मानव स्वभाव में दुर्बलता क्या है। विक्षोभ इस बात पर होता है कि दुर्बलता को स्वीकार क्यों नहीं किया जाता, आडम्बर की क्या आवश्यकता है? चारित्रिक दुर्बलता को हम क्षमा कर सकते हैं, किन्तु बेईमानी को नहीं। यदि कलाकार विद्रोही हुआ तो यथार्थ का नग्न चित्रण करेगा और यदि विद्रोह उसके युग का मुख्य स्वर नहीं तो नैतिक आडम्बर की उपेक्षा करके जीवन के गोचर आनन्द का वर्णन करेगा और जब एक बार यथार्थ का आकर्षण स्वीकार कर लिया गया तो उन स्तरों पर यदा कदा पहुँच जाना, जो साधारणत गोपनीय होते है, असम्भव नहीं है। बात सिर्फ अनुभूति की गहनता की है।

बड़े बड़े कृतिकारों में यह प्रवृत्ति—यथार्थ की प्रवृत्ति—मिलती है, इससे इन्कार करना सम्भव नहीं। सतही आलोचक दृष्टि यह कहकर सन्तोष कर लेती है कि ठीक है, साहित्यकार नग्न यथार्थ का वर्णन करे, किन्तु इस प्रकार वासना—ऐन्द्रिकता—से अरुचि हो जाय। मैं इस भ्रामक तर्क को समझने में असमर्थ हूँ। क्या यह कहना अभीष्ट है कि अब तक के कलाकारों ने जो कुछ इस सम्बन्ध में कहा है वह अरुचि उत्पन्न करने के लिए कहा है? इसके विपरीत अधिकतर नग्न यथार्थ आकर्षक, मानवोचित रूप में—मेरे शब्दों में अनुभूति की समृद्धि एवं विविधता के साथ—अभिव्यक्त हुआ है।

लेखक के प्रथम अंश में हमने जो विश्लेषण किया है, उसकी शब्दावली में हम यदि विचार करें तो प्रश्न यों उठेगा कि जब हम मान लेते हैं कि मात्र ऐंद्रिक प्रक्रिया पाशविक और असंस्कृत है तो क्या कलाकार के लिए यह सम्भव और उचित नहीं है कि वह ऐंद्रिक प्रक्रिया का नितान्त बहिष्कार करें और मात्र भावना, अनुभूति में ही विचरण करे ? यह तो विकास और संस्कृति का चरम लक्ष्य होगा। इस दृष्टि से देखने पर आदर्श का पराकाष्ठा स्पृहणीय ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाती है। 'कीचड़ के आकर्षण' का प्रश्न ही नहीं उठता। 'प्लैटनिक प्रेम' सर्वोच्च ही नहीं, पर्याप्त भी होना चाहिए।

यह तर्क अकाट्य होता यदि इसमें एक मौलिक त्रुटि न हो तो। पर तर्क भूल जाता है कि संस्कृति में हम जिसका परिष्कार करते हैं वह अन्ततोगत्वा हमारी मौलिक जैविक क्रियाएं ही हैं। मौलिक जैविक जीवन से विच्छिन्न कोई क्रिया सम्भव नहीं है। इसलिए मात्र आदर्श पर आधारित मानव चेतना की कल्पना तो एक सिरे से क्रियाशीलता की सम्भावना को ही अस्वीकार कर देगी, और साहित्य सम्भव नहीं रह जायगा। यदि हम सर्वत्र, ब्रह्म ही देखेंगे तो प्रक्रिया मात्र माया होगी। हम केवल अनादि अनन्त कर्महीनता में स्थित रह जायँगे। आध्यात्मिक दृष्टि से यह स्थिति कितनी ही सुरक्षित क्यों न हो साहित्य के लिए उर्वर भूमि नहीं है। इसलिए बुद्धि, इच्छा, अन्तरात्मा—संस्कृति के जो भी तत्त्व हम मानें—उनकी क्रियाशीलता का आधार इन्द्रियाँ ही हैं। इसलिए हमें बार बार लौटकर इन पर आना पड़ता है। ऐंद्रिक क्रियाओं को फिर से आत्मसात् करना पड़ता है। उनकी शक्ति को विस्तृत करना और उनकी आवृत्ति को विविधता देनी पड़ती है। हम इन्द्रियों से अलग नहीं हो सकते—केवल उनका परिष्कार कर सकते हैं। कालान्तर से नई स्थापित अनुभूति प्रक्रियाएँ पुरानी पड़ जाती हैं। उनमें ठहराव नहीं रह जाता, जो हमारी कल्पना को छिछली, निरर्थक पाशविकता की ओर जाने से रोके। अतः फिर नये अनुभूति आयामों की तलाश होती है। साहित्य एक करवट लेता है। नया युग आता है। उदाहरण के लिए रीतिकालीन कवियों तक नारी पुरुष की अनन्त शारीरिक चेष्टाओं को परिष्कृत बनाने के लिए राधा कृष्ण का नाम काफी था। इस नाम मात्र में संस्कृति के इतने तत्त्व थे, *जो उस समस्त वर्णन को तत्कालीन समाज में* अश्लील समझे जाने से रोकते थे।[1] किन्तु वहाँ तक आने पर हम देखते हैं कि राधा कृष्ण के नाम का वह जादू, जो जयदेव की रक्षा करता है, समाप्त हो चुका है। परदा झीना पड़ता जा रहा है। अनुभूतिहीनता बढ़ती जा रही है और वर्णन अधिकाधिक अश्लील होता जा रहा है। इसके बाद नये विचार, नई कल्पनाएँ, नया युग, आता है। राधा कृष्ण और भगवन्नाम की सर्वपापनाशिनी शक्ति में सन्देह हो जाता है। लगता है कि कृष्ण का नाम लेकर बहुत-सा ढोंग, मिथ्याचार घुस आया है और तब रीति काल की अश्लीलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगती है। भगवान् के नाम के स्थान पर भगवान् के चरित्र की आदर्शवादी स्थापना होती है।

---

[1] मैंने अक्सर मौलवियों को देखा है कि शिष्यों को उर्दू गज़लें पढ़ाते समय जहाँ तस्वुर नहीं भी है, वहाँ भी खामखाह इश्क हकीकी' की व्याख्या करते हैं। उनके विचार में केवल जीव और परमात्मा का नाम ले लेने से समस्त यौन आकर्षणों का वर्णन अश्लीलता के चंगुल से छूट जाता है और विद्यार्थियों को वे सबके पढ़ाया जा सकता है।

आधुनिक काल में, साहित्य के अन्तर्गत हर बात को बहुत कुछ खोलकर कहने की प्रणाली चली है। बहुत कुछ यह यथार्थवाद की ही विकसित निष्पत्ति है, इसके अतिरिक्त पुराने नैतिक शुद्धतावाद को जीवन के लिए अपर्याप्त पाने पर उपजा विद्रोह भी है। यह एक प्रयास है कि जीवन का अनुभव एकांगी और अगोचर न रह जाय। सामाजिक सन्दर्भ में अश्लीलता का प्रश्न मानसिक सामाजिक वर्जनाओं (inhibitions) से सम्बद्ध है। प्रारम्भिक स्थितियों में मनुष्य शायद अपने शारीरिक अंगों एवं प्रक्रियाओं की गोपनीयता के प्रति उतना जागरूक नहीं था। बीच का सभ्य युग वर्जनाओं का पुंज जान पड़ता है। आज शायद हम फिर वर्जनाओं को तोड़ने की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यह आदिम मानव की ओर लौटना नहीं है। क्योंकि वर्जनाओं के प्रति हमारा आधुनिक दृष्टिकोण अज्ञान के कारण नहीं, कुतूहल की समाप्ति के कारण है। जिस देह इस युग में इन वर्जनाओं को काटकर गिराने में फ्रायड और उसके मनोविश्लेषण का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हम फ्रायड के अन्य परिणामों से सहमत न हों, यह दूसरी बात है। परन्तु उसने यौन आकर्षण को कलंक और अपराध की श्रेणी से निकाल कर मानवोचित और स्वाभाविक स्थान दिया इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

फिर भी स्मरण रखने की बात है कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में फ्रायड ने जिसे प्रतिष्ठा दी, समान रूप नैतिकता के क्षेत्र में वह क्रान्ति यूरोप में पहले हो चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी यूरोप में नैतिक सापेक्षतावाद के उत्कर्ष का युग है। अध्यात्म से नैतिक व्यवहार विच्छिन्न हो गया। यह माना जाने लगा कि 'अपने में' कोई क्रिया नैतिक या अनैतिक नहीं होती। यह गहरे उतरकर समझने और देश काल के सन्दर्भ में परखने की वस्तु है। ऐसे बौद्धिक वातावरण में नैतिक अपराध दण्ड की नहीं बल्कि सामाजिक विश्लेषण की वस्तु बन गया। फ्रायड की क्रांति ने उसे सामाजिक विश्लेषण की वस्तु भी न रहने दिया। अब तो वह मात्र रोग बनकर रह गया। ज्वर होने पर हम रोगी को दण्ड नहीं देते, इलाज करते हैं। उसी प्रकार सिद्धान्ततः नैतिक अपराध के लिए पुलिसमैन या जेलर की उतनी आवश्यकता नहीं रह गई, जितनी डाक्टर की। जैविक दृष्टि से देखने पर यौन आकर्षण हमारे रक्त मांस मज्जा में व्याप्त है। प्रश्न उसे वर्जित करने का नहीं है, उसे सही दिशा देने का है। यह गोपनीय, अवांछनीय अथवा अमंगलकारी वस्तु नहीं है। यह एक शक्ति है, स्फुरण है, जीवन इच्छा है, जिसे हम स्वीकार करते हैं आदिस्रोत के रूप में।

इन समस्त नई धारणाओं ने यौन चर्चा की गोपनीयता और नैतिकता दोनों ही के सम्बन्ध में सामयिक विचारों में भारी उलटफेर किया है। *श्लील और अश्लील* का भेद उतना अनुल्लंघनीय नहीं रह जाता जितना पहले था। वर्जनाएँ टूटती हैं। हम देखते हैं कि मनुष्य के कोई भी अनुभव प्रत्यक्ष मांसल अनुभव भी—जीवन की गहरी अनुभूति के लिए बहिष्कृत या अप्रासंगिक नहीं माने जा सकते। समूचा मनुष्य—अपने सुकृता और कलुषों समेत—मूल्यवान है। आलोचकों ने प्रायः प्रेमचन्द की आलोचना करते हुए कहा है कि उनमें मानवता को सफ़ेद और सियाह में बाँट देने की प्रवृत्ति है। कहा गया है कि ऐसा करना *अस्वाभाविक और अयथार्थ है।* इससे एक ही कदम और आगे हम यह भी कह सकते हैं कि ऐसा करना अपरिपक्व और खतरनाक भी है। जब हम यथार्थ के नाम पर मनुष्य को धूप छाँह का सम्मिश्रण मानकर कला का विषय बनाते हैं तो मानव अस्तित्व में गुणात्मक अन्तर

प्रकट करने करने के लिए यक्ति त्व को पूर्णता प्रेरक लक्ष्य बन जाती है। 'समूचे मनुष्य की उपलब्धि' यह एक जोरदार आकर्षण यथार्थवाद के बाद के लेखकों का रहा है। किसी हद तक ऐसी बहुत सी स्थितियाँ, जिन्हें सतही तौर पर आधुनिक अश्लीलता कहकर ठुकराया जा सकता, इस बौद्धिक खोज का परिणाम है। बहस इससे नहीं है कि यह खोज हमें सम्पूर्ण सत्य के दर्शन कराती है या नहीं, क्योंकि संसार के साहित्यकार ने 'सम्पूर्ण सत्य' की स्थापना का ढोंग छोड़कर 'कम से कम एकांगी' होने का प्रयास उसी दिन अपना लिया जिस दिन वह अपने को स्वयम्भू ऋषि के स्थान पर साधारण मनुष्य मानने लगा। हिन्दी का साहित्यिक और समीक्षात्मक वातावरण अभि व के इस बन्धन से मुक्त नहीं हुआ है। किन्तु तभी से एक क्रान्ति हो रही है इतना तो हमारी आँखों के सामने स्पष्ट है। जब तक नई पीढ़ी पुरानी पड़ेगी, बहुत कुछ बदल जायगा, यदि इसी बीच देश में पवन केशों की तानाशाही न स्थापित हो गई तो।

अनिवार्यतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सुरुचि के नाम पर रचनाओं की सूची बना देना आज न केवल असम्भव है, बल्कि एक प्रकार से कुत्सित (Vulgar) भी है। इससे हम मानव अनुभव के एक बहुत बड़े क्षेत्र को अछूता और अपरिष्कृत छोड़ देते हैं। अब यह कहना कि ऐन्द्रिक वासना छिछोरापन का ही द्योतक है उतना निर्विवाद नहीं रह गया है जितना गोस्वामी तुलसीदास के काल में था। आज यह सम्भव है कि शरीर की भूख के आधार पर हम पूरा एक जीवन दर्शन खड़ा कर डालें। वह गलत हो या सही इससे बहस नहीं है जोरदार, प्रगतिवान अवश्य होगा और उसमें मानसिक और सामाजिक सन्तुलन एवं स्वास्थ्य की ऐसी कोटियाँ होंगी जो पुराने आध्यात्मिक दर्शन में छूट जाती हैं। जब तक कोई दृष्टि जीवन्त है अनुभूति को प्रखर करती है और यदि अनुभूति की प्रखरता है, अप्रामाणिक अनुभवों को छोड़कर सार्थकता देने की सम्भावना विद्यमान है तो साहित्यकार हमेशा आस पास मँडराता हुआ दिखाई पड़ेगा।

मैंने जान बूझकर साहित्यिक अश्लीलता के अन्तर्गत उन घटिया, छिछली रचनाओं पर विचार नहीं किया जिन्हें अनुभूति नहीं बल्कि 'शारीरिक सिहरन' पर आधारित कहा जा सकता है। ऐसा मलिन और फूहड़ रचनाएँ समाज में हमेशा होती रही हैं और उन्हें पहचानना असम्भव नहीं है। गम्भीर आलोचना के लिए वे कोई प्रश्न इसलिए नहीं उपस्थित करतीं, क्योंकि कभी भी आलोचकों में इस पर मतभेद हुआ ही नहीं कि वे साहित्य की कोटि में नहीं आतीं और उनके लेखक भी कलाकारों की कोटि में नहीं आते। ऐसी कृतियाँ यदि बढ़ते बढ़ते संक्रामक रोग का रूप धारण कर लें तो राज्य उन्हें बन्द कर सकता है, अवैध घोषित कर सकता है, साहित्य को इससे रंच मात्र भी क्षति नहीं पहुँचेगी और न किसी आलोचक को इससे सिर दर्द होगा।

मैंने केवल एक अन्तर्दृष्टि देने का प्रयास किया है जिससे हम श्लीलता अश्लीलता के विवेक की ओर बढ़ सकते हैं। सावधानी बरतने की आवश्यकता वहाँ आती है जहाँ नग्न वर्णन को जीवन की नई और प्रखर अनुभूति के साथ जोड़ने का बौद्धिक प्रयास भी शामिल रहता है। मैं यह नहीं कहता कि यह दृष्टि सिर्फ नग्नता की ही ओर ले जायगी, किन्तु इतना अवश्य है कि यदि कभी नग्नता दिखाई भी पड़ गई तो तपस्या भंग होने की सम्भावना हमें विचलित नहीं करेगी। हाल के लेखकों में, चाहे यशपाल हों, या जैनेन्द्र या अज्ञेय या इलाचन्द्र जोशी, यह कहना कि उनके नग्न चित्रण की सार्थकता मात्र सस्ता और आकर्षक मनोविनोद प्रस्तुत करके

पुस्तकों के प्रद्द वीस सस्करण येन लेने को रही है, हास्यास्पद होगा। यह भी कहना कि उनका उद्देश्य पाठना में अरुचि पैदा करना है मूर्खतापूर्ण होगा। वस्तुत ये जीवन को अपनाने, पूर्णत अपनाने के सफल या विफल प्रयास हैं। आवश्यकता है कि उनकी सफलता या विफलता का मानदण्ड प्रस्तुत किया जाए, न कि उन्हें 'केवल एकान्त में पढ़ने योग्य' मानकर समाज में 'छि छि' करके शुचित्व की रक्षा की जाए।

O

डॉ० हरदेव बाहरी

व्रीडाजुगुप्सामंगलव्यंजकत्वात्

अश्लीलता की बात उठाने में भी अश्लील हो जाने की सम्भावना है। इसलिए लेख में की अश्लीलता के लिए क्षमा चाहते हैं। हमने जो २० २५ उदाहरण अपने कथन की पुष्टि में दिये हैं, उनका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी की अन्य कृतियों अथवा अन्य सभी लेखकों में अश्लीलता नहीं है, या कम है। ऐसे उदाहरण सैकड़ों की सख्या में उपस्थित किये जा सकते हैं। जिन साहित्यकारों की पंक्तियों को यहाँ उद्धृत किया गया है, उनसे हम क्षमा माँगते हैं कि सयोगवश उनकी रचनाओं पर हमारा ध्यान गया। उनके प्रति हमारी बडी श्रद्धा है।

कोशों में अश्लील का अर्थ है भद्दा,फूहड, लज्जाजनक, अशोभन, गन्दा, अभद्र, गँवारू, नग्न। अश्लील वाणी सुनकर अथवा अश्लील कर्म देखकर लोग छि छि करने लगते हैं। कहा जाता है कि श्लील अश्लील का प्रश्न देश, काल, समाज और सस्कृति पर निर्भर है। भारत मे लोगों के देखते अपनी पत्नी का चुम्बन अश्लील है, पश्चिमी देशों में यही शिष्टाचार है, इसलिए पश्चिमी साहित्य में प्रेमी प्रेमिका का चुम्बन आलिंगन प्रेम का परिचायक होने के नाते आवश्यक रूप से आता है। पश्चिम में कोई लड़की अपने माता पिता से इसका उल्लेख करने में लजाती नहीं। काल के अन्तर से भी श्लीलता की परिभाषा बदल जाती है। लोक गीतों से विदित होता है कि किसी समय में लडकियाँ अपने पिता, मामा और चाचा से कहती थीं कि मुझे वर चाहिए, वह वर काला न हो, छोटा न हो, बहुत लम्बा न हो, बुड्ढा न हो और बच्चा भी न हो कि जिसे गोदी में खिलाना पड़ जाए। आज कोई कन्या ऐसा कहने का साहस करे तो उसे निर्लज्ज और निगुरी कहा जायगा। बडे बूढे आपस में अनेक बातें कह लेते हैं जिनको युवकों और बच्चों के समाज मे कहते उन्हें शर्म आती है। पुरुष कभी कभी कोई बात कहने में झाँक लेते हैं कि कोई महिला तो नहीं सुन रही। सास्कृतिक स्तर के भेद से भी श्लीलता का स्तर बदल जाता है। ग्रामीण और नागरिक, सभ्य और असभ्य, शिक्षित और अशिक्षित की वाणी मे अन्तर होता है। गाँव के लोग जिन शब्दों को दिन में अनेक बार बोलते नहीं अघाते, सुसस्कृत व्यक्ति उन्हें कभी मुँह पर नहीं लाते। व्यक्तिगत सस्कृति से भी श्लील अश्लील का अन्तर बना रहता है।

संस्कृति में टट्टी, गालियाँ, गोपनीय इन्द्रिय, बीमारी, मृत्यु आदि शब्दों को हेर फेर से कहने की चिन्ता लगी रही है। टट्टी का अर्थ केवल आड़ ही तो है, लेकिन घृणित प्रयोग के कारण इसे हटाकर 'बाहर', 'जंगल', 'शौच' आदि शब्द प्रयुक्त किये जाते हैं। गर्भिणी की जगह 'पाँव से भारी है', 'उसे आस है', 'दिन पूरे हैं' इत्यादि कहते हैं। 'मृत्यु हो गई' को बदलकर 'प्राण पखेरू उड़ गए', 'स्वर्गवास हो गया', 'देह त्याग दिया', 'देहान्त हो गया' आदि कहा जाता है।

ऐसे शब्द प्रत्येक भाषा में मिलते हैं। कुछ बातें ऐसी हैं जो सभी देशों, सभी कालों में अश्लील कही जायँगी। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी बात को अभद्र, अशोभन अथवा लज्जाजनक मानता है।

साहित्य साधारण कथन से अधिक भद्र, शोभन और सुन्दर होना चाहिए। अशिष्ट, असभ्य, गँवार और जंगली लोगों का कोई ललित साहित्य नहीं होता। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ ही साहित्य का विकास होता है। तब तो साहित्य में अश्लीलता अपेक्षाकृत अधिक खटकने वाली बात होगी। कहने वाले कह सकते हैं कि कला तो सौन्दर्य है, कलाकार अघड़ और बवण्डर में भी सुन्दर के दर्शन करता है, वह न तो धर्म का ठेकेदार है और न ही आचार शास्त्री, जो श्लील अश्लील का चिन्ता करे। परन्तु हमारा मत है कि कलाकार बेशरम, निर्लज्ज और जंगली इसी नहीं है। उसकी भावना अधिक सूक्ष्म होती है, उसके लिए अश्लील असुन्दर का ही पर्याय है, अशिव का पर्याय है। जो साहित्य 'स्वान्तः सुखाय' लिखता है, उसे अपनी रचना प्रकाशित कराने की आवश्यकता नहीं है। अकेले में नंगे होने का हक तो उसे है, पर जब वह समाज के सामने आता है तो उसे समाज सम्मत आवरण डालना ही पड़ेगा, उसे अपनी नग्नता को ढककर रखना होगा। लोक मंगल की इच्छा करने वाला साहित्यकार लज्जा जनक, घृण्य और अमंगल सृष्टि नहीं कर सकता।

साहित्यकार तो अपने को ऋषि और स्वयम्भू कहता है, वह गन्दी वाणी क्यों बोले? वह घृणाद्योतक अथवा अमंगल सूचक बातें क्यों करे? वह साहित्य मन्दिर में अशुचि वस्तु क्यों आने दे? वह अपने को साधक मानता है। चुम्बन आलिंगन, कुच कपोल, सम्भोग रति क्रिया आदि की बात वह योगी क्यों करे? शारीरिक क्रियाओं और कोकशास्त्रीय चर्चाओं की व्याख्या करने क्यों बैठता है?—

एक ही संग इहाँ रपटे सखि
वे भये ऊपर हौं भई नीचे। (पद्माकर)
मोहि तुम्हें यह अन्तर पारत
हार उतारि उतै धरि राखौ। (ठाकुर)
लाज लगाइ कौन घर कहो सखि तुम रैन
पियरो लगे है रूप सब और उनींदे नैन। (सम्राट् शाह आलम)

कहते हैं कि रीति काल के कवि दरबारों में राजाओं महाराजाओं के मनोविनोद के लिए इस प्रकार का कविता कहते थे जिसमें विलासिता, कामुकता, चुलबुलाहट और उकसाहट रहती थी। इसीसे इसमें अश्लीलता अधिक है। इसके अधिक उदाहरण गिनाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह हिन्दी के प्रत्येक पाठक को भली भाँति विदित है।

रीतिकाल के शृंगारी कवि तो बदनाम हैं ही, आज के प्रायः अधिकांश कवि अश्लीलता में उनसे कम नहीं हैं, पर वे व्यञ्जना का आश्रय लेते हैं। वे नग्नता का चित्रण करके, उस पर रहस्यवाद का झीना आवरण डालते हैं। वे वासना को 'एष धर्म सनातन' कहकर आनन्द-विभोर होते हैं। वे बातें कहते हैं बिहारी, पद्माकर, ठाकुर और आलम की सी, लेकिन उन पर आवरण डालते हैं नानक, कबीर और दादू का।

हम उस साहित्य को साहित्य की संज्ञा देने को तैयार नहीं हैं जो असंस्कृत, अमंगल और वासनामय भावना को स्फूर्ति दे। जो चित्रण सौन्दर्य के आधार के प्रति कामातुर करे अथवा उस सौन्दर्य को वासनाजन्य प्रेरणा दे, वह चित्रण अश्लील है।

त्रिधा अश्लीलं, त्रिधेति व्रीडाजुगुप्सामंगलव्यञ्जकत्वात्। (काव्यप्रकाश, ७)

जिस बात से लज्जा, घृणा और अमंगल की भावना उत्पन्न हो, वह अश्लील है। चाहे कोई जंगली हो, अँग्रेज हो, रोमन हो, भारतीय हो अथवा इस्कीमो, उसके लिए जो बात व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल की व्यञ्जक हो वह अश्लील है।

अश्लीलता अर्थग्रहण में भी हो सकती है। यदि कोई उक्ति (भले ही कहने वाले की भावना अच्छी रही हो) अर्थ प्रेषण में अश्लील है, तो वह निश्चय ही निन्द्य है। जब लोग भाव व्यञ्जक पंक्तियों का अर्थ भी क्या का क्या ले लेते हैं, तो मनमुन के वासनोत्तेजक साहित्य की शिष्टता कौन जानेगा? ऐसी पंक्तियों के रचयिता लाख चिढ़ें, लाख बुरा मानें, वे अर्थग्राहक की मनोवृत्ति से सचेत हों। उन्हें लगेगा कि अश्लीलता भी कोई वस्तु है। वह उनकी अपनी इच्छा से नहीं, लोक की इच्छा से घोषित होगी। साहित्यकार को अपनी शब्द योजना ऐसी रखनी चाहिए जिससे शुद्ध चिन्तन की प्रेरणा हो।

निम्नलिखित पंक्तियों को व्यञ्जना को अश्लील कहा जायगा। लेखकों से हमारा सीधा प्रश्न है—क्या ये पंक्तियाँ वे अपनी माँ, बहन, बेटी के सामने पढ़ने को तैयार हैं? क्या कोई अध्यापक इसकी व्याख्या अपने शिष्य शिष्याओं के आगे कर सकता है?

१ तुम रति रत में मनसिज सकाम, यह अन्धकार, हे चारु प्रिये

(भगवतीचरण वर्मा)

२ लाज की सीमा प्रिये तुम तोड़ दो
आज मिल लो मान करना छोड़ दो
यह हृदय की भेंट है स्वीकार हो
आज यौवन का सुमुखि अभिसार हो। (भवानीचरण वर्मा)

३ आज अधर से अधर मिले हैं
आज बाँह से बाँह मिली
आज हृदय से हृदय मिले हैं
मन से मन की चाह मिली। (बच्चन)

४ जागो फिर एक बार
सहृदय समीर जैसे पोंछो प्रिय नयन नीर
शयन शिथिल बाहें भर स्वप्निल आवेश में
आतुर उर वसन मुक्त कर दो, सब सुप्ति सुखोन्माद हो

टूट-टूट अलस फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल ऋजु कुंचित प्रसारगामी केश गुच्छ ।

(निराला)

५ आज सोहाग हरूँ मैं किसका, लूटूँ किसका यौवन ?
किस परदेशी को बन्दी कर सफल करूँ यह वेदन ?

(अंचल)

६ आज न सोने दूँगी बालम !
आज विश्व से छीन तुम्हें प्रिय निज वक्षस्थल में भर लूँगी ।
मृदुल गोल गोरी बाहों में कम्पित अंगों में कस लूँगी ।

(नरेन्द्र)

पन्त की 'ग्राम्या' में बच्चन की 'मिलन यामिनी' और 'निशा निमन्त्रण' में, अंचल की 'मधूलिका' और 'अपराजिता' में, नरेन्द्र की 'प्रभात फेरी' में, आरसीप्रसादसिंह की 'कितना अच्छा होता वह दिन' तथा 'आओ मेरे आगे बैठो' शीर्षक कविताओं में, अज्ञेय की 'आह्वान', 'सावन-मेघ', 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' आदि कविताओं में प्रेम के जुगुप्साजनक चित्र मिलते हैं ।

'नई कविता' में भी चुम्बन आलिंगन के भेद गिनाये जा रहे हैं

एक चुम्बन वह
कि जिसमें उष्ण श्वासों की उमस नस नस कस उन्माद
अधर मधु के साथ मिश्रित दशनों का स्वाद

(जगदीश गुप्त)

निम्नलिखित वाणी किस पन्थ के साधक की कही जायगी ?

तब तक समझूँ कैसे प्यार,
अधरों से जब तक न कराये
प्यारी इस मधुरस का पान ?

आदि आदि ।

जिस कृति में इस प्रकार की नग्नता हो (चाहे वह रोमांस के नाम पर हो, चाहे यथार्थ और जीवन की व्याख्या के बहाने), उसे साहित्य नहीं कहा जा सकता ।

विश्रान्तिर्यस्या सम्भोगे सा कला न कला मता ।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ॥

शारीरिक आनन्द की प्राप्ति की कामना काम है, पशु-वृत्ति है आत्मिक आनन्द के उद्देश्य की पूर्ति से प्रेम होता है। नारी के सौन्दर्य पर मुग्ध होने वाले कवि आज बहुत पैदा हो गए हैं । इन्हें नारी में कोई आन्तरिक सौन्दर्य ही दृष्टिगोचर नहीं होता ! ये लोग नख शिख वर्णन करने में किसी देव या दास से कम नहीं हैं—अन्तर यही है कि पुराने लोग स्पष्टवादी थे, आज के लोग व्यंजकता से काम लेते हैं । नायिकाओं के भेद तो इस युग में इतने वर्णित हुए हैं कि एक थीसिस लिखा जा सकता है ।

गद्य में भी अश्लीलता भरपूर है । ऐसा समझा जाता है कि उपन्यास तो है ही इसके साहित्यिक प्रदर्शन के लिए । इधर प्यारेलाल आवारा, कुशवाहा कान्त, गोविन्दसिंह आदि ने तो

कमाल कर दिया है। आज से २० २५ वर्ष पूर्व उपन्यास पढ़ना लुच्चों का काम समझा जाता था। पढ़े बूढ़े ध्यान रखते थे कि लड़के उपन्यास तो नहीं पढ़ते। इसलिए हमने बहुत उपन्यास तो नहीं पढ़े, लेकिन इधर सुना कि प्रेमचन्द के बाद साहित्यिक कोटि के सुन्दर उपन्यास लिखे गए हैं तो जिज्ञासा बढ़ी। इस पर भी पुराने संस्कारों के कारण हिम्मत नहीं हुई—बहुत कुछ नहीं पढ़ा। भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, धर्मवीर भारती आदि मित्रों के कुछ उपन्यास पढ़े। धारणा वही है जो मेरे बाप दादा की थी। बहुत कहने की आवश्यकता नहीं है। एक ही उदाहरण—अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' में नायिक नायिका के प्रेम का विस्तृत वर्णन—इसका साक्षी है और लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'मुक्ति का रहस्य' नाटक में भी डाक्टर के साथ आशादेवी का ऐसा ही वर्णन है।

कहानियों में कमल जोशी की हाल की एक कहानी 'चार के चार', जो इस नाम के संग्रह में प्रकाशित हुई है, उदाहरण के रूप ली जा सकती है

"लगड़े न कपासी से कहा, 'तुम नहीं चलोगी ?'

'हूँ' कपासी के स्वर में शिथिलता थी। फिर वे चुपचाप बैठे रहे।

आधी रात के बाद किसी के धक्के स लगड़े की नींद खुल गई। कपासी बहुत धीरे स बोली—'चुप, ज़रा भी आवाज़ न करना, नहीं तो ये लोग जग जायँगे।'

मनुष्य क शरीर की गन्दी बू, आकाश में चाँद, लेक के उस ओर अन्धकार, (रेलवे) सिगनल की लाल रोशनी।

चोर की तरह चुपचाप आकर वे सो जाते हैं। आकाश के चाँद और पृथ्वी के गूँगे धाड़े के अलावा उनके निशीथ अभियान का कोई साक्षी नहीं रहता।"

ऐसे दृश्य चित्रण से समाज का क्या मंगल होगा, हम नहीं जानते। हमें तो 'निशा निमन्त्रण' के इन वर्णनों में भी अमंगल की सूचना मिलती है

घाट से कुछ फासले पर
सित कफ़न की ओढ़ चादर
एक मुर्दा जल रहा था बैठकर अपनी चिता पर।

कितना बीभत्स दृश्य है! गिरिधर गोपाल को अमंगल में ही मज़ा आता है। उनका शव भी बोलता है

लौटे मुझे सब छोड़कर
देखा नहीं मुख मोड़कर
कुछ दूर होती जा रही
हर साँस बन्धन तोड़कर,
मैंने नहीं काटी निशा अब तक किसी पीपल तले
मुझसे न एकाकी चला जाता मरण की राह में।

और

किसकी अर्थी, कैसी चिता, अरे कैसे अगारे
टूट रहे मेरी पलकों पर सूरज चाँद सितारे

रोता कौन ? अरे बिल्ली, क्या सचमुच बिल्ली रोई ?
आज अचानक चील लगी क्यों इस घर पर मँडराने ?

(अग्निमा)

किसी एक पाठक के मन में भी इसे पढ़कर यदि अमंगल की भावना जग जाय, तो यह साहित्य अश्लील हो गया।

○

अनुशीलन

डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव

रामानन्द-सम्प्रदाय मे योग

कबीरदास तथा अन्य संत कवियों के साहित्य में नाथपंथी प्रभावों को देखकर कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि स्वयं रामानन्द स्वामी ने ही योग और भक्ति का समन्वय अपने मत में किया था और कबीरदास आदि शिष्यों ने अपने गुरु से इसी धर्मावृत योग की दीक्षा पाई थी। रामानन्द के नाम पर योग सम्बन्धी कुछ ग्रंथ भी प्रचलित हो गए हैं और लोगों ने प्राय उन्हींको आधार मानकर अपना उपर्युक्त मत निश्चित किया है। यही नहीं रामानन्द सम्प्रदाय की एक प्रमुख शाखा का भी नाम 'तपसी शाखा' है, और राजस्थान, पंजाब, सौराष्ट्र आदि में उसके बड़े बड़े केन्द्र आज तक वर्तमान हैं। सम्प्रदाय के 'भक्तमाल' आदि प्रामाणिक एवं प्राचीन ग्रंथों से यह भी ज्ञात होता है कि कृष्णदास पयोहारी जी ने रामानन्द सम्प्रदाय की पहली गद्दी राजस्थान में योगियों को अपने चमत्कारों द्वारा पराजित करके ही स्थापित की थी। 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' के अनुसार पयोहारी जी ने आग की धूनी को अपनी अंगोछी में उठा लिया था, योगियों के महन्त का गधा बना दिया था और उनके प्रभाव से योगियों की मुद्राएँ अपने आप निकलकर पयोहारी जी के समक्ष एकत्र हो गई थीं। प्रश्न यह उठता है कि पयोहारी जी को यह योग मिला कहाँ से ? क्या अनन्तानन्द ने भी योग साधना की थी और वही पयोहारी जी को गुरु दीक्षा के रूप में प्रदान की थी अथवा पयोहारी जी ने स्वयं ही नाथपंथियों के सम्पर्क में आकर उन्हें परास्त करने के लिए योग में भी सिद्धि प्राप्त कर ली थी ? इन प्रश्नों का समुचित उत्तर मिलने पर ही रामानन्द और कबीर के वास्तविक सम्बन्ध की परीक्षा की जा सकती है।

डॉ० बड़थ्वाल ने 'सिद्धान्त पटल' ('सिद्धा तपचमामा'?) ग्रंथ के आधार पर सिद्ध किया है कि रामानन्द जी के गुरु स्वामी राघवानन्द जी ने भक्ति और योग दोनों का ही समन्वय अपने मत में किया था और एक किंवदन्ती के अनुसार उन्होंने रामानन्द को योगस्थ करके ही उनकी जीवन रक्षा की थी, अत यह यह सम्भव है कि स्वामी रामानन्द जी ने अपने गुरु से ही वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करने के साथ ही योग की भी दीक्षा पाई हो। किन्तु, जहाँ तक रामानन्द जी की प्रामाणिक रचनाओं—'श्री वैष्णव मताब्जभास्कर' तथा 'श्रीरामार्चन पद्धति'—का प्रश्न है, वे विशुद्ध

वैष्णवाचार्य सिद्ध होते हैं। सम्प्रदाय के अधिकांश विद्वानों ने भी उन्हें वैष्णव भक्त एवं आचार्य माना है और 'अगस्त्यसंहिता', 'भक्तमाल' आदि प्राचीन एवं प्रामाणिक रचनाओं के आधार पर उनका विशुद्ध वैष्णव होना ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार अनन्तानन्द जी भी वैष्णव भक्ति-मार्ग के ही पथिक थे। उनका 'हरिभक्ति सिन्धुवेला' ग्रन्थ विशुद्ध वैष्णवी भक्ति से ओत प्रोत है। अतः यह बहुत सम्भव है कि अनन्तानन्द जी से पयोहारी जी को योग न मिला होगा और अधिक सत्य यही प्रतीत होता है कि स्वयं पयोहारी जी ने ही रामानन्द सम्प्रदाय में योग का समावेश किया है।

नाभादास जी के अनुसार कृष्णदास जी राजपूताने के दाहिमा (दाधीच्य) ब्राह्मण थे। राजपूताना में विक्रम की १५वीं १६वीं शताब्दी तक कनफटे योगियों का पर्याप्त प्रभाव था। अतः वहाँ की जनता का उनसे प्रभावित हो जाना असम्भव नहीं। पयोहारी जी पर भी बाल्यावस्था में इन योगियों की साधनाओं के स्पष्ट संस्कार पड़े ही होंगे। अनन्तानन्द से उन्होंने वैष्णव धर्म में दीक्षा प्राप्त की थी अवश्य, पर संस्कारगत योग से वे मुक्त न हो सके होंगे। नाथपंथियों को हटाकर जब सम्प्रदाय की गद्दी स्थापित करने का प्रश्न उठा होगा तो उनका यह संस्कार और भी प्रबल हो उठा होगा। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की एक बात और है। पयोहारी जी ने अपने दो प्रमुख शिष्यों—कील्ह और अग्र में कील्ह को ही गलता की गद्दी का अधिकारी बनाया, अग्र को नहीं। कील्ह की प्रवृत्ति योग की ओर अधिक थी। नाभाजी के अनुसार उन्होंने भीष्म पितामह की भाँति ही मृत्यु को स्ववश में कर लिया था सांख्य और योग दोनों ही शास्त्रों के सिद्धान्तों का उन्हें सुदृढ अनुभव हो गया था। प्रियादास जी ने इनके अनेक यौगिक चमत्कारों का वर्णन किया है। स्पष्ट है कि पयोहारी जी ने कील्ह की इन्हीं सिद्धियों से प्रभावित होकर अपनी गद्दी का अधिकारी उन्हें बनाया होगा। नाथपंथियों की दृष्टि गलता की ओर लगी ही रही होगी, वे उसे हस्तगत भी कर लेना चाहते रहे होंगे। कील्ह ने वहाँ रहकर पयोहारी जी के उद्देश्य को पूरा भी किया। स्वयं योग निष्णात तो वे थे ही, अपने शिष्यों को भी उन्होंने योग का भरपूर ज्ञान कराया। नरवर गढ़ के कछवाहा राजा आसकरन उनके शिष्य थे। मथुरा के राजा मानसिंह के यहाँ उन्हें सम्मानपूर्वक बुलाया ही जाता था। इससे स्पष्ट है कि राजस्थान के राजन्य वर्ग पर इनका बहुत ही प्रखर प्रभाव था, नाथपंथी योगी इनके विरोध में सिर नहीं उठा सकते थे।

कील्ह के उपरान्त उनके शिष्य द्वारकादास ने योग की परम्परा को और भी आगे बढ़ाया। ये भी अष्टांग योग में पूर्ण निष्णात थे। कृकस ग्राम में बहुत समय तक ये नदी के जल में डूबकर ध्यानावस्थित रहे। घर द्वार से इन्हें पूर्ण विराग था। कील्ह के ये बड़े कृपा पात्र थे, अतः उन्हींकी कृपा से इन्होंने माया का भी विनाश कर दिया। नाभा जी ने कहा है, 'अष्टांग योग तन त्यागियो द्वारकादास जानै दुनी।

इस प्रकार पयोहारी जी की शिष्य परम्परा में भक्ति के साथ साथ योगाभ्यास भी होने लगा। धीरे धीरे रामानन्दी वैष्णवों की एक शाखा में योग साधना का पूरा समावेश हो गया। यह शाखा 'तपसी शाखा' के नाम से विख्यात हुई और इस शाखा के साधु, तपस्वी महात्माओं के नाम से पुकारे जाने लगे। आज भी राजस्थान, पंजाब आदि में तपस्वी महात्माओं का बाहुल्य है। अखाड़ों के नागा प्रायः इसी शाखा के अन्तर्गत आते हैं। इन्हें कभी कभी 'अवधूत'

भी कहा जाता है और इस शाखा को 'अवधूत मार्गी शाखा'।

तपसी शाखा के मुख्य ग्रंथ हैं—'सिद्धान्तपटल', 'रामरक्षास्तोत्र' और 'योग चिन्तामणि'। ये तीनों ही ग्रंथ रामानन्द जी द्वारा विरचित कहे जाते हैं, किंतु अनेक पुष्कल प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि ये स्वामीजी कृत नहीं हैं। फिर भी तपसी शाखा के मूल सिद्धांत इनमें निहित हैं, अतः इनके विवेच्य विषय पर एक विहगम दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा।

'सिद्धांत पटल' अवधूत मार्ग का एक प्रमुख ग्रंथ है और इसमें अवधूत मार्ग की विचार धारा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसमें एक ओर उन सभी सामग्रियों का वर्णन किया गया है जो वस्त्राभूषणादि के रूप में नाथपंथी योगियों द्वारा धारण की जाती थीं—जैसे सेली, सिंगी, कुन्जी, कड़ा आदि और दूसरी ओर नाथपंथी पारिभाषिक शब्दावली—हंसा, शब्द, अगम, सोहम्, पिंड, अजपा, सतगुरु, निर्गुण, निरंजन, विभूति, अलख, गगन, अष्टकमल, त्रिवेणी सेज, चन्द्र, सूर्य, नवनाथ चौरासी सिद्ध आदि का भी समावेश किया गया है। इसके साथ ही माला, सुमिरनी, तिलक, गायत्री, हनुमान की पूजा, शालिग्राम, यज्ञोपवीत, रामलक्ष्मण, जानकी माता, ब्रह्मा विष्णु महेश्वरादि देवता, प्रसादी, मढ़ी, शाख, सम्प्रदाय मंत्र आदि का भी इसमें पर्याप्त प्रयोग मिलता है। इस ग्रंथ का आदेश है कि 'वैष्णवों को गुरुबीज मन्त्र का जप करना चाहिए, इससे मन का बन्धन कटता है और भक्त को बैकुण्ठ मिलता है।' ग्रंथ के अंत में ठाकुर जी के टहल माहात्म्य का भी वर्णन है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्वामी रामानन्द की कृति न होने पर भी इस ग्रंथ का एक अद्भुत एवं अद्वितीय महत्त्व है। इसमें निश्चित रूप से नाथपंथी योग और वैष्णव भक्ति का समन्वय स्थापित किया गया है। इस प्रयास की अवहेलना नहीं की जा सकती।

'योगचिन्तामणि' में भी काया, कनक, नाद बिन्दु, सतगुर, अष्टदलकमल, हंसा, सरोवर, शब्द, सुरत, सबल आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह योग प्रणाली पर प्रकाश डालने वाला ग्रंथ है, किंतु प्रचार की दृष्टि से इसका कुछ भी महत्त्व नहीं है।

'श्री रामरक्षास्तोत्र' में भी संध्या, निरंजन, नाद, सुषुम्ना, पंचमुद्रा, खेचरी, भूचरी, अगोचरी, उनमनी, चाचरी, पिंड (पिंड) त्रिकुटी, अलख, अष्टदलकमल, बिन्दु आदि के साथ ही लक्ष्मण, जानकी, हनुमान और राम का भी बीच बीच में नाम आ गया है।

उपर्युक्त तीनों ही ग्रंथों में 'सिद्धान्त पटल' अवधूत मार्ग का सर्वप्रिय ग्रंथ है। इसका पर्याप्त प्रचार भी है। अतः तपसी शाखा के विचारों का इसमें पूर्ण प्रतिनिधित्व हुआ है। योग और प्रेम का बहुत ही सुन्दर समन्वय यहाँ मिलता है। रामानन्द का सिद्धान्त विशुद्ध प्रेम पर बल देता था और इस प्रेम को लेकर संसार क्षेत्र में आने वाले यात्रियों ने वातावरण के अनुकूल उसे ढाल दिया। रामानन्द की प्रेम भावना और नाथ पंथ के योग को समेटकर आगे बढ़ने वाली 'तपसी शाखा' का प्रयास बहुत कुछ इसी प्रकार का था। बहुत सम्भव है ऐसा ही उदार दृष्टिकोण लेकर कबीरदास ने ही तपसी शाखा के महात्माओं का मार्ग प्रदर्शन किया हो। स्वयं रामानन्द में ये प्रवृत्तियाँ समवेत हो गई हों, इसके पुष्कल प्रमाण नहीं मिलते। जो कुछ भी सामग्री अब तक प्रामाणिक सिद्ध हुई है उससे स्पष्ट ही वे विशिष्टाद्वैत मतानुयायी वैष्णव भक्त प्रतीत होते हैं।

बच्चन सिंह

नया साहित्य : नये प्रश्न

आधुनिक हिन्दी साहित्य के विभिन्न रूपों को समझने समझाने का जितना तलस्पर्शी प्रयास आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने किया है उतना अन्य कोई व्यक्ति अब तक अकेले नहीं कर सका है। आधुनिक साहित्य के अतिरिक्त सूर और तुलसी साहित्य के अन्तरंग का भी उनका गहन अध्ययन है। सूर साहित्य के अन्तरंग पक्ष का गहन अध्ययन उनके 'महाकवि सूरदास' के कतिपय अंतिम अध्यायों में मिलेगा।[1] नये पुराने साहित्य के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें दृष्टिकोण की नवीनता, अन्तरंग का गहन विश्लेषण और पकड़ की अद्भुत क्षमता दिखाई पड़ती है। यह सच है कि मुख्यतः नये साहित्य और उसकी समस्याओं के चिन्तन और मनन ने उनके दृष्टिकोण को नूतन आलोचनात्मक चेतना दी है, यह भी सच है कि यूरोपीय साहित्य के गम्भीर अध्ययन ने उनकी चिन्ता को नवीन उन्मेष और स्फूर्ति दी है, लेकिन इससे उनकी भारतीय समीक्षा दृष्टि को सम्पन्नता, परिष्कार और सन्तुलन प्राप्त हुआ है। इस नवीन दृष्टिकोण के फलस्वरूप ही वे भारतीय साहित्य शास्त्र तथा रस निष्पत्ति का पुनराख्यान कर सके हैं।

वाजपेयी जी की नवीनतम समीक्षा पुस्तक 'नया साहित्य : नये प्रश्न' में दो दार्शनिक निबन्धों का भी संग्रह है फिर भी समग्रतः इसमें नये साहित्य से सम्बद्ध नये प्रश्नों के विश्लेषण तथा विविध समस्याओं के सन्तुलनात्मक हल प्रस्तुत करने के प्रयास किये गए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक पाँच भागों में विभक्त है—'निबंध', 'विवेचन और निरूपण', 'वार्ताएँ और वक्तव्य', 'दो दार्शनिक निबन्ध' और 'परिशिष्ट'। इस पुस्तक में समय समय पर लिखे गए निबन्धों, वार्ताओं आदि को संगृहीत किया गया है। इसलिए स्वाभाविक है कि कुछ बातों को पुनः पुनः ले आना पड़ा है। अतः इसकी प्रमुख विवेचनाओं और मान्यताओं की समीक्षा को परिधि में ले आने के लिए मुझे अलग क्रम बनाना पड़ रहा है। 'निबंध' वाजपेयी जी की गम्भीर और रोचक आत्म समीक्षा है। शेष खण्डों में नवीन यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर आधुनिक काव्य, नये उपन्यास, समस्या नाटक, नई समीक्षा तथा पाश्चमी और भारतीय समीक्षा शास्त्र को कई कोणों से देखा गया है।

[1] वस्तुतः ये ही अंश उनके द्वारा लिखे भी गए हैं।

'निकष' में वाजपेयी जी ने अपने कृतित्व की उपलब्धियों और अभावों का विवेचन किया है और नये साहित्य की दिशा निर्देशित करके उसके लिए एक 'निकष' भी तैयार किया है। समीक्षा के क्षेत्र में वाजपेयी जी का आगमन प्रसाद, निराला और पन्त के विवेचक रूप में हुआ था। ये ही इनकी समीक्षा क के द्र बिन्दु थे। वे 'नये जीवन दर्शन, नई भाव धारा, नूतन कल्पना छवियों और अभिनव भाषा रूपों को देखकर उनकी ओर आकृष्ट हुए। उनके अभाव 'साकेत', 'प्रिय प्रवास' और रत्नाकर की का य कृतियाँ इन्हें अनाकर्षक लगीं। इसके फल स्वरूप, जैसा वाजपेयी जी का कहना है, उनके विवेचन में गहरी एकांगिता आ गई। 'हि दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में प्रेमच द सम्ब धी जो निब ध संग्रहीत है, उसमें उ होंने अपनी रुचि की प्रमुखता को स्वीकार किया है। अपनी इस एकांगिता को उ होंने अपनी अ य समीक्षा पुस्तकों में स तुलित करने का प्रयास किया है।

यद्यपि वाजपेयी जी ने स्वय स्वीकार किया है कि वस्तुमुखी दृष्टि के अभाव में उनके साहित्यिक मूल्यांकन म कोई बडी कमी आ गई है, यह कहना अतिरंजना होगी, फिर भी वे अपनी एकांगिता के प्रति जागरूक जरूर हैं। लेकिन जिसे वाजपेयी जी ने एकांगिता कहा है वह अपने आपमें पूर्ण है। 'हि दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' के छायावादी कवियों से सम्बद्ध निब धों के अतिरिक्त महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'रत्नाकर', मैथिलीशरण गुप्त, 'साकेत' और 'रामचन्द्र शुक्ल' पर लिखे गए निब ध उनकी तलस्पर्शिनी दृष्टि, अ तर्भेदिनी प्रतिभा और अचूक पकड़ के द्योतक हैं। इन सभी कवि लेखकों पर पहली बार नये ढंग से विचार किया गया है जो आज भी अपनी ताजगी और पैनेपन के कारण विचारोत्तेजक बने हुए हैं। समीक्षा के क्षेत्र मे भी कुछ हद तक वाजपेयी जी का भी अनुकरण हुआ—विशेष रूप से आचार्य राम चन्द्र शुक्ल को लेकर। कुछ तरुण आलोचक वाजपेयी जी की बात को ठीक ढंग से दुहरा भी न सके। इ हींके सम्बन्ध में टी० एस० इलियट ने कहा है कि 'The majority of critics can be expected only to parrot the opinions of the last master of criticism

उनकी दूसरी पुस्तक 'जयशंकर प्रसाद' म प्रसाद क का य (कामायनी), नाटक, उप यास (कंकाल) पर भि न भि न समयों पर लिखे गए निबन्ध संग्रहीत हैं। प्रसाद के का य नाटकों पर लिखी गई अनेक पुस्तकों के बावजूद भी प्रसाद को समझने के लिए आज भी वह पुस्तक अपना विशेष महत्त्व रखती है। उनकी तीसरी पुस्तक 'प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन' 'हि दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' में प्रेमच द पर संग्रहीत निब ध की एकांगिता दूर करने की दृष्टि से लिखी गई है, पर इसमें एक दूसरी एकांगिता आ गई है जिससे प्रेमचन्द की त्रुटियों का पक्ष काफी निर्बल पड गया है। यह पुस्तक उनके गौरव के बहुत अनुकूल नहीं हो सकी है। उनकी चौथी पुस्तक आधुनिक साहित्य' '५० में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में 'प्रयोगवाद' सम्ब धी लेखक 'हि दी साहित्य बीसवीं शताब्दी' के लेखों की तेजस्विता को पुन ताजा कर देता है। इसके सम्बन्ध में उ होंने 'निकष' मे स्वय लिखा है "प्रयोगवाद के लिए मेरी चौथी पुस्तक में एक भी संवर्धना का शब्द नहीं है, बल्कि ऐसी तीव्र समीक्षा है जिससे बहुत से प्रयोग वादी तिलमिला उठे हैं। कुछ ने सफाई देने की कोशिश की है तथा एक महाशय ने उस निबन्ध को मेरा बचकाना प्रयास माना है। 'तार सप्तक' के सप्त महारथियों के लिए मेरी उस निबन्ध की दुर्दशा सचमुच अभिमन्यु का बचकाना प्रयास ही है। खैरियत यह हुई कि

अहिंसात्मक युद्ध किसी के सिर नहीं बीता, पर हृदय परिवर्तन बहुतों का हुआ है। बहुत से प्रयोगवादी नये सिरे से समझदार हो गए हैं और कई तो ऐसा छोड़कर बाहर चले गए हैं।" जिस तरह शुक्ल जी सम्बन्धी वाजपेयी जी के लेखों ने समीक्षा सम्बन्धी अनेक नवीन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया उसी प्रकार इस लेख द्वारा भी प्रयोगवाद सम्बन्धी अनेक सकीर्णताओं का उद्घाटन हुआ। इस पुस्तक के कुछ अन्य निबन्धों की चर्चा उनकी नवीनतम पुस्तक की चर्चा के साथ की जायगी, क्योंकि क्रम स्थापन की दृष्टि से इन्हें दोनों पुस्तकों में रख दिया गया है।

'नया साहित्य नये प्रश्न' में साधारणतः पाठकों को जिज्ञासा हो सकती है कि ये नये प्रश्न क्या हैं और वे क्यों उत्पन्न हुए हैं। इन जिज्ञासाओं का समाधान 'विवेचन और निरूपण' खण्ड के पहले निबन्ध—नवीन यथार्थवाद—में मिलेगा। इस निबन्ध को अन्य निबन्धों की पृष्ठभूमि समझना चाहिए। यथार्थवाद के नाम पर दो विचार पद्धतियाँ प्रचलित हैं—मार्क्सवादी विचार पद्धति और अन्तश्चेतनावादी विचार पद्धति। मार्क्सवादी विचार पद्धति या समाजवादी यथार्थवाद 'वर्ग संघर्ष की भूमि पर काव्य की ऐतिहासिक प्रगति का आकलन करता है।' अन्तश्चेतनावादी साहित्य को मन की दमित वृत्तियों के प्रकाशन का माध्यम मानते हैं, साहित्य की सामाजिक उपयोगिता पर उनका विश्वास नहीं है। वाजपेयी जी ने इन दोनों मतों को परस्पर विरोधी और अतिवादी कहा है। लेकिन वे इनका सर्वथा तिरस्कार नहीं करते, काव्य धारणाओं में वे इनकी सहायता अवश्य लेना चाहते हैं। उनका निश्चित मत है कि साहित्य का लक्ष्य और स्वरूप आज की इन यथार्थवादी सीमाओं को पार करने पर ही दिखाई देगा। आज जब हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन हो चुकी है तो उसे वर्गों, फिर्कों या सम्प्रदायों में विभक्त कर परखना अत्यधिक आत्मघाती नीति है। अपने इसी निबन्ध में वाजपेयी जी ने साहित्यकारों का ध्यान नवीन राष्ट्रीय जागृति की ओर आकृष्ट करके स्वस्थ और जीवन्त साहित्य के निर्माण का समर्थन किया है।

'आधुनिक काव्य का अन्तरंग' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने बतलाया है कि काव्य और जीवन की समस्या के नाम पर काव्य 'यथार्थवाद' द्वारा अनुशासित हो रहा है। इनके अतिरिक्त जीवन सम्बन्धी एक तीसरा दृष्टिकोण है—प्रयोगवाद, जिसे निहिलिस्ट दृष्टिकोण कहा गया है। लेकिन आज काव्य में मार्क्सवाद का शोर और अन्तश्चेतनावाद का आतंक बहुत कुछ शान्त हो गया है। प्रयोगवाद, जिसे वाजपेयी जी ने निहलिस्ट दृष्टिकोण कहा है, अब नकारात्मक नहीं रह गया है। 'अज्ञेय' के 'बावरा अहेरी' की कुछ कविताओं को इसके प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया जा सकता है। हाँ, नकेनवादी आज भी प्रयोग या स्थापत्य को साध्य मानकर पूर्व की समस्त साहित्यिक मान्यता—साधारणीकरण, प्रेषणीयता, भावात्मक अनुकूलत्व आदि (Emotional Response)—को अस्वीकार करके सच्चे निहलिस्ट होने के दावे पर अड़े हुए हैं। इस सिलसिले में वाजपेयी जी ने एशिया के पुनर्जागरण, अणु-बम की छाया में शान्ति खोजने वाले मानव सहयोग आदि के क्रियाशील तत्त्वों को पहचानने के लिए कलाकारों का आह्वान किया है, जो सचमुच में काव्य के अन्तरंग को पुष्ट और प्रशस्त करने में काफी दूर तक योग देगा।

इस संग्रह में उपन्यास सम्बन्धी चार निबन्ध संग्रहीत हैं—'नये उपन्यास', 'शक्तिवादी उपन्यास', 'नवीन कथा साहित्य—विचार पक्ष' और 'उपन्यासकार जैनेन्द्र'। पहले निबन्ध में

हिन्दी उपन्यास के उपलब्धि अभाव को उसके ऐतिहासिक विवेचना क्रम में उपस्थित किया गया है। प्रेमचन्द के बाद वाजपेयी जी ने उपन्यास लेखकों की जो त्रयी मानी है उसमें—भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा और जैनेन्द्र सम्मिलित हैं। इनके पश्चात् एक दूसरी त्रयी का उल्लेख किया गया है जिसमें यशपाल, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी आते हैं। प्रथम त्रयी की उपलब्धि है उपन्यासों को विवरणात्मक पद्धति से हटाकर उन्हें मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करना, लेकिन मनोवैज्ञानिक ऊहापोह में संलग्न हो जाने से उनका सामाजिक पक्ष अत्यन्त अशक्त और कहीं कहीं रुग्ण हो गया है। दूसरी त्रयी नये यथार्थवाद के किसी न किसी रूप से बुरी तरह आक्रान्त है। यशपाल मार्क्सवाद की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाते तो इलाचन्द्र अवचेतनावाद का, अज्ञेय इन दोनों के सन्धि स्थल पर खड़े हैं। कदाचित् इसी लिए अज्ञेय का चरित्रांकन अधिक सूक्ष्म और गहरा है। टेक्नीक सम्बन्धी अनेक उपलब्धियों के बावजूद प्रेमचन्द की मानवीय संवेदना की ओर हमारे उपन्यासकार अभी अच्छी तरह उन्मुख नहीं हो पाए हैं। यह उनका सबसे बड़ा अभाव है। उपन्यासकार जैनेन्द्र को उनकी समग्रता में इस तलस्पर्शिनी दृष्टि से देखा गया है कि उनका केन्द्रीय स्थापना, परिदृश्य, दृष्टिकोण, टेकनीक आदि के अनेक पहलुओं का मार्मिक उद्घाटन हुआ है। इसमें जैनेन्द्र का सन्तुलित विवेचन हुआ है, जो वाजपेयी जी के गहरे चिन्तन का द्योतक है।

नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र सम्बन्धी निबन्ध में मुख्य रूप से समस्या नाटकों पर विचार किया गया है, जो कई अर्थों में नवीन और विचारोत्तेजक है। समस्या नाटक मूलतः रूढ़ि विध्वंसक, बौद्धिक और विचारों को उद्बुद्ध करने वाले हैं। समस्या नाटकों के आदिनायक इब्सन के विचार पक्ष का उल्लेख करते हुए शॉ ने लिखा है कि उसके विचार हमारे ऊपर निर्दय आघात करते हैं और आत्मा के आतंकों से बच निकलने की उत्तेजनात्मक प्रेरणा देते हैं। उनसे भावी जीवन को वास्तविकताओं के प्रति हमें दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं।[1] मिश्र जी की समस्याओं का बहिरंग सम्पूर्ण है, लेकिन समाधान भावात्मक और आदर्शवादी। उनकी समस्याएँ न अद्यतन समस्याओं का स्पर्श करती हैं और न ही हमारी रूढ़ियों पर निर्दय प्रहार। वाजपेयी जी ने उन्हें मूलतः पुनरुत्थानवादी और उग्र हिन्दुत्ववादी कहा है जो नाटकों की विषय वस्तु और परिसमाप्ति को देखते हुए बहुत कुछ संगत प्रतीत होता है।

इस पुस्तक में समीक्षा सम्बन्धी चार निबन्ध हैं—'हिन्दी समीक्षा का विकास', 'द्विवेदी युग की समीक्षा देन', 'नवतम समीक्षा शैलियाँ', 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यता'। प्रथम तीन निबन्धों में हिन्दी समीक्षा के क्रमिक विकास तथा उसकी प्रमुख भूमिका का उल्लेख करते हुए अपनी साहित्यिक परम्परा को आत्मसात् करने पर बल दिया गया है। इनमें से प्रथम और तृतीय निबन्धों में मार्क्सवादी तथा मनोविश्लेषणात्मक समीक्षा की अतियों पर जमकर प्रहार किया गया है। वैसे इनकी आंशिक आवश्यकता स्वीकार की गई है। साहित्यिक मूल्यों से केन्द्रच्युत होकर मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, प्राणि शास्त्र के जंगलों में भटकने वाले आलोचकों से इलियट ने भी निवेदन किया है—And further more there is a philosophic border line, which you must not transgress too far or too often, if you wish to preserve your standing as a critic, and are not prepared to persent your

[1] Raymond William, Drama From Ibsen To Eliot of pp 42

self as a philosoph r metaphysician socialogist or psychologist instead 'समीक्षा सम्बन्धी मेरी मान्यता में' बाजपेयी जी ने बतलाया है कि यूरोप की सामाजिक स्थिति और भारत की सामाजिक स्थिति में पर्याप्त अन्तर है। पश्चिम कई अर्थों में पूर्व से आगे है, उसका साहित्य स्वस्थ होने के साथ प्रतिगामी भी है। हमारा समाज और साहित्य स्पष्टतः विकासोन्मुख स्थिति में है। अतः हमें समीक्षा विधियों को पश्चिम से उधार नहीं लेना चाहिए। उनकी दृष्टि में भारतीय समीक्षा पद्धति का सार और सुन्दर परम्परा को नजर अन्दाज करना कभी भी श्लाघ्य नहीं है। इसके साथ ही वे पश्चिम के अनेक नवीन विचारों को सन्निविष्ट करके अपनी समीक्षा-पद्धति को पुष्ट करना चाहते हैं। वे सच्चे अर्थ में प्रगतिशील हैं। उनका कहना है—"किसी भी देश का साहित्य केवल शैलियों की सुघरता या शब्दों के चमत्कार से बना नहीं बनता। उनके लिए आवश्यकता होती है अन्तस्य साहस की, आत्मसंचारी चरित्र की और उन्नत चारित्र-चेतना की।" आज के रचनात्मक और समालोचनात्मक साहित्य के उपादानों के लिए उन्होंने जिस महान् राष्ट्रीय चेतना और उसकी प्रगति पर अडिग आस्था की आवश्यकता बतलाई है वह उनके व्यापक, पूर्वग्रह हीन और सन्तुलित दृष्टिकोण की द्योतक तथा भावी स्वस्थ साहित्य की मार्गदर्शिका है।

व्यावहारिक आलोचना के अतिरिक्त सैद्धान्तिक आलोचना सम्बन्धी ज्ञान स्पष्ट, सुव्यवस्थित और नवीन उद्भावनाओं से सम्वलित निबन्ध भी इस पुस्तक में संग्रहीत हैं। 'पाश्चात्य समीक्षा सैद्धान्तिक विकास' निबन्ध में पाश्चात्य समीक्षा शास्त्र के सैद्धान्तिक विकास को बहुत तथ्यपूर्ण तथा सुलझे हुए रूप से उपस्थित किया गया है। इसकी सुसम्बद्धता और एकतानता पर विशेष रूप से दृष्टि रखी गई है।

'भारतीय समीक्षा की रूपरेखा' में अनेक मौलिक प्रश्न उपस्थित किये गए हैं, जो वाजपेयी जी के तात्कालिक स्वतन्त्र चिन्तन के परिणाम हैं। भारतीय समीक्षा के पुनः परीक्षण और पुनर्व्यवस्था की चर्चा करते हुए वाजपेयी जी ने जो नवीन उपपत्तियाँ उपस्थित की हैं व गम्भीर चिन्तन की माँग करती हैं। उनका कहना है कि इसकी नवीन व्याख्या और पुनर्व्यवस्था के लिए व्याख्याता या व्यवस्थापक को पश्चिमी समीक्षा की एकतानता और परम्परा के सैद्धान्तिक की सुदृढ़ातिसुदृढ़ जानकारी होनी चाहिए। यद्यपि भारतीय समीक्षा शास्त्र अत्यधिक समृद्ध है फिर भी पश्चिमी समीक्षा शास्त्र की भाँति सुगठित नहीं है। इसलिए आज की पीढ़ी उसके मूल्यों का लाभ न उठाकर पश्चिमी समीक्षा के शब्दों को उधार लेती है।

वाजपेयी जी ने निकोल और बोसांके के 'काव्यशास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र' का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि उनमें भारतीय समीक्षा शास्त्र के नवीन विकास का प्रमुख कारण है भारतीय समीक्षा शास्त्र की स्पष्ट रूपरेखा का प्रस्तुत न किया जाना। उन्होंने भारतीय समीक्षा शास्त्र की उन कतिपय त्रुटियों का भी उल्लेख किया है जिनके कारण वह आज के पाठकों के लिए अग्राह्य और विस्मृत भी हो गया है। उदाहरणार्थ भरतमुनि का 'नाट्य शास्त्र' नाट्य चिन्तन की अपेक्षा वास्तुकला और रंगमञ्चीय कला का विधि निर्देशक ग्रन्थ रह गया है। दूसरे स्थानों पर तत्त्व चिन्तन मनोवैज्ञानिक और कलागत विवेचन के साथ इस प्रकार सम्पृक्त हो गया है कि उनकी विभाजक रेखा लुप्त हो गई है। इसी तरह काव्य सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थों में सिद्धान्त और रीति-व्याकरण पास पास आ गए हैं। आज इन्हें वैज्ञानिक ढंग पर अलग अलग करना है।

कुछ बातों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है। जैसे, रस, रीति, अलंकार आदि के सम्बन्ध में उनका कहना है कि वे मूल रूप में काव्य सिद्धान्त के विभिन्न पक्ष थे, न कि सम्पूर्ण काव्य दर्शन के स्थानापन्न। यह केवल अनुमानाश्रित है, इसके लिए समुचित प्रमाणों का अभाव है। फिर भी भारतीय समीक्षा शास्त्र के पुनर्निमाण के सम्बन्ध में जो सुझाव उन्होंने दिये हैं वे अत्यन्त मूल्यवान हैं। वे अलंकार के अन्तर्गत कवि के कल्पना पक्ष, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनि के अन्तर्गत अभिव्यंजना की स्थिति और रीति को व्यापक अर्थ में सम्पूर्ण काव्यात्मक अभिव्यंजना के रूप में स्वीकार करते हैं। इस नव निर्माण का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए उनका कहना है 'नवनिर्माण के इस कार्य में हमारा प्रयोजन कुछ आधारभूत तत्वों, सिद्धान्तों या काव्य शास्त्र के सम्प्रदायों से नहीं, प्रत्युत इतिहास के समस्त विकास क्रम से है जिससे विभिन्न स्थितियों में विभिन्न तत्वों, सिद्धान्तों और सम्प्रदायों का रूप निर्माण, निर्माण और पुनर्निर्माण किया है, एवं उन्हें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई वस्तु प्रदान की है।'[1] इसके लिए उन्होंने इतिहास की तत्वात्मक पृष्ठभूमि का अध्ययन आवश्यक माना है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि अध्येता को सारी परिस्थितियों पर विचार करने के लिए स्वतन्त्र और वस्तुमूलक दृष्टिकोण अपनाना पड़ेगा।

इस संग्रह में 'रस निष्पत्ति' सम्बन्धी निबन्ध कदाचित् सबसे अधिक विचारोत्तेजक और विवाद ग्रस्त है। 'रस निष्पत्ति' का विवेचन करते समय जो नई व्याख्या वाजपेयी जी ने प्रस्तुत की है वह मूलतः लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक और अभिनव गुप्त के मतों तथा साधारणीकरण के प्रश्न से सम्बद्ध है। लोल्लट के मत का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया है कि 'इन्होंने रस की स्थिति नायक आदि पात्रों में मानी है।' लेकिन आगे चलकर जब वाजपेयी जी लोल्लट के प्रसंग में नायक आदि का अर्थ कवि कल्पित नायक ग्रहण कर लेते हैं तब कई शंकाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। अभिनव गुप्त और मम्मट के मत से 'रामादावनुकार्ये' का सामान्य अर्थ ऐतिहासिक राम आदि से लिया गया है न कि कवि कल्पित राम से। लेकिन वाजपेयी जी का मत शास्त्रीय उद्धरणों के आधार पर अन्यथा नहीं माना जा सकता। एक तो लोल्लट आदि की अपनी कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं दूसरे मम्मट और अभिनव ने स्पष्ट रूप से उसके मत का उल्लेख नहीं किया है। मम्मट के उद्धरण के आधार पर यदि राम को एक ओर ऐतिहासिक राम माना जा सकता है तो वहाँ कवि कल्पित राम भी माना जा सकता है। सत्य तो यह है कि काव्य नाटक के राम कवि कल्पित ही होंगे।

'रस निष्पत्ति' निबन्ध में साधारणीकरण के सम्बन्ध में भी वाजपेयी जी ने एक मौलिक स्थापना की है कि साधारणीकरण समस्त कवि कल्पित व्यापार का होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में मुख्य रूप से तीन बातें कही हैं—

(१) 'साधारणीकरण का अभिप्राय यह कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या विशेष वस्तु आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है।

(२) रस की एक नीची अवस्था और है जिसका हमारे यहाँ के साहित्य ग्रन्थों में विवेचन नहीं हुआ है किसी भाव की व्यंजना करने वाला, कोई क्रिया या व्यापार करने वाला

---

[1] दे० अभि० भा० प्र० खण्ड पृ० २७४।

पात्र भी शील की दृष्टि से श्रोता के किसी भाव का—जैसे श्रद्धा, भक्ति, घृणा, रोष, आश्चर्य, कुतूहल या अनुराग का—आलम्बन होता है।

(३) जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में सन्निविष्ट पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रूप में स्थित होता है वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई न कोई भाव थोड़ा बहुत अवश्य जगा रहता है, अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, बल्कि वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन रहता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य और साधारणीकरण होता है। तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।

यदि शुक्ल जी की पहली बात अर्थात् आश्रय के साथ तादात्म्य होने पर साधारणीकरण की स्थिति स्वीकार कर ली जाय तो कई असंगतियाँ उठ खड़ी होंगी। जिनके प्रति हमारे मन में पूज्य भावना है उनके रति वर्णन को सुनकर क्या हम आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं। ऐसा न तो शास्त्रीय दृष्टि से सम्भव है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही। शुक्ल जी की दूसरी और तीसरी बात में कोई पार्थक्य नहीं पड़ता। शील की दृष्टि से जब कोई पात्र श्रोता या पाठक के किसी भाव का आलम्बन होता है तब भी वह अप्रत्यक्ष रूप से कवि के भाव के साथ ही तादात्म्य स्थापित करता है, जिसका उल्लेख शुक्ल ने एक पृथक कोटि (दे० उ० ३) में किया है।

डॉ० नगेन्द्र ने 'रीति काव्य की भूमिका' तथा 'देव और उनकी कविता' में साधारणीकरण की विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण चर्चा की है। उनकी पकड़ मुख्यतः मनोवैज्ञानिक है। उन्होंने भट्टनायक और अभिनवगुप्त का हवाला देते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि 'साधारणीकरण कवि की अपनी अनुभूति का होता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सकता है कि वह सभी के हृदयों में समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दों में हम कह सकते हैं कि उसमें साधारणीकरण की शक्ति वर्तमान है।' आगे चलकर उन्होंने इसे और साफ करते हुए कहा है कि 'हम (हमारी अनुभूति) लेखक (की अनुभूति) से तादात्म्य स्थापित करते हैं।'

वाजपेयी जी अनुभूति शब्द का व्यवहार न करके 'समस्त काव्य प्रक्रिया' शब्द का व्यवहार करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण कवि की 'समस्त काव्य प्रक्रिया' का होता है। काव्य प्रक्रिया अनुभूति की अपेक्षा व्यापक शब्द है। इसमें कवि की अनुभूति, विचार, दृष्टिकोण, अभिव्यक्ति आदि सभी बातों का समाहार हो जाता है।

सन्देह में 'नया साहित्य नये प्रश्न' में साहित्य की अनेक महत्वपूर्ण नई पुरानी समस्याओं का संतुलित और विचारपूर्ण हल प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि सभी प्रश्नों के विवेचन में शुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रमुखता दी गई है फिर भी साहित्येतर मूल्यों के यथोचित छानबीन में उन्होंने कभी अनास्था नहीं प्रकट की है। यथार्थवादी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण तथा उसका साहित्यिक मूल्यानुचिंतन, नवीन राष्ट्रीय दृष्टिकोण, भावी स्वस्थ साहित्य की रूपरेखा तथा उसके भवितव्य का निर्देशन, भारतीय समीक्षा शास्त्र की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता आदि बहुत से विषयों के समावेश तथा संतुलित विवेचन में वाजपेयी जी ने समन्वयात्मक और नवीन

विचार पद्धति अपनाई है। यह अपने आपमें एक आदर्श समीक्षा सरणि बन गई है।

इस पुस्तक से प्रतीत होता है कि आज भी वाजपेयी जी का व्यक्तित्व विकसनशील है, यह उनके साहित्यिक विकास की नई मंजिल है। प्रस्तुत पुस्तक में उनके विचारों में जो संतुलन और प्रौढ़ता तथा भाषा शैली में जो स्पष्ट निखार दिखाई पड़ता है वह उनकी भावी प्रौढ़तर कृतियों का द्योतक है।[१]

○

बालकृष्ण राव

अतिमा : आधुनिक और पुरातन का सन्तुलन

१

पन्त जी के नवीनतम कविता संग्रह की पहली कविता की पहली पंक्तियाँ हैं

> तुम कहते उत्तर वेला यह,
>
> मैं सन्ध्या का दीप जलाऊँ!

निश्चय ही, इसके 'तुम' और 'मैं' किसी के भी प्रतीक क्यों न हों, भावकवर्ग की आँखों में यह रचना कवि का ही चित्रण करती जान पड़ेगी। स्वर वही चिर परिचित स्वर है, कथन की शैली वही भलीभाँति जानी पहचानी शैली है, भाषा वही पुरानी भावात्मक भाषा है—और, एक प्रकार से देखा जाय तो, कथ्य भी वही पुराना आत्म विश्वास का उद्घोष है। "मैं प्रभात का रहा दूत नित, नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित", "मैं मानस धर्मा, अजय वय"—अपने सर्वथा सजीव और सक्रिय होने का दावा, भिन्न शब्दों में सदा, वय प्राप्त कवि बहुधा करते रहे हैं। बहुधा इस तरह का दावा करना ही खतरे की पहली घण्टी की तरह भावकवर्ग के कान खड़े करने का काम करता है। कवि जब यह पूछता है कि

> नव विकास पथ में मुड़ मैं अब,
>
> क्या न भोर बन फिर मुस्काऊँ?

तो मानो प्रतिध्वनि उत्तर देता है "इस कारण नहीं, क्योंकि अब तुम मुस्काना भूल गए हो"—और एक बार भूलकर फिर मुस्काना सीखा नहीं जा सकता, भले ही मुस्काने की प्रक्रिया को दुहराते क्यों न रहा जाय।

पन्त जी की यह कविता बड़े साहस की कविता है। यह स्वीकार करने में उन्हें कुछ भी संकोच नहीं हुआ कि "मैंने कब जाना निशि का सुख?"—न इस अरसिकता और अनुभूति के कारण उन्हें इस आम तथ्य (अथवा चुनौती) के देने में ही कोई संकोच हुआ कि

> आओ तम के कूल पार कर,
>
> नव अरुणोदय तुम्हें दिखाऊँ!

---

१ नया साहित्य : नये प्रश्न', लेखक—नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक—विद्या मन्दिर रामघाट, बनारस—१।

हम कवि का आम त्रण स्वीकार करके उसके साथ बन्ते हैं। इसे हम आम त्रण ही मानेंगे, चुनौती नहीं। 'उत्तरा' की भूमिका के बाद कवि उस स्तर से बहुत ऊँचा उठ गया जिस स्तर पर लोग चुनौतियाँ देते और स्वीकार करते हैं। बाह्य और आन्तरिक का सामञ्जस्य ऊर्ध्व सचरण के द्वारा करने की क्षमता रखने वाला कवि हमें आमन्त्रण ही दे सकता है, चुनौती नहीं। वह हमें अपने साथ तम के कूल पार करके नव अरुणोदय दिखाने ले जायगा और इस तरह प्रमाणित कर देगा कि वह 'प्रभात का रहा दूत नित नव प्रकाश सन्देशवाह स्मित'। 'अतिमा' की कविताओं में यही आमन्त्रण निहित है।

२

संग्रह के छोटे से विज्ञापन में पन्त जी ने संग्रहीत कविताओं का तीन श्रेणियों में विभाजन कर दिया है। एक श्रेणी प्रकृति सम्बन्धी कविताओं की है, जिनके अतिरिक्त 'अधिकतर' ऐसी रचनाएँ संग्रहीत हैं "जिनकी प्रेरणा युग जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन चेतना नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।" अतः प्रकृति सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त एक श्रेणी इस प्रकार की कविताओं की हुई, जो 'अधिकतर' हैं, इसलिए तीसरी श्रेणी में वे होंगी जो इन अधिकतर कविताओं के अलावा हैं। यही अच्छा होगा कि हम संग्रहीत कविताओं का अनुशीलन इन्हीं तीन श्रेणियों में करें। कवि और उसकी कृति के साथ हम सम्भवतः इसी प्रकार तादात्म्य स्थापित करने में सबसे अधिक सफल हो सकेंगे।

प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में दो प्रमुख हैं 'जन्म दिवस' और 'हिमाचल के प्रति' दोनों इस संग्रह की अन्य सभी कविताओं से आकार में बड़ी भी हैं। दोनों ही उस पार्वत्य प्रदेश से सम्बन्धित हैं जहाँ कवि अपने जीवन के उप:काल में भावी काव्य कृतियों के लिए प्रकृति से प्रेरणा पाता रहा। 'जन्म दिवस' में पहले अपने घर द्वार, स्नेही सम्बन्धियों, पुरजनों और परिजनों के अत्यन्त सुन्दर शब्द चित्र अंकित कर, उनका हमसे परिचय कराने के बाद कवि बड़ी ही भावप्रवणता और उत्कृष्ट शिल्प कौशल का परिचय देता हुआ एक साधारण प्रादेशिक प्रेम कथा का हृदयग्राही चित्रमय अंकन करता है। इसमें कवि को कितनी सफलता मिली है यह नीचे की दो पंक्तियाँ ही प्रमाणित कर देंगी

> गूँज रही होंगी गिरि वन अम्बर में दुहरी तानें,
> और पास खिंच आये होंगे दो जन इसी बहाने।

इसके बाद, अधिक गम्भीर स्वर में, कवि अपने जन्म स्थान और जन्म काल को नव युग के अरुणोदय का प्रतीक मानकर प्रस्तुत आलम्बनों के सहारे अपने विकसित जीवन दर्शन को अभिव्यक्ति देने की चेष्टा करता है। कवि कहता है

> था निमित्त शिशु नरयुग था अवतरित हो रहा निश्चय
> बहिर तम का धूम चीर हँसता था नव अरुणोदय।
> इसीलिए सम्भव हिमाद्रि का स्वर्गों सुख आरोहण
> युग सनाभि शिशु के मन के हित रहा महत् आकर्षण।

कविता वहीं पूरी हो गई थी। उसके बाद प्रतीकों के नागदन्तों पर कवि अपने दर्शन वसन टाँगने में लग गया। मात्र शिल्प के बल पर कविता का सा प्रभाव इन प्रतीकों का भी हो

सकता है—पर वह प्रभाव ही है, मान नहीं।

'कूर्मांचल के प्रति' कवि की नगाधिप के प्रति, उसके और अपने गौरव के अनुरूप, विपुल हेम मुद्राओं से परिपूर्ण श्रद्धाञ्जलि है। इसमें भी अन्त में कवि ने प्रतीकों के सहारे दार्शनिक प्रवचना को अटका देने की चेष्टा की है, पर यह कविता इनके बोझ को सह सकती है—यही नहीं, इसके सहारे अटकाया जाकर विदग्ध चिन्तन सहज ही कवित्वमय हो गया है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे, एक इस बात का प्रमाण देने के लिए कि कवि की हेम मुद्राएँ खरे सोने की हैं, दूसरा इसका कि कविता (यद्यपि उसकी अपेक्षा नहीं करती, फिर भी) दार्शनिक प्रवचनों को सहज सुन्दर क्षमता से न केवल सँभाल लेती है अपितु उन्हें और भी ऊँचा उठाने में समर्थ हो सकी है। पहला उदाहरण है

राजहंस सा तिरता शशि मुक्ताभ नीलिमा जल में
सीपी के पंखों की दुहरा रत्न छटा जल थल में।
धुली वाष्प पलकियों में रँग भरते कला सुघर कर,
सुरधनु लपटों में किरणों की द्रवित कांति कर वितरित,
रंग गन्ध के लता गुल्म से गिरि द्रोणी अतिरञ्जित
देवदारु वन पीत सुहासी ग्रामवधू सी सुन्दर!

और दूसरा

रुके मूक भू मानस गह्वर, रुके स्तब्ध गिरि कन्दर,
(शतियों के पुञ्जित तमिस्र से पीड़ित जिनका अन्तर!)
विश्व प्रतीक्षा में प्रसार होने को तुमसे दीपित!
धूमिल क्षितिज, गरजता अम्बर, उद्वेलित जन सागर,
जड़ चेतन की दृष्टि निर्निमिष लगी ज्योति शिखरों पर,—
मानवता का दिक् प्रशस्त उन्नयन तुम्हीं पर आश्रित!

यह कवि की परम सफलता है कि इस दर्शन के शात पट से ढका जाकर नगाधिप मिट्टी का ढेर नहीं हो जाता, प्रत्युत और भी ऊँचा उठ जाता है। 'गिरि प्रान्तर' का कृत्रिम चित्र शिल्प के सहारे अपने आपको प्रकाश में सुरक्षित नहीं रख पाता। शिल्प बहुत पुराना हो चुका, चित्र की कृत्रिमता प्रकट हो ही जाती है। पर 'पतझर' सफल और सुन्दर कृति है, जो बरबस कीट्स के 'ओड टु आटम' की याद दिलाती है। 'पतझर' कीट्स की प्रख्यात कविता से कम गम्भीर नहीं है, पर उत्कृष्ट शिल्प और ऊँचे दर्शन के बावजूद, कविता की दृष्टि से यह कीट्स के 'ओड' की समता नहीं करती। पन्त जी की अतिशय प्राञ्जल भाषा एक ऐसा दुर्वह भार है जिसे पीठ पर लादकर कविता लड़खड़ाने लगती है, थककर बैठ जाती है और लाख कोशिश करने पर भी अपने मुख पर सहज मुस्कान नहीं ला पाती। छायावादी युग की काव्य भाषा का मोह पन्त जी की बहुत सी कविताओं को उसी प्रकार निर्जीव बना देता है जैसे बहुधा उनका दार्शनिक, उपदेशात्मक स्वर उन्हें मुक्त विहग सा उड़ाने न देकर पर काटकर पिंजड़े में बन्द कर देता है। पिंजरे में बन्द होकर भी विहग तो विहग ही कहलायगा, पर कहलाये जाने की वजह से ही उड़ तो नहीं पाता।

३

संग्रह की विशिष्ट कविताएँ वे हैं जिनकी ओर पन्त जी ने यह कहकर संकेत किया है कि उनमें "सृजन चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में, युग जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई, जो अभिव्यक्ति की प्रेरणा मूर्त हुई है।" 'अतिमा' की सबसे ऊँची कविताएँ ये न भी हों, सबसे अधिक आकर्षक अवश्य हैं। इनमें नवीनता है—ऐसी नवीनता, जो बलात् भावक को अपनी ओर आकृष्ट करता है। पर क्या यह नवीनता सचमुच प्राणगत आधुनिक है? उत्तर के लिए कविताओं पर दृष्टि निक्षेप करें।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि संग्रह की दूसरी कविता 'गीतों का दर्पण', इस द्वितीय (नवीन रूपकों तथा प्रतीकों वाली) श्रेणी में रखी जानी चाहिए अथवा नहीं, पर यदि न भी रखी जा सके तो भी इसका पता लगाने के लिए इस कविता का महत्त्व और मूल्य संग्रह की किसी भी कविता से कम नहीं है, कि कवि स्वर आधुनिकता है अथवा मात्र नवीन, क्योंकि संग्रहीत कविताएँ एक वर्ष की अवधि में ही लिखी गई थीं। 'गीतों का दर्पण' भी 'नव अरुणोदय' की तरह कवि की ओर से एक सन्देश अथवा विज्ञापन है। 'नव अरुणोदय' में कवि ने हमें याद दिलाया था कि वह 'नव प्रभात का रहा दूत नित' अब 'गीतों के दर्पण' में हमें आमंत्रित करता हुआ कहता है—

यदि मरणोन्मुख वर्तमान से
ऊब गया हो कटु मन

तो मेरे गीतों में देखो
नव भविष्य की झाँकी।

जयदेव ने इससे कहीं कम दावा किया था। 'यदि हरिस्मरणे सरस मनो, यदि विलास कलासु कुतूहलं, मधुर कोमलकान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्' इसमें कवि इतना ही कहने का साहस करता है कि यदि उस दिशा की ओर जाना चाहते हो जिधर वह स्वयं जा रहा है, तो उसके साथ हो लो। पन्त जी इससे अधिक आशा दिलाते हैं, उनकी कविता इसकी अपेक्षा नहीं करता कि भावक उस प्रकार का पदार्थ चाहता हो जो वह दे सकते हैं, वह सन्देश सुनना चाहता हो जो उन्हें सुनाना है—इतना ही चाहिए कि उसका मन वर्तमान, मरणोन्मुख वर्तमान, से ऊब गया हो। नव भविष्य की झाँकी देखना ही उसके लिए वाञ्छित संजीवनी है, और वह संजीवनी कवि के पास है। यह स्वर अन्वेषक का नहीं, सिद्ध का है, विराग प्रेरित आधुनिक जिज्ञासा का नहीं, प्रयोगशाला से बाहर आकर प्रयोग की सफलता की घोषणा करने वाले लब्धकाम आत्म विश्वास का है, एवरेस्ट का दर्शन करके लौटते हुए तेनसिंह का है। पर यह कौन सा 'वर्तमान' है जो मरणोन्मुख है, जिसकी मरणोन्मुखता के बीच रहते रहते मन कटु हो गया है? कवि इस कटुता इस व्याधि की कुछ और व्याख्या-सी करता हुआ जन मन के व्याधिग्रस्त होने के कुछ और लक्षण हमें बताता है

उठते हों न निराश लौह पग
रुद्ध श्वास हो जीवन?

'लौह पग' मशीन सभ्यता के प्रति संकेत है—पर यह आज का स्वर है अथवा बीसवीं शती के

प्रारम्भिक दशक था ? कवि आगे कहता है

रिक्त बालुका यन्त्र,—खिसक हो
चुके सुनहले सब क्षण,
तर्कों वादों में बन्दी हो
सिसक रहा उर स्पन्दन।

बालुका यन्त्र की रिक्तता मा स्पष्ट संकेत है—वर्तमान के मरणोन्मुख होने की ओर। पर आज का उर स्पन्दन क्या सचमुच तर्कों और वादों में बन्दी है ? क्या यह द्वितीय महा समर के पहले की युग मन स्थिति का चित्रण नहीं है ? आज का युग स्थावरता का नहीं संक्रांति का, अथवा पन्तजी की 'अतिमा' के अनुसार अतिक्रांति का, युग है यह कविता पचीस वर्ष पूर्व निःशब्द, निराकार जन मन के अन्त कक्ष में घुट रही थी, प्रकट होने में जो विलम्ब हुआ यह वह स्वयं ही इस कथन की सत्यता प्रमाणित करता सा जान पड़ता है कि 'कविता मनोद्वेग की शान्त मन पुनरावृत्ति है।' कवि का मन विमल और सर्वथा शान्त है, उसका अतीन्द्रिय आमन्त्रण आनन्द की उपलब्धि के लिए है। कवि के शब्द हैं

यदि यथार्थ की चकाचौंध से
मूढ़ दृष्टि अब निष्फल,—
डूबो गीतों में, जिनका
चेतना द्रवित अन्तस्तल।

'अनबूड़े बूड़े, तरे जो बूड़े सब अंग'। बूड़ने वाले के लिए ही यह गीतों का स्पर्श है जिसमें वह अपना 'श्री नव आनन' देख सकता है।

उस 'ऊर्ध्व संचरण' का आग्रह, जिसकी व्याख्या कवि ने 'उत्तरा' की भूमिका में की थी, हमें 'अतिमा' में सर्वत्र मिलता है। 'जन्म दिवस' में हम 'हिमाद्रि का स्वर्गोन्मुख आरोहण' देखते हैं जो 'सुमित्रानन्दन के प्रति' के 'शाश्वत शिखरों' में निखरा, शान्त और समुज्ज्वल हो जाता है। 'नव जागरण' में हम देखते हैं कि

रजत प्रसारों में उड़ नूतन
प्राण मुक्त करते आरोहण

और जहाँ संचरण नहीं है वहाँ ऊर्ध्वोन्मुखता ही संचरण का स्थान ले लेती है। 'बाहर भीतर' में

भू को अन्धकार का है भय,—
शिखरों पर हँसता अरुणोदय

यह 'हँसना' निस्सन्देह ऊर्ध्व संचरण का ही निमन्त्रण है।

पर 'अतिमा' का स्वर केवल ऊर्ध्व संचरण का ही हो, ऐसी बात नहीं है। 'जिज्ञासा' शीर्षक विशुद्ध रूमानी कविता में हम कवि शिखरों की नहीं अतलताओं की पावनता की बात कहता मिलता है, समतल प्रदेश पर खड़ा गाता है

कौन स्रोत ये ?
ये किन आकाशों में खोए
किन अवाक् शिखरों से भरते ?

किस प्रशान्त समतल प्रदेश मे
रजत फेन मुक्ता रव भरते!
ये किन स्वच्छ अतलताओं की
कोन नीलिमाओं मे बहते?
किस सुख के स्पर्शों से स्वर्णिम
हिलकोरों में कँपते रहते!

कविता इतनी सुन्दर और सरस है कि उसकी थोड़ी सी पंक्तियाँ उद्धृत करके सन्तोष नहीं होता, पर एक छोटे से लेख में थोड़ी सी पंक्तियाँ ही उद्धृत की जा सकती हैं। कुछ पंक्तियाँ और देखिए

कौन स्रोत ये!
श्रद्धा औ' विश्वास—रुपहले
राज मरालों के से जान
निरत सात्विक उर सरसी में
शुभ्र सुनहली ग्रीवा तान।
शोभा की स्वर्गिक उड़ान से
भर जाता सहसा अपलक मन,
उनके नव छन्दों के नूपुर
अलिखित गीतों के प्रिय पद बन!

निःसन्देह शैली में नवीनता का आग्रह नहीं है, स्वर कवि का चिर परिचित छायावादी स्वर ही है, फिर भी यह कविता बासीपन के दोष से मुक्त है, क्योंकि सुन्दर ही नहीं, सरस भी है। मैंने सरस जान बूझकर कहा है, क्योंकि इस कविता की सहायता से पन्त जी के काव्य पर सामान्यतया लगाए जाने वाले एक आरोप का आवश्यक खण्डन करना सुकर हो सकता है। रस की मान्यता निःसंशय मान्य का धर्म है। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि शिल्प की दृष्टि से कितनी भी उत्कृष्ट क्यों न हो, कविता यदि भावक के मन को रसार्द्र नहीं कर पाती तो भावक के लिए वह कविता नहीं है। पर जिस मन को रसार्द्र करना कविता का स्वाभाविक कर्म और सत्कर्म है वह मन केवल छलकते हुए उद्वेगों का पात्र नहीं है, वह विशद चेतना भूमि है जिस पर भावना और विचार, हृदय और मस्तिष्क समान अधिकार के साथ निवास करते हैं और प्रभाव डालते हैं। रस केवल भावोद्वेग नहीं है, अनुभूति केवल इन्द्रियाश्रित नहीं है। 'जिज्ञासा' में (और अपनी अधिकांश सफल कविताओं में) पन्त जी जिस रस की सृष्टि करते हैं वह साधारणतया स्वीकृत परिभाषा से बँधा नहीं है, व्यापक अर्थ में, वह चेतना का सहज ग्राह्य अतीन्द्रिय रस है। पन्त जी की कविता का उस भावक वर्ग के लिए कोई मूल्य नहीं है जो रस की संकीर्ण परिभाषा करता है—पर उस भावक वर्ग के लिए सम्भवतः साँस लेने की प्रक्रिया ही जीवन है। नये विचारों का आघात जिनके लिए ऐन्द्रिक अनुभूति की सी प्रभावोत्पादिनी शक्ति नहीं रखता उनके लिए पन्त जी कह सकते हैं 'नाहं ते न किमपि, तान्प्रति नैष यत्नः' है।

यह बात 'अणिमा' की बहुत सी—यह कहना भी अनुचित न होगा कि अधिकतर रचनाओं

के लिए कही जा सकती है। इनमें कुछ असाधारण कृतियाँ हैं, जैसे 'स्फटिक वन', जो छाया वादी सज्जा में आधुनिक भावों मेषण की काव्यमयता की सफल उपलब्धि है,—कुछ सुन्दर, शीतल पर निष्प्राण चित्राकृतियाँ हैं, कुछ सर्वथा अकवित्वमय पत्रकारिता हो जाने से मात्र शब्द शिल्प के द्वारा बना ली जाती हैं, जैसे 'नेहरू युग', और कुछ ऐसी हैं "जिनकी प्रेरणा युग जीवन के अनेक स्तरों को स्पर्श करती हुई सृजन चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीकों में मूर्त हुई है।"

४

अब तक हम जिन कविताओं को देख रहे थे उनके विषय में यह कहना सम्भव नहीं है कि वे इस विशिष्ट श्रेणी में आयेंगी या नहीं—शायद नहीं। पर जिनके विषय में सन्देह हो ही नहीं सकता वे हैं—सोनजुही, आ धरती कितना देती है, कौए, बतखें और मेंढक, मकाश, पतिंगे और छिपकलियाँ, केंचुल, स्वर्णमृग आदि। इनमें सम्भवतः 'सोनजुही' सुन्दरतम है और 'केंचुल' अपेक्षाकृत सबसे कम सफल हो सकी है। 'सोनजुही' से कुछ थोड़ी सी पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत करना निरर्थक होगा, क्योंकि एक तो यह कविता समूची उद्धृत करने योग्य है, दूसरे इसे आधुनिक हिन्दी कविता के प्राय सभी पाठक जानते ही हैं। इसके अन्त में भी पन्त जी दार्शनिक प्रवचन चिपका देने का लोभ संवरण नहीं कर पाए—और यह प्रवचन कविता के साथ मिलकर एक नहीं हो पाया, चिपका ही रहा। इस तरह की कविता के साथ यह व्यव हार कुछ उस व्यक्ति के ढंग का लगता है, जो अपने कलाकार व्यक्तित्व को उपदेशक और विचारक व्यक्तित्व का जरखरीद गुलाम समझता था। भाग्यवश 'सोनजुही' का दार्शनिक विश्लेषण कविता से स्पष्टतः इतना असम्पृक्त जान पड़ता है कि भावक के लिए उसे अलग रखकर कविता का आस्वादन करना सुकर ही नहीं स्वाभाविक हो जाता है।

इसमें ही पन्त जी की सफलता और असफलता का एक साथ परिचय मिल जाता है। यह उनकी सफलता है कि अपने जीवन दर्शन की ऊँची बरफीली पहाड़ी चोटी पर भी उन्हें काव्य कुसुम खिले मिलते हैं। उनकी असफलता यह है कि उनमें से बहुत से कुसुम निर्गन्ध होते हैं। 'सोनजुही', 'आ धरती कितना देती है' आदि कविताएँ अपवाद सी इतस्ततः बिखरी जान पड़ती हैं।

इन कविताओं में यदि 'सृजन-चेतना के नवीन रूपकों' की खोज न भी की जाय तो भी उनके कवित्व में कोई कमी नहीं आती, हाँ, उनकी नवीनता अवश्य अदृश्य हो सकती है। तो क्या मात्र नवीनता लाने के लिए ही कवि ने उनमें 'नवीन रूपकों और प्रतीकों' की निर्माण प्रक्रिया का समावेश किया है? ऐसी भ्रान्ति 'सोनजुही' को देखकर हो सकती है, क्योंकि 'सोन जुही' इन नवीन प्रतीकों का भार आसानी से नहीं उठाती—कहना तो यों चाहिए कि उठाती ही नहीं। पर अन्य रचनाओं के विषय में यह कहना अन्याय होगा। 'कौए, बतखें और मेंढक', 'स्वर्णमृग' आदि ऐसी कविताएँ भी 'अतिमा' में मिलेंगी जिनका सृजन ही इन प्रतीकों को कलात्मक प्रेषणीयता देने का नाम है। इस तरह की रचनाओं में सम्भवतः सबसे सफल और सबसे ऊँची कविता 'सन्देश' है, जो आरम्भ से ही अपनी शक्तिमत्ता का परिचय देती हुई प्रतीकों में प्राण वायु का सञ्चार करती चलती है और अन्त होते होते सच्ची कविता की वह सम्पन्नता

प्राप्त कर लेती है जो प्रत्यय और अपरिहार्य होती है और जिसका आशय उसके अर्थ से कहीं व्यापक और सबल होता है। 'सन्देश' के आरम्भ की पंक्तियाँ हैं

मैं खोया खोया सा, उचाट मन, तान कर
सो गया तख्त पर लुढ़क अलस दोपहरी में,
दुःस्वप्नों की छाया से पीड़ित, दर सलक
उपचेतन की गहरी निद्रा में रहा मग्न।

जब सहसा आँख खुली तो मेरी छाती पर
था असन्तोष का भारी, रीता बोझ जमा,

इतने में मेरी दृष्टि फर्श पर जा अटकी,
जिस पर जाड़े की चिट्ठी, ढलती, नरम धूप
खिड़की की चौखट को कुछ लम्बी, तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े सी—

इस प्रकार कवि हमारा परिचय उस धूप से कराता है जो सन्देश वाहिका बनकर आई थी। किसे सन्देह हो सकता है कि यह सचमुच धूप नहीं है, मात्र प्रतीक है। अपराह्न में उदास मन लेकर सो रहने के बाद उठने पर जिस रिक्तता का अनुभव हम सबको होता, हो सकता है उसमें यह, 'असन्तोष का भारी, रीता, बोझ' क्या भिन्न है? पर इस साधारणीकरण में वैशिष्ट्य का लोप नहीं हुआ है। असाधारण, किन्तु सहज, सिद्धहस्तता का परिचय देता हुआ कवि 'जाड़े की चिट्ठी, ढलती, नरम धूप' को ऐसी विलक्षणता दे देता है कि उसके लिए सन्देशवाहक का कार्य अद्भुत या असाधारण नहीं रह जाता। यह कविता छायावाद और आधुनिक युग की भाव भूमियों के बीच सेतु सी, दोनों से कुछ भिन्न पर दोनों की सम्पत्ति है और पन्त जी के काव्य की अद्यतन परिस्थिति का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। 'अतिमा' न आधुनिक है, न पुरातन उसकी सार्थकता और सीमा इसमें है कि वह दोनों को एक दूसरे से मिलाती और एक को दूसरे का पूरक बनाने की चेष्टा करती है।[1]

○

डॉ० रामरतन भटनागर

वर्तमान कविता में नये गीति स्वर

'दिवा लोक' में शम्भूनाथ सिंह की ४३ कविताएँ संगृहीत हैं। इन कविताओं में से अधिकांश प्रगीतात्मक हैं, यद्यपि लय और छन्द के अनेक प्रयोग इन प्रयोगात्मक कविताओं में मिलेंगे। गजल, सॉनेट और लोक गीतों की धुन से समन्वित कुछ रचनाएँ भी हैं, परन्तु वे अधिक नहीं

1 'अतिमा' लेखक—सुमित्रानन्दन पन्त प्रकाशक—भारती भण्डार लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

है। यह स्पष्ट है कि 'दिवालोक' के कवि की प्रमुख प्रवृत्ति गीतात्मक है और इसी सन्दर्भ में हमें उनकी इस कृति को परखना होगा।

संग्रह में सबसे अधिक रचनाएँ कवि के वैयक्तिक सुख दुःख से अनुप्राणित हैं और मिलन वियोग, हर्ष विषाद के स्वरों को मुखरित करती हैं। इस कोटि की रचनाओं में छायावादी प्रगीति काव्य के सन्दर्भों, मूर्ति विधानों और प्रतीकों का प्रचुर रूप से प्रयोग है और एक तरह से हम उन्हें उस गीत धारा से सम्बन्धित कर सकते हैं जो छायावादी गीति काव्य के विकास के रूप में परवर्ती युग में चल रही है। यह गीत धारा उस नव्य स्वच्छन्दतावादी (या प्रतीकवादी) धारा से अलग अस्तित्व रखती है जो नये काव्य का एक प्रमुख अंग है, पर तु उसका विकास उसके समानान्तर ही हुआ है। कवि ने छायावादी प्रगीतों से ही बहुत कुछ नहीं पाया है, उस पर गजल के छन्द, लोक गीतों की धुनों और सगीतात्मक प्रेरणाओं का भी ऋण है। यह स्पष्ट है कि शम्भूनाथ सिंह की ये रचनाएँ इस गीत धारा के ही अन्तर्गत आती हैं।

इन गीतों में से कुछ में कवि ने अपने भीतर के विषाद का बड़ा मार्मिक अंकन किया है। "मैं सभी का हूँ न कोई किन्तु मेरा।", "दिन हैं खोए खोए, भूली भूली रातें।", "तुम्हें याद मेरी न आती कभी क्या?", "है वही चाँद, पर दूसरी चाँदनी।", "जी सकूँ चुपचाप" और "आषाढस्य प्रथम दिवसे" रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इस विषाद की गहन छाया का चरमोत्कर्ष हमें उन पंक्तियों में मिलता है जहाँ कवि जीवन को ही नहीं, मरण को भी चुपचाप स्वीकार कर लेना चाहता है

> तुम पुकारो पार से जब,
> प्यार सुनूँ स्वरकार के जब,
> मैं तुम्हारा प्यार ले तब,
> प्रिय तुम्हारे चरण पर मर
> भी सकूँ चुपचाप।
> प्रिय, मैं जी सकूँ चुपचाप।

मिलन और उल्लास के गीत थोड़े हैं, पर तु उनमें कवि की आध्यात्मिक जागृति की भी व्यंजना बहुत सुन्दर ढंग से हो गई है। 'छवि दर्शन', 'स्वप्न से दूर' और 'तृप्ति' जैसी रचनाओं में आत्मा की परिपूर्ण उपलब्धि की बड़ी सुन्दर और पुष्ट अभिव्यक्ति हुई है, जैसे

> भर दिए आज तुमने अमर गान से।
> स्वप्न सच हो गए।
> अश्रु घन खो गए।
> प्राण फिर चाँदनी
> अंक में सो गए,
> दूर तुम से हुआ मैं अचल तम प्रहर,
> पूर्णिमा बन बना एक मुसकान से। (तृप्ति)

कुछ गीतों में प्रकृति का भी सुन्दर चित्रण है, जैसे "चाँदनी", 'मधु ऋतु' और 'सागर की पूर्णिमा' शीर्षक रचनाओं में। अन्तिम कविता में सागर के हिल्लोलित जल पर प्रतिबिम्बित पूर्ण चन्द्र की छटा को कल्पना के सम्पूर्ण ऐश्वर्य से उभारा गया है। अन्तिम बन्ध है

जल की तमपूर्ण गुफा ज्योतित,
कण कण में एक रूप बिम्बित,
पारद सी ज्योति शिखा अनगिन,
बिखरी है लहरों में नर्तित
चल जल के शीशमहल में, लो,
बिजली का दीपस्तम्भ खिला।

परन्तु इन स्वतन्त्र प्रकृति गीतों को छोड़ दें, तब भी अन्य रचनाओं में प्रकृति सम्बन्धी उपमानों और प्रतीकों का व्यापक रूप से और कभी कभी एकदम नवीन सन्दर्भ में उपयोग हुआ है, जो कवि की रसात्मक प्रकृति पर अच्छा प्रकाश डालता है।

दूसरी कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमें कवि ने युग सत्य को प्रतिबिम्बित करने की चेष्टा की है या जिनमें उसकी राजनीतिक अथवा विश्व जीवन सम्बन्धी चेतना स्पष्ट रूप से उभर आई है। संग्रह की पहली कविता 'स्वप्न और सत्य' में ही अपने काव्य के द्विविध रूप की ओर कवि ने संकेत किया है। वह कहता है

तुम्हें भुलाता हारा
मन बेचारा।
जिसका कहीं न इति अथ
यह अनन्त नीरव पथ
फिर भी जिस पर प्रति पल
करता है अतीत कोलाहल
मुखरित माया का वन,
बजती राम राम में मुरली निस्वन,
वर्तमान से कितना सुखद पलायन।
पर धिक् रे मन,
यदि चरणों में है गति
उर में कम्पन, तो अतीत क्या बन सकता है बन्धन।

'जीवन की आग', 'पथ में', 'बढ़ रहे चरण', 'मुक्ति दीप' और 'विश्व मर' शीर्षक रचनाओं में प्रगतिशील जीवन और विकासमान मानवीय चेतना की ही पुकार दीप्तिमान है। बढ़ते हुए चरणों के आत्म गौरव और मार्ग की कठिनता का वर्णन करता हुआ कवि उन्हें प्रगति का प्रतीक बनाकर उपस्थित करता है

पथ पर बढ़ रहे चरण।
श्रम सीकर से सिंचित,
धूसर रजकण मण्डित,
फूलों से अपमानित,
शूलों से अभिनन्दित
अंकित कर चिह्न विरल,
गिरि पथ चढ़ रहे चरण।

एक अन्य रचना 'कर्म पथ' में उसने युग की कर्मण्यता को ललकारते हुए तारुण्य के चिरजयी जीवन दर्शन को इस प्रकार अभिमंत्रित किया है

> हो ध्येय का ध्यान,
> दिन रात सम मान,
> मन मत करो म्लान,
> बढ़ते रहो, तट कि मझधार।
> पथ को करो प्यार।

बच्चन के 'हार मत' गीत की तरह यह गीत भी कर्म की ऊर्जस्विता और नये जीवन की अदम्य गतिशीलता का अभिनन्दन करता है। जन देवता' कविता में नये जागरण के सम्बन्ध में कवि की विचार धारा का पूरा स्वरूप मिलता है। रात चली गई है, प्रभात हो गया है परन्तु जन जीवन को मुक्ति नहीं मिली है। अर्गला नहीं खुली है। कवि एक 'नई दासता' का अनुभव कर रहा है। जन जीवन के इस गत्यवरोध और आभ्यन्तरिक कुण्ठा का वर्णन कवि अत्यन्त सफल प्रतीकों में करता है

> गगन मिला पर न पंख मिल रहे,
> किरन मिली पर न कमल खिल रहे,
> पथ मिला पर न चरण हिल रहे,
> दीप सजल नयनों से जिन असीम वेदना,
> कब तक तुम मौन रहोगे ओ जन देवता?

और अन्त में कवि प्रश्न करता है

> कब तक यह अनृत यह प्रवञ्चना?
> कब तक यह करुण अश्रु अर्चना?
> कब तक यह मोह मरण साधना?
> क्रान्ति शान्ति समता आनन्द हेतु क्या कहो,
> प्रलयकर रुद्र न होगे क्या जन देवता?

जन जीवन की इस अन्तर्वर्ती व्यथा को कवि पहचानता है और नये विश्वास की स्वर्ण शिखा से मण्डित आशा का प्रदीप लेकर प्रगति के पथ पर आगे बढ़ता है। इसीलिए उसकी रचना नये प्राण से ओत प्रोत है। उसका निराशावादी स्वर अन्त में अदम्य रूप से आशावादी हो उठा है, क्योंकि वह एक नये अनागत सवेरे की कल्पना का अभिनन्दन करता है जब मनुष्य ऊर्ध्वबाहु हो उद्घोषित कर उठेगा कि

> हम अनश्वर
> शक्ति के हैं केन्द्र जीवन के प्रणेता।
> क्षुद्र तिनके काल धारा के विजेता
> अब बनेंगे, एक एक नहीं सहस शत
> एक हो कर। आत्म मुक्त समष्टि चेता
> व्यक्ति होगा, काल के रथ पर चढ़ेगा।
> प्राणवन्त, नई दिशाओं में बढ़ेगा।

संग्रह की जिस अन्तिम कविता 'विश्व मेरे' से ये पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं, वह निश्चय ही बड़ा मार्मिक बन पड़ी है और उसमें नई आशा के स्वर बड़ा सुन्दरता से बँध सके हैं।

परन्तु स्वप्न और सत्य के इन दो छोरों के बीच जो भावुक क्षण कवि ने पकड़े हैं, वे इनसे कहीं अधिक मार्मिक हैं और उनमें हमें ऐसा चीजें मिलती हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। 'एक क्षण', 'आधी रात', आज' और 'हिमालय सम्बन्धी पाँच सॉनेट' में हमें कवि की कला का सुन्दर निखार मिलता है। गति छन्द की तन्मयता, केन्द्रीयता, आत्मनिष्ठा और रसग्राही भावुकता इन रचनाओं में पूर्ण रूप से परिलक्षित हुई है। उदाहरण के लिए 'आज' शीर्षक कविता में प्रेमिका की अप्रत्याशित उपलब्धि को कवि ने कितनी भावुकता से, कितने मोह से पकड़ा है और प्रत्येक बन्ध में नये उपमानों में, नई भाव-भंगिमा से उस उपलब्धि को विभूषित किया है। ये क्षणों के फूल सहज में बँध नहीं पाते। परन्तु इन्हीं के बाँधने में कला की साधना है। शम्भूनाथ सिंह के काव्य में ये क्षण बड़ी सुन्दरता से बँध गए हैं।

हिमालय सम्बन्धी सॉनेट पंचक का इस संग्रह में अपना स्वतन्त्र स्थान है। इसमें कवि ने पुराण गाथाओं, प्राकृतिक प्रतीकों, वस्तु चित्रों और कल्पना रेखाओं के माध्यम से हिमालय के अप्रतिम सौन्दर्य और अवगुण्ठित रहस्य से स्नेह का व्यक्तिगत नाता जोड़ा है। यह चित्र कवि की पौराणिक मूर्तिमत्ता का नमूना है

> थी पार्वती धरती जलती तप से निश्चल,
> था महाकाल ज्यों समाधिस्थ निर्द्वन्द्व अचल,
> सहसा झंकृत अनंग धनु से शर छूट पड़े,
> बन पंचबाण के पुष्प बरसते थे बादल।

अंतिम सॉनेट में कवि ने सचमुच ही प्रस्तर के अन्तर के रसमय स्रोतों को ढूँढ निकाला है।

इन थोड़ी रचनाओं में ही हमें शम्भूनाथ की काव्य शक्ति का सुन्दर परिचय मिल जाता है और उनके काव्य विकास को देखकर मन आश्वस्त होता है। उनकी प्रतिभा गीतात्मक होते हुए भी क्लासिकल रचनाओं से अनेक सूत्र ग्रहण करती चलती है और उन्होंने भीतर बाहर को दो अनिवार्यतः विभिन्न और विरोधी वस्तुएँ न मानकर स्वप्न सत्य का कार्योचित गठबन्धन किया है। समर्थ भाषा और प्रतीकों एवं प्रयोगों का नव भूमि का जो झाँकी इस रचना में दिखलाई देता है वह आगे और भी निखार पाए तो समसामयिक काव्य की पुष्टि ही होगा। हिन्दी कविता का भविष्य न वाद ग्रस्त काव्य के हाथ में सुरक्षित है, न पश्चिम से उधार लिये अनगढ़ प्रयोगों में। नवीन काव्य भूमि के उद्घाटन के लिए कल्पना और कला के क्षेत्र में नई साधना की अपेक्षा है। इस संकलन में इस साधना के स्पष्ट चिह्न मिलते हैं।

O

---

१ दिवालोक लेखक—शम्भूनाथ सिंह प्रकाशक—साधना मन्दिर, काशी को और से राजकमल प्रकाशन दिल्ली।

प्रयागनारायण त्रिपाठी

रीति, गीति और नई कविता

'नाव के पाँव' में जगदीश गुप्त की ५७ कविताएँ संग्रहीत हैं। इन्हें दो खण्डों में विभाजित किया गया है—'नाँव के पाँव' और 'टूटती लहरें'। संग्रह की भूमिका में जगदीश जी ने इस विभाजन का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है, "प्रथम खण्ड में मेरी सन् १६५१ के बाद की प्रायः सभी कविताएँ संग्रहीत हैं और द्वितीय खण्ड में इसके पूर्व की कुछ कविताएँ। नई और पुरानी रचनाओं को एक साथ मिलाकर रखना मुझे उचित नहीं लगा और पिछली कृतियों में सर्वथा छोड़ भी नहीं सका। कुछ पूर्वाभास देने की दृष्टि से और कुछ शायद मोह के कारण।" जगदीश जी के उक्त कथन से इस संग्रह की कविताओं पर विचार करना काफी सरल हो जाता है। इस विभाजन के फलस्वरूप हम न केवल एक विशिष्ट कवि-व्यक्तित्व के विकास-क्रम को हृदयंगम करते हैं प्रत्युत हिन्दी कविता के एक महत्त्वपूर्ण संक्रमण को भी देख सकते हैं और क्योंकि इस परिदर्शन में 'टूटती लहरें' के अन्तर्गत कविताएँ पहले आती हैं, अतएव पहले मैं इसी खण्ड की कविताओं पर विचार करूँगा।

इस खण्ड की दो दर्जन कविताओं के अन्तर्गत अधिकांश गीत हैं और प्रायः सभी सुन्दर गीत हैं। लगता है जैसे गान-शैली ही जगदीश जी की अपनी शैली हो। प्रवाह, परिमार्जन, शब्द-मैत्री, भाव-संवेग—प्रत्येक दृष्टि से ये गीत अपना विशिष्ट स्थान बनायेंगे, इसमें सन्देह नहीं। पर इन गीतों पर पूर्ववर्ती और तत्कालीन गीतकारों की छाया भी स्थान-स्थान पर सुस्पष्ट है। जब कवि लिखता है

> यह चाँद ज्योति का कमल फूल
> तारक छितरे किंजल्क जाल
> ज्योत्स्ना पराग की धवल धूल
> यह चाँद ज्योति का कमल फूल
> उर का कलंक काला भँवरा
> कन कन में अमृत मरंद भरा
> रस की बूँदों में सनी पाँख
> उन्मद मदमाती मुँदी आँख
> मूर्च्छित चुम्बन श्लथ विसुध गात
> बेबस उड़ना तक गया भूल
> यह चाँद ज्योति का कमल फूल

—तो हमें बरबस प्रसाद और महादेवी का स्मरण एक साथ हो आता है। चाँद कवि का विशेष प्रिय उपमान प्रतीत होता है। सम्पूर्ण संग्रह में—नई कविताओं में भी चाँद—और चाँदनी का उन्मादक छाया हुआ है। 'यह चाँद ज्योति का कमल फूल', 'सुकुमार चाँदनी रही झूल', 'देख शशि को आ रही होगी तुम्हें भी याद मेरी', 'यह चन्दन सा चाँद महकता, 'यह चाँद सी रात', 'याद पिछली चाँदनी रातें करें आओ', 'तरुणाई सी खिली जुन्हाई'—ये हैं विभिन्न कविताओं की कुछ पंक्तियाँ, जो कवि की चन्द्रासक्ति को व्यक्त करती

हैं। जिन गीतों से ये ली गई हैं, वे अपने स्थान में, संग्रह से बाहर, बहुत समीचीन प्रतीत होते। किन्तु संग्रह में एक जगह जुट जाने पर इन्होंने जगदीश गुप्त के इस कथन को ही सत्य सिद्ध कर दिखाया है कि "परम्परागत अनुवर्त तथा कुण्ठित माध्यम में नवीन अनुभूतियों को अधिक समय तक व्यक्त नहीं किया जा सकता।" यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ कि 'नयी कविता' के सम्पादक जगदीश गुप्त ने स्वयं अपने ही मोह के माध्यम से मोहाविष्ट कवि समुदाय की दुर्बलताओं और असफलताओं पर स्पष्ट प्रकाश डाल दिया।

परन्तु पुराने माध्यमों में भी नई अनुभूति कितनी खिलकर सम्मुख आती है, इसे 'चाँदनी और चाँद' कविता में देखिए

रच दिया पथ ज्योति के आवर्तनों से चाँद ने
रात की वेणी किरण की उँगलियों से खोलकर
बाँध अपने को लिया अनगिन घनों से चाँद ने।
याद है वह नींबुओं की साँवली छाया घनी?
ओस की सुकुमार बूँदों से भरी पलकें झगा,
आसमानी चाँद से कहती कपूरी चाँदनी।

इस प्रकार 'दो मुक्तक' की यह पंक्तियाँ

नीले अम्बर से झुको
धरती एक समाधि है।

बहुत ही सशक्त और गहरी काव्यात्मक संवेदना से ओत प्रोत हैं, जिनके सम्मुख 'सच हम नहीं, सच तुम नहीं' जैसी पंक्तियाँ बहुत हल्का लगती हैं—फीकी और काव्य गुण विहीन।

परन्तु चाँद सितारों और कल्पना चित्रों की दुनिया का मोह त्यागकर आज के कवि को शीघ्र ही धरती पर उतर आना पड़ता है—आज की वस्तु स्थिति की पुकार पर और व्यक्ति की चौहद्दियों के तकाजे पर। 'नाँव के पाँव' शीर्षक खण्ड के अन्तर्गत समाविष्ट कविताओं में इसी अवतरण की सशक्त और ईमानदार अभिव्यक्तियाँ हैं। इनमें सबसे सुन्दर मुझे 'बिखरा हुआ अहम्' लगा। यह जगदीश जी की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में एक है, क्योंकि इसमें जहाँ उनका अपना व्यक्तित्व बोल रहा है, वहीं उनका कलाकार अपने अनुभूत को कलाकार की निर्वैयक्तिकता के साथ मुखर कर सका है

मैं बिखर गया हूँ
अपने ही चारों ओर।
मेरा एक अंश—सामने के नीम की
नंगी टहनियों में लगी उन्माद पीली
पत्तियों के बीच उलझ गया है—
और उन्हीं के साथ
पतझर के रूप किन्तु खुमारी भरे
झोंकों की चाह से—एक-एक कर
नाचता-गिरता लहराता फिरता
जगाचों जैसी भूरी सूखी धूल भरी घास पर

उतर रहा है—उभर रहा है।
मेरा दूसरा अंश वर्षा के बाद के बचे उन
खोये भटके हलके दुधियारे बादलों के साथ
आकाश में डोल रहा है,
जिनमें न जल है न जलन, न ओले, न गलन,
कभी कभी सियाह चीलें मँडराती हुई
इधर से उधर निकल जाती हैं
किन्तु वे ठहरते नहीं—रुकते नहीं।
मेरा एक तरल अंश—गंगा की लहरों पर दिन रात तिरता है।
डाँडों के साथ साथ उठता है, गिरता है।
उनकी कोरों से टपकती बूँदों सा,
वृत्त बनाता हुआ—फैल जाता है—फैल जाता है।
इन सबसे अलग एक गहरा अंश—मेरा ही
चाँद के सीने के उन दागों में जा छिपा है
जिन्हें चाँदनी रूप-जल से धो धोकर हार गई।
पर जो अमिट थे—अमिट हैं,
मेरे इन सब बिखरे बिखरे अंशों को
कौन सँजोये
मुझे कौन पूरा करे,
पीली पत्तियों को फैलते जल वृत्तों में कौन बाँधे
बह जायेंगी वे।
काले दागों पर बहके सफ़ेद बादलों को कौन साधे,
ढक जायेगा चाँद, खो जायेंगी चीलें।

यह तथा 'पुरवा के झोंके', 'अँधेरा और पथरीला दर्द', 'नगत की परछाईं', 'गंगा तट का एक खेत' ऐसी कविताएँ हैं जो जगदीश गुप्त की ओर से हमें आश्वस्त बनाती हैं। इनमें वह शक्ति है, वह बिम्ब ग्रहण करने की क्षमता है, वह संवेदनात्मक ताजगी है, आज के जीवन यथार्थ के प्रति वह सजग चेतना है, जो नई कविता का प्राण है। इसके विपरीत 'आस्था' और 'अव्यक्त चुम्बन' जैसी कविताओं में न तो कोई स्पष्ट जीवन दृष्टि है, न संवेदना। एक उलझी अनुभूति का धुँधला सा आभास मात्र उनमें मिलता है। यह नई हिन्दी कविता के लिए अभीष्ट नहीं है, छायावादी या रहस्यवादी कविता के लिए भले ही इसका कुछ महत्त्व रहा हो। इसी प्रकार 'अभिव्यक्ति का संकट', 'कहा सुना', 'क्या कहोगे' जैसी कविताओं में कवि कलाकार की निर्वैयक्तिकता तक नहीं उठ सका है, फलतः अभिव्यक्ति हल्की हुई है।

कला की दृष्टि से मुझे ऐसा लगता है कि जगदीश गुप्त अपने आपको परम्परागत काव्य शैली से मुक्त नहीं कर पाए हैं। 'रव की भैरवता', 'न जल हो न जलन', 'निज भाल पर रूमाल', 'किसी कवि की बसी रस में बसी'—ऐसे मोहक शब्द समूहों के जाल में वे प्रायः उलझ जाते हैं। यह बात नहीं कि आज का कवि रीतिकालीन शब्द सौंदर्य का सर्वथा तिरस्कार

करके काव्य रचना करता है, पर उनको वह सहज स्वाभाविक रूप में ही स्वीकार करना चाहता है, कृत्रिम रूप में नहीं। उर्दू क्या, ऐसे नये वाक्यांशों को भी जैसे 'कैनाइन टीथ' या 'स्नेरी तह' हमें सर्वथा अकृत्रिम रूप में ही स्वीकार करना होगा। उर्दू बरबस खींच लाने से कविता का हित न हो पायगा। जगदीश जी ने एक दो जगह व्याकरण की भूलें भी की हैं जैसे 'अधखुले द्वार' की यह पंक्ति

"मैं ही अपने से कहा किया अपनी गाथा।"

या 'लो फिर सुनो' की यह पंक्ति—

"कि जिसका हर कदम पर हाँकने वाला नश्वरता हो" पर मैं मान लेता हूँ कि इस प्रकार की भूलें, भूलें ही हैं, जान बूझकर तोड़ी गई व्याकरण की कड़ियाँ नहीं।

'नाव के पाँव' नई कविता के एक यशस्वी कवि का संग्रह है। अतः इसकी ओर सभी प्रबुद्ध और संवेदनशील पाठकों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक है। परन्तु मुझे आश्चर्य न होगा यदि 'नाव के पाँव' के पाठक मेरी ही तरह, कुल मिलाकर, इस संग्रह से निराश हों—कम से कम पहले संग्रह की अधिकांश रचनाओं की ओर से। मैं समझता हूँ कि यदि जगदीश जी रचनाओं को काल क्रम से न सँजोकर मिले जुले रूप में रखते तो सभी के लिए अधिक अच्छा होता।

परम्परानुसार दो शब्द पुस्तक की छपाई सफाई पर भी कहना उचित मालूम होता है। इस दृष्टि से 'नाव के पाँव' एक आदर्श प्रकाशन है। जगदीश जी स्वयं एक अच्छे चित्रकार हैं और उन्होंने सभी कविताओं का निचोड़ उनके नीचे दिये गए लघु चित्रों में दे दिया है। सच पूछिए तो कई चित्रों को देखने के बाद कविताएँ उनके सम्मुख फीकी लगने लगती हैं। चित्रकार जगदीश को मेरी भूरि भूरि बधाइयाँ।

यह जगदीश जी का पहला कविता संग्रह है। जगदीश जी में अनुभूति है। वे अनुभूति को सचाई के साथ व्यक्त करने के लिए आकुल-व्याकुल रहते हैं। वे अपने और अपनों के दुःख दर्दों में गहराई तक उतर सकते हैं। वे इन दुःख दर्दों को सशक्त शब्दों और बिम्बों के माध्यम से हम तक पहुँचाने की ईमानदार चेष्टा करते हैं। ये सभी दुर्लभ गुण हैं, जो जगदीश से भविष्य में वे कृतियाँ लिखाकर रहेंगे जिनके स्वागत की तैयारी में मैं 'नाव के पाँव' का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।[1]

डा० वामिन बुल्के

मानस की 'रूसी' भूमिका

प्रस्तुत रचना के सम्बन्ध में यह सुनकर बड़ी उत्सुकता हुई थी कि यह तुलसी साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसे पढ़कर घोर निराशा हुई। प्रोफेसर बरान्निकोव

---

1 नाव के पाँव लेखक—जगदीश गुप्त, प्रकाशक—विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर।

की सहृदयता तथा तुलसी पर उनकी श्रद्धा के स्पष्ट प्रमाण अवश्य मिलते हैं लेकिन इसमें कहीं भी ऐसी सामग्री नहीं है, जो तुलसी के अध्ययन के लिए अनिवार्य अथवा महत्त्वपूर्ण कही जा सकती हो। अनुवादक का कहना है ग्रियर्सन आदि पाश्चात्य लेखकों की अपेक्षा प्रो० वरान्नीकोव का ऐतिहासिक दृष्टिकोण विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[1] किन्तु आलोच्य पुस्तक के विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'वाल्मीकि रामायण' के बाद का राम कथा साहित्य लेखक के सामने नहीं आया, यहाँ तक कि 'अध्यात्म रामायण' का भी उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त तुलसी की अन्य रचनाओं का भी निरीक्षण नहीं हुआ है। अतः तुलसी का प्रस्तुत अध्ययन अनिवार्य रूप से अधूरा तथा अपूर्ण ही होगा।

प्रथम अध्याय। 'तुलसी का युग' अत्यन्त संक्षिप्त है (पृ० १—८)। इसमें विशेष रूप से भारतीय संस्कृति पर मुसलमान विजेताओं का प्रभाव प्रस्तुत किया गया है। यह प्रभाव तुलसी की फारसी शब्दावली तथा विशेषकर नये धार्मिक पथों के उद्भव में परिलक्षित है, "हिन्दू समाज ने अपने को दो संकटों के बीच पाया। एक ओर तो असह्य अत्याचार, लूट पाट और शारीरिक यन्त्रणा की आपदा थी और दूसरी ओर मुसलिम प्रभाव से महत्त्वपूर्ण ढंग से प्रभूत धार्मिक विरोधी शाखाओं (Hereues) आदि से उत्पन्न हिन्दू समाज की आन्तरिक छिन्न भिन्नता का संकट" (पृ० ८)। गोस्वामी तुलसीदास ने इन संकटों को देख लिया, उन्होंने "अपनी आवाज उठाई और घोषणा की कि छुटकारा मिलेगा, तथा यह भी कहा कि भयंकर बर्बर शासकों से देश तथा उसकी संस्कृति की (युद्ध के समय) रक्षा देशवासियों की एकता में ढूँढनी पड़ेगी" (पृ० १०)। 'तुलसीकृत रामायण—ऐतिहासिक स्तम्भ के रूप में' नामक नवें अध्याय में (पृ० १३६-४०) लेखक फिर मुसलमान शासकों के प्रति तुलसी के भावों का उल्लेख करते हैं। अब तक अनुसन्धानकर्ता यह मानते चले आ रहे हैं कि "तुलसी वाल्मीकि के संस्कृत-काव्य का अनुसरण करते हुए पौराणिक नायक तथा धूमिल अतीत की कल्पनात्मक घटनाओं का वर्णन करते हैं। हमारे समय तक, एक भी अनुसन्धानकर्ता ने, आवश्यक रूप में तुलसीदास के काव्य के अपने युग से सम्बन्ध के प्रश्न पर विचार नहीं किया है। इस तथ्य की निरीक्षण बहुत कठिन नहीं है कि कल्पनात्मक नायकों के वेश और क्रिया कलाप में तुलसीदास तत्कालीन भारत का चित्रण अत्यन्त स्पष्ट कर रहे हैं। विशेष स्पष्टता से तुलसीदास मुसलमान शासकों की ओर से हिन्दुओं पर किये गए अत्याचार और हिन्दू समाज की विच्छिन्नता का वर्णन करते हैं। दानवों के शासक राजा रावण में इस देश को सताते और नष्ट करते हुए, भारत के मुसलमान शासकों को पहचानना कठिन नहीं है।"[2] प्रमाणस्वरूप बालकाण्ड से रावण चरित की कुछ पंक्तियाँ, अयोध्याकाण्ड से भरत की एक उक्ति ("बेचहिं बेद धरम दुहि लेहीं") तथा उत्तरकाण्ड से कलियुग का विस्तृत वर्णन उद्धृत किया गया है। कलियुग के वर्णन पर तुलसी के समय की परिस्थितियों का प्रभाव स्पष्ट है, उसे प्रायः सब समालोचक मानते ही हैं। लेकिन रावण में मुसलमान शासकों को पहचानना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

'तुलसीदास और उनकी काव्यमयी प्रतिभा' शीर्षक द्वितीय अध्याय में (पृ० ६-१६) लेखक ने तुलसी की जीवनी विषयक सामग्री के अभाव की ओर निर्देश किया है तथा उनकी

१ देखिए भूमिका, पृ० ६६।

२ पृ० १३६-१३७।

बारह रचनाओं का उल्लेख किया है। जीवनी के सम्बन्ध में प्रो० वरान्नीकोव तुलसी की रचनाओं का अध्ययन सबसे आवश्यक समझते हैं वे मानस का यह उद्धरण देकर—

सो मैं कुमति कहउँ केहि भाँति। अजु सुराजु कि गाडर ताँती॥

कबिहि अरथ आखर बलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा॥

कहते हैं कि "अपने विषय में इससे अधिक ठत (Concrete) उद्गार हमें तुलसीदास में नहीं मिलते (पृ० १४)। इस उक्ति से स्पष्ट है कि लेखक ने 'विनयपत्रिका' अथवा 'कवितावली' का अध्ययन नहीं किया है।

तृतीय अध्याय में 'तुलसीदास की रामायण की कथावस्तु' का संक्षिप्त वर्णन किया गया है (पृ० १७ ४२)। इसमें भी कई अशुद्धियाँ हैं। उदाहरणार्थ—चित्रकूट पर राम का निवास जानकर "आकाशगामी देवता जंगली जातियाँ, कोल और किरात का रूप धारण करके जंगल के किनारों पर बस गए" (पृ० २५)।

'तुलसीदास की रामायण की प्रबन्धात्मकता' नामक चौथा अध्याय सबसे विस्तृत है (पृ० ४३ ६२)। इसमें प्रोफेसर वरान्नीकोव ने पाँच कारणों का विश्लेषण किया है, जिनका प्रभाव मानस की प्रबन्ध योजना पर पड़ा है, अर्थात् (१) पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा (२) कवि के साम्प्रदायिक और दार्शनिक सिद्धान्त, (३) भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा (४) विभिन्न छन्दों का तथा (५) तीन साहित्यिक भाषाओं का प्रयोग। पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्परा का विश्लेषण 'मानस' तथा 'वाल्मीकि रामायण' मात्र की तुलना पर निर्भर है। कहीं भी 'अध्यात्म रामायण' अथवा मानस के अन्य आधार ग्रन्थों का अध्ययन तो दूर, उल्लेख भी नहीं मिलता। उदाहरण स्वरूप अहल्या की कथा दी गई है, जिसकी ओर तुलसीदास संकेत मात्र करते हैं, लेकिन जिसे वाल्मीकि ने विस्तार से वर्णित किया है। लेखक की धारणा है कि वाल्मीकि के अनुसार अहल्या गौतम के शाप के कारण १०,००० वर्ष तक पत्थर बन गई थी, सच बात यह है कि 'वाल्मीकि रामायण' में अहल्या के पत्थर बन जाने का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। कवि के साम्प्रदायिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में लेखक का इतना ही कहना है कि वाल्मीकि के नायक दशरथ के राजकुमार राम अब परब्रह्म के अवतार माने जाते हैं। बालकाण्ड का प्रायः आधा भाग रामचरित (जन्म, बालक्रीडा, विवाह) से सम्बन्ध रखता है, फिर कहा जाता है—"पहले काण्ड का केवल थोड़ा ही अंश राम से सम्बद्ध है और तीन चौपाई में राम के दार्शनिक स्वरूप, नैतिक समस्याएँ और राम के अवतार के तत्त्व की निश्चितता का निरूपण है" (दे० पृ० ५७)। भारतीय काव्यशास्त्र के (विशेषकर महाकाव्य के लक्षण सम्बन्धी) नियमों के पालन ने भी मानस की प्रबन्धात्मकता को प्रभावित किया है इसके सम्बन्ध में प्रो० वरान्नीकोव मानस के वर्णनों का, जिनमें राम का नखशिख प्रधान है, तथा उनके मुहावरों का उल्लेख करते हैं। इसके अनन्तर लेखक तुलसी द्वारा प्रयुक्त विभिन्न छन्दों का विश्लेषण करते हैं? वे क्रमशः चौपाई, दोहे, सोरठे और 'छन्द' का निरूपण करते हैं, 'छन्द' से इनका अभिप्राय हरिगीतिका से है (चवपैया और त्रिभंगी का उल्लेख नहीं मिलता)। दो दोहों के बीच में चौपाइयों की बदलती हुई संख्या के विषय में इनका विचार यह है—"चूँकि तुलसीदास की कविता के वर्तमान रूप में, महत्त्वपूर्ण परिमाण में वृद्धि की गई है, यह सम्भव है कि कतिपय स्थिति में यह घटी हुई चौपाइयाँ बाद में प्रक्षिप्त प्रमाणित हो सकें" (पृ० ६८) दोहे (सोरठे), और चौपाई के

पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में इनकी धारणा यह है कि दोहे (सोरठे) के द्वारा "सामान्यतया कहानी आरम्भ की जाती है या चार या अधिक चौपाइयों से निसृत निष्कर्ष व्यक्त किया जाता है। वह निष्कर्ष कहानी को और आगे प्रेरित करता है, जो चौपाइयों के रूप में चलता है" (पृ० ६६)। 'छन्द' (अर्थात् हरिगीतिका) के विषय में लेखक का विचार इस प्रकार है—"छन्द में कथा का प्रयोग कभी नहीं हुआ। यह काव्य के कथांशों के बीच मात्रातिरेक से पूर्ण निःश्वास के लिए पुनरावृत्ति करता हुआ प्रविष्ट होता है और पूर्ववर्ती चौपाइयों में जो कुछ कहा गया है उसे विशेष प्रकार से साथ लेकर चलता है। इसका प्रयोग अन्य छन्दों के साथ नियमित रूप से नहीं हुआ है" (पृ० ७०)। मानस के पाठक जानते ही होंगे कि अयोध्याकाण्ड में हरिगीतिका का प्रयोग नियमित रूप से ही हुआ है और कि बालकाण्ड उत्तरार्द्ध के हरिगीतिका छन्दों में पुनरावृत्ति मात्र नहीं हुई है, इनमें कथानक को भी आगे बढ़ाया गया है। लेखक यति भंग की निम्न लिखित परिभाषा देते हैं—"पंक्ति के भाव के कुछ अंश का दूसरी पंक्ति में मौलिक रचनान्तरण करना" (पृ०७२)। उदाहरणार्थ

तब रघुनाथ लङ्केस क सीस भुजा सर चाप।
काटे भये बहुत बढ़ जिमि तीरथ कर पाप॥

इस प्रकार के स्थलों के विषय में लेखक समझते हैं कि प्रक्षेप की सम्भावना अधिक है। मानस की प्रबन्ध योजना पर प्रभाव डालने वाला अन्तिम कारण यह है कि मानस में तीन साहित्यिक भाषाओं का प्रयोग हुआ है, अर्थात् अवधी, ब्रज और संस्कृत। अन्तिम के विषय में लिखा है, "स्पष्टतया संस्कृत के प्रयोग का प्रधान उद्देश्य कविता को पूर्ववर्ती परम्परा से सम्बद्ध करना है" (पृ० ७४)। ब्रज का प्रयोग, लेखक के अनुसार, हरिगीतिका छन्दों में हुआ है। अवधी तथा ब्रज का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार समझाया गया है—"कवि अवधी में लिखे गए वस्तु विषय की पुनरावृत्ति और उस विकसित करता हुआ शैली की उच्च भव्यता की अभिव्यक्ति के लिए ब्रज का प्रयोग करता है" (पृ० ७६) और "ब्रज मन्दतापूर्ण पुनरावृत्ति का प्रयोग करती है और उच्च शैली की विशिष्टता को प्रदर्शित करता है" (पृ० ८०)। इसमें कोई संदेह नहीं है कि मानस की भाषा साहित्यिक अवधी है, वह बहुत से स्थलों पर संस्कृत गर्भित तथा ब्रज रंजित अवश्य है, किन्तु हरिगीतिका छन्दों में ब्रज के स्वतन्त्र प्रयोग के विषय में प्रो० वरान्निकोव का निष्कर्ष भ्रामक है। प्रस्तुत अध्याय के अन्त में मानस के प्रक्षेपों का पता लगाने के तीन उपाय बताए जाते हैं—(१) चूँकि तुलसीदास स्पष्टतया इंगित करते हैं और कई बार दोहराते हैं कि उनकी कविता राम की विख्यात कथा से भिन्न है, वह सोचा जा सकता है कि तुलसीदास की कविता की वाल्मीकि की कविता से समानता या ऐक्य का संकेत बाद की चीज है, जो कि उद्देश्य की निकटता से प्रदर्शित हुआ", (२) दो दोहों के बीच चौपाइयों की अधिक संख्या, (३) सुभाषित का प्रयोग "बहुत सी चौपाइयों के बाद इसके प्रयोग का तथ्य किसी त्रुटि की ओर संकेत देता है और पाठ के अनुचित दोष का संकेत दे सकता है, जो कि पाठ की प्रक्षिप्तता के फलस्वरूप घटित हुआ।" अन्तिम उपाय का कोई उदाहरण नहीं दिया गया है, प्रथम उपाय निराधार है तथा दूसरे उपाय के विषय में मेरा निवेदन यह है कि मानस में अर्द्धाली समूह इतना अनिश्चित है कि इसके आधार पर प्रक्षेपों का पता लगाना वैज्ञानिक नहीं होगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस अध्याय में एक ओर बहुत सी भ्रामक

धारणाओं का प्रतिपादन है और दूसरी ओर कथानक तथा प्रबन्धात्मकता का इतना विस्तृत विश्लेषण होने पर कहीं भी विभिन्न रचना। अथवा रचना क्रम की समस्याओं की ओर संकेत नहीं किया गया है।

'तुलसी का कविता का विशिष्ट स्वरूप' शीर्षक अध्याय में (पृ० ८८ १०१) लेखक ने रूसी पाठकों को भारतीय का य के प्रसिद्ध उपमानों का परिचय दिया है। अगले अध्याय में 'तुलसीदास क शाशानक विचार' प्रस्तुत किये गए हैं (पृ० १०४ १२०)। इसमें विशेषकर उन बातों का उल्लेख होता है, जो पाश्चात्य पाठकों के लिए नवीन हों—ब्रह्म, जीव और संसार का सम्बन्ध, अवतारवाद ज मान्तरवाद कर्मवाद भक्तिमार्ग। 'तुलसीदास के धार्मिक विचार' नामक अध्याय में (पृ० १२ १३०) लेखक ने मानस में उल्लिखित देवताओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—(१) वैदिक देव मण्डल के देवता—इन्द्र, अग्नि, यम, सूर, सरस्वती (२) ब्राह्मणत्व के युग के देवता—ब्रह्मा, विष्णु और शिव। इस सिलसिले में तुलसीदास के समन्वयवाद का उल्लेख हुआ है, अर्थात् इनका शैवों तथा वैष्णवों की उपासना म सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास। (३) परब्रह्म, जो राम के रूप में अवतार लेते हैं। 'तुलसीदास के सामाजिक एव नैतिक कथन' (पृ० १३१ १३५) शीर्षक आठवाँ अध्याय अत्यन्त संक्षिप्त है। इसमें तुलसी के समाज सम्बन्धी विचारों में विरोध दिखलाने का चेष्टा का गई है। एक भक्ति मार्ग म प्रेम का ही सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है और जाति भेद को मान्यता नहीं मिलती और दूसरा ओर बहुत से स्थलों पर वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन किया गया है। लेखक का अनुमान है—"सम्भवत उनको कट्टर परम्परागत आक्रमों उन ब्राह्मणों द्वारा बाद की जोडा हुई प्रतीत होती हैं, जो निस्स देह तुलसीदास की प्रभुता और लोकप्रियता के सहारे अपने को ऊँचा उठाने की चेष्टा कर रहे थे" (पृ० १३३)। वास्तव मे तुलसीदास के सामाजिक विचारों में कोई विरोध नहीं है। सब भक्ति के अधिकारी अवश्य हैं, लेकिन सब को अपने वर्ण का धर्माचरण करना चाहिए। वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन मानस में इतना व्यापक है कि उसे ब्राह्मणों द्वारा प्रक्षिप्त मानना क्लिष्ट कल्पना ही है। अन्तिम अध्याय, 'अनुवाद के स्वरूप के विषय में' (पृ० १४१ १४४), रूसी पाठकों के लिए ही है, इसमें अनुवाद-सम्बन्धी कठिनाइयों और विशेषताओं का उल्लेख किया गया है।

प्रो० वरान्निकोव की रचना की उपयु क्त त्रुटियों से विद्वान् अनुवादक अनभिज्ञ नहीं हैं। उन्होंने इनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना अनुचित समझकर यह अप्रिय काय समालोचकों के लिए छोड़ दिया है। अप्रिय होते हुए भी यह काय अत्यन्त आवश्यक ही है, क्योंकि उत्तर भारत के महत्तम कवि के विषय में भ्रामक धारणाओं को यथासम्भव रोकना ही चाहिए। अनुवादक ने अपनी विस्तृत भूमिका में कुछ अश तक मूल लेखक की त्रुटियों की पूर्ति की है तथा तुलसी सम्बन्धी अपने विचार भी प्रकट किये हैं। 'प्रेम रामायण' तथा 'गौतम चन्द्रिका' नामक पुस्तकों के विषय में, जिनकी हस्तलिपियाँ काशी में सुरक्षित हैं, अब कुछ नहीं कहा जा सकता। प्रामाणिक सिद्ध होने पर इन दोनों रचनाओं के सहारे तुलसी के सम्बन्ध में हमारी जानकारी बहुत बढ़ेगी (दे० भूमिका पृ० २६ ३२)। प्रस्तुत अनुवाद का परिशिष्ट 'गोस्वामी तुलसीदास और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में प्रमुख विदेशी विद्वानों के विचारों का साराश', अत्यन्त उपयोगी है। इसमें गार्सो द तासी, ग्रियर्सन, ग्रा स आदि विद्वानों के तुलसी

सम्बन्धी विचारों का हिन्दी में अनुवाद और संकलन किया गया है। इसके लिए अनुवादक विशेष रूप से बधाई के पात्र हैं। इस परिशिष्ट में मैक्फाई का अभाव खटकता है, आपने मानस पर २५४ पृष्ठ का ग्रन्थ लिखकर अंग्रेजी में तुलसीदास की लोकप्रिय रचना का सबसे विस्तृत विश्लेषण किया है। (दे० The Ramayan of Tulsidas, J M Macfie, Edinburgh, 1930)[1]

७

लक्ष्मीकान्त वर्मा

संत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा

१

परम्परागत उपन्यास शैली को लेकर बहुधा यह प्रश्न उठाया जाता है कि आधुनिक मानव जीवन की कथा को व्यक्त करने में वह उतना सफल माध्यम नहीं सिद्ध हो रही है जितना कि उसे होना चाहिए। काफी सीमा तक इस कथन में एक सूक्ष्म सत्य भी निहित है, क्योंकि उपन्यास के तथाकथित माध्यम और उसकी रूढिग्रस्त शैली आज के जीवन की अनेक मानसिक स्थितियों और विभिन्न परिस्थितियों को सम्पूर्ण समग्रता के साथ ग्रहण करने में असमर्थ ही नहीं, अनुभव शून्य भी है। इसके कई कारण हैं—(१) सर्वप्रथम तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि आज उपन्यास न तो केवल मनोरंजन की वस्तु रह गया है और न ही वह केवल कथा प्रवाह का माध्यम मात्र रहकर जीवित रह सकता है। (२) दूसरा कारण, जिसे स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए, आज के मानव जीवन की कथा यथार्थ से पृथक् केवल कल्पना के आधार पर नहीं व्यक्त की जा सकती। (३) आज मानव जीवन की निलिप्त तटस्थता का भी कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि आज के सापेक्ष मूल्यों की जड़ में व्यक्ति आचरण का आग्रह है और इन आग्रहों के बीच ही जीवन का नया दृष्टिकोण नित्य प्रति विकसित होता जा रहा है। (४) यह मानना होगा कि आज की जीवन परिधि अपेक्षाकृत पूर्व जीवन वृत्त से बहुत बड़ी होने के साथ अधिक व्यक्तिवादी भी हो गई है। किसी भी कथा के तन्त्र में व्यक्ति मर्यादा और समाज सत्य के परिप्रेक्षण सर्वथा नये आयामों और सन्दर्भों की माँग कर रहे हैं। (५) मानव मनोविज्ञान की जटिलता भी आज की कथा शैली की संवेदना को प्रभावित करती है। परम्परागत शैली की सीमाएँ हैं और इन सीमाओं के भीतर आज की मानव गाथा का विस्तार होना कठिन है।

अस्तु, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का नवीन उपन्यास आधुनिकतम जीवन की जटिलताओं को

1 मूल लेखक—स्व० श्री० ए० पी० बरान्नीकोव। अनुवादक—डॉ० केसरीनारायण शुक्ल। प्रकाशक—विद्या मन्दिर लखनऊ।

आज से २० साल की पृष्ठभूमि में रखकर परम्परागत उपन्यास शैली के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास है। यही कारण है कि आधुनिक जीवन की समस्त समस्याएँ, मनोग्रन्थियाँ और अनुभूतियाँ केवल विकृति के रूप में ही व्यक्त होकर उभरी हैं, उनमें वह औचित्य नहीं आ सका है जो किसी भी सफल उपन्यास के लिए अपेक्षित है। इससे भी अधिक विचित्र बात इस उपन्यास में यह है कि अनेक भाव स्थल इस सम्पूर्ण कृति में ऐसे हैं जो केवल शिल्पगत दुरूहता के कारण पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाए हैं। पात्रों के विश्लेषण में भी स्वयं लेखक का वक्तव्य प्रधान है। पात्रों का कार्य व्यवहार और उनकी स्वाभाविकता की अपेक्षा लेखक का मोह अधिक श्रेयस्कर समझा गया है। ऐसा लगता है जैसे अश्कजी अपने पात्रों को इतना अधिक नियन्त्रित और अनुशासित रखना चाहते हैं कि उनका प्रत्येक आचरण स्वाभाविक भले ही न हो, उनके मनोनुकूल होना स्वाभाविकता से भी अधिक श्रेयस्कर है। आधुनिक उपन्यास शैली को देखते हुए उनकी यह रचना प्रक्रिया खरी नहीं उतरती और तब ऐसी परिस्थिति में केवल ऐसे 'हिप्नाटिक' पात्र बनकर रह जाते हैं जिनमें रीढ़ की हड्डी तक उधार ली हुई मालूम पड़ती है, जैसे उनका स्वयं का अस्तित्व कुछ है ही नहीं।

७

एन्थानी ट्रालोपो ने इन्हीं परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए एक स्थान पर लिखा है

The novelist s characters must be with him as he lies down to sleep and as he wakes from his dreams He must learn to hate and to love them He must argue with them and even submit with them

किन्तु अश्कजी ने इसके विपरीत पात्रों के साथ जीवन चेतना का ससर्ग स्थापित करने की अपेक्षा 'हिप्नाटिज्म' की शैली का प्रयोग किया है। जहाँ एक अच्छे उपन्यास में लेखक और पात्रों का अनुभूत्यात्मक सम्पर्क इसमें नई स्फूर्ति पैदा कर देता है वहाँ अश्कजी का उपन्यास इस अनुभूत्यात्मक सम्पर्क के अभाव में मात्र चेतनाशून्य स्थिति पैदा करके पात्रों को काठ के पुतले सा नचाता हुआ प्रतीत होता है। 'बड़ी बड़ी आँखें' का प्रत्येक पात्र अपनी स्वाभाविक मन स्थिति में नहीं रह पाता। उसके ऊपर एक ओर 'देवा जी' का आतंक है और दूसरी ओर लेखक का अनावश्यक हस्तक्षेप। कहीं कहीं तो ऐसा लगता है कि ये पात्र अपनी अनुभूत स्थिति से विस्थापित तो हैं ही, साथ ही लेखक की पैनी दृष्टि से इतने अधिक बँधे हैं कि उनकी निष्कृति ही नहीं हो पाती। उपन्यास के सभी पात्र स्वयं अपनी प्रकृति से तटस्थता निभाने में निपुण हैं। न तो उनमें घुल मिलकर घटना विकसित करने का प्रयास है, न उन पात्रों को इसकी स्वतन्त्रता ही प्राप्त है।

अस्तु 'बड़ी बड़ी आँखें' केवल सत्रस्त पात्रों की घटनाहीन कथा बनकर रह जाता है। समूह का समूह दबी हुई इच्छाओं (repressed wishes) का एक विकृत दल है, जो देवाजी जैसे आदर्शवादी नेता के खोखलेपन को चित्रित करने के लिए मोम के पुतले सा कोमल और कठोर काठ की मोहरों सा निर्जीव है। यदि देवाजी का खोखला आदर्शवाद इस आन्तरिक मानसिक अदम्यता के कारण यथार्थ स्वीकार करने में असफल रहा है तो दूसरी ओर वह यथार्थ भी उतने सशक्त स्वरों में नहीं उभर सका है जितना कि उपन्यास के विस्तार को देखते

हुए आवश्यक है। ऐसा नहीं है कि उपन्यास में तीव्रतम अनुभूतियों की अवहेलना की गई हो, किन्तु यह सत्य है कि केवल लेखक के अनावश्यक हस्तक्षेप के कारण वे नहीं उभर सकीं। शैलीगत रूढ़ियों और उनकी दुरूहता के कारण माध्यम यथार्थ का नहीं वहन कर पाया है।[१]

इस उपन्यास की मन स्थिति यह है कि सारी कथा परोक्ष की घटना बनकर सामने प्रस्तुत होती है। यह परोक्ष ही आतंकित वातावरण को पैदा करता है। प्राय सभी पात्र एक दूसरे को शंकित दृष्टि से देखते हैं। देवाजी अपनी धर्मपत्नी से आतंकित हैं, मथावट साहब देवाजी की सौम्यता से आतंकित है, शानीजी स्वयं अपनी आदर्शवादिता के मिथ्या बोझ से सन्त्रस्त हैं, तीरथराम अपनी मूढ़ता से पीड़ित है, संगीत अपने वैचारिक भ्रम से आक्रान्त है, वाणी अपने मानसिक दबावों के कारण क्षुब्ध है, नवा अपने संस्कारों से प्रताड़ित है, रामलाल एक पछतावे के साथ समझौता करता चल रहा है। सारा आश्रम विकल मन स्थिति वाले व्यक्तियों का ऐसा विचित्र संग्रहालय है कि स्वाभाविकता और औचित्य दोनों को ठेस पहुँचती है।

यद्यपि यह सही है कि आज के सामाजिक गठन में व्यक्ति का स्वातन्त्र्य एक बहुत बड़ी समस्या बनकर उपस्थित हो गया है, फिर भी इस उपन्यास का एक भी पात्र न तो आदर्शवादी जीवन के प्रति श्रद्धा रखता हुआ दिखलाई पड़ता है और न इस सामाजिक बाह्यारोपण के प्रति विद्रोह ही कर पाता है। कोई भी निजी प्रतिज्ञा (Self commitment) जीवन के सम्पूर्ण अस्तित्व से बड़ी नहीं हो सकती, किन्तु इस उपन्यास में जिन सम्भावनाओं का आभास मिलता है, वे विचित्र हैं।

(१) क्या कोई भी सामाजिक व्यवस्था समूची मानव आस्था को इस प्रकार विकीर्ण कर सकती है कि उस वातावरण में कोई भी ऐसा पात्र न विकसित हो जो समस्त दुराग्रहों के प्रति विद्रोह कर सके या उनके विरोध में नये उभरते हुए जीवन सत्यों की सबलता या सफलता के साथ प्रस्तुत कर सके? (२) यदि यह मान भी लिया जाय कि अश्कजी का विश्वास 'कम्यून' या आश्रम के जीवन के प्रति नहीं है तो क्या संगीत जैसे नायक का चुपचाप समस्त कम्यून आदर्श को त्यागकर चोरी से भाग जाना उचित है? यदि है तो इससे 'कम्यून' की रूढ़ियों में कमी कहाँ आती है। (३) कम्यून का रेजीमेण्टेड जीवन क्या इतना कठोर सत्य है कि उसके विरोध में कुछ भी कहना असम्भव है? संगीत का जो नायक है, जो शिक्षित और जागरूक सदस्य है उसका इन थोथे विचारों के विरुद्ध आत्म समर्पण यह सिद्ध करता है कि कोई भी व्यवस्था—चाहे वह आश्रम के रूप में हो या कम्यून के—व्यक्ति स्वातन्त्र्य की हत्या करती है। (४) एक सत्य, जो समस्त उपन्यास के कथा तत्त्व से स्वत विकसित होता है वह यह है कि इस प्रकार के 'कम्यून' अथवा आश्रम में फासिस्टवादी अधिनायकत्व का प्रधान स्थान होता है, जो मनुष्य से उसकी समस्त विवेक शक्ति और चिन्तन शक्ति को छीन लेता है, साथ ही उसे आत्मा के विरुद्ध समझौता करने के लिए बाध्य भी करता है। (५) फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रकार का जीवन उन घृणित परिणामों में उपजता है तो फिर संगीत और वाणी

१ 'The desire for worthiness in the artists' mind depends upon the conception of ideal forms which if not attainable are at least conceivable The belief in a conceivable perfection of expression is at the very root of all artistic effort No true artist is ever long satisfied with his own attainments"

—H Caudwell

जैसे पात्रा के सामने तीरथराम जैसे निम्न वर्ग के व्यक्ति का पराजित होना आवश्यक हो जाता है और यदि वह इस पराजय को स्वीकार कर लेते हैं तो फिर उस व्यवस्था को खण्डित करने की शक्ति किसमें आयेगी ?

बात जो भी हो, समस्त उपन्यास को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि लेखक व्यक्ति स्वातन्त्र्य के पक्ष में है। आश्रम और देवाजी सामूहिक जीवन के खोखले आदर्शवाद के प्रतीक हैं। व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता इस प्रकार के रेजीमेण्टेड जीवन से पृथक् होकर ही रक्षित रख सकता है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि लेखक की समस्त सहानुभूति बाह्यारोपित सामाजिक सत्य पर नहीं है, जिसमें कुण्ठाओं और कुत्सित मनोग्रन्थियों का बाहुल्य है। अश्कजी के उपन्यास के ये निष्कर्ष व्यापक मानव जीवन की व्यक्ति निष्ठा को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हैं। आज के मनुष्य को किसी भी आदर्शवाद के माध्यम से (चाहे वह गाँधीवाद हो या कम्यूनिज्म, चाहे वह देवाजी का आश्रम हो या कोई राजनीतिक पार्टी का कम्यून) रेजीमेण्टेड जीवन प्रणाली की घुटन में कैद करके नहीं रखा जा सकता। हो सकता है कि अश्कजी का नायक संगीत चुपके से उस व्यवस्था से फरार होकर मुक्त हो जाने में ही सफलता मान सके, किन्तु अन्य व्यापक जीवन का प्रतिनिधि व्यक्ति उस रेजिमेण्टेड जीवन के प्रति चोट करने में नहीं चूकेगा और उसका चोट करना शायद अधिक यथार्थ भी होगा।

३

साधारण मनोवैज्ञानिक आधार पर 'बड़ी बड़ी आँखें' दबी, कुण्ठाग्रस्त मन स्थितियों वाले पात्रों का एक समूह है जो पुरुषत्वहीन उमस में घुट घुटकर विकसित होता है और वह उमस और घुटन ऐसी है कि उसके शिकंजे में प्रायः सभी पात्र अर्द्धविक्षिप्त मन स्थिति में ऐंठ ऐंठकर रह गए हैं। चाहे वह उपन्यास का नायक संगीत हो, चाहे वह वाणी हो, चाहे रामतीर्थ हो या देवा जी की धर्मपत्नी हो, सभी विक्षिप्त हैं। देवाजी की पत्नी का व्यक्तित्व तो "कामरू कमच्छा" के देश की उस जादूगरनी सा है जो प्रत्येक पात्र को भेड़ या बकरी बनाकर रखने में ही रस लेता है और शेष पात्रों की कृत्रिम हलचल ठीक उसी प्रकार लगती है जैसे सब के सब एक ठहराव में उगने हुए कीटाणु हैं, जो केवल अपना जीवन परिचय मात्र पानी की सतह पर कृत्रिम संकेतों द्वारा देते हैं। जो इनसे पृथक् हैं वे केवल किन्नर दासों की भाँति केवल परास्त मन की दबी दबी अन्तर्कुण्ठा प्रकट करते हैं। वे न तो जीवन की मूल प्रकृति को अपना पाते हैं न उसकी विकृतियों में रस ही ले पाते हैं। सारा उपन्यास जिस विरोधाभास में पनपता है उसमें वे पट के बल सरकने वाले जीव लगते हैं—लगते हैं इसलिए कि यदि वे सफलता के साथ ऐसे चित्रित किये गए होते तो भी कला की दृष्टि से उसमें कोई आपत्ति नहीं होती, किन्तु खेद तो इस बात का है कि वे वैसे भी नहीं हो पाए हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन का अभाव माध्यम को शिथिल और प्रभावणीयता की दृष्टि से कमजोर बना देता है।

संगीत और वाणी का मौन प्रेम भी इसी प्रकार का है जिसमें स्वास्थ्य की अपेक्षा रुग्ण मानसिक कोढ़ अधिक है। विरोधाभास यह है कि संगीत प्रौढ़ नायक है, जिसकी पत्नी मर चुकी

१ You try to replace quality by quantity and forget that all quantities raised to an infinite power are the same By pounding on the keys with a hammer you merely break the string —Middleton Murry

है और वाणी का अद्भुत कुँआरापन—जिसे संगीत न ही बालिका के रूप में सर्वप्रथम स्वीकार करता है—उपन्यास के स्तर को स्वाभाविकता नहीं दे पाते। संगीत भी उपन्यास के अन्त तक पूरा तीर्थराम का प्रतिरूप बन जाता है। यह भी एक मनोवैज्ञानिक सत्य होता यदि संगीत के व्यक्तित्व को लेखक के पूर्वाग्रहों से मुक्ति मिल पाती। लेकिन ऐसा न होकर वह एक असंतुलित यौन जिज्ञासा से प्रताडित प्रेतात्मा बनकर ही रह गया है। ठीक इसी प्रकार का व्यवहार वाणी का चरित्र है। वाणी का समूचा व्यक्तित्व उस रेजिमेण्टेड कम्यून टाइप जीवन के शिकंजे में इतना फंसा हुआ है कि उसकी निष्प्राण बड़ी बड़ी आँखें ही उपन्यास में आ पाई हैं उसका व्यक्तित्व नहीं। कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि वाणी संगीत के जीवन में स्वतः अपनी इच्छा शक्ति से प्रवेश करती है किन्तु उसका समूचा व्यक्तित्व अनावश्यक सीमाओं में केवल समझौता बनकर रह गया है। उपन्यास का हल्का रोमान्स आश्रम के विवेचन से आगे नहीं बढ़ पाए। यदि यह उस रेजिमेण्टेड जीवन का परिणाम होता तो भी उचित होता। किन्तु ऐसा न होकर वह समूचे उपन्यास के ढाँचे के दोष के कारण हुआ है इसलिए यह मनोवैज्ञानिक कृत्रिमता भी विचित्र लगती है।

देवा जी जैसे पात्र आज हमारे समाज में बहुत मिल जायेंगे किन्तु उपन्यास में देवा जी का व्यक्तित्व भी उन समस्त सम्भावनाओं के साथ नहीं प्रस्तुत हो सका है। जैसा कि स्पष्ट है उसका एक मात्र कारण यह है कि क्या देवा जी और क्या उपन्यास का कोई और पात्र सब किसी जादूगर की झोली में बन्द खिलौने के समान हैं जिनका स्वयं का कुछ अस्तित्व ही नहीं है, वे केवल प्रदर्शित किये जाते हैं स्वयं प्रदर्शन नहीं करते। सबसे बड़ी बात है कि लगभग दो ढाई सौ[१] पृष्ठों के इस उपन्यास में केवल एक छोटी सी घटना गुलाम नबी को लेकर घटती है बाकी सारी कथा वर्णनात्मक भावात्मक उपज है। वक्तव्य में भी कोई रस नहीं रह जाता, क्योंकि परिस्थितियों का संघर्ष और उत्सर्ग, उसकी उलझन और उलझनों में व्यक्तित्व को अपना पार्ट निभाने का कोई अवसर ही नहीं आता। कुछ पात्र तो ऐसे हैं कि बिना उनके कथा की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता जैसे भवानी शाह, न दलाल या कुलबीरसिंह इत्यादि।

कुछ पात्र तो अर्द्धविकसित से केवल मूक छाया की भाँति उपन्यास में आते हैं। जिनका न तो कोई महत्त्व है और न कोई आधार प्रकार। उपन्यास या नाटक में ऐसे पात्रों का क्षणिक प्रवेश निषिद्ध नहीं है किन्तु जब कभी ऐसे पात्र लाए जाते हैं तो जिस क्षण की पूर्ति के लिए वे प्रस्तुत होते हैं उस क्षण के वे जीवन्त तत्त्व होते हैं और अपने उस क्षणिक जीवन काल में अपना एक अद्भुत प्रभाव भी छोड़ जाते हैं। 'बड़ी बड़ी आँखें' के पात्र इस प्रौढ़ता के साथ नहीं आते। परिणामस्वरूप वे महत्त्वहीन पैराशाइट के रूप में केवल फेन की तरह उपजते हैं और मिट जाते हैं।

वाणी और संगीत को जिस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक भाव स्तर पर 'अरूप' की विकासत करना चाहते थे उसमें भी सफलता नहीं मिल सकी है। दूसरा एक मात्र कारण यह है कि सहानुभूति और प्रेम के भाव स्तर में जो मूल अन्तर है उसको जाने बिना ही इन पात्रों का चित्रण किया गया है। वास्तव में सहानुभूतिपरक रागात्मकता (Sympathetic feeling) और प्रेम भावना

[१] 'What is making his works seem old fashioned is precisely his alure of truth to detail' —Delocroix

(Love feeling) में बग बाराक अन्तर है। वाणी का तथाकथित प्रेम केवल सहानुभूतिपरक रागात्मकता की सीमा तक विकसित हो पाता है। इन दोनों भाव स्तरों को लेकर भी अच्छा ट्रेजेग लिखी जा सकता है, किन्तु इन दोनों भाव स्तरों को एक दूसरे में मिला देने से और विरक स्थापित न कर पाने से उप यास सवथा कमजोर हो गया है।

यहाँ पर एक बात कह देना और भी आवश्यक है कि निराशा और ट्र ज्ञान में वही अन्तर है जो Frustration और Tragedy में है। तीरथराम निराश और पराजित पात्र हैं। सगीत केवल अपनी दु खद मन स्थिति के नाते विषादमय है किन्तु उपन्यास क अ त तक पहुँचते पहुँचते इन दोनों पात्रों का आचार एक प्रकार सा हो जाता है। तारथराम की तरह सगीत भी वाणी को देखकर घबरा जाता है। वाणी की सारी सक्रियता और सम्भावना को सगीत केवल आग्रह का आट में उपेक्षित और तिरस्कृत करके वास्तविक वस्तुस्थिति में वहा कर बैठता है जो तीरथराम करता है। एक दूसरा दृष्टि से सगात पु रुषहीन नायक की भाँति भाग जाता है। वह परिस्थितिया का सामना करने के बजाय उनसे घबराकर निकल जाना हा श्रेयस्कर समझता है। ऐसा इसलिए हो सका है कि सगात और तारथराम के संस्कारों का आत्मम्थन स्वय लेखक को नहीं हो पाया है। यही कारण है कि उपन्यास मानस्तर पर रूढ़िग्रस्त परम्परा के विरुद्ध विद्रोहात्मक भावना प्रस्तुत करने क बजाय निराशा (Frustration) ही स्थापित कर पाता है।

टैबूज और पूवाग्रहों को मखौल उड़ाने क बजाय, या उनको तोडकर नये स्वच्छ और सुन्दर विधान को विकसित करने क बजाय, उपन्यास में उनका समथन और उनका अपूव शक्ति के सामने पराजय स्वीकार करने की भावना अधिक सबल रूप से व्यक्त हुई है। सारा उपन्यास इन्हीं टैबूज क वातावरण में लिपटा हुआ है। वाणी क्रिश्चेन और डाई ग हाल क माध्यम से अपना प्रणय विकसित करना चाहता है, पिछले प्रेमियों क समान किचन स लगे हुए टब म जूठे बरतनों को रखते समय केवल मौन आँखों के सकत स उभरा हुआ अनुराग इतनी बडी कथा का सूत्रपात करता है। इन्हीं टैबूज का काम्प्लेक्स तीरथराम को भी है जो अद्ध विक्षिप्त उद्दण्डता का प्रतीक बना फिरता है। ज्ञाना जी और स्वय देवाजा का टैबूज स सत्रस्त व्यवहार करना ता उपयुक्त है ही। एसा स्थिति में हुआ यह है कि उप यास का कथानक भी घुटकर रह गया है। इसके बदले होना यह चाहिए था कि इन टैबूज और पूवाग्रहों का असमथता साधारण जीवन क स्वस्थ व्यवहार के समक्ष उभरकर व्यक्त होती। इस दृष्टिकोण से एक बार फिर यह कहना पडता है कि माध्यम के शिल्प का चुनाव (Choice of medium) यदि व्यग्य या सीधा सादा वणन होता तो शायद अधिक सफल होता।

यह तो हुई उपन्यास का मनोवैज्ञानिक असमथता। परिप्रेक्षण एव दृष्टिकोण की दृष्टि से भी इस उप यास को देखना आवश्यक है, क्योंकि शिल्पगत एव कथा के मनोवैज्ञानिक विकास क अभाव में यदि मात्र दृष्टिकोण या परिप्रेक्षण (Perspective) की नवीनता उसका महत्त्व या पक्ता भी किसी उन्नत मानव मूल्य से सम्बन्धित हो तो भी रचना का महत्त्व बढ़ जाता है। इस दिशा में भी हमें उपन्यास म विशेष नवीनता नहीं दिखलाई पडता। एक ओर तो इसका केवल इतना लगता है कि उसम सीमित परिस्थितियों क वातावरण में और कथानक के चयन में इस बात का कम सम्भावना हो सकी है। इसके साथ यह सम्भावना नष्ट भी हुई है।

किंतु परोक्ष रूप से व्यक्ति स्वातन्त्र्य और समूह निर्देश का संघर्ष इसमें अधिक उभर-कर आया है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह उपन्यास किसी भी प्रकार के रेजीमेण्टेड जीवन की असफलता सिद्ध करने का प्रयास है। 'अश्क' जी आज के इस युग के इस ज्वलन्त प्रश्न से अपने को नहीं बचा पाए हैं। निश्चय ही कथानक के लिए चुना गया स्थल कोई राजनीतिक कम्यून नहीं है फिर भी देवा जी का आश्रम मूल रूप में कम्यून के आधार पर ही निर्मित हुआ है और यह कई ऐसे प्रश्न उठाता है कि जिनका सम्बन्ध कम्यून के बाह्यारोपित मतवाद और व्यक्ति के व्यक्ति स्वातन्त्र्य से है। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य इस बाह्यारोपित समूह चेतना की अपेक्षा व्यक्ति विवेक को अधिक मूल्यवान मानता है और इस बात की प्रेरणा देता है कि इन थोथे आदर्शों के माध्यम से जीवन का सत्य नहीं देखा जा सकता, व्यक्ति की आत्मनिष्ठा और उसके स्वत्व को मिटाकर कोई भी आस्थावाद स्वस्थ रूप से नहीं विकसित हो सकता। केवल इस तथ्य का समर्थन जिस रूप से उपन्यास में विकसित हुआ है वह आधुनिकतम मूल्यों को उभारकर रखता है। यद्यपि सक्रिय रूप से लेखक उस व्यक्तित मर्यादा का साथ नहीं दे पाया है फिर भी जिस अंश में और जिस मात्रा में यह सत्य उद्घाटित हुआ है वह प्रशंसनीय है।

एक समस्या और भी बहुत तीव्र ढंग से व्यक्त हुई है और वह यह कि क्या अभियोगी संस्कार से वर्ग विशेष मुक्त हो सकता है? गुलाम नबी का व्यक्तित्व यह प्रश्न प्रस्तुत करता है। संगीत इस प्रश्न को गलत सिद्ध करने का प्रयास करता है किंतु बड़े रेजिमेण्टेड अनुशासन में इस सामाजिक प्रश्न पर प्रयोग करने का अवसर नहीं मिल पाता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस प्रकार के आश्रम या कम्यून द्वारा मूलभूत समस्याओं का निराकरण करना लेखक सर्वथा असम्भव समझता है, क्योंकि इस प्रकार के जीवन में बनावट अधिक होती है, यथार्थ कम। दूसरे यह कि इस प्रकार के प्रत्येक जीवन में व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा अंश सामूहिक अनुशासन के नाम पर किसी व्यक्ति विशेष को समर्पित कर देना पड़ता है जिसका परिणाम यह होता है कि छोटे से छोटे मानवीय प्रश्न पर भी व्यक्ति को स्वतन्त्र रूप से विचार करने की आज्ञा पाना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो जाता है।

उपन्यास में गुलाम नबी का प्रवेश बहुत ही सफलता से उपन्यास को उभार दे सकता था। अन्त में चाहे संगीत को उस समस्या पर सफलता मिलती या न मिलती—ये प्रश्न दूसरे थे—किन्तु यह समस्या उपन्यास को एक गहराई प्रदान कर सकती थी किंतु शिल्पगत कमजोरी के कारण यह सफलतापूर्वक उभारा नहीं जा सका है और असाधारण घुटन के वातावरण में इस पात्र की अकाल मृत्यु भी हो जाती है। काश कि उपर्युक्त मनोग्रंथियों से यह उपन्यास मुक्त होता और तब इस पृष्ठभूमि से कथा का स्रोत स्वाभाविक रूप में विकसित होता।

अन्त में यह कहना आवश्यक है कि 'अश्क' जी का यह प्रयास सराहनीय है, क्योंकि इससे उनके विचार दर्शन पर काफी प्रकाश पड़ता है। वह व्यक्ति मर्यादा के समर्थक हैं, साथ ही वह उस रजीमेण्टेड जीवन के विरोधी भी हैं जिसमें झूठे आस्थावाद के नाम पर वास्तविक स्वतन्त्रता नष्ट होती है। इसके अतिरिक्त इस उपन्यास से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि अश्कजी सहकार च्युत गुलाम नबी जैसे मनोवैज्ञानिक ग्रंथियों वाले दयनीय वर्गों के प्रतिनिधि के प्रति उस प्रकार नहीं सोचते जिस प्रकार कि रेजिमेण्टेड जीवन विधान में सोचा जाता है। जहाँ तक इन

सामाजिक विकृतियों का प्रश्न है, लगता है अश्कजी क्रिश्चियन उदारता के समर्थक हैं।

हम आशा कर सकते हैं कि अश्कजी इस प्रकार की अन्य समस्याओं पर इतनी ही स्वच्छन्दता के साथ किन्तु अधिक और शिल्प का परिचय देते हुए अधिक मर्मस्पर्शी कृति देंगे। उपन्यास की छपाई और गेट-अप सुरुचिपूर्ण है। हिन्दी उपन्यासों की प्रकाशन विधि को देखते हुए यह पुस्तक सुन्दर ढंग से छापी गई है। इसके लिए 'नीलाभ प्रकाशन' की प्रशंसा की जानी चाहिए।[1]

मोहन राकेश

एण्टन चेखव : एक इंटरव्यू

अक्तूबर १८८८ में एलेक्सी प्लेश्चेयेव के नाम लिखे एक पत्र में चेखव ने लिखा था : "मेरे लिए संसार की सबसे पावन वस्तु है मनुष्य का शरीर, उसका स्वास्थ्य, उसकी प्रतिभा और बौद्धिक शक्ति, उसकी प्रेरणा, स्नेहशीलता और आचार। किसी भी रूप में व्यक्त होने वाले अत्याचार और झूठ और फरेब से पूरी आज़ादी।" राजेन्द्र यादव ने चेखव के इसी मानवतावादी व्यक्तित्व को उन्हीं के शब्दों के आश्रय से 'एण्टन चेखव : एक इंटरव्यू' में प्रस्तुत किया है।

इस पुस्तक के सम्बन्ध में पहली उल्लेखनीय बात इसका शिल्प है। प्रसिद्ध लेखकों और कलाकारों के साथ काल्पनिक इंटरव्यू लिखने की बात नई नहीं है, परन्तु इस इंटरव्यू में उस लेखक की सभी उक्तियाँ प्रामाणिक रूप से उसी की हों, यह प्रयत्न नया अवश्य है और राजेन्द्र यादव ने जिस सफलता के साथ उसका सम्पादन किया है उससे सचमुच कई जगह विस्मित होना पड़ता है। पुस्तक को वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने से पूर्व लेखक को चेखव के कितने पत्र और संस्मरण पढ़ने पड़े हैं, इसका अनुमान हर पृष्ठ के नीचे दिये गए पुस्तक-संकेतों को देखकर हो सकता है। कई जगह एक ही रौ में चेखव के मुँह से जो वाक्य कहलाये गए हैं, उन्हें तीन-तीन, चार-चार अलग स्रोतों से लेकर इकट्ठा किया गया है। इससे पुस्तक के वातावरण में कहीं अयथार्थता या बनावटीपन नहीं आया, यह इसकी बहुत बड़ी सफलता है। इसके अतिरिक्त मास्को के थियेटर देने वाले जाड़े में रुग्ण शय्या पर पड़े हुए उस महान् कथाकार से इंटरव्यू लेने जाने का दिन और समय भी लेखक ने वही रखा है जब डाक्टरों ने कुछ लोगों को उनसे मिलने की अनुमति दे दी थी। "आइये" कहकर उनके स्वागत के लिए चेखव के अपना निर्जीव हाथ बिस्तर से लेकर, चेखव के घर से निकलकर निरंजन के यह कहने तक कि "सुन्दर है जिन्दगी" कहीं यह आभास भी नहीं

---

[1] बड़ी बड़ी आँखें : लेखक—उपेन्द्रनाथ 'अश्क', प्रकाशक—नीलाभ प्रकाशन, प्रयाग।

होता कि यह इण्टरव्यू काल्पनिक है, सिवा उस स्थिति के जहाँ लेखक ने समसामयिक हिन्दी साहित्य की कुछ समस्याओं की ओर संकेत किया है। परन्तु पुस्तक का यह अंश और दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

वस्तुतः लेखक ने पुस्तक की रचना ही इस उद्देश्य को लेकर की है कि हिन्दी साहित्य के आज के गतिरोध के प्रश्न और नये लेखकों की वैयक्तिक समस्याओं को चेखव के जीवन के परिपार्श्व में रखकर यह दिखाया जा सके कि हमारी आज की परिस्थितियाँ हमारे लिए नई हों परन्तु इतिहास में उनकी पुनरावृत्ति होती रहती है कि हर काल के आलोचकों को समकालीन साहित्य में गतिरोध का आभास होता है, क्योंकि आलोचक को गतिरोध का नारा ही अपनी स्थिति के लिए सबसे सुविधाजनक प्रतीत होता है। चेखव के काल में भी गोलसेव और उनके साथियों का मत था कि नये लेखक कोई बड़ी चीज लिख ही नहीं सकते, क्योंकि उनमें विचारों की गहराई का अभाव है। और आज हिन्दी के कुछ आलोचकों की लेखनी से प्रायः पढ़ने को मिल जाता है कि आज के लेखकों को समाज के गहन अन्धकार में हाथ मारे नहीं सूझता और कि नई कहानी में उत्तरोत्तर कथा-तत्त्व का ह्रास हो रहा है। ये उद्घोषणाएँ, उन जंगल की आवाजों की तरह हैं जिन्हें जो सुनता है वही मारा जाता है। चेखव ने जिस जिन्दादिली के साथ आलोचकों की स्थिति का वर्णन किया है, उसे पढ़कर सचमुच कुहरा छँट जाता है और जोर से कहकहा लगाने को मन होता है।

'एण्टन चेखव : एक इण्टरव्यू' की रचना का एक और भी उद्देश्य है जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं। चेखव को उनके बाद के अधिकांश आलोचकों ने संसार का सबसे सफल कथा-शिल्पी माना है, हालाँकि स्वयं चेखव का अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक यही कहना रहा कि उन्होंने जो कुछ लिखा है सब कूड़ा है और वे अपने मन की एक भी चीज नहीं लिख पाए। रुचि के साथ चेखव की रचनाओं को पढ़ने वाले व्यक्ति की उनके जीवन और व्यक्तित्व में दिलचस्पी होना स्वाभाविक है। चेखव के व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने वाली अधिकांश सामग्री, जिसमें चेखव के पत्र, संस्मरण और चेखव के सम्बन्ध में दूसरों के लेख और संस्मरण सम्मिलित हैं, या तो अप्राप्य है और या साधारण पाठक की सम्पादन की सामर्थ्य से बाहर की चीज है। उस सारी सामग्री का निचोड़ इस पुस्तक में देकर राजेन्द्र यादव ने सामयिक और उपयोगी कार्य किया है।

पुस्तक के अन्त में इण्टरव्यू कला के सम्बन्ध में निरंजन के विचारों की छीछालेदर करते हुए लेखक ने हिन्दी के 'लोकप्रिय' इण्टरव्यू साहित्य पर अच्छा व्यंग्य किया है।

यदि इण्टरव्यू की समाप्ति एक सपना देखकर जागने के रूप में न की जाती तो अधिक अच्छा होता। इस तरह की काल्पनिक कृति का तर्कसंगत अवसान आवश्यक नहीं होता बल्कि उससे अयथार्थ का झटका लगने से अपेक्षित प्रभाव में कमी आ जाती है। लेखक को अपने पाठकों की सूझ-बूझ में अधिक विश्वास होना चाहिए।[1]

1 'एण्टन चेखव : एक इण्टरव्यू', लेखक—राजेन्द्र यादव, प्रकाशक—जयपुरिया प्रकाशन, कलकत्ता।

रामस्वरूप चतुर्वेदी

संस्कृति संघर्ष और वैयक्तिक सम्बन्ध

संस्कृति संघर्ष की मूल संवेदना पर आधारित कई प्रकार के कथानक हिन्दी कथा साहित्य में हमें मिलते हैं। जब से हिन्दी का अपना उपन्यास साहित्य विकसित हुआ है, लगभग तभी से या उसके कुछ पूर्व से हमें इस संस्कृति संघर्ष के संकेत मिलने लगते हैं। जैसा प्रायः सभी वर्ग के आलोचकों ने स्वीकार किया है, अपने आधुनिक रूप में उपन्यास का 'फॉर्म' हमें पाश्चम से मिला है। अंग्रेजी से इस साहित्यिक विधा ने बंगला साहित्य में प्रवेश पाया, और अनुवादों के माध्यम से यह रूप फिर बंगला से हिन्दी में आया। प्रायः उसी समय से और बहुत कुछ उसी प्रवेश द्वार से, आंग्ल तथा भारतीय संस्कृतियों का संघर्ष हिन्दी भाषा प्रदेश में भी अवतरित होता दिखाई देता है। हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' में इस संस्कृति संघर्ष के लक्षण विद्यमान हैं। सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों के इस तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी साहित्य में अपने जन्म के साथ साथ उपन्यास अपने लिए सामाजिक क्षेत्र में उपलब्ध सामग्री भी लेता आया। इसी बात को दूसरे ढंग से यों भी कहा जा सकता है कि अपने प्रारम्भिक काल में उपन्यास लेखन की एक प्रमुख प्रेरणा संस्कृति संघर्ष की यह सामाजिक शक्ति थी और सम्भवतः यह कहना तो कुछ न कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण अवश्य ही हो जायगा कि हिन्दी साहित्य में इस संस्कृति संघर्ष ने ही उपन्यास के माध्यम को जन्म दिया। जो भी हो, हिन्दी उपन्यास के इतिहास में इतना तो स्पष्ट ही दिखाई देता है कि अपने विकास के प्रथम युग में साहित्य की इस विधा ने अपने अधिकांश कथानक संस्कृति संघर्ष के परिवेश से लिए, यद्यपि आगे चलकर अन्यान्य प्रेरणाएँ भी पर्याप्त संख्या में मिलने लगीं और हिन्दी उपन्यास की यह प्रथम तथा मौलिक प्रेरणा कुछ क्षीण पड़ गई।

डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल का नवीनतम उपन्यास 'काले फूल का पौदा' इस संस्कृति संघर्ष की भावना से ही प्रेरित है। उनके पूर्व के उपन्यासकारों के समय तक सम्भवतः इस संघर्ष की प्रकृति बहुत स्पष्ट न हो सकी थी, परन्तु आधुनिकतम सन्दर्भ में डॉ० लाल ने सामाजिक इतिहास की इस विशेष परिस्थिति का गहरा तथा संवेदनशील विश्लेषण किया है और उसके सम्बन्ध में रचनात्मक सुझावों की ओर अपनी उत्कृष्ट कला के माध्यम से संकेत भी दिये हैं। लक्ष्मीनारायणलालजी का यह तीसरा उपन्यास है। इसके पूर्व के दो उपन्यास 'धरती की आँखें' तथा 'बया का घोंसला और साँप' हमारे ग्रामीण जीवन के चित्र थे, परन्तु इस तीसरी कथा कृति में उपन्यासकार ने हमारे नागरिक जीवन को उसकी सारी जटिलताओं के साथ अंकित किया है। कहा जा सकता है कि कला के इस परिवर्तित कार्य क्षेत्र ने उनके दृष्टिकोण को विशद किया है तथा उनकी संवेदनशीलता को और भी अधिक उभारा है। इस दृष्टि से उनके क्षेत्र का यह विकास अत्यन्त शुभ है।

आलोच्य उपन्यास को पढ़ते समय उसकी कई विशेषताएँ पाठक के समक्ष बहुत उभर कर आती हैं। 'काले फूल का पौदा' के कथानक के निर्वहन में सबसे बड़ा खतरा था 'प्रेजुडिस' का। जिस समस्या को लेकर उपन्यासकार चलता है उसके परस्पर कई विरोधी पक्ष हैं और प्रायः इन्हीं विरोधी पक्षों में से कोई न कोई पक्ष विशेष उपन्यासकार की सहानुभूति बड़े तीव्र ढंग

से अर्जित करने में समर्थ हो सकता था। इसके परिणामस्वरूप अन्य पक्षों के प्रति 'प्रेजुडिस' का दृष्टिकोण स्वत ही बन जाता। परन्तु पाठक के लिए यह सन्तोष तथा प्रसन्नता का विषय है कि उसके उपन्यासकार ने संस्कृति संघर्ष के इस कथानक में अपनी 'प्रेजुडिस' को कहीं उभरने नहीं दिया है। समस्या का विश्लेषण उसने बड़े ही मौलिक तथा निष्पक्ष परन्तु सहानुभूतिपूर्ण ढंग से किया है। दो संस्कृतियों के विरोध के फलस्वरूप हमारे सामाजिक जीवन में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया है, उसकी तह तक जाने का यत्न उपन्यासकार ने किया है, और इस यत्न में वह निस्सन्देह बहुत कुछ सफल भी हुआ है।

'काले फूल का पौदा' एक पति पत्नी की कथा है। पति है देवन—परम्परागत भारतीय परिवार का एक सदस्य, परन्तु पश्चिमी संस्कृति का प्रशंसक तथा अनुगामी। आधुनिक शिक्षा दीक्षा के ढंग ने उसके चरित्र को इतना दुर्बल बना दिया है कि चाहते हुए भी विदेशी संस्कृति के बहुत से आचरणों का वह मुक्तकण्ठ से विरोध नहीं कर पाता। पत्नी है गीता—भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित तथा अपनी प्रकृति में अत्यन्त ही सद्भावपूर्ण। पश्चिमी संस्कृति के आवश्यक तथा वाञ्छनीय प्रभावों के साथ वह अपने दृष्टिकोण में पूर्ण भारतीय है। मन से बहुत ही कोमल तथा सुकुमार—पत्नीत्व के भारतीय आदर्श के बहुत निकट। विदेशी संस्कृति के उन तत्वों के अतिरिक्त, जो उसके चरित्र में ऐतिहासिक तथा सामाजिक विकास क्रम के फलस्वरूप सहज भाव से आ गए हैं, वह किसी भी अन्य बाह्य तत्त्व को अपने पति की उत्कट इच्छा के बावजूद स्वीकार नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त एक ओर हैं गीता के माता पिता—रूढ़िमुक्त परन्तु परम्परा तथा मर्यादा का आदर करने वाले। दूसरी ओर है देवन का मित्र वर्मा, जो सतत 'नाइट क्लब' के वातावरण में रहता है, और उसी ढंग से आचरण करता है। फिर है एक बंगाली परिवार, देवन का पड़ोसी, जिसने पश्चिमी संस्कृति के तत्वों को अपने ऊपर से आरोपित किया है। इन्हीं चरित्रों के बीच का संस्कृति संघर्ष 'काले फूल का पौदा' की प्रमुख संवेदना है। देवन और गीता यद्यपि चरित्रों के टाइप हैं, परन्तु इससे उनके वैशिष्ट्य में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि उनके पीछे उपन्यासकार की अपनी प्राण शक्ति है। उपन्यास के ये भारतीय मध्यवर्गीय नागरिक समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसके अधिकांश सदस्य भारतीय संस्कृति को बूढ़ी और मृत समझकर उसका परित्याग तो कर चुके हैं, परन्तु इसके स्थान पर विदेशी संस्कृति को भी आत्मसात् नहीं कर सके। फलतः उनके व्यक्तित्व खोखले, सारहीन तथा आधार रहित हो गए हैं।

जहाँ तक उपन्यास के कथानक का सम्बन्ध है, उसकी दूसरी बड़ी विशेषता है उसमें प्रदर्शित लेखक की निस्सग ईमानदारी। कथावस्तु के माध्यम से उपन्यासकार ने जिस जीवन क्रम की ओर संकेत किया है, उसके सम्बन्ध में वह अनिश्चित तनिक भी नहीं है। सारी की सारी समस्या के प्रति उसका दृष्टिकोण विश्लेषणपूर्ण होने के साथ ही साथ दृढ़ तथा सुनिश्चित भी है। जिस आचरण को उसने मर्यादाहीन तथा हेय माना है, उसके प्रसंग में उसकी व्यञ्जना कहीं भी अस्पष्ट नहीं होने पाई है। साथ ही जिस जीवन प्रणाली को उसने अपने समाज के लिए वाञ्छनीय तथा हितकर समझा है, उसके 'डिटेल्स' उपस्थित न करने पर भी (अन्ततः उपन्यास एवं सूत्रों का भाष्य तो नहीं ही है!) उसकी रूपरेखा हमारे सामने एकदम स्पष्ट हो जाती है। उपन्यास के कथानक में निहित इस मौलिक ईमानदारी के अतिरिक्त जो तत्त्व हमारा ध्यान

सहसा ही आकर्षित कर लेता है, वह है कथा निर्वहन की निरा न सरलता। आदि से अन्त तक उपन्यास के वातावरण में एक सादगी है, जो पाठक के रस बोध में अत्यत प्रिय सिद्ध होती है। 'काले फूल का पौदा' के कथानक अथवा गठन में कहीं भी जटिलता का अंश नहीं है यह एक प्रमुख कारण है, जिससे उपन्यास पाठक के मन को इतना छू पाता है।

पाठक के मन को गहराइ तक छू पाने का एक दूसरा कारण है उपन्यास का विशिष्ट चरित्रांकन। सम्पूर्ण कथा कृति मे चरित्रांकन एक सुरुचिपूर्ण तथा सुकुमार ढग से हुआ है। चाहे प्रधान पात्र हो चाहे पार्श्व चरित्र, वे सब के सब एक अजब सा मर्यादा से बँधे हुए हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि चरित्रों का विकास सहज तथा स्वाभाविक न होकर एक निश्चित लक्ष्य से नियोजित है, वरन् यह कि उसका गठन पाठक के मन पर एक अत्यत ही मद्र प्रभाव छोड जाता है। उपन्यास के वातावरण में यह भद्रता तथा मिठास सबके ऊपर है, इसमें स देह नहीं, परन्तु ये तत्व कथानक पर ऊपर से आरोपित नहीं किये गए, वे कथानक में आप से आप विकसित हुए हैं। उपन्यास में सबसे कम चित्रित पर तु अनुपात में सम्भवत सबसे अधिक सशक्त चरित्र आया दादा का है, जिसमें उक्त दोनों तत्व बड़े प्रभावपूर्ण तथा मार्मिक ढग से मिश्रित हुए हैं। गीता का व्यक्तित्व तो मानो भागवत सा पवित्र है, उसका अध्ययन मन को शांति तथा स तोष देता है। देवन का चरित्र भ्रमित होता हुआ भी कहीं स्तर भ्रष्ट नहीं होता। सरोज, जो गीता की सहेली है, सम्भवत व्यावहारिक अधिक है, परन्तु स्निग्धता उसके व्यक्तित्व में भी कम नहीं। चित्रा पश्चिमी सस्कृति की अवश्य शिकार है, समाज के प्रति उसके मन म प्रतिरोध का भावना है, किन्तु उसके हृदय का मूल मानवीय स्रोत बार बार उभर पड़ता है। सस्कृति सघर्ष का हारा हुआ युद्ध जीवन का वह अनेक बार यत्न करती है और कई बार तो विजय के एकदम निकट आ जाती है। श्रोम भी, जो पश्चिमी सस्कृति के उद्दाम तथा असयमित तत्वों का प्रबल समर्थक है, गीता के सतत पवित्र प्रभाव तथा कभी कभी चित्रा के मन म उभरने वाला पवित्रता के प्रभाव के फलस्वरूप अधिक तीखा नहीं हो पाता। गीता की आया के व्यक्तित्व में तो मानो उसके स्वामिनी के दृष्टिकोण को ही पुष्ट किया गया है। देवन के पड़ोसी बयानी पारनार की पात्र कथा भी उपन्यास की मूल सवेदना को तीव्र तथा प्रभावपूर्ण बनाता है। इस प्रकार कुल मिलाकर 'काले फूल का पौदा' के सभी चरित्र पाठक के मन पर अपनी विशिष्टता की गहरी छाप छोड जाते हैं। इसीलिए उपन्यास के वातावरण में तनाव आने पर भी वह कहीं तीखा नहीं होता। ऐसा जान पडता है मानो उपन्यास के सभी चरित्रों में गीता के व्यक्तित्व की सुकुमारता तथा मिठास किसी न किसी रूप में अवश्य प्रतिफलित हुए हैं, जिसके फलस्वरूप कथानक के आवेशपूर्ण स्थलों पर भी आचरण की मर्यादा कभी भग नहीं होती।

उपन्यास के समस्त वातावरण को एक भद्रता तथा मिठास देने का बहुत कुछ श्रेय उसकी भाषा को दिया जा सकता है। इस प्रसग में अपनी पूर्व कृतियों से 'काले फूल का पौदा' का अन्तर बहुत स्पष्ट देखा जा सकता है। प्रस्तुत कथा कृति की भाषा प्राय सर्वत्र ही समान रूप से समृद्ध है। उसका मार्दव चरित्रांकन की विशिष्टता में सहायक सिद्ध होता है। नितान्त क्लिष्ट न होने पर भी उसका ध्वन्यात्मक प्रभाव कथानक की कोमलता तथा भद्रता के साथ मेल खाता है और सबसे अधिक बढ़कर तो भाषा का अर्थ गाम्भीर्य है। अनावश्यक कथोपकथन तथा वर्णन प्राय नहीं के बराबर है और वाक्य चीन में जो सूक्ति के समान स्वाभाविक रूप से

वाक्य आ जाते हैं, उनमें भाषा की समृद्धि सहज ही द्रष्टव्य है। उपन्यास की नायिका के स्वत चिन्तन का एक स्थल है—

"यह कितना बड़ा दायित्व है !
कैसा आदर्श स्वप्न है ? मैं अब स्वप्न नहीं देखूँगी, धोखा होता है।
बस, चलती चलूँगी—जो यथार्थ है, आज वही मान्य है।

स्वप्ना का दायित्व, इसका वहन कौन करेगा ? कैसे होगा ? चारों ओर तो अवविरोध है। मैं अकेली, झूठ हूँ। जिसे मैंने अपनी आत्मा में बाँधा, सँजोया। जिसके 'मैं' में मेरा अस्तित्व गुँथा, वह 'म' तो नहीं बन्ला। अजीब ही रहा। न जाने क्या चाहता है ? और उस चाह में वह निरन्तर अकेला होता चल रहा है।"

उपन्यास में यह और इस प्रकार के अन्य स्थल 'अज्ञेय' के 'नदी के द्वीप' की भाषा का अनायास ही स्मरण दिला देते हैं। इस प्रकार की भाषा की सिद्धि तभी सम्भव हो पाती है, जब लेखक के विचार उसके मन में एकदम स्पष्ट हो चुके हों और इन विचारों का मूल स्रोत उसकी स्वानुभूति हो। तरल तथा प्रयासहीन भाषा उत्कृष्ट कला का माध्यम बनने के लिए कलाकार के पास स्वत उपलब्ध हो भी जाती है। फिर भी उपन्यासकार की यह प्राञ्जल तथा संस्कार की हुई भाषा उसके लिए एक अतिरिक्त दायित्व बन गई है, क्योंकि भविष्य में भाषा के इसी स्तर का निर्वाह उससे अपेक्षित होगा और इस दायित्व निर्वहन को एकदम ही बहुत आसान नहीं कहा जा सकता।

औपन्यासिक विधान की दृष्टि से भी 'काले फूल का पौधा' एक सफल कथा कृति सिद्ध होती है। 'टेकनीक' के नवीनतम आविष्कारों के बावजूद कहानी कहने का ढंग आमूल परिवर्तित नहीं हो सका है, भविष्य में कभी हो सकेगा, यह भी सन्दिग्ध है। प्रस्तुत उपन्यास कई छोटे छोटे खण्डों में विभक्त है। सभी प्रमुख पात्र कम से कम एक बार एक खण्ड में अपनी कथा कहते हैं। कथानक का यह विभाजन सर्वथा नवीन हो, ऐसी बात नहीं। इलाचन्द्र 'जोशी' की 'पर्दे की रानी', 'अज्ञेय' की 'नदी के द्वीप' तथा हिन्दी की कई अन्य कथा कृतियों में इस टेकनीक को अपनाया गया है। उपन्यास में यह विधान अपेक्षाकृत परिश्रम साध्य है। एक खण्ड को दूसरे खण्ड का पूरक होना पड़ता है अन्यथा आत्म कथन में पात्र अपने साथ न्याय नहीं करत सकते। परन्तु इस टेकनीक का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसके द्वारा एक पात्र अन्य पात्रों के सम्बन्ध में भी उभरता है। इससे उसके चरित्र के सभी आवश्यक पहलू धीरे धीरे पाठक के सामने आ जाते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इस विधान में कथा खण्डों का क्रम तथा संयोजन बहुत महत्वपूर्ण है, अत उपन्यासकार को अतिरिक्त ध्यान देकर कथानक को गठित करना पड़ता है। फलत अध्यायों में विभाजित कथानक में उतनी एकसूत्रता तथा स्वाभाविकता सुरक्षित नहीं रह पाती, जितनी इस प्रकार के कथा संयोजन में रहती है।

डॉ० लाल के इस उपन्यास में कथा खण्डों का विभाजन औपन्यासिक तत्वों को ध्यान में रखकर किया गया है। विभिन्न पात्रों का चरित्र उद्घाटन आवश्यकतानुसार होता जाता है और प्राय वर्णना से नहीं वरन् स्वत पात्र के कार्यों से उसके चरित्र के आयाम स्पष्ट होते चलते हैं। इस क्रम में घटनाओं की पुनरुक्ति को बचाया गया है, केवल वही घटनाएँ एक से अधिक बार वर्णित हैं। जिन्हें एक से अधिक पात्रों ने अपने अपने ढंग से बताया है। दो पात्रों के पार-

स्वरिक सम्बन्धों को चित्रित करने के लिए खण्डों का विधान अलग से हुआ है। घटनाओं को सांकेतिक रूप में व्यक्त करने के लिए स्वप्न अथवा स्वप्नों का माध्यम स्वीकार किया गया है। गीता की अपने शिशु के प्रति चिन्ता तथा उसके मन की आशंका बड़े कोमल भाव चित्र द्वारा व्यंजित की गई है—

अनेक विकृत, अपरूप, अस्पष्ट स्वप्नों को वह देखता रही। सुबह चार बजे उसका बुखार कुछ कुछ उतरा। नींद आ गई उसे। तब देखा—अथाह, बहुत दूर तक फैला हुआ एक सरोवर है शान्त गम्भीर, मानो उस पर कभी कोई लहर ही नहीं उठती। पूर्णमासी की रात है। जैसे ही चाँद उस सरोवर के बीचों बीच आता है, तब किसी किनारे से संगमरमर का बना हुआ एक विशाल भवन धीरे धीरे तैरता हुआ आकर रुक जाता है। भवन के सूने फर्श पर एक शिशु खेल रहा है। खेलते खेलते वह अबोध सरोवर में गिरने लगता है। फिर एकाएक अँधेरा हो जाता है।

आधुनिक उपन्यासों में 'ड्रीम सीक्वेंस' का विधान बहुत प्रचलित हो गया है। बहुत से कथानकों में तो बाहर से जोड़ा प्रतीत होता है। परन्तु प्रस्तुत स्वप्न आलोच्य उपन्यास की गठन का एक आवश्यक भाग जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिस भाव चित्र के द्वारा इस स्वप्न को व्यक्त किया गया है, वह कथानक की मूल प्रकृति से बहुत मेल खाता है। चरित्रांकन, कथानक तथा भाषा शिल्प की सुकुमारता और सुरुचि इस स्वप्न विधान में भी बहुत ही स्पष्ट है।

उपन्यास का शिल्प सवत्र निखरा होने पर भी कथानक का अन्त हमें सन्तोष नहीं दे पाता। यह ठीक है कि जीवन के समान ही उपन्यास के कथानक की गति कहीं भी रुक सकती है और हम उसमें इस प्रकार बाधा नहीं दे सकते। परन्तु औपन्यासिक कला का एक बहुत बड़ा भाग उसके प्रारम्भिक तथा अन्तिम अंशों के गठन में निहित रहता है। 'काले फूल का पौदा' का अन्त कथानक को अधूरा नहीं छोड़ता, पर उसका समापन उतना कलात्मक नहीं बन सका जितना कलात्मक उसका आरम्भ है। घटना क्रम के नियोजन तथा विस्तार की दृष्टि से उपन्यास के अन्त में कोई कमी नहीं, परन्तु उसके अन्तिम दो अनुच्छेदों में कलात्मक पूर्णता नहीं आ सकी है। देवन और गीता के एक मात्र पुत्र सागर की मृत्यु हो चुकी है। गीता अपनी माँ के घर है और देवन भी वहीं आया हुआ है। घर के ऊपर के कमरे में देवन और गीता का अत्यन्त करुण तथा सहनशील वार्तालाप होता है। देवन ने गीता को एक बार फिर से पाया है और इस मिलन का माध्यम रहा है उनका मृत शिशु। इसके उपरान्त—

गीता ने बहुत धीरे से कहा, "देवन! ओ देवन! तुम मेरा यह कंधा थामो—यह बायाँ कंधा! और मुझे इस जीने से नीचे उतार दो!" देवन ने उसे कई क्षणों तक देखा। दोनों एक दूसरे को देखने लगे, जैसे दृष्टि ही में वाणी हो, और वाणी जो अनुभूति को बाँध ले।

देवन उसे सीढ़ियों पर बहुत धीरे धीरे उतारने लगा। गीता के पैर हर सीढ़ी पर काँप जाते थे लेकिन वह उतरती जा रही थी।

और यहीं उपन्यास का अन्त हो जाता है। उपन्यास का यह समापन कथानक को पूर्ण तो कर देता है, परन्तु पाठक के मन को गहराई तक नहीं छू पाता। देवन का गीता को जीने से उतारना न तो सांकेतिक ही है और न ही वह कथानक के विकास की दृष्टि से अर्थपूर्ण है। वस्तुतः उपन्यास अथवा कहानी का अन्त करना अपने आप में ही एक कला है। विश्व कथा

साहित्य में उपन्यासों के अन्त प्राय अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं। टॉमस हार्डी का 'टैस', टॉल्सटॉय का 'ऐना केरेनिना', डिकेंस का 'टेल ऑफ टू सिटीज़', रोम्या रोलाँ का 'ज्याँक्रिस्तफ़', शरत् का 'शेष प्रश्न' अथवा 'आवारा' और हिन्दी में 'अज्ञेय' का 'शेखर' और 'नदी के द्वीप', जैनेन्द्र का 'त्याग पत्र', भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े मेढ़े रास्ते', धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता'—इन सभी उपन्यासों के अन्त पाठक के लिए अविस्मरणीय हैं। उपन्यास के इन समापनों में कलात्मक आकस्मिकता रहती है। जीवन की भाँति ही अपूर्ण तथा आकस्मिक होने के साथ साथ वे कला की दृष्टि से बहुत पूर्ण हैं। इसीलिए उपन्यास का अन्त एक ओर तो सहज स्वाभाविक होता है, परन्तु दूसरी ओर बहुशिक्षित तथा बहुचिन्तित भी होता है। इन दो विरोधी तत्वों का सफल संगुम्फन ही उपन्यास के अन्त को अत्यन्त मार्मिक तथा अविस्मरणीय बना देता है।

'काले फूल का पौधा' का शीर्षक अत्यन्त प्रतीकात्मक है और इस प्रतीक का निर्वाह उपन्यास में पूरी सफलता के साथ हुआ है। 'काले फूल का पौदा' तुलसी के बिरवे को कहा गया है। माता के बनारस के घर के आँगन में यह पौदा घरवे में लगा हुआ है और देवन के पास आकर लखनऊ के बिना आँगन वाले 'डि हेवन' में उसने उसे पति की अनिच्छा के बावजूद गमले में स्थापित किया है। गेरू से राम नाम अंकित वाले घरवे की तो बात सोचना ही वहाँ व्यर्थ है। माता का जीवन क्रम मानो इस घरवे से गमले तक की यात्रा है। गमले की संस्कृति से वह अपना सम्बन्ध नहीं जोड पाती, उस सारे वातावरण से वह असम्पृक्त रहती है। अन्त में वह अपने घरवे के पास ही लौटती है और साथ में देवन को भी ले आती है। प्रतीक की दृष्टि से यही उपन्यास की मूल कथा है।

तुलसी के काले फूलों वाला पौदा इस कथा कृति का प्रतीक चिह्न है और उपन्यास का समस्त वातावरण भी मानो तुलसी की पवित्र तथा शान्त सुगन्धि से आप्लावित है। कथानक की सुकुमारता तथा महत्ता को और भी गहरा बनाने में तुलसी के बिरवे के प्रतीक ने पूरा पूरा सहयोग दिया है। तुलसी के पौदे को कथानक से हटा लीजिए और उपन्यास की आधी मार्मिकता समाप्त हो जायगी। संस्कृति संघर्ष माता के लिए घरवे और गमले के बीच है, परन्तु देवन के लिए वह तुलसी और स्वीट पी के बीच है। विजय, यदि इस आत्मोपलब्धि को हम विजय का ही नाम दें, तो अन्त में घरवे में लगे हुए तुलसी के बिरवे की ही होती है। परन्तु इस विजय ने कहीं कटुता अथवा विरुद्धता नहीं छोडी है, क्योंकि वह शरीर से हटकर मन की मन पर विजय है।

नवीन प्रवृत्तियों से परिचालित उपन्यासों के क्षेत्र में 'काले फूल का पौदा' का अपना विशिष्ट स्थान है। हिन्दी की शीर्षस्थ कथा-कृतियों में इसकी गणना हो सकती है। ऐसा कलात्मक प्रतिरव ही हमें हिन्दी उपन्यास के भविष्य के सम्बन्ध में आश्वस्त बनाता है। हिन्दी संसार डॉ० लाल से और भी विकसित तथा परिमार्जित कथा कृतियों की आशा करेगा, यह उन्हें न भूल जाना चाहिए।[1]

---

[1] 'काले फूल का पौदा', लेखक—डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल, प्रकाशक—भारती भण्डार, इलाहाबाद।

शिवप्रसाद सिंह

संवेदनात्मक तत्वों की एकसूत्रता

हिन्दी के जिन चन्द नये कथाकारों के वर्तमान से हम आश्वस्त और भविष्य के प्रति आशान्वित हो सकते हैं, उनमें कमल जोशी का नाम भी शामिल है। पिछले दस वर्षों से कमल जोशी कहानियाँ लिखते आ रहे हैं और उन्होंने काफी कहानियाँ लिखी हैं। हालाँकि सृजन की उन्नत राशि आवश्यक रूप से कला की उच्चता द्योतित नहीं करती किन्तु कमल जोशी की रचना में ऐसे तत्त्व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिन्होंने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से उन्होंने अभ्यास और शक्ति का परिचय दिया है, जो एक तरुण कथाकार के लिए कम सिद्धि और महत्त्व की वस्तु नहीं।

वस्तुतः कमल जोशी पिछली पीढ़ी के तरुण कथाकार हैं। मैं 'पिछली पीढ़ी' शब्द का प्रयोग किसी अन्यथा मन्तव्य से नहीं कर रहा हूँ और न तो मेरे निकट 'पीढ़ी' पिछली या पुरानी होने के कारण कोई कम महत्त्व ही रखती है। इस विशेषण का प्रयोग मैं कमल जोशी के साहित्य के नैरन्तर्य विकास की दृष्टि में रखते हुए कर रहा हूँ। कमल जोशी अपनी वय-स्थिति के कारण उस स्थान पर खड़े हैं जहाँ से वे पुरानी विरासत के साथ नये प्रभावों को अच्छी तरह आत्मसात् कर सकते थे, किन्तु उनकी कहानियों में वस्तु और शिल्प का जो सौन्दर्य दिखाई पड़ता है, उसमें कथा-साहित्य के अत्यन्त साम्प्रतिक प्रवृत्तियों का अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। उनकी कहानियों के ये दो संग्रह हमारे सामने हैं। इसके पहले 'चार के चार' नाम से उनका संग्रह छप चुका है। इन रचनाओं में वस्तु-चयन और शैली-शिल्प दोनों की उन्नत परिणति दिखाई पड़ती है किन्तु यह कौशल वही है जिसे प्रायः पिछले लोग अपनाया करते थे। ये सभी कहानियाँ प्रायः मध्यवर्गीय जीवन से सम्बद्ध हैं। कहीं-कहीं वे मजदूरों के बारे में भी लिखते हैं किन्तु अपेक्षया कम। मध्यवर्ग का जीवन पहले से कितना अधिक तनाव, त्रास और उलझनों से आवृत हुआ है, इसे कमल जोशी निश्चित अवश्य होंगे किन्तु उनकी रचनाओं में इस जीवन का वाह्य विवरण या सतही आघात तो दिखाई पड़ता है, गहरे उतरने की आकांक्षा या मानसिक मनःस्थितियों में उतरने की हालत का 'रिस्क' नहीं दिखाई पड़ता। सम्भव है छोटी कहानी का कनवैस इस विचार-भूमिका को सँभालने में बहुत सक्षम नहीं है किन्तु उनके समवयस्क दूसरे कथाकारों ने नागरिक जीवन के जिस सुख-दुःख, अपेक्षाकृत ज्यादा तीखी परिस्थितियों, घुटन, कुण्ठा, विद्रोह आदि को कहानी के माध्यम से उभारा है वह भी महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। मोरासों के बारे में उनके कहानी संग्रह की भूमिका में वालेस माकवे लिखता है "उसकी कहानियों में मनस्तत्त्व को स्थान नहीं था, कारण कि तब तक इस विचार-सरणि का आविर्भाव भी न हो सका था, ये कहानियाँ मुख्यतः एकदम सादी सीधी, रचना-प्रक्रिया की पूर्णता से शोभित कभी-कभी मात्र टेक्निक पर आधारित दिखाई पड़ती हैं।" कमल जोशी की कहानियों के लिए मोरासाँ के लिए लिखित उपयुक्त पंक्तियों का उद्धरण उपयुक्त कहा जा सकता है हालाँकि जिस वस्तु-तत्त्व की मैं बात कर रहा हूँ उसकी दृष्टि से यह उद्धरण किसी अच्छाई की ओर संकेत नहीं करता। कमल जोशी के इन दो संकलनों में तेइस कहानियाँ संग्रहीत हैं, जिन्हें हम मुख्यतया चार श्रेणियों में रख सकते हैं। कुछ ऐसी कहानियाँ जो सामाजिक समस्याओं से प्रेरित

हैं, बहुत सम्भव उनके मूल में आर्थिक प्रश्न है—जैसे अँधेरी गली, किसका वेग, पैटमैन की बीवी, 'फूलों की माला' आदि। 'अँधेरी गली' का रमजान दुख व क्षोभ से दबा है, वह न चाह कर भी गम गलत करने के लिए शराब पीता है और अँधेरी गली में लड़खड़ाता हुआ चल देता है 'किसका वेग' बंगाल के अकाल के समय एक गरीब के बेटे की कहानी है जिसे निपूता अमीर पालता है, और सच्चा बाप बच्चे के प्रति सहज प्रेम प्रदर्शित करने में जेल भेज दिया जाता है, 'फूलों की माला' में शरणार्थी लड़की आराध्य देव कृष्ण के लिए माला लेकर मंदिर ढूँढते ढूँढते वेश्या गली में आती और अन्तत भीख माँगकर पेट पालती है—इस प्रकार की कहानियों में कमल जोशी अपने पूर्वज या अग्रज कथाकारों से आगे नहीं बढ़ सके हैं, मेरा ख्याल है कि ऐसी कहानियों में उनकी प्रतिभा को जो ठोस जमीन मिलनी चाहिए वह प्राप्त नहीं हो सकी है।

दूसरी श्रेणी में वे कहानियाँ आती हैं जो किसी अति सामान्य उपेक्षणीय वस्तु या घटना को केन्द्र बनाकर किसी मनुष्य की संवेदना को, दर्द को उभारने के लिए लिखी गई हैं। 'पत्थर की आँख' की 'चश्मा', 'खिड़की' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं जिनमें कमल जोशी को अत्यन्त सफलता मिली है। 'चश्मा' कहानी में वृद्ध मनोहरप्रसाद का वैयक्तिक दर्द, चश्मे के टूट जाने तथा घर वालों की उपेक्षा से उत्पन्न क्षोभ नाती के जन्म का समाचार पाकर कैसे विगलित होता है, इसका बड़ा ही सजीव चित्रण लेखक ने उपस्थित किया है, 'चश्मा' कहानी प्रथम श्रेणी की कृति है। 'खिड़की' मनुष्य के मानसिक रहस्य की खिड़की है जिसमें कभी कभी उसका असली रूप झाँकने लगता है। इन कहानियों में कमल जोशी ने हिन्दी कथा साहित्य को वस्तु चयन की नई दिशा की ओर प्रेरित किया है।

तीसरी श्रेणी में वे कहानियाँ आती हैं जिनमें लेखक किसी मानसिक गुत्थी की ओर संकेत करना चाहता है। 'प्रतिक्रिया' कहानी की सरोज अपने भावी पति बलराज से सम्बन्ध विच्छेद कर लेती है और चमन नामक युवक को अपना जीवन संगी निश्चित करती है। बलराज ने लड़की के पिता से रंगून में, जहाँ वह नौकरी करता था, शादी करने का प्रस्ताव किया था। वही बलराज एक बदसूरत काली लड़की से शादी कर लेता है तो सरोज इस समाचार को सुनने के बाद चमन से विवाह करना अस्वीकृत कर देता है। 'इज्जत की खातिर' 'पहला पाप' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। 'पहला पाप' के रामेश्वर बाबू ईमानदार रहने की लाख कोशिश के बावजूद एक दिन गरीबी से तंग आकर घूस लेते हैं—इन कहानियों में कथाकार को हम सामान्य धरातल पर ही पाते हैं।

चौथी श्रेणी में मैं कुछ ऐसी चरित्र प्रधान कहानियाँ रखूँगा जो अपनी शिल्प आदि की कमजोरियों के बावजूद हमारे मन में गहरी पीड़ा और सहज संवेदना उत्पन्न करने में सफल होती हैं। 'गूँगा यौवन' और 'बाहर भीतर' ऐसी ही सफल कहानियाँ हैं जिन्हें भूलना कठिन है। पशु और अपने पति के लिए बाहर से अत्यन्त फैशन प्रिय लगने वाली नालिमा का त्याग मन को अत्यन्त मथ देता है। 'गूँगा यौवन' का गूँगी लड़की अपनी मासूमियत और असहायता से हमारे मन में अविस्मरणीय दर्द जगा देती है।

इस प्रकार हमने देखा कि वस्तु की दृष्टि से कमल जोशी किसी अछूते प्लाट या मानसिक सम्पर्क आदि की मौलिकता के लिए नहीं बल्कि इस जीवन से एकसूत्रीय संवेदनात्मक

तत्त्वों के चयन के लिए बधाई के पात्र हैं।

शिल्प की दृष्टि से कमल जोशी की तारीफ होती है, क्योंकि वे सीधी सादी भाषा में 'सुनिश्चित कथानक' को सन्तुलित ढंग से व्यक्त करते हैं। यहाँ भी कमल जोशी पिछली पीढ़ी के प्रतिनिधि कथ कारों के अनुगामी ठहरते हैं। प्रतीकों, ममस्थितियों, वातावरण के नये प्रयोगों और कथा गठन के लिए पश्चद्दृत, स्मृति, खण्ड विचार शृङ्खला, स्वप्न, सांकेतिक ध्वनियां आदि का प्रयोग उनकी कहानियों में कम से कम पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि इन्हें शिल्प सौन्दर्य का अनिवार्य अंग माना जाय किन्तु यह कौशल तो है ही और नये कथाकार को यह श्रम साधना के बाद प्राप्त हुआ है। कमल जोशी की भाषा का मैं प्रशंसक हूँ, उसकी स्पष्टता का कायल। सुस्पष्ट ढंग से भाषा विचारों की स्पष्टता और सफाई द्योतित करती है। निरलंकृत भाषा में किस्सागोई की शक्ति उन्हें प्राप्त है किन्तु कहीं कहीं जब वे शरत् या जैनेन्द्र की भाषा के मोह में पड़कर सूक्ष्म, भावमूलक दृश्यों को बाँधने के लिए उलझी भाषा की शरण लेते हैं तो बड़ी बुरी स्थिति उत्पन्न हो जाती है[1]

"मन और प्राणों में अपमान तथा पश्चात्ताप का विष भर गया। प्रथम अभिन्नता की निष्ठुरता से वह बहुत देर तक अप्रस्तुत हो बैठी रही" अचानक प्रेम करने वाली लड़की बाद में जब अपने प्रेमी को अविश्वसनीय पाती है तो उसकी अवस्था का चित्रण लेखक करना चाहता है किन्तु ऊपर की पंक्ति कितनी अस्पष्ट हो गई है। ऐसे प्रयोग कई स्थानों पर मिलते हैं। विशेषतः 'गूँगा यौवन' की कहानियों में। शायद ये पहले की कहानियाँ हैं। अस्तु। कहीं कहीं कमल जोशी को अलंकार आदि देने का मोह भी होता है। यह उचित ही है किन्तु वहाँ औचित्य का ध्यान भी रखना चाहिए। एक प्रसंग देखिए विमला का पति विनोद पर-नारी में आसक्त है। वियुक्ता पत्नी उस औरत के सजे हुए कमरे और सेज की बात सोचती है और उससे अपने शयन कक्ष का तुलना करते हुए सोचती है[2]

यह कमरा कौन सा खराब है? विद्युत् के दूरे प्रकाश में चमक रहा है। सफेद बिछौना 'माँ की गोद' की तरह कोमल और 'रमणीय' है, यहाँ लेखक ने औचित्य का ध्यान नहीं दिया और अलंकार मोह में माँ की गोद को रमणीय कह दिया। इस तरह के मौकों पर थोड़ा ठहरकर सोच लेने की जरूरत है।

कमल जोशी की कहानियों का अन्त प्रायः दो तरह से होता है। लेखक किसी 'ट्रिक' का सहारा लेकर एकदम अप्रत्याशित मोड़ उपस्थित करता है जिससे नाटकीयता का पूर्ण अन्त उपस्थित होता है। 'ट्रिक' अन्त के लिए एक कौशल तो है किन्तु यह दुधारी तलवार भी है, चूक नहीं कि गए। जहाँ यह ट्रिक कहानी के कलेवर से उत्पन्न होता है वहाँ तो उससे नई ताकत पैदा होती है जैसे कि 'बाहर भीतर' में। किन्तु जहाँ यह ट्रिक बाहर से आरोपित किया जायगा वहाँ उनके भार से कहानी उल्का की तरह असन्तुलित होकर जीवन अम्बर से गिरती दिखाई पड़ेगी। जैसे 'तीन रातें' में। वियुक्ता औरत के घर में आकस्मिक घटना का सहारा लेकर एक चोर को घुसा दिया गया और वह यह जानते हुए कि यह एक एस० पी० का घर है, घुस गया, यह जानकर कि चोर की औरत बीमार है एस० पी० की पत्नी ने पति की मार से

१ गूँगा यौवन, पृ० ७।

२ 'पत्थर की आँख' पृ० ६८।

साइकिल दे दी—आदि। कमल जोशी की कुछ कहानियों में अचानक अन्त उपस्थित हो जाता है। इस तरह की (Abrupt ending) कहानी को सपाट चित्र या टूटी तस्वीर, की हालत में बना देती है। मैं यह नहीं कहता कि वे किसी उपदेशक की तरह अन्त में एक स्टेटमेंट दें दें। माना कथाकार निष्पक्ष साक्षी (Impartial witness) मात्र है, न्यायाधीश नहीं। किन्तु जैसा यामस हाम ने लिखा है कि कथाकार कहानी सुनाने की प्रयोजनीयता (Justifying its telling) तो साबित करनी ही होगी। ऐसा भी नहीं कि वे स्टेटमेंट नहीं देते जहाँ देते हैं वहाँ कहानी के शिल्प का ह्रास भी होता है। 'अँधेरी गली', 'छाया चित्र' आदि अन्त वंचित कहानियाँ हैं जब कि 'भाड' में वे अनावश्यक रूप से अन्त में कहते हैं "सिर्फ दो ही व्यक्ति जीवित नहीं रह सकते और भी बहुत से व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।" 'पत्थर की आँख' अत्यन्त उच्च कोटि की कहानी है किन्तु लेखक ने उसके अन्त को इतना अभिधात्मक (Flat) बना दिया है कि सुन्दरता में कमी आ गई है। नूर मकान मालिक कलाकार से पूछता है कि अगर वह बता सके कि उसकी (मकान मालिक की) कौन सी आँख पत्थर की है तो वह उसे एक महीने की और मुहलत दे सकता है। कलाकार बता देता है, इस पर मकान-मालिक पूछता है कि आपने कैसे पहचाना—"जब आपने सिर्फ एक महीना कहा तब मैंने स्पष्ट गौर किया कि आपकी बाईं आँख में न जाने कैसी एक कोमल करुणा की आभा खेल गई, फिर समझते देर न लगी कि वही आपकी पत्थर की आँख है। यह तो स्वाभाविक ही है कि आपकी पत्थर की आँख में ही कोमलता की आभा पहले झलकेगी" जाहिर है कि नीचे की पंक्ति अनावश्यक है और इसके आ जाने से सांकेतिकता (Suggestiveness) में कमी आ गई है।

गूँगा यौवन (जो प्रकाशक की गलती से 'फूलों की माला' के नाम से प्रकाशित हुई है) तथा 'पत्थर की आँख' दोनों ही हिन्दी कहानी के लिए गर्व की वस्तु हैं। 'पत्थर की आँख' की छपाई, आवरण आदि तो अत्यन्त ही मनोरम है, उस टक्कर की रूप सज्जा, सफाई छपाई हिन्दी की कम पुस्तकों में दिखाई पड़ती है। इसके लिए प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं। मैं अन्त में लेखक को उसकी गौरवमयी साहित्य साधना के लिए बधाई देता हूँ। कमल जोशी की ये कृतियाँ उनके उज्ज्वल भविष्य की ओर साधार संकेत करती हैं।[1]

---

[1] यह समीक्षा श्री कमल जोशी की कहानी 'पत्थर की आँख' से सम्बन्धित 'कल्पना' में प्रकाशित वाद विवाद के पूर्व लिखी जा चुकी है।

'पत्थर की आँख', लेखक—कमल जोशी, प्रकाशक—रश्मि प्रकाशन, चितरंजन एवेन्यू कलकत्ता–७।

'गूँगा यौवन', लेखक—वही, प्रकाशक—नवयुग प्रकाशन, दिल्ली।

नाटक जैसा न होकर रेडियो के 'फीचर' जैसा है, जो किसी विशेष पर्व और विशेष चरित्र पर लिखा जाता है। तभी 'नये समाज' का आदर्श नाटक के अंत में कोरस गान में स्पष्ट किया जाता है।

उक्त तथ्य किसी साधारण नाटककार द्वारा सिद्ध हुआ होता तो यह सर्वथा अग्राह्य और क्षय होता। 'नया समाज' का नाटककार वर्तमान नाट्य साहित्य का एक प्रतिनिधि और शक्तिशाली नाटककार है। इस प्रकाश में हम नाटककार से बहुत बड़ी आशा रखते हैं, क्योंकि उनकी मर्यादा और स्तर में हमारे हिन्दी नाट्य साहित्य का भविष्य छिपा है।

'नया समाज' रंगमंच की सरलता की दृष्टि से अपेक्षाकृत सफल है। नाटक में पात्र थोड़े हैं और छत्तीस घण्टे का कार्यक्रम है। वस्तु निर्देश भी नया है। दोनों अंकों में कुल मिलाकर छः दृश्य हैं और छहों दृश्य प्राय एक ही कमरे में आते हैं।

अभिनय की दृष्टि से एक विशेष बात इसके कथोपकथनों के सत्य से जुड़ी है। प्राय कथोपकथनों का रूप कलात्मक है। लेकिन कुछ स्थानों पर कथोपकथन 'स्वगत कथन' की शैली में प्रयुक्त हुए हैं, वहाँ इसका रूप शिथिल हो गया है।

कुछ दृश्यों का तो आरम्भ ही नाटककार ने स्वगत कथनों के माध्यम से किया है, जैसे, प्रथम अंक में दूसरे दृश्य का आरम्भ 'कामना' के स्वगत कथन से और दूसरे अंक में दूसरे तथा तीसरे दृश्य का आरम्भ क्रमशः 'रूपा' और 'कामना' के स्वगत कथनों से हुआ है।

नाटक के प्राय सभी पात्र नाटकीय ढंग से उभारे गए हैं, लेकिन उदात्त आदर्श का समान भाव इस तरह से चरित्र विधान के चारों ओर मँडराता रहता है कि नाटक की प्रभविष्णुता में बाधा उपस्थित होती है। नाटक की चरम सीमा और उससे नाटक का एकान्त प्रभाव चरित्रगत सिद्ध करने का है, जहाँ

> हमें समाज बदलना होगा, आगे बढ़ो बढ़ा।
> ऊँच नीच है नहीं कहीं भी, मिलकर चढ़ो चढ़ो।
> नया गगन है चाँद नया है
> धरती नई नई।
> सूरज नया, नई आशा है
> नयी उमग बढ़ी।

[कोरस]

लेकिन 'नये समाज' का यह सत्य इस नाटक में 'रूपा', 'चंदू' और 'मनोहर' के बाच 'कामेडी आफ मार्स' का शैली और तत्र से घिराया गया है, यहीं इस नाटक की शक्ति क्षीण हो जाती है और हमारे मन पर विनोद का प्रभाव अधिक पड़ता है, और यह विनोद 'नये समाज' की हँसी उड़ाने जैसा लगता है।[1]

---

[1] नया समाज, लेखक—श्री उदयशंकर भट्ट, प्रकाशक—मसिजीवी प्रकाशन, नई दिल्ली।

गिरिजाकुमार माथुर

निकष नवीन दृष्टिकोण का प्रतीक

हिन्दी का नया साहित्य अब प्रयोगशाला का बच्चा अथवा माल ही नहीं रहा बल्कि नित्य प्रतिदिन वह अधिक व्यवस्थित और रूप गठित होकर बाहर आ रहा है, 'निकष' इस बात का एक सयोजित प्रमाण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि 'निकष' में जो कुछ निकला है वह सब का सब श्रेष्ठतम है और बाकी जो उसकी परिधि के बाहर है या लिखा जा रहा है वह निम्न स्तर का है, बल्कि यह कि प्रस्तुत सकलन को देखकर एकत्र रूप से अनुभव होता है कि पिछले पन्द्रह वर्षों की उपलब्धि किन नये रूपों में धारे धार ढल रही है। जिन लोगों की यह स्पष्ट धारणा था कि नई शैली का कृतित्व एक सक्रातिकालीन क्षणिक आवेग या फैशन मात्र है, अस्थायी परिस्थिति है, या जो इस आशा में जी रहे हैं कि दस पाँच साल की यह हवा अपने आप बन्द हो जायगी तब पुन युग उनके पास लौटकर आएगा उन्हें 'निकष' और निकष जैसी दूसरी चीजों को देखकर क्रमश निराश होते जाना पड़ेगा। आज की बिखरी हुई उपलब्धियाँ जब इस प्रकार सगृहीत रूप से सामने आयेंगी तभी इनका असली महत्त्व ज्ञात होगा और उचित मूल्याकन हो सकेगा। 'निकष' का स्वागत सबसे पहले इस दृष्टि से होना चाहिए।

प्रकाशन वक्तव्य से लेकर सम्पादकीय तक में जिस बात को सबसे अधिक जोर देकर कहा गया है वह यह है कि 'निकष' उच्च साहित्यिक कृतियों का सकलन होगा। श्रेष्ठता, सजीवता, रसमयता, नया सौन्दर्य बोध, यथार्थ दृष्टि उस कृतियों की कसौटी होगी न कि किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिक पक्षधरता। निकष जैसा सार्थक और मौलिक नाम भी इसी कारण उसको दिया गया है और यद्यपि उसमें कुछ गैर मामूली कविताएँ भी सम्मिलित की गई हैं, पर मुख्य रूप से उसे गद्य सकलन कहना ही उचित होगा। गद्य कवीना निकष वदति' वाली उक्ति के अनुसार (जहाँ से सम्भवत सकलन का नाम लिया गया है) गद्य कृतियों का ही अधिक प्रतिनिधित्व इसमें किया गया है। हमें देखना है कि इसका निर्वाह सग्रह में कहाँ तक हुआ है तथा किस सीमा तक 'निकष' में श्रेष्टता और पक्षधरता का अभाव प्राप्त होता है।

'निकष' में एक सम्पूर्ण लघु उपन्यास (खोया हुआ जल) दो उपन्यासों के अश (गाथा, खाली कुर्सी की आत्मा), एक नाटक (मैं आइना हूँ), सात कहानियाँ (कोयला भई न राख, रमप्रिया, घाटी का दैत्य, सेब सूने दिन सूनी रातें, पुलचखिया, गुल की बन्नो), तीन लघु कथाएँ (तीन रोने वाली औरतें मोती और पुरानी सड़क, नई पगडडी) चौदह कविताएँ और एक अनुवाद, तीन व्यग लेख, दो व्यक्तिगत लेख (पसनल एसे), एक डायरी और एक कला समीक्षा सग्रहीत है। काफी सामग्री है। इनके अतिरिक्त साढे नौ पृष्ठ का सम्पादकीय भी है जिसका विवेचन अलग से होना सिर्फ इसलिए ही अपेक्षित नहीं है कि वह स्वय एक स्वतन्त्र निबन्ध है बल्कि इसलिए भी कि जो कुछ इसमें जिस तरह कहा गया है वह कई विवादास्पद प्रश्न सामने उपस्थित कर देता है। सम्पादकीय वक्तव्य एक नीति विषयक घोषणा होती है एक 'ओवर आल' मुहर है, जो सग्रहीत सामग्री पर लगाई जाती है। अर्थात् ऐसे सकलन का सम्पादकीय पढ़कर आप आशा कर सकते हैं कि जो लेख उसमें सग्रहीत किये गए हैं वे

कदाचित् एक ही स्कूल के हैं। 'निकष' की अधिकांश रचनाएँ इस बात का प्रमाण नहीं देतीं। इसलिए हम पहले रचनाओं को ही परखेंगे।

सारा संकलन पढ़ जाने के बाद सबसे पहली बात जो मन में आती है वह यह है कि 'सोया हुआ जल', 'सड़क बाहर की भीतर की', 'सूने दिन सूनी रातें', 'गुलकी बन्नो', 'सेब' तथा पंत जी, अज्ञेय, श्रीराम वर्मा और वीरेन्द्रकुमार जैन की कविताएँ ही विशेष महत्त्व की हैं, साधारण से ऊपर हैं। शेष सामग्री सामान्य या सामान्य के कई स्तरों पर हैं।

पन्त जी की कविता 'सोनजुही' कमी हुई, प्रौढ़ और साफ सुथरी होने के साथ ही उनके उत्तरकालीन दृष्टिकोण की भी परिचायक है, जिसमें धरती की जीवनी शक्ति से प्रेरणा लेकर नवीन मानस संस्कृति के विकसित होने की कल्पना है। नई छवियों का इसमें विशिष्ट प्रयोग है, जो पंत जी के लिए सहज रहा है। शब्द चित्रों का सान्निध्य और उनकी सजीवता द्रष्टव्य है

"एक टाँग पर उचक खड़ी हो
मुग्धा वय से अधिक बढ़ी हो
पैर उठा, कृश विहुली पर धर
घुटना मोड़ चित्र बन सुन्दर
उठ अँगूठे के बल ऊपर
उड़ने को अब छूने अम्बर
सोनजुही की बेल हठीली
अटकी सधी अधर पर"

अज्ञेय की रचना 'साँप' एक शक्तिशाली रचना है और उसका व्यंग्य भी तीखा है। बड़े ही संक्षेप और सरलता से एक व्यापक बात कही गई है। कविता का आजु 'डिक्शन' ध्यान खींचने वाला है। इस कविता पर यह लाछन नहीं लगाया जा सकता कि वह डी० एच० लारेंस की 'स्नेक' नामक कविता से मिलती-जुलती है, या उससे उत्प्रेरित हुई है। यह सही है कि इन दोनों रचनाओं के शीर्षक एक से हैं और यह भी सम्भव है कि उक्त विषय पर अज्ञेय का ध्यान जब गया हो तो डी० एच० लारेंस की रचना की अनुगूँज उनके मन में कहीं पड़ी हो। पर इस साम्य के अतिरिक्त कविता में और कोई साम्य नहीं है, दोनों की विचार वस्तु बिलकुल अलग है। बल्कि 'स्नेक' से अधिक निकट की रचना डी० एच० लारेंस की लिज़ार्ड (Lizard) लगती है जिसका सान्निध्य और 'एप्रोच' अज्ञेय के 'साँप' से मेल खाता है। विचार वस्तु यहाँ भी विभिन्न है।

'साँप' इस समूह की विशिष्ट कविताओं में से एक है, यद्यपि उसे सबसे अलग करके महत्त्व देकर क्यों छापा गया है यह समझ में नहीं आता।

श्रीराम वर्मा लिखित 'चक्रव्यूह' एक सुगठित और श्रेष्ठ रचना है। पुराने प्रतीकों को नये ढंग से उभारा गया है और आज के व्यक्ति जीवन तथा सामाजिक संघर्षों की समस्याओं को बहुत अच्छे संकेत तथा व्यंजना से प्रस्तुत किया गया है। इस कविता को पढ़कर चित्र कला का 'वाश शिल्प' याद आ जाता है जिसमें कूँची के दो चार 'स्ट्रोक' से ही पूरा चित्र स्पष्ट हो जाता है। बड़े विश्वास और भविष्य की आस्था के साथ कवि कहता है

मेरी आत्मा
अर्जुन से भी अधिक ऋजु है
सुभद्रा से भी अधिक धारणाशीला है
और अभिमन्यु से भी अधिक हुतिधर्मा है
क्योंकि मैं वर्तमान को अपना छोटा भाई
मानता हूँ
जिसे मैं जिधर चाहूँ मोड़ सकता हूँ
और उसे अपने प्यार के सहारे दिव्य और भव्य
बना सकता हूँ

रचना में शब्दों की मितव्ययता ध्यान देने योग्य है। साथ ही उसकी मात्रा, उपमान, क्रम-संयोजन (वाक्यांश) भावना का कसाव, अभिव्यक्ति और अभिव्यक्ति के संयम (Restraint) से जो वातावरण उत्पन्न होता है उसमें एक सहज, हल्का व्यंग्य है, जो विषय के लिए अत्यंत उपयुक्त बैठा है। वह उस कठोर यथार्थ का संकेत करता है जिससे संघर्ष चल रहा है। इस प्रकार कविता पौराणिक प्रतीकों के त्रास पाश से उलझकर नहीं रह जाती। केवल छंद के मामले में रचना विछिन्न हो गई है। उसमें लय का अभाव है, यद्यपि गति का नहीं है। लेकिन कविता का गुण लय है और मात्र गति गद्य का। जब तक कविता में लय न हो उसे गद्य से पृथक करना कठिन है। इसका समाधान यह कहकर किया जाता है कि रचना गद्य-गीत में लिखी गई है। पर एक तो गद्य गीत कविता के लिए कहाँ तक उपयुक्त है यह प्रश्न विवादास्पद है, दूसरे गद्य गीत का यह अर्थ कदापि नहीं है कि भाषा-भाषा गद्य लिखकर उसे कविता की संज्ञा दे दी जाय। कविता में गद्य गीत के तत्त्व को अंगीकार करने का तो यही उद्देश्य ज्ञात होता है कि छन्द भावना के पीछे चले न कि भावना छन्द के, अर्थात् छन्द के सम्बन्ध में यह स्वतन्त्रता कवि को हो कि भावाभिव्यक्ति के हित में उसका गति या लय को आवश्यकता पड़ने पर तोड़ा भी जा सके, एक या दो ताल कड़ियाँ कम की जा सकें या बढ़ा दी जायँ, लयात्मक सम्भाषण शैली का आधार लिया जाय, प्रत्युत (Inevitable) शब्द के स्थान पर इसलिए कोई अन्य पर्याय जबरन न रखा जाय कि ऐसे मात्रा घटती या बढ़ता है, या मात्रा और छन्द पूरा करने के लिए निरर्थक शब्दों से व्यर्थ ही भरमार न करनी पड़े। सारांश में कवि भावना के अनुरूप छन्द को तोड़ने-मरोड़ने की सुविधा हो।

इस अवस्था में भी छन्द की शर्त पहली है, छन्द हो यानी लय हो। छन्द का मूलभूत पैटर्न ही जब नहीं होगा तो गति का स्वतन्त्रता कहाँ से ला जा सकेगा। 'चक्र व्यूह' की पंक्तियाँ आदि से अन्त तक गद्य की पंक्तियाँ हैं। गद्य में इससे भिन्न रूप में उसे नहीं लिखा जा सकता। गद्य-गीत छन्द की सीमा में ही सफल हो सकता है, उससे बाहर रहकर नहीं।

वीरेन्द्रकुमार जैन का 'वह गई है फूल बीनने' संग्रह की एक और उत्कृष्ट कविता है। इसमें जिस रहस्यमय, चामत्कारिक, जादुई वातावरण का निर्माण किया गया है वह बड़ी सफलता से अंकित हुआ है। गाँव की प्रगीत गाथाओं (ballads) में ऐसा भावना यत्र-तत्र मिलती है, विशेष रूप से मालवा और बुन्देलखण्ड के लोक-गीतों में। जैसे बहन और वीरन तालाब से कमल के फूल तोड़ने जाते हैं, बहन आगे बढ़कर जल में समा जाती है, एक कमल

फूल बनकर रह जाती है और भाड़ पछताता रह जाता है। वीरेन्द्रकुमार ने इस लोक भावना के सूत्रों को लेकर नये ढंग से रचना में प्रस्तुत किया है। लोक जीवन की आत्मा पंक्ति पंक्ति में बोलती है। विसातियों की आवाजें, रेशमी दुकड़े वाले की फेरी, हलमें सितारों वाला, मनिहार खिलौने वाला, काबुली मेवे वाला, इन सबकी आवाजें हमारे लोक जीवन में बसी हुई हैं। किले वाले साइं का प्रकरण न केवल चित्रमय, शक्तिपूर्ण और प्रभावोत्पादक है बल्कि वह उस रहस्यमय तिलिस्म का आवश्यक अंग बनकर आता है। रचना में जिस रहस्य गर्भित वातावरण की सृष्टि की गई है उससे कोलेरिज की कविताओं के सुपरनैचुरल तत्व का एकाएक ध्यान आ जाता है। यही दूरी का भान, जादुई वातावरण, चमत्कार भरी स्थितियाँ, जो रोमानी कविता की विशेषताएँ होती हैं, इस रचना में हैं।

छन्द का अभाव यहाँ भी मौजूद है। किन्तु पंक्तियाँ गद्यात्मक नहीं हैं। शब्दों का चुनाव और क्रम संयोजन ऐसा है जिसमें गति के साथ उतार चढ़ाव भी है। उतार चढ़ाव का यह तत्व छन्द के अभाव में कविता को निरा गद्य होने से बचा लेता है। इस दृष्टि से छन्द न होते हुए भी निम्नांकित पंक्ति अन्य पंक्तियों की अपेक्षा अधिक सफल है

"सन्ध्या के मंडप घर की दीवारों पर माँडने के लिए"

इस पंक्ति का यदि विश्लेषण किया जाय तो वह लगभग बराबर के चार 'फीट' में विभाजित हो सकती है—

सन्ध्या के। मंडप घर की। दीवारों पर। माँडने के लिए।

जिसमें लगभग सभी गति अंशों के अन्त में एक स्वर ध्वनि वर्तमान है। 'दीवारों पर' वाले अंश को पढ़ते समय अगले शब्द 'मां' अक्षर को अनिवार्यतः साथ लेकर पढ़ना पड़ता है, जिसके उक्त अंश के अन्त में भी एक स्वर ध्वनि आ जाती है। इस प्रकार पंक्ति में लय का एक 'पैटर्न' कायम हो जाता है और छन्द का अभाव नहीं खटकता।

विकसित लय पर ही छन्द है, पर मात्र लय पर से भी काम चल सकता है अथवा वह एक नये छन्द का निर्माण बिन्दु बन सकता है। जहाँ यह भी न हो वह गद्य है। गद्य कहाँ मात्र गद्य रहकर कविता के लिए अनुपयुक्त होता है और कहाँ से किस प्रकार वह छन्द का रूप धारण करने लगता है उस सूक्ष्म सीमा क्षेत्र का संकेत करना ही इस विश्लेषण का लक्ष्य है। पिछली कविता 'चक्रव्यूह' के छन्दाभाव में उपर्युक्त लय तक का अभाव है, इसीलिए उसकी पंक्तियाँ इस कविता से अधिक गद्यात्मक हैं। आजकल गद्य की तरह से बहुत कविताएँ लिखी जाने लगी हैं, पर गद्य कहाँ लय पाने लगता है लयात्मक पैटर्न बनाने लगता है इसका विशेष ज्ञान अधिकांश लेखकों को नहीं है। वाल्ट व्हिटमैन की नकल करना आसान है, वाल्ट व्हिटमैन बनना मुश्किल है।

संग्रह की यही चार कविताएँ विशिष्ट हैं। अन्य कविताओं में जगदीश गुप्त की कविता 'मौ फगी' और कुँवरनारायण की कविता 'आशय' का उल्लेख किया जा सकता है, यद्यपि कुँवर नारायण की कविता उतनी विकृत या चौंकाने वाली नहीं है जितने कि पहले तीन शब्द 'आमाशय, यौनाशय, गर्भाशय' से लोगों को ख्याल पैदा होता है। श्री बालकृष्णराव, विजयदेव नारायण साही, रवीन्द्र भ्रमर और कांति चौधरी की कविताएँ भावनाकुलता और ताप की कमी के कारण मन में बहुत भीतर नहीं बैठतीं हैं। बालकृष्ण रावजी की कविता में

जमीन तो नई है पर बुद्धि और तर्क बोलता है, भावना नहीं। नये कवि मलयज की रचना 'हम स्वप्नदर्शी हैं' में परता और आत्म प्रतारणा (self pity) का आवेग है, इसलिए कविता का अंतिम अंश पहले से मेल नहीं खाता। महादेवी की रचना मौलिक नहीं अनुवाद है इसलिए उस पर अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, मौलिक कृतियों के संकलन में अनुवाद को स्थान देना विचारणीय बात अवश्य है।

संकलन के गद्य अंश में सबसे पहले दृष्टि खींचने वाली चीज सर्वेश्वर दयाल का 'सोया हुआ जल' है। यह सर्वथा नया प्रयोग है जिसका आधार मध्यवर्गीय तृष्णा, अतृप्ति हताशा (फ्रस्ट्रेशन) का है। इसके खण्ड चित्र एक पात्र विशेष का मानसिक प्रतिक्रिया और स्वप्न दर्शनों के द्वारा सूत्रबद्ध किये गए हैं। लेखक के अनुसार इसे सिनेरियो शिल्प में लिखा गया है पर आरम्भ से अंत तक सिनेरियो शिल्प का आभास भी कहीं नहीं मिलता। सिनेरियो स्क्रीन प्ले या चित्रालेख होता है और फिल्म पट की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखा जाता है परदे पर कोई दृश्य किस भाँति, किस एंगिल से कितना आना चाहिए इस दृष्टि से हर स्थान पर कैमरा परिचालन के निर्देश उस आलेख में होते हैं। संवाद बोलने, आंगिक और वाचिक अभिनय करने का निर्देशन भी रहता है। वस्तुतः सिनेरियो को अनुरों में लिखी सम्पूर्ण फिल्म कहना चाहिए। इस रूप में 'सोया हुआ जल' नहीं लिखा गया है, बल्कि दृश्यगत स्थितियों को छोड़कर उसका शिल्प फीचर के अधिक निकट है। फीचर में जिस प्रकार छोटे अंकों को नैरेटर के माध्यम से जोड़ा जाता है लगभग उसी प्रकार की दृश्य स्थितियाँ बूढ़े पहरेदार के कल्प विकल्प के माध्यम से यहाँ सम्बद्ध की गई हैं। इसलिए 'सोया हुआ जल' को उपन्यास कहने के बजाय वार्तालाप शैली में लिखित एक प्रतीकात्मक दृश्य रूपक कहना अधिक उचित होगा।

लेखक की भाषा तथा स्थितियों का वर्णन बड़ा मार्मिक और आकर्षक है। मध्यवर्गीय जीवन की जिस हताशा, अतृप्ति और प्यास का चित्र सामने आता है उसके अनुरूप दर्द और उदासी का वातावरण भी दिया गया है—

'रात अंधेरे में सोया हुआ ताल का जल। नाचती हुई रोशनी के पीले हरे फूल। खटखट। एक काली परछाईं का ताल के जल पर से रेंग जाना।'

मध्यवर्गीय जीवन वास्तविकताओं में तृष्णा और अतृप्तियों और स्वप्नों में इच्छा पूर्तियाँ (wish fulfilment) लेखक के अनुसार यही उसकी परिभाषा है। वह दुनिया एक धर्मशाला या होटल की तरह है, सम्भवतः इसीलिए होटल ही घटना का केन्द्रस्थल बनाया गया है। इस दुनिया में ब्रिज और ड्रिंक्स चलते हैं, लड़कियों की फिराक रहती है, प्रेयसी को लेकर प्रेमी घर से भाग जाते हैं, भाभियाँ अपने विवाह से पूर्व किये हुए रोमांस की अतृप्तियों को स्वप्न में पूरा करती हैं छोटे भाई अवचेतन मन में भाभियों का पान की अतृप्त कामना रखते हैं, शराफजादे कमरों में फाँसी से लटकते पाये जाते हैं खूंखार क्रान्ति में विश्वास रखने वाले आदर्श के नाम पर सफर खर्च पाने के लिए खून तक करने का निश्चय करते मिलते हैं, क्योंकि 'वे नीच घृणित' और हाथ में बोतल लिये भूमते फक्कड़ शराबी उस दुनिया के सबसे बड़े फलसफी होते हैं।

सारांश में 'सोया हुआ जल' में मध्यवर्ग का यही चित्र है। असंतोष, अतृप्ति और

तृष्णा से भरा हुआ वह वर्ग है जिसकी मुख्य भूख रोमांस और सेक्स की भूख है। इस वर्ग की अतृप्तियों और असंतोष में एकाध आर्थिक अभाव का जिक्र भी लेखक ने कर दिया है, जैसे बेकारों को स्वप्न में नियुक्ति पत्र की प्राप्ति या भूखों को शानदार दावत की प्राप्ति पर उसका संकेत स्वप्न दर्शन के रूप में ही आता है, उभरकर नहीं। आदि से अंत तक इस वर्ग की मुख्य अतृप्ति सेक्स ही के रूप में अंकित हुई है। जिसके अन्तर्गत प्रेम की विफलता, वैवाहिक जीवन का विपर्यय, दैहिक भूख का दमन, इन्द्रियाकुलता, कुण्ठा, यौवन, वर्जना आदि आती हैं। लेखक का प्रस्तुत विश्लेषण इस संक्षिप्त किन्तु महत्त्वपूर्ण उद्धरण से स्पष्ट होता है

"अस्त व्यस्त वसना और शिथिल मुद्राओं में, कसे अंगों वाली स्त्रियाँ, सुन्दर वस्त्रों में सजी हुई स्त्रियाँ, नंगी अधनंगी स्त्रियाँ, आलिंगन बद्ध, हँसती, गाती, प्यासे होंठ बढ़ाती स्त्रियाँ चारों ओर बिखरी हुई हैं और सिमिटकर एक बड़ी लम्बी कतार में धर्मशाला के भीतर प्रवेश कर रही हैं। कमरों के दरवाजे खोलकर आ रही हैं भीतर पलंगों पर सो रही हैं, प्रेमालाप कर रही हैं। नाच रही हैं, गा रही हैं।

यह परियों का जमावाड़ा क्यों है?

क्योंकि आदमी ने अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण लगा रखा है, उसकी इन्द्रियाँ तृप्त नहीं हैं। ये सभी भूखे हैं, प्यासे हैं, यह उनकी माँग है।"

इसी प्यास और तड़प के आधार पर 'सोया हुआ जल' की रचना हुई है। लेखक के अनुसार मध्यवर्ग की इन सारी समस्याओं का हल किसी भौतिकवादी परिवर्तन से नहीं बल्कि ऐसी क्रांति से होगा जिसका आधार करुणा पर, संवेदना पर और मानवता पर होगा, क्योंकि 'बाह्य परिस्थितियों के बदलने से काम नहीं चलेगा, आदमी को भीतर से बदलना होगा।'

प्रश्न यह नहीं है कि नये परिवर्तन का आधार करुणा, संवेदना और मानवता पर हो या नहीं। मानवीय आधार से किसी को कदापि इन्कार नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि क्या हमारे समस्त मध्यवर्ग का केवल यही रूप है जो यहाँ प्रस्तुत किया गया है, क्या उसकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक समस्याएँ कुछ नहीं हैं, क्या मात्र सेक्स और उससे उत्पन्न कुण्ठाएँ ही उसकी सारी खराबियों की जड़ है, जिसके कारण आदमी को भीतर से बदलने की आवश्यकता दिखाई देती है। फिर यह मध्यवर्ग कौन सा है? क्या एक विशेष प्रकार का उच्च वर्ग नहीं, जिसके सामने शायद 'सेक्स' ही मुख्य समस्या होती है? यदि सेक्स ही उसकी समस्या का मूलाधार है तो फिर भीतर से बदलने का अर्थ केवल यह रह जाता है कि आदमी की इच्छाओं पर नियन्त्रण न रहे, उसकी इन्द्रियाँ तृप्त हो जायँ, वह खुलकर अपनी दैहिक प्यासों को बुझाता चले। फ्रायड के साइको एनेलेसिस का यही हल है और यदि हृदय परिवर्तन को ही लिया जाय तो शून्य में तो वह हो नहीं सकता, उसके लिए यथार्थ की पीठिका भी आवश्यक है। यह 'यथार्थ' सेक्स या सेक्सगत कुण्ठाएँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि वह 'भीतर' की चीजें हैं। तब बाह्य परिस्थितियों के परिवर्तन के सिवा उसका क्या आधार हो सकता है। आदमी के संस्कारों में उसकी बाह्य परिस्थितियाँ तथा उनसे उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाएँ, रुचियाँ, आदतें आदि दोनों ही सम्मिलित होती हैं, इसलिए आदमी को बदलने

के लिए दोनों का परिवर्तन आवश्यक होता है। जो दोनों का सामञ्जस्य और समन्वय करके चलता है वही परिवर्तन मानवीय और मानव योग्य होता है। इस प्रकार विश्लेषण और निष्कर्ष दोनों ही दृष्टियों से 'सोया हुआ जल' में एक तरह का उलझाव नज़र आता है।

आदमी की समस्या सेक्स की ही नहीं है, सेक्स की किशोर भावना से ऊपर उठकर समाज की है, संस्कृति की है, व्यवस्था की है, रचना की है, निर्माण की है, । वह आज अकेला नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय है। 'सोया हुआ जल' में हमें यह दृष्टिकोण नहीं मिलता, पर वह एक श्रेष्ठ कृति है, उसका शिल्प अत्यन्त सफल, उत्कृष्ट और नया है और वह लेखक की गहरी, अनुभूतिमयी और बारीकियों में जाने वाली दृष्टि का भी परिचायक है।

'निकष' की तीन अन्य कहानियाँ मानवीयता का इससे एक भिन्न स्तर प्रस्तुत करती हैं। ये कहानियाँ हैं भारती की 'गुल की बन्नो', शान्ति मेहरोत्रा की 'सूने दिन सूनी रातें' और रघुवीर सहाय की 'सेब'। इन्सानी सद्भावना, सहानुभूति, करुणा का एक अनन्त प्रवाह इन कहानियों में है जो हमें उसके पात्रों और घटनाओं से एकात्म कर देता है और हमारे मन में वही मरोड़ें पैदा करता है जो इनके पात्रों ने तथा लेखक ने पात्रों को जन्म देते समय अनुभव की होंगी। ऐसा केवल इसलिए नहीं होता कि इन कहानियों के पात्र तथा घटना स्थितियाँ सार्वजनीन 'टाइप्स' हैं, एक सिमटे हुए वर्ग विशेष की नहीं हैं, जिनकी विशेष प्रकार की समस्याएँ और अभिजात प्यासें होती हैं पर इससे कहीं बड़ा कारण यह है कि स्वयं लेखक ने उन समस्याओं और कटीले भावावेगों को बड़ी शिद्दत से अनुभव करके व्यक्त किया है, जिससे साधारणीकरण सम्भव हो सका है। तीनों ही कहानियाँ इस बात का सफल उदाहरण हैं। उनमें लेखकों का दृष्टिकोण शुद्ध मानवीयता का है, जैसा हाड़ माँस के बने आदमी का आदमी के प्रति होता है, यानी वह जो आदर्श सिद्धान्त, मत मतान्तर, पूर्व धारणाएँ, भेद, भिन्नता, अहंभाव, पक्षपात का चश्मा चढ़ाए नहीं रहता या स्थिति विशेष में इन्सानी नस्ल के किसी व्यक्ति को पड़ा देखकर इन बातों को भूल जाता है। इन कहानियों में सँधे बँधे (सैट) सिद्धान्त, सम्प्रदाय या आइडियोलोजी की थोपा थापी नहीं की गई है। उनकी घटनाओं को किसी दृष्टि विशेष से कोई हेतु या झुकाव देकर प्रस्तुत नहीं किया गया बल्कि इन्सान के रिश्ते से इन्सान को देखा गया है। यह इन कहानियों की नई विशेषता है और इस नाते इन्हें सही मानों में 'स्वतन्त्र' कहा जा सकता है।

'गुल की बन्नो' (नाम की मौलिकता के लिए भारती को बधाई दिये बिना मन नहीं मानता) की विशेषता चरित्र चित्रण है। शहर की गन्दी गली और गली के लावारिस बच्चे, गुलकी, घेघा बुआ, साबुन वाली सती निरमल की माँ इन सबका चरित्र अपने अपने दायरे से जुदा जुदा अंकित हुआ है, जो एक साथ मिलकर हमारे नगरों की गलियों में बसने वाले निचले वर्गों के जीवन और उनकी रुचियों, समस्याओं का एक संश्लिष्ट चित्र सामने लाता है। 'ऐ मर कुलमुँहे' की गाली से कहानी का आरम्भ उस समस्त अभिशप्त जिन्दगी का प्रतीक मात्र बन जाता है जिस धूरा की दुनिया में आदमी और पशु, कुत्ते और सांप निकलते गली के बच्चे अस्तित्व के एक ही स्तर पर रहते हैं।

शान्ति मेहरोत्रा की कहानी में 'सिचुएशन' की विशेषता है। जीवन का मोह, ममता और गहरी संवेदना उसके लिए सुलभ है, वह इस कहानी में खूब व्यक्त हुई है। एकाकिनी

बुढ़िया, जिसका अपने को छोड़कर कोई सम्बल नहीं है, जो हर मानसिक तिनके का सहारा ढूँढती है, जिसका दूसरा जीवन नाटे नहीं करता, फिर भी वह उसे मुट्ठी से पकड़े हुए है यह सब विश्लेषण बहुत सच्चा और मर्मभेदी बन पड़ा है। बड़ी सफलता और बारीकी से लेखिका ने अपने 'टाइप' के मन की हालत पकड़ ली है। घर की जिन छोटी छोटी बातों, काम काज और बातों के बीच उन्होंने बुढ़िया का नक्शा खींचा है वह एक गृहिणी ही कर सकती थी। इसलिए उनकी कहानी में पारिवारिकता का अनूठा स्पर्श मिलता है।

रघुवीर सहाय का 'सेब' भी साधारण से काफी अलग कहानी है। उसका शिल्प 'स्केच' का है। मानवीय संवेदना से युक्त उसका वातावरण बड़ा कोमल तथा करुणा की हल्की अफसुर्दगी और एक प्रकार के अनिवार्य कोरेपन से अनुप्राणित है। कोरेपन का यह मासूम आवरण उसकी करुणा को और गहरा बनाता है। मानवीयता का एक नया ही एंगिल उसमें प्रस्तुत किया गया है

'मैं अपनी करुणा से परेशान था और उसे मेरी करुणा की आवश्यकता नहीं मालूम हो रही थी।''

"वह हँसा तो नहीं पर पेम मुसकराया जैसे कह रहा हो कि अपनी करुणा का श्रेय लेना चाहते हो तो हमारी व्यथा को क्या खारिज किए कर रहे हो।"

"मैं सवेदन ही दे सकता था इसलिए मेरे मुँह से निकला 'घबराओ नहीं, ठीक हो जायगी लड़की'। अब सोचता हूँ कि बजाय इसके अगर मैं पूछता 'आज कौन सा दिन है' तो कोई फर्क न पड़ता।"

क्या चुटीला व्यंग्य है।

इन कहानियों के बाद डॉ० रघुवंश की कहानी 'घाटी का दैत्य' एक सुगठित मनोविश्लेषण से पूर्ण रचना है। विषय तथा सेटिंग नया है, पर मानवता का तीखापन कुछ कम है।

निबन्ध और व्यक्ति लेखों में सबसे मौलिक और आकर्षक अनन्तकुमार पाषाण का व्यक्ति लेख 'सड़क बाहर की, भीतर की' है। फ्री असोसिएशन के टेकनीक से वह लिखा गया है और उसका व्यंग्य श्रेष्ठ है। वाद रहित स्वतन्त्र चिन्तन का प्रमाण उसमें है। श्रीलाल शुक्ल का 'स्वयं भीम और वर्षा' भी चुटकियों भरा सफल व्यंग्य है। कुट्टिचातन (सम्भवतः अज्ञेय) का मार्ग दर्शन मजेदार चीज है यद्यपि वह गुदगुदाता है, हँसाता नहीं। विद्यानिवास मिश्र का निबन्ध 'हल्दी, दूब और दधि अक्षत' हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं को अत्यन्त सुन्दर और रोमानी ढंग से प्रस्तुत करता है।

संकलन की शेष सामग्री में केशवप्रसाद मिश्र की कहानी 'कोयला भई न राख', फणीश्वरनाथ रेणु की 'रसप्रिया', डॉ० रांगेय राघव के उपन्यास का अंश 'गाथा', लक्ष्मीकान्त वर्मा लिखित 'खाली कुर्सी की आत्मा', केशवचन्द्र वर्मा का हास्य-लेख 'फलित ज्योतिष और बादन योग', भगवतशरण उपाध्याय का 'मूल्यांकन', अजितकुमार के 'डायरी के कुछ पृष्ठ', (जिसकी खास चीज सिर्फ यह है कि कविता में संगीत के नये तत्व और अक्षरों की स्वतन्त्र स्थिति की गम्भीर बात करके अन्त में एक समूचे पद्यांश को गद्य की पंक्तियों की तरह लिख दिया गया है), डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल का नाटक 'मैं आइना हूँ', प्रभाकर माचवे तथा शम्भूनाथ सिंह

की दो प्रग्य कविताएँ तथा विपिन अग्रवाल, गंगाप्रसाद पांडेय और वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा की तीन लघु कथाएँ आती हैं। ये सभी लेखक प्रतिष्ठित और प्रतिभा सम्पन्न हैं और प्रस्तुत सामग्री से अधिक श्रेष्ठ चीजें भी लिखते रहे हैं।

अन्त में हम सम्पादकीय वक्तव्य का विश्लेषण करेंगे। सम्पादकीय का इन स्थापनाओं से मतभेद नहीं हो सकता कि श्रेष्ठता ही साहित्य का मापदण्ड होना चाहिए, मानवीयता तथा नैतिकता ही नये साहित्य का परम मूल्य है और यह कि साहित्य का सौन्दर्य मर्यादा, अनुपात, सन्तुलन, व्यवस्था में निहित है। इन मूल्यों को साहित्य में प्रतिष्ठित करने के लिए ही आज का साहित्यकार यथार्थ से जूझ रहा है और यह भी ठीक है कि साहित्यकार का पाठकों के प्रति गम्भीर दायित्व है, असाम सामर्थ्य और सम्भावनाओं से युक्त 'जन' को उसे अपना श्रेष्ठतम देना है, "झूठ, मिथ्या और कल्पित, आत्मप्रलोपक कुहालोक में न भटककर वास्तविक सपनों से आँख मिलाना है।" पाठक को या 'जन' को, जो यन्त्र या पशु बनाना चाहते हैं ऐसे प्रतिगामी विचारधाराओं से अलग हटकर मुक्त सृजन करना है।

यहाँ तक यह तर्क और विश्लेषण ठीक है, सर्वमान्य है। पर इन स्थापनाओं से जो निष्कर्ष निकाले गए हैं वहाँ कुछ कल्पना और अतिरंजना का अंश आ गया है। कहा गया है कि अब तक का अधिकांश साहित्य पाठक या 'जन' को बहकाने वाला था, क्योंकि उस अधिकांश के पीछे प्रचारात्मक, उपयोगितावादी रोमांचक, सेक्सी या पुराणपंथी दृष्टिकोण काम करता था। अब जब इससे दूसरे प्रकार का नया साहित्य सामने आ रहा है तो वे प्रवृत्तियाँ, जो मानव को पशु या यन्त्र बनाना चाहती थीं, जो पाठक को केवल "बचकानी अनुभूतियाँ, छिछले स्तर और सस्ती अभिरुचि के योग्य ही समझती थीं" वे इस नये कृतित्व पर दुरूहता का आरोप करती हैं। सम्पादकीय में यहाँ तक कह दिया गया है कि चूँकि आज अनुभूतियाँ अधिक मार्मिक और असाधारण हैं इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी जटिलतर है। इसी कारण श्रेष्ठता, उच्चता के साथ उसमें एक अवश्यम्भावी दुरूहता आ जाती है।

हम नहीं समझते कि दुरूहता ही श्रेष्ठता की कसौटी है और जो श्रेष्ठ साहित्य होता है वह दुरूह होता है। हम यह भी देखते हैं कि इस दुरूहता की आड़ में आज बहुत सा वाहियात कृतित्व भी सामने आ रहा है जिसमें खामखाह कोई नया दर्शन देने के लिए उछल कूद, तोड़ मरोड़ की जाती है। हम यह भी नहीं मानते कि असाधारण मार्मिक और गहरी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति आवश्यक रूप से जटिल होती है। बल्कि इसके विपरीत युगान्तर महान् साहित्य में जितनी गहरी, मार्मिक और श्रेष्ठ अनुभूतियाँ हमें मिलती हैं वे उतनी ही सहजता और सरलता से व्यक्त की गई हैं। श्रेष्ठ साहित्य का तो लक्षण ही यह है कि वह अत्यन्त जटिल अनुभवों को अत्यन्त सहज और सर्वग्राह्य रूप से व्यक्त करता है, जटिलताओं को पचाकर उसमें से सार्वजनीन सत्य का असल डोरा निकाल लाता है। अपने अन्तिम विश्लेषण में हर बड़े से बड़ा सत्य इतना सरल, सहज और आँखों के इतने निकट होता है कि लोग उसे भूले रहते हैं, उसका खयाल ही नहीं करते। वही जब श्रेष्ठ साहित्य के द्वारा उद्भासित होता है तब सहसा लोगों का ध्यान उसकी ओर जाता है और सदा से निकट होने के कारण वह सबको स्वत मालूम होता है। इसलिए यह कहना कठिन है कि दुरूहता श्रेष्ठता या गहनता ही का लक्षण है, मानसिक उलझाव (Confusion) या

कुहासे का नहीं। नये साहित्य की दुरूहता और सगतियों के आलोचक बहुत से नये पुराने
विचारवान्, स्वतन्त्र चिन्तक भी रहे हैं, जिनके बारे में यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि
व मानव को यन्त्र या पशु बनाना चाहते हैं। फिर यह पाठक कौन है? नया साहित्य में
साधारणत रुचि रखने वाला आम शिक्षित पाठक, विशेषत दीक्षित पाठकों का एक सीमित
वर्ग या स्वय लेखक हो, जो आज आपस का पाठक है? और यह भी प्रश्न महत्वपूर्ण है
कि आज कौन पाठक को य त्र या पशु बनाना चाहता है। हमें तो ऐसी किसी प्रवृत्ति का भय
नहीं मिलता, जो आज जीवित हो या जिसका कोई अस्तित्व ही हो। हमारे साहित्य में जो
प्रचारात्मक, अतिवादी, हिंसात्मक प्रवृत्ति थोड़े दिन के लिए आई थी वह कभी की समाप्त हो
चुकी है अपनी मौत मर चुकी है और उस प्रवृत्ति के जि दा होने के न लक्षण हैं, न कदापि कोई
सम्भावना है। प्रयत्न करने पर भी वह यहाँ न टिक सकी, क्योंकि एक तो उसके पीछे निहित
लक्ष्य और स्वार्थों की बहुत जल्दी पोल खुल गई, दूसरे इस देश की आत्मा ने पक्तिबद्धता,
रेजीमेण्टेशन और नफरत के सिद्धा त को कभी स्वीकार नहीं किया, उस वक्त भी स्वीकार नहीं
किया था। इसलिए अब उस प्रवृत्ति को अपनी सारी स्थापनाओं का वेध लक्ष्य बनाना न केवल
एक निषेधात्मक (Negative) दृष्टिकोण अपनाना है बल्कि उसे डर का एक मिथ्या भूत
खड़ा करना है। हमें सचेत अवश्य रहना है कि तु एक त्रिकट चीज का बार बार इतने विस्तार
के साथ जिक्र करने से लोगों को व्यर्थ ही यह भ्रम पैदा हो सकता है कि सम्भवत नये साहित्य
की कमजोरियों को छिपाने के लिए एक हेतु लिया जा रहा है, दुर्बलताओं को रेशनेलाइज
किया जा रहा है। ऐसी ही बातों के कारण लोगों को 'व्यक्तिवादिता' आदि का भ्रम होने
लगता है। आज वाद और सम्प्रदाय से सब ऊब चुके हैं और उनसे ऊपर उठकर, केवल मनुष्य
रहकर मुक्त और स्वतन्त्र मन से स तुलित और समन्वित साहित्य सृष्टि करना चाहते हैं। यह
समय की माँग है। ऐसी सूरत में एक निश्चयात्मक (Positive) दृष्टिकोण ही रखना उचित
है और यह कहना पर्याप्त है कि नया साहित्य साम्प्रदायिकता, पक्षधरता, पंक्तिबद्धता,
रेजीमेंटेशन, नफरत का विरोधी और असीम प्रतिभा और सम्भावना सम्पन्न 'मनुष्य' मनुष्यत्व
तथा मानव-व्यक्तित्व की प्रगति का साथी है।

❂

परिचय

सन्तुलन

लेखक—प्रभाकर माचवे प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली, पृ० १६२ मूल्य २) रु० ।

हिन्दी में आलोचना के नाम पर आज विपुल साहित्य प्रकाश में आ रहा है। किन्तु वास्तव में आलोचना की कोटि में कितना साहित्य आता है, यह विचारणीय है। प्रस्तुत निबन्ध पुस्तक इस दृष्टि से एक अभाव की पूर्ति करता है। यह तीन भागों में विभक्त की गई है (१) कला और साहित्य, (२) आधुनिक कविता, और (३) आधुनिक गद्य।

पुस्तक के सर्वोत्कृष्ट निबन्ध हैं—'कला समीक्षा की कुछ समस्याएँ', 'मर्मी कवियों की विरह व्यंजना' तथा 'हिन्दी गद्य की कुछ आवश्यकताएँ'। 'कला समीक्षा की कुछ समस्याएँ' में कला के प्रयोजनों तथा समीक्षा के मानदण्डों पर लेखक ने गम्भीरता से विचार किया है। आज का कलाकार कल्पना प्रधान होकर मानसिक जगत् में स्वतन्त्र विचरण करने पर भी एक विशेष मर्यादा तक ही उस स्वातन्त्र्य का उपभोग कर सकता है। साथ ही समीक्षक को भी प्राचीन आलोचकों की भाँति वैयाकरण न होकर समाज शास्त्र तथा मानस शास्त्र इन दो महत्त्वपूर्ण शास्त्रों से दृष्टि प्राप्त करनी ही चाहिए। इसके अतिरिक्त कला में शैली एवं शिल्प विधान अधिक मुख्य हैं अथवा वस्तु तत्त्व—इस पर भी विदेशी विद्वानों के मतों को लेखक ने प्रचुरता से उद्धृत किया है। आलोचना के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर भी विस्तार से विचार किया गया है। लेखक को आधुनिक कला प्रयोगों के प्रति समीक्षक के सहिष्णु होने में आस्था अधिक है। आलोचना रचनात्मक हो, इस बात पर लेखक ने बल दिया है। यद्यपि लेख महान् लेखकों, आलोचकों, मनोवैज्ञानिकों एवं दार्शनिकों के विचार संग्रह के कारण बहुत बोझिल हो गया है, फिर भी इसमें विषय का प्रवर्तन सुन्दर हुआ है तथा सभी आधुनिक समीक्षा समस्याओं की ओर संकेत करता है। 'मर्मी कवियों की विरह-व्यंजना' में अँग्रेजी, हिन्दी, मराठी, उर्दू तथा फारसी की रहस्यवादी काव्य धाराओं की झाँकियाँ देखने को मिलती हैं। सम्यक् रूप से इन सबकी सामान्य प्रवृत्तियों की अन्त में विवेचना भी की गई है। यह लेख बहुत रोचक, उपयोगी और सुन्दर बन पड़ा है। 'हिन्दी गद्य की कुछ आवश्यकताएँ' में हिन्दी के कोष-साहित्य, यात्रा साहित्य, बाल साहित्य इत्यादि १८ साहित्यिक विभागों में अभी तक हुए कार्य का संक्षिप्त विवरण तथा उनकी विदेशों में हुए कार्य से तुलना दी गई है। इसके अतिरिक्त उचित दिशाओं की ओर संकेत भी किये गए हैं।

इसके अतिरिक्त 'आधुनिक साहित्य और मनोविकृति', 'मार्क्सवाद और सौन्दर्य शास्त्र, 'औचित्य क्या ?', 'आलोचना रचनात्मक हो', 'नई हिन्दी कविता में छन्द प्रयोग', 'नाटक और आधुनिक समस्याएँ', 'उपन्यास में मनोविज्ञान' शीर्षक लेख पठनीय हैं और साहित्य की वर्तमान समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। शेष निबन्ध साहित्य के विद्यार्थी के लिए उपयोगी हैं। ऐसे लेख या तो विवरणात्मक हैं अथवा सूचनात्मक, जैसे 'आधुनिक साहित्य और चित्र कला', 'संस्कृत एकांकी के प्रकार', 'भारतेन्दु के नाटकों में सामाजिक परिकल्पना', इत्यादि।

सभी निबन्ध लेखक के विस्तृत अध्ययन का परिचय देते हैं। यद्यपि विदेशी विचारों एवं उद्धरणों का प्राचुर्य है जिससे शैली में बोझिलता अवश्य आ गई है, किन्तु साथ ही अपनी मान्यताओं को भी रखकर लेखक ने दोनों के बीच सन्तुलन स्थापित कर लिया है।

कुछ लेख छोटे, अपूर्ण तथा मात्र सूचनात्मक हैं, जैसे 'छायावाद का भविष्य' इत्यादि। ऐसे लेखों में पत्रकारिता अधिक उभरकर आई है।

कुल मिलाकर पुस्तक संग्रहणीय तथा अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सभी लेख आधुनिकतम साहित्यिक समस्याओं से हिन्दी के पाठक को अवगत कराते हैं। माचवे जी से हिन्दी संसार भली भाँति परिचित है और यह कृति उनकी मर्यादा के अनुकूल ही गम्भीर और प्रौढ़ है।

प्रूफ की अशुद्धियाँ हैं। छपाई सन्तोषजनक है। पुस्तक का मूल्य ४) रु० पृष्ठ संख्या की दृष्टि से अधिक होते हुए भी सामग्री की दृष्टि से क्षम्य है।

—श्याम मोहन

बंगला की आधुनिक प्रेम कहानियाँ

सम्पादिका—मृदुला देवी, प्रकाशक—अखण्ड भारत प्रकाशन, कलकत्ता।

इस पुस्तक में बंगला के प्रमुख लेखकों की एक एक कहानी का अनुवाद दिया गया है—ताराशंकर बन्द्योपाध्याय, प्रबोध सान्याल, बनफूल, मनोज बसु, प्रेमेन्द्र मित्र, अचिन्त्य कुमार सेनगुप्त, विभूतिभूषण मुखोपाध्याय, सुबोध घोष, आशापूर्णा देवी, नरेन्द्र नाथ मित्र, गजेन्द्रकुमार मित्र, सुमथ नाथ घोष, वाणी नाथ और देवेशचन्द्र दास। इन नामों में बंगला के करीब करीब सभी प्रमुख कहानी लेखकों के नाम आ गए हैं, पर कई लेखकों का, जैसे नारायण गंगोपाध्याय का, न होना खटकता है। फिर सम्पादिका महोदया ने इन्हें प्रेम कहानियों का नाम क्यों दिया, क्योंकि प्रेम के साथ और भी उपादान तो रहते ही हैं। कई कहानियों में तो प्रेम का कतई कोई सम्बन्ध ही नहीं है, जैसे प्रबोध सान्याल की कहानी। कदाचित् व्यापारिक दृष्टि से यह नामकरण हुआ है, यह अनुचित है। फिर यह मृदुलादेवी भी कौन हैं? बंगला साहित्य में तो इनका नाम कोई नहीं जानता, हिन्दी की भी यह कोई सुपरिचित लेखिका नहीं।

इनका अनुवाद भी सन्तोषजनक नहीं हुआ है। ऐसी सुन्दर कला कृतियों के अनुवाद में और भी अधिक सावधानी बरती जानी चाहिए। फिर भी इन कहानियों से बंगला कहानी साहित्य की उच्चता का ज्ञान पाठकों को हो जायगा। ऐसे संग्रह और प्रकाशित होने चाहिएँ, और हिन्दी के कहानी लेखकों का भी एक संग्रह बंगला में प्रकाशित हो। इस काम को कलकत्ता के प्रकाशक ही कर सकते हैं।

—मन्मथनाथ गुप्त

'अभियान', 'बदलता युग' और 'अन्तराल'

(१) अभियान—प्रकाशक—श्री श्याम स्वरूप जैन, ३१, गोलकुण्डा, इन्दौर (मध्य भारत)।

(२) बदलता युग—प्रकाशक—श्री दीनानाथ बुक डिपो खजूरी बाजार, इन्दौर।

(३) अन्तराल—प्रकाशक—युवक साहित्यकार संघ, धार (मध्य भारत)।

ये तीनों श्री महेन्द्र भटनागर की कविताओं के संग्रह हैं। 'अभियान' और 'बदलता युग' के स्वर प्राय एक ही हैं। दोनों में मार्क्सवादी विचार धारा को भावोत्तेजक परिवेश देने का जो प्रयत्न किया गया है उससे काव्य के स्वाभाविक गुण, रागात्मकता का प्रभाव छाया पड़ गया है। किन्तु 'अन्तराल' में कवि अपनी सहजता और स्वाभाविकता के कारण अभिप्रेत को सचेतित कर सकने में सफल हो सका है।

'अभियान' में कुल छत्तीस कविताएँ हैं। नौ प्रशस्तियों (१ प्रेमचन्द, २ तुलसीदास, ५ गांधीजी तथा १ बलिया पर) को छोड़कर शेष अन्य कविताओं में कवि ने सामाजिक व्यवस्था, वर्ग विद्वेष, शोषण तथा पराधीनता के प्रति क्रान्तिकारी 'अभियान' के लिए आह्वान किया है। इन सबका मन पर व्यापक प्रभाव नहीं पड़ता। सम्भवतः इसलिए कि लेखक ने यथार्थ के प्रति रागात्मक अनुभूति न जगाकर आवेशपूर्ण भाषण को छन्दों बद्ध कर दिया है। 'मशाल', 'बंधन मुक्त', मृत्युदीप', 'अन्तर ज्वाला', 'प्रलय संगीत' आदि अधिकांश कविताएँ इसी कोटि की हैं। रूप विधान की दृष्टि से 'तितिहर', 'खेतों में', और 'अभियान' में कुछ नवीनता नाटकीय तत्त्व भरने के कारण मिलती है। छन्द में गति भंग का दोष अधिकांश कविताओं में है। एक बात जो आकर्षित करने वाली है वह है कवि की अपनी आस्था के प्रति ईमानदारी। जिस भी विषय वस्तु को लेखक ने ग्रहण किया है उसमें ओज और उसके शक्तिपूर्ण विश्वास का बल दिखलाई पड़ जाता है।

दूसरे संग्रह 'बदलता युग' में भी वही आवेश है, किन्तु कुछ परिमार्जित रूप में। इसमें कवि की अनुभूति का क्षितिज व्यापक हो गया है। कुल बयालीस कविताओं में अनेक कविताएँ, यथा 'बंगाल का अकाल, 'नौसैनिक विद्रोह', 'साम्प्रदायिक दंगे','आजाद मस्तक को उठा लेता', 'दमित नारी', 'साम्प्रदायिक विष', 'हम एक हैं', आदि ऐसी हैं जिनका महत्त्व इसीलिए है कि कवि का मानस अपने युग में गुजरने वाली, सामाजिक परिस्थितियों से स्पंदित होता रहा है, ऐसा नहीं कि उसने जन जीवन से अपनी आँखें बदली थीं किन्तु इनमें कुछ ही ऐसी हैं जो संतुलित पाठक के मन को छू सकें। जहाँ कहीं भी कवि ने मानवीय तत्त्वों को स्पर्श किया है उसकी वाणी मर्मस्पर्शी हो उठी है।

इन दोनों काव्य संग्रहों की अपेक्षा श्री महेन्द्र भटनागर का कवि 'अन्तराल' में कहीं अधिक प्रसन्न और विकसित रूप में सामने आता है। लगता है जैसे एक लम्बे अन्तराल के बाद कवि के मस्तिष्क से विचार और वादों की धाराएँ फट गई हों और उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व अपने वास्तविक रूप में उन्नत हो उगा हो। इसमें न तो पूर्वग्रही विचारों के प्रति आग्रह ही है, न सीमित विषयों का बन्धन ही। आशा निराशा, प्रणय, प्रभृति आदि क्षेत्रों में कवि ने प्रवेश किया है और स्वानुभूत स्पर्शों को मार्मिकता के साथ व्यक्त करने का प्रयास भी। जहाँ एक ओर प्रणय के बीच कवि आशा निराशा, आनन्द और अश्रु के

बीच मुखरित हुआ है, वहीं दूसरी ओर प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध भी स्थापित किया है। 'तुम्हारी माँग का कुंकुम', 'याद', 'उमेद', तथा 'ढलती रात', 'प्रभात की हवा', 'घटाएँ', 'जल वृष्टि' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। इन सभी में रागात्मकता और आत्म निवेदन की प्रमुखता है। विद्वान् भूमिका लेखक श्री विनयमोहन शर्मा के इस कथन से "अन्तराल का कवि जब आत्म भाव से आहत होता है तब वह छायावादी शैली को अपनाता है, और जब वह अपने से बाहर झाँकने लगता है तब उसमें स्वच्छन्दता आ जाती है। जहाँ तक सम्भव हुआ है उसने अपने को छायावादी कुहासे से सर्वथा बचा लिया है।' अधिक असहमत नहीं हुआ जा सकता। रुचि स्वातन्त्र्य कवि व्यक्तित्व की कसौटी है। इस दृष्टि से भटनागर जी अपने को पल्लवित कर सकें तो उत्तम हो। प्रस्तुत काव्य संग्रह को देखकर हम भटनागर जी से भविष्य में काफी आशावान हैं।

—हरिमोहन

पुनरुद्धार

लेखिका—श्रीमती कमलता सब्बरवाल, प्रकाशक, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, मूल्य ३), पृष्ठ संख्या १६८।

ईसा की दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुशानों को परास्त करके भारशिवों ने हिंदू राज्य की स्थापना की थी। इस सम्बन्ध में काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसन्धानों के आधार पर कुछ सूत्र-संग्रह करके लेखिका ने 'पुनरुद्धार' की रचना की है। इस उपन्यास का ऐतिहासिक आधार बहुत क्षीण है। लेखिका ने स्वयं कहा है।

"नवनाग और वीरसेन के अतिरिक्त सब ही पात्र काल्पनिक हैं। घटनाओं में से भारशिवों का मध्य प्रदेश की पहाड़ियों से घिरे इलाके में लगभग पचास वर्ष तक अज्ञात वास करने और लगभग १४० ई० के आस पास उत्तराखण्ड में आकर कुशानों को परास्त करने अपना साम्राज्य स्थापित करने तथा अश्वमेध यज्ञ करने के अतिरिक्त सब ही काल्पनिक हैं।"

इन थोड़े से ऐतिहासिक संकेतों के आधार पर लेखिका ने कल्पना द्वारा उपन्यास गढ़ा है। मुख्य कथा में चन्द्रभाल और विशालाक्षी के विछोह को लेकर लेखिका ने उपन्यास में मार्मिकता उत्पन्न की है। विशालाक्षी की मृत्यु के पश्चात् चन्द्रभाल को लेकर ही भावनाओं के आधार पर कथा आगे बढ़ती है। यहाँ लेखिका नये ढंग का भावनात्मक वातावरण प्रस्तुत करती है। अन्य छोटी छोटी घटनाएँ भी जोड़ी गई हैं, जो उपन्यास की रोचकता को बढ़ाती हैं।

शिव और राष्ट्र के प्रति अन्ध विश्वास तथा कर्त्तव्यनिष्ठा ही उपन्यास के पात्रों की प्रेरक शक्ति है। हिंदू धर्म और हिंदू राष्ट्र की स्थापना की भावना ही सारे उपन्यास में छाई हुई है।

उपन्यास में उस काल की सामाजिक परिस्थिति के चित्रांकन का प्रयत्न नहीं है। जो चित्र उपस्थित किये गए हैं वे भी कल्पनाप्रसूत हैं। लेखिका ने कुशानों से मिलकर बौद्ध धर्मावलम्बियों के राष्ट्रद्रोही होने की जो कल्पना की है वह अनैतिहासिक है। इसके लिए प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु बुद्धघोष के गुरु महास्थविर पर हत्या और जालसाजी के जो आरोप लगाये गए हैं वे निर्मूल ही नहीं अनुचित भी हैं। पश्चिम भारत में बौद्ध धर्म

ह्रासावस्था को प्राप्त हो चला था, परन्तु उसके कारण भिन्न थे। ऐसे आरोप सुधी पाठक को खटकते हैं, क्योंकि इनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है।

इस प्रकार उपन्यास कहने भर को ऐतिहासिक है। पात्र और घटनाएँ तो कल्पित हैं ही इसमें व्यक्त भाव विचार और वातावरण को भी अनैतिहासिक ही कहना चाहिए।

—शिवनाथ

अवधी और उसका साहित्य

लेखक—डॉ त्रिलोकी नारायण दीक्षित एम ए० पी एच० डी०। प्रकाशक—सरस्वती सहकार, दिल्ली की ओर से राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या १४० मूल्य २) रुपये।

श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' के सम्पादन में सरस्वती सहकार, दिल्ली ने प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीय भाषाओं का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित करने का जो आयोजन किया है वह नितान्त स्पृहणीय है। हिन्दी में यह प्रथम प्रयास है। इस प्रकाशन के द्वारा एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो रही है। इस ग्रन्थ माला में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी माला का एक प्रसून है।

इस ग्रन्थ के लेखक हैं डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित एम० ए०, पी० एच० डी० जिन्होंने सन्त साहित्य का प्रचुर अध्ययन किया है। प्रस्तुत पुस्तक में नौ अध्याय हैं, जिनमें अवधी भाषा, काव्य, छन्द, मुहावरे और लोकोक्तियों का वर्णन किया गया है। अवधी भाषा के अन्तर्गत विद्वान् लेखक ने इस भाषा की उत्पत्ति, क्षेत्र और विस्तार, विभिन्न बोलियों तथा उनके विभिन्न रूपों का उल्लेख किया गया है। इस भाषा की तीन बोलियों—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी का नाम निर्देश तो किया गया है परन्तु इनके नमूने नहीं दिये गए हैं। यदि इन तीनों के नमूने दे दिये जाते तो इनके भेद को समझने में पाठकों को बड़ी आसानी होती। अवधी का संक्षिप्त व्याकरण, जो नवें अध्याय का विषय है, यहीं दे दिया गया होता तो अच्छा होता। 'अवधी काव्य' इस पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय है। इसमें लेखक ने वीरगाथा काल से लेकर आधुनिक काल तक अवधी कविता की उत्पत्ति और विकास की कथा का बड़ा सुन्दर तथा संक्षिप्त रूप से वर्णन किया है। अवधी के सन्त कवियों का विवरण प्रस्तुत करते हुए लेखक ने धरनी दास को भी—जिनका जन्म बिहार के छपरा जिले में हुआ था—अवधी का कवि माना है। परन्तु यह मत चिन्त्य है। धरनीदास जी भोजपुरी भाषा के कवि थे। उनकी कृतियों में कुछ अवधी 'क्रिया पदों के प्रयोग' मिलने से ही उन्हें भोजपुरी से घसीटकर अवधी में लाना कहाँ तक उचित है इसे दोषज्ञ पाठक भली भाँति समझ सकते हैं।

डॉ० दीक्षित ने आधुनिक कवियों—जिनमें प० बलभद्र प्रसाद दीक्षित 'पढ़ीस', प० वंशीधर शुक्ल और प० चन्द्रभूषण त्रिवेदी 'रमई काका'—मुख्य हैं—का कुछ विस्तार के साथ वर्णन करके इनके साथ बड़ा न्याय किया है। लोक कवियों की इस त्रयी ने आधुनिक काल में अवधी के प्रति लोक रुचि को जाग्रत करने में बड़ा काम किया है। 'रमई काका' की कविताओं के उदाहरण सुन्दर दिये गए हैं परन्तु उनकी प्रतिनिधि स्वरूप, लोकप्रिय कविता 'धोखा होइगा' को न पाकर कुछ निराशा होती है। 'अवधी लोक गीत साहित्य' का वर्णन समुचित रीति से नहीं हुआ है। इसे कुछ अधिक

पल्लवित करने की आवश्यकता थी। आशा है अगले संस्करण में इन बातों का ध्यान रखा जायगा। इस पुस्तक को प्रस्तुत करने के लिए लेखक बधाई का पात्र है। आशा है इस ग्रन्थ का समादर हिन्दी जगत् करेगा।

—कृष्णदेव उपाध्याय

मीठी कसक

लेखक—उमाशंकर शुक्ल एम० ए०
प्रकाशक—जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता,
मूल्य १॥), पृष्ठ संख्या १६६।

'मीठी कसक' में लेखक की इक्कीस कहानियाँ संगृहीत हैं। यह लेखक का प्रथम प्रकाशन है। इसलिए उसकी कुशलता कहीं कम, कहीं बेशी मात्रा में प्रकट हुई है।

कहानीकार ने अधिकतर समस्याओं को मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही ढूँढा है और मानसिक स्तर पर ही उनको सुलझाने का प्रयत्न भी किया है। पात्रों के मन में उठे हुए भावों को, विचारों के द्वन्द्व को प्रभावपूर्ण शैली में व्यक्त किया है। कुछ कहानियों में (मानवता, आजादी, इन्सानियत की लाश में) वह समस्याओं को सामाजिक स्तर पर भी देखता है।

कहानीकार का सबसे उज्ज्वल पक्ष वहाँ व्यक्त हुआ है जहाँ वह जीवन में देखी हुई घटनाओं और सामने आने वाले व्यक्तियों का बातें हमारे सामने सहृदयता पूर्वक रखता है। ऐसे स्थलों पर कहानी अथवा उसका एक भाग स्केच का रूप ले लेता है। लेखक रोचक ढंग से व्यक्ति की बारीकियों को बताता चलता है। गाँव का मेला, समस्या, मेरे बाप की माँ, मजु ऐसे ही रेखाचित्र हैं। इन्हें लेखक की सजग दृष्टि ने खोजकर कहानी में सँजोया है। इन कहानियों के पात्र सजीव हो उठे हैं।

कहानियों के कथानक विभिन्न सामाजिक स्तरों से लिये गए हैं, परन्तु उनमें गाम्भीर्य और और विस्तार नहीं। अनेक स्थलों पर वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से असंतोष प्रकट हुआ है। एक वय, मानव, भेंट का आधार यही विद्रोह है। पर सामाजिक सम्बन्धों की भूमिका छोटे से क्षेत्र में सीमित है। चौदह कहानियाँ प्रेम कथाएँ अथवा उनका एक रूप हैं। पर लेखक में समस्या के यथार्थ के स्तर पर जूझने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। यह भावना 'बुजदिल' और 'भेंट' में स्पष्ट रूप से उभरी है। कहानीकार कहीं भी समस्याओं के निवारण अथवा उनके वास्तविक कारण को खोजने के लिए उत्सुक नहीं है।

इनमें पात्रों को समस्याओं से दूर कोरी शून्यता में ले जाने की प्रवृत्ति लक्षित होता है। ऐसी कोरी कल्पना कहानियों की कमजोरी है। बार बार एक ही कारण द्वारा उत्पन्न विषाद से पाठक ऊब जाता है।

हम आशा करते हैं कि लेखक और निकट से जीवन को देखकर उसके दर्द को, उसकी समस्याओं को समझने का प्रयत्न करेगा। तब वह "अपना दर्द कम करने के लिए" ही नहीं, दूसरों का दर्द दूर करने के लिए भी लिखना सीखेगा। कल्पना और भावना के संयत प्रयोग में ही साहित्य की सम्भावनाएँ निहित हैं।

—शिवनाथ

हिन्दी के आलोचक

हिन्दी समीक्षा का व्यावहारिक पक्ष निरन्तर जिस द्रुत गति से बढ़ रहा है उसे देखकर लगता है कि अमर बेल की तरह साहित्य पादप को आवृत करके कहीं उसकी रक्तवाहिनी शिराओं को निस्पन्द न बना दे। समीक्षा के शास्त्रीय पक्ष

पर तो अभी अनधिकारियों की कलम नहीं उगी है किंतु पिष्टपेषण का व्यापार यहाँ भी शुरू हो गया है। किसी भी कला कृति की परख या मूल्याङ्कन का जन्मसिद्ध अधिकार मानकर आलोचना लिखने वालों की आज हिन्दी में कमी नहीं। आज किसी रचना के सम्बन्ध में चार सतरें लिखकर आलोचक कहलाने का आकांक्षी रहता है। फलत हिन्दी में शताधिक आलोचकों का रेवड़ तैयार हो गया है। कदाचित् इस बात का अनुभव करके श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने 'हिन्दी के आलोचक' नाम से कतिपय विशिष्ट अधिकारी आलोचकों का परिचय कराने के लिए सवा चार सौ पृष्ठों के इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ में जो ग्रथित नहीं हुए वे आलोचक नहीं—ऐसा तो सम्पादिका का भी अभिमत नहीं, किंतु जो 'बिंध गया सो मोती, रह गया सो पत्थर' की बात स्वत सिद्ध है।

'हिन्दी के आलोचक' पुस्तक में द्विवेदी युग से लेकर आधुनिक काल तक के आलोचकों को स्थान मिला है। इन आलोचकों की अभिरुचि, शैली आदि का परिचय कराने के लिए विभिन्न विद्वानों के स्फुट लेखों का सकलन करके सम्पादिका ने यह पुस्तक तैयार की है। बत्तीस लेखों के अन्तराल में लगभग पचास विविध कोटि के आलोचकों को समेटा गया है। मुख्य आलोचक—जिन पर स्वतन्त्र लेख हैं, उन्नीस हैं। मनोविश्लेषक आलोचकों पर दो लेख हैं, जिनमें तीन लेखकों पर प्रकाश डाला गया है। प्रगतिशील आलोचकों में से छ का चयन किया गया है, जिनमें 'दिनकर' और भगवतशरण उपाध्याय भी हैं। फुटकर आलोचकों में जिन चौदह रत्नों को चुना है उनका परिचय नितान्त स्कैची और एकाङ्गी है। हिन्दी के इतिहास लेखक आलोचकों पर भी एक लेख है किंतु उनके आलोचक रूप की विवृति लेखक नहीं कर सका है। 'शास्त्रीय आलोचकों' पर एक अन्य प्रश्नात्मक कोटि का लेख है जिसमें लेखक ने पर्याप्त सूचनाएँ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'हिन्दी में शोध कार्य' लेख में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने अनुसन्धानपरक प्रबन्धों का नाम परिगणन कराया है। प्रबन्धों की विवेचना का अभाव खटकता है। 'तुलनात्मक समालोचक' लेख भी अधूरा सा तथा अपने क्षेत्र का अवगाहन कराने में सर्वथा असमर्थ है। 'हिन्दी के भाषा वैज्ञानिक आलोचक' लेख में कतिपय भाषा वैज्ञानिकों का परिचय है। भाषा विज्ञान और आलोचना का बादरायण सम्बन्ध स्थापित करके ही इस लेख को पुस्तक के कलेवर में रखने का साहस सम्भव है।

'हिन्दी के आलोचक' को पढकर हिन्दी के बड़े छोटे जिन पचास समालोचकों का परिचय मिलता है वह उनके सर्वाङ्गपूर्ण कृतित्व का आभास न देने पर भी शैली सकेत की दृष्टि से पर्याप्त है। सकलन तैयार करते समय भारतेन्दु युग के आलोचकों को दृष्टि में रखकर एक लेख प्रारम्भ में होता तो आधुनिक युग के आलोचकों का खाका पूरा हो जाता। प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की आलोचना पद्धति का उल्लेख हिन्दी आलोचना में होना अनिवार्य है। विशिष्ट आलोचकों के चयन के सम्बन्ध में सम्पादिका ने अपने निवेदन में जो लिखा है उसे हृदयगम करके भी हम उनका ध्यान हिन्दी के उन लब्धप्रतिष्ठ लेखकों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं जिनका नामोल्लेख इस सकलन में नहीं हुआ। श्री डॉ० रमाशकर शुक्ल 'रसाल', प० कृष्णाशकर शुक्ल, डॉ० भगीरथ मिश्र, डॉ० रामरतन भटनागर और प० सीताराम चतुर्वेदी ऐसे व्यक्ति हैं जिनका किसी प्रकार भी हिन्दी के आलोचक वर्ग से बहिष्कार नहीं किया जा सकता। प० कृष्णाशकर शुक्ल

तो आचार्य शुक्ल जी की परम्परा के बड़े सुलझे हुए समय आलोचक हैं जिनका कलम थामकर बैठ जाना हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य है। अन्य चारों विद्वान् लेखकों ने भी समीक्षा के शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों के पुष्ट करने में अपना अमित योग दिया है। ऐसे उपयोगी सङ्कलन में इस कोटि के आलोचकों को स्थान न मिलना प्रमाद ही कहा जायगा। यह ठीक है कि आलोचकों के चयन में सम्पादिका का अपना विवेक ही प्रमाण रहा है, फिर भी उनका दायित्व तो साहित्य के प्रति है।

सम्पादिका को इस सङ्कलन की त्रुटियों का ज्ञान है और उन्होंने अपने निवेदन में चयन सम्बन्धी बात का सङ्केत करते हुए सुझाव भी चाहे हैं। विश्वास है कि पुस्तक को अधिकाधिक उपयोगी बनाने के लिए हमारे उपर्युक्त सङ्केत सुझाव का काम देंगे।

—विजयेन्द्र स्नातक

समीक्षार्थ प्राप्त पुस्तकें

एटम बम	अमृतलाल नागर	दत्त ब्रदर्स, अजमेर	
एक दिल हजार दास्तां	,,	पुस्तक निकुंज, लखनऊ	
आर पार की माला	शिवप्रसाद सिंह	सरस्वती मन्दिर, बनारस	
बड़ी बड़ी आँखें	उपेन्द्रनाथ 'अश्क'	नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद	
महिला शासन	निरंजीलाल पाराशर	राकेश पब्लिकेशन्स, गाजियाबाद	
आधी आग	सुमंगल प्रकाश	धारा प्रकाशन, पटना ३	
नारी का रूप शृंगार	सावित्रीदेवी वर्मा	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली	
हिन्दू सभ्यता	(अनु०) डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल -	,,	
सोने का नींबू	श्रीमती किरण 'विचित्र'	,,	
निशिकान्त	श्री विष्णु प्रभाकर	आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली	
प्रथम सुमन	श्रीमती सत्यवती शर्मा	,,	,,
आलोचना के सिद्धान्त	पोद्दार रामेन्द्रसिंह	,,	,,
तुलसी साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	,,	,,
राधाकृष्ण	राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह	,,	,,
जिप्सी	वीर राजेन्द्र ऋषि	,,	,,
गार्गी के बाल नाटक	परितोष गार्गी	,,	,,
बालकों के पत्तन	सन्तराम 'विचित्र'	,,	,,
सचित्र व्यंग विनोद	अरुण	,,	,,
कला की परख	जमवानी	,,	,,
भूत भाग गया	अरुण	,,	,,
छत्तीसगढ़ की लोक कथाएँ	चन्द्रकुमार अग्रवाल	,,	,,
मेरे निबन्ध जीवन और जगत्	गुलाबराय	गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा	
हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि	विश्वम्भरनाथ उपाध्याय	साहित्य रत्न भण्डार, आगरा	
भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक रेखाएँ	परशुराम चतुर्वेदी	साहित्य भवन, इलाहाबाद	
सन्त कबीर दर्शन	रामेन्द्रसिंह गौड़	,,	,,
संगीतज्ञ कवियों की हिन्दी रचनाएँ	नर्मदेश्वर चतुर्वेदी	,,	,,

राजस्थानी भीलों की कहावतें	(सं) फूलजी भाई भील	साहित्य संस्थान, उदयपुर
आदिनिवासी भील	जोधसिंह मेहता	,, ,,
राजस्थानी भीलों के लोक गीत	(सं०) फूलजी भाई भील	,, ,,
ओझा निबंध संग्रह (४ भाग)	गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	,, ,,
पृथ्वीराज रासो (प्रथम भाग)	(सम्पा०) कविराज मोहनसिंह	,, ,,
पार्वती	भारतान न्द	मंगल मंदन, नथाद्वारा, कोटा
आवाज सुरीली कैसे करें	लक्ष्मीनारायण गर्ग	संगीत कार्यालय, हाथरस
मैं धरती पंजाब की	नरेन्द्र धीर	क्रांति प्रकाशन, पटना (पंजाब)
महात्मा गांधी का संदेश	सेवकराम 'बालसेवक'	भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ
भगवान् बुद्ध का संदेश	,,	,, ,,
भगवान राम का संदेश	,,	,, ,,
भगवान् कृष्ण का संदेश	,,	,, ,,
नई जिन्दगी नया सवेरा	विश्वनाथ 'तरुण'	प्रतिमा प्रकाशन, दरभंगा
पहली हार	रघुवीरशरण 'मित्र'	भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ
भूमि के भगवान्	,,	,, ,,
जिन खोजा तिन पाइयाँ	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
सावित्री	गौरीशंकर मिश्र, 'द्विजेन्द्र'	ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना
चिनगारी	(अनु०) छविनाथ पाण्डेय	,, ,,
समीक्षा शास्त्र	डॉ० दशरथ ओझा	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
भारतेन्दु	सेठ गोविन्ददास	ओरियण्टल बुक डिपो, दिल्ली
रहीम	,,	,, ,,
रक्त और रंग	अनूपलाल मण्डल	ज्ञानपीठ लिमिटेड, पटना ४
पद्मावत	(सम्पा०) डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल	साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी)

सम्पादक : नन्ददुलारे वाजपेयी

राजकमल प्रकाशन

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ५ अंक २ | पूर्णांक १८ | अप्रैल, १९५६

वार्षिक मूल्य १२) | इस अंक का ३)

सूची

सम्पादकीय

सम्पादकीय वक्तव्य

पिछले कुछ वर्षों से हिंदी साहित्य के उच्चतर विकास का प्रतिनिधित्व करने वाली जो पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, उनमें 'आलोचना' का विशिष्ट स्थान है। समीक्षा के क्षेत्र में यह हिंदी की प्रमुख पत्रिका है। यद्यपि इसके सम्पादन में एकाधिक परिवर्तन हुए हैं और इसके छोटे जीवन में कुछ उतार चढाव भी आये हैं, फिर भी इसका सम्पादकीय स्तर और इसकी लेख सामग्री एक विशेष भूमि से नीचे नहीं उतरी। इस पत्रिका के कई विशेषांक प्रकाशित हुए हैं, जिनका हिंदी साहित्य में स्वागत किया गया है और जिनमें पर्याप्त प्रामाणिकता पाई गई है। 'आलोचना' ने अनेक नये और उदीयमान लेखकों को प्रोत्साहन देकर साहित्य के रंगमंच पर ला खडा किया है। सुलझे हुए विचारों की एक परम्परा भी उसने चलाई है। इस अंक से पत्रिका का सम्पादकीय दायित्व मुझ पर आ गया है और मेरे सम्पादन में प्रकाशित होने वाला यह उसका पहला अंक है। खेद है कि इस अंक के प्रकाशन में अपेक्षा से अधिक विलम्ब हो गया है और इसकी सम्पूर्ण सामग्री मेरे मनोनुकूल नहीं हो पाई है, किन्तु हम आशा करते हैं और हमारा यह प्रयत्न होगा कि आगामी अंकों से पत्रिका अधिक नियमित और व्यवस्थित रूप से प्रकाशित होती रहे।

'आलोचना' का क्षेत्र साहित्य की समीक्षा तक सीमित समझा जाता है। इसमें रचनात्मक कृतियों के लिए स्थान नहीं है। इस सीमा के रहते हुए पत्रिका को अधिक से अधिक व्यापक और सार्वजनिक बनाने का लक्ष्य हमारे सामने है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए हम उन समस्त लेखकों को आमन्त्रित करते हैं जो समीक्षा के सीमित क्षेत्र में ही नहीं, विचारों के विस्तृत क्षेत्र में अपनी कृतियों का लाभ हमें दे सकें। साहित्य समीक्षा अन्ततः विचार जगत् की वस्तु है। यदि हम उसे किसी संकीर्ण दायरे में डाल देते हैं और केवल आज की साहित्यिक कृतियों की आलोचना प्रत्यालोचना और आज के विविध मतवादों के ऊहापोह तक सीमित कर देते हैं, तो हम पत्रिका का आंशिक उपयोग ही कर पाते हैं। वैसी स्थिति में एक छोटी सीमा में बँधकर पत्रिका निरंतर एक छोटे समूह के ही काम की रह जायगी। उसमें केवल ऐसे

लोगों की अभिरुचि होगी, जो या तो स्वय लेखक हैं और अपनी कृतियों की प्रशसा चाहते हैं, अथवा पाठक हैं जो कुछ भी पढ़ने को तैयार बैठे हैं। किन्तु इस छोटे समुदाय के बाहर हिन्दी में लेखकों और पाठका का एक विशाल समूह है जो अच्छी साहित्यिक कृति और प्रेरक साहित्यिक विचार के लिए उद्विग्न और लाला यित है, फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाता। हम चाहते हैं कि इस विशाल और निलिप्त समाज के लिए 'आलोचना' समुचित विचार सामग्री दे सके। हम यह भी देखते हैं कि हिन्दी का यह विशाल पाठक समुदाय पूर्णत असग ठित है। हिन्दी में अच्छी पुस्तकें और अच्छी पत्रिकाएँ कम क्यों बिकती हैं ? इसलिए कि हिन्दी का यह वृहत् पाठक समाज केन्द्रविहीन है और उचित दिशा दर्शन के अभाव में साहित्य के प्रति उदासीन हो गया है। हमारी पत्र पत्रिकाएँ इन निर्लिप्त पाठकों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझतीं। लेखकों से ही लेखकों का काम चल जाता है। यह बड़ी ही दयनीय स्थिति है। हिन्दी में साहित्यिक स्तर पर लेखकों और पाठका के एक राष्ट्रव्यापी सगठन की आवश्यकता है। सभी समृद्ध साहित्यों के पीछे ऐसे सगठन हुआ करते हैं। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा अपने सीमित साधनों का उपयोग हिन्दी के लेखकों और पाठकों के ऐसे ही राष्ट्रीय सगठन के लिए करना हमारा लक्ष्य होगा।

आज हिन्दी के समीक्षा क्षेत्र में अनेक वादों का प्रचलन हो गया है। इन वादों के माध्यम से बहुत ही नयी तुली विचार दृष्टि पाठकों के सम्मुख रखी जाती है। मतवादों की अधिकता और उनकी कट्टरता के अनिष्टकारी परिणाम हमें साहित्य में अपनी आँखों देख रहे हैं। एक तो इनसे साहित्यिक क्षेत्र में खण्ड दृष्टियाँ बढ़ रही हैं। छोटे छोटे गिरोह बनने की आशका हो रही है। दूसरे, इन मतवादों के कारण स्वतन्त्र रचनाकारों, कवियों और लेखकों के मार्ग में बाधा भी पड़ रही है। उनकी सृजन सम्बधी स्वच्छन्दता, प्रत्यक्ष अनु भव सम्बन्धी स्वाधीनता और उनका सम्पूर्ण विचार स्वातन्त्र्य सकटग्रस्त हो रहा है। किसी भी मतवाद को किसी समय साहित्य जगत् में आतिशयिक प्रमुखता नहीं मिल जाना चाहिए। रचना और समीक्षा के बीच उचित सतुलन आवश्यक है, किन्तु इस सतुलन में भी रचना को सदैव प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जब समीक्षा साहित्य सृष्टि का नियन्त्रण करने लगती है, तब निर्माणकारी प्रतिभा बिना कुण्ठित हुए नहीं रहती। मतवादों की अधिकता से न केवल साहित्य में दल और सम्प्रदाय बढ़ते हैं, बल्कि साहित्य-जगत् में सशय और फूट उत्पन्न होती और फैलती है। लोग यह समझ नहीं पाते कि किसकी बात सही है, किसकी नहीं। यह सारी स्थिति प्रशस्त साहित्यिक चेतना के प्रसार में बाधक है। 'आलोचना' पत्रिका द्वारा हमारा लक्ष्य होगा कि इन विभिन्न वादों में विभेद की अपेक्षा उनकी पारस्परिक समानता की ओर दृष्टिपात करें, जिससे एक समन्वित साहित्यिक दृष्टि का उन्मेष सम्भव हो। साथ ही हम इनमें से किसी एक या अनेक वादों को साहित्यिक रचना पर हावी होने की स्थिति भी नहीं आने देना चाहेंगे।

हिन्दी में प्रचलित विभिन्न वादों और उनके अनुयाइयों की कृपा से साहित्य समीक्षा की गतिविधि भी शोचनीय हो रही है। किसी विशेष कृति को किसी एक साहित्यिक सम्प्रदाय के लोग प्रशसा की आसमानी ऊँचाई तक पहुँचा देते हैं और दूसरी ओर उसी कृति की समीक्षा करने वाले भिन्न सम्प्रदाय के समीक्षक उसकी भरपूर निन्दा और विगर्हणा करते हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य के जिज्ञासु और निर्लिप्त

पाठकों और नये लेखकों के सम्मुख बड़ा संशय और संकट उपस्थित हो जाता है। वे यह समझ नहीं पाते कि कौन समीक्षक तथ्य की बात कह रहा है, कौनसा नहीं। हम नहीं चाहते कि हिन्दी के इन निर्दोष और निष्पक्ष पाठकों और साहित्य प्रेमियों को ऐसे संकट का सामना करना पड़े। हमारी सतत चेष्टा होगी कि समीक्षा सम्बन्धी सन्तुलित प्रतिमान और समन्वित दृष्टि उनके सम्मुख रखी जाय।

अनेक बार आज की साहित्यिक कृतियों को समझने और उनका आकलन करने में बड़ी कठिनाइयाँ प्रस्तुत होती हैं। किसी कृति की मूल प्रेरणा क्या है, लेखक की जीवन दृष्टि क्या है, और वह अपनी कृति द्वारा पाठक-समाज को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है, यह समझना कठिन हो जाता है। सीधी सादी और स्पष्ट उद्देश्य वाली रचनाओं को छोड़ दीजिए, तो आज के अधिकांश लेखक और कृतिकार उक्त जटिल प्रश्नों की सृष्टि कर रहे हैं। यह प्रश्न साहित्य के मर्म में पहुँचकर उसे पहचानने का, लेखक और कलाकार की मनोवृत्ति तथा उसकी मानसिक स्थिति और आशय को समझने का है। आज अनेक कृतियाँ ऐसी प्रकाशित हो रही हैं जो समाज की विकृतियों को नग्न रूप में चित्रित करती हैं। इनका चित्रण पाठकों में किस प्रकार की धारणा बँधाता है? क्या वे उन चित्रित विकृतियों में रमने लगते हैं या उनके प्रति विद्रोही हो उठते हैं? एक ही कृति से अनेक पाठकों को अनेक प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। इसका एक कारण यह भी है कि हमारा पाठक समुदाय साहित्यिक चेतना से सुसम्पन्न नहीं है। हमारे समीक्षक उनका उचित मार्ग दर्शन नहीं करते। यदि कोई कृति व्यंग्यात्मक है तो पढ़ने वाले उसे वास्तविक मान लेते हैं। यदि कोई दूसरी कृति शृंगारिक है और छिछले चित्रणों से भरी हुई है तो पक्षग्राही समीक्षक यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि यह कृति व्यंग्यात्मक है और आज के समाज के छिछले जीवन का चिट्ठा दिखाती है। इस प्रकार नवीन कृतियों के सम्बन्ध में गलत निर्णय और भ्रामक धारणाएँ बनाई जाती हैं। कभी किसी कृति में सामाजिक जीवन की असंगतियों को बड़ी गहरी अनुभूति के साथ अंकित कर दिया जाता है और लेखक वहीं अपना कार्य समाप्त कर विराम ले लेता है। परन्तु पाठक समझते हैं कि लेखक की दृष्टि एकांगी और नकारात्मक है। उसने अन्धकार को ही देखा और चित्रित किया है, प्रकाश की ओर उसकी दृष्टि गई ही नहीं। किन्तु पाठकों का ऐसा समझना कहाँ तक ठीक है? इस प्रकार की असंख्य असंगतियाँ और विभ्रम नये साहित्य और उसकी कृतियों के सम्बन्ध में फैले हुए हैं। 'आलोचना' द्वारा सम्यक् साहित्यिक बोध देना हमारा कार्य होगा। हम किसी साहित्यिक कृति में कोई ऐसी वस्तु नहीं देखेंगे, जो उसमें नहीं है, किसी ऐसी वस्तु की उपेक्षा नहीं करेंगे, जो उसमें है। जान-बूझकर या अनजाने में जो वितथ निर्णय दिये जा रहे हैं, उनसे सतर्कता पूर्वक बचने की हम सतत चेष्टा करेंगे।

ऊपर के वक्तव्य का यह आशय नहीं है कि साहित्य के सम्बन्ध में नये सैद्धान्तिक मतों और विचार सरणियों की हम पूर्ण उपेक्षा करना चाहते हैं। पश्चिम में अनवरत शोधों के परिणामस्वरूप साहित्य विषयक जो वैज्ञानिक विचारणा प्रतिष्ठित की जा रही है उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती है? किन्तु इस सम्बन्ध में हमें दो-तीन बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना होगा। पहली बात यह है कि उक्त विचारों और मतों का [illegible] अध्ययन हमारे किसी काम का न होगा। जिन तथ्यों के आविष्कार और निर्माण में यूरोपीय पण्डित

जीवन व्यापी साधना करते रहते हैं, उन्हें हम छिटपुट अध्ययन से उपलब्ध नहीं कर सकते। इसके साथ ही यह भी विचारणीय है कि पश्चिम के इन विभिन्न मतवादों में समुचित अन्विति और समीकरण अब तक नहीं किया जा सका। न केवल साहित्य की मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय उपपत्तियाँ एक दूसरे से भिन्न हैं और परस्पर विरोध में जाती हैं, बल्कि मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय शोधों की अनेक शाखाएँ आपस में ही मतभेद और मतान्तर रखती हैं। पत्रिका के इस अंक में प्रकाशित 'दोस्तोएवस्की के साहित्य की चार समीक्षाएँ' शीर्षक लेख इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। बड़े बड़े आचार्य और शोधक भी जब किसी बड़े लेखक की कृतियों के मूल्यांकन में इतना मतभेद रखते हैं तब सामान्य जनों की क्या चर्चा! केवल धारणा और विवृति में ही नहीं, निर्णय और आकलन में भी इनमें परस्पर इतनी दूरी है कि हम आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि साहित्यिक प्रयोजन के लिए ये शोधें और सिद्धान्त अपने में पर्याप्त नहीं हैं और इनका विनियोग रचनात्मक कृतियों में करना और भी संशयास्पद है। अतएव, यदि हिन्दी साहित्य की सीमा में इन पश्चिमी सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है तो सबसे पहले इनका सम्यक् अध्ययन आवश्यक है। फिर यह जानना जरूरी है कि ये सिद्धान्त रचनात्मक कृतियों में किस सीमा तक लागू हो सकते हैं, और अन्त में, साहित्यिक कृतियों की समीक्षा के लिए विशेषज्ञ अभ्यास भी आवश्यक है। सिद्धान्तों का ज्ञान और उनका कृतियों में उपयोग दो अलग अभ्यास क्षेत्र हैं। इनको एक में मिला कर चलना किसी प्रकार उचित न होगा। तीसरी और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यूरोप की ये सैद्धान्तिक खोजें एक विशेष समाज और संस्कृति से सम्बद्ध हैं। उस समाज और संस्कृति का संघात उन देशों के साहित्य से भी हुआ है। कवियों और लेखकों ने सामयिक जीवन से प्रभावित होकर अपनी कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र की बहुत सी शोधों की भूमिका उन साहित्यिक कृतियों में मिलती है। हम कह सकते हैं कि यूरोप का सैद्धान्तिक और रचनात्मक साहित्य वहाँ के तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन से अनुप्रेरित है। एक को लेकर हम दूसरे या तीसरे को छोड़ नहीं सकते। जब हम हिन्दी साहित्य की वर्तमान कृतियों में पश्चिम के किसी सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं तब यह भूल जाते हैं कि वह सिद्धान्त भी एक विशेष परिस्थिति की उपज है। क्या हिन्दी भाषी समाज की भी वही परिस्थिति है जो यूरोप की है? इस प्रश्न का उत्तर हम पूर्णतः नकार में ही दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में सांची समस्या यह उपस्थित होती है कि अपने राष्ट्रीय जीवन में और उस जीवन की विभिन्न प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित साहित्य में पश्चिम के उन सिद्धान्तों का व्यवहार कहाँ तक सम्भव और समीचीन है।

यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है कि यूरोपीय संस्कृति आज एक बहुत बड़ी हलचल से होकर गुजर रही है। न केवल वहाँ के दार्शनिक विचार डाँवाडोल हो रहे हैं, बल्कि एक नई प्रतिक्रिया में उनमें बहुत से उलट फेर भी होते जा रहे हैं। पिछली दो तीन शताब्दियों से यूरोप में जो संस्कृति विकसित हुई थी उसे आज के पश्चिमी विचारक फाउस्टियन (Faustian) संस्कृति के नाम से पुकारते हैं। फाउस्टियन संस्कृति व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य, उद्दाम लालसा और भौतिक विकास की संस्कृति कही जाती है। आज इस संस्कृति के विरुद्ध एक बड़ी प्रतिक्रिया आरम्भ हो चुकी है और यूरोप के प्रमुख विचारक एक नवीन संस्कृति की रचना

की नींव डालने की चिन्ता में हैं। स्वातन्त्र्य का जो आदर्श पश्चिम में प्रचलित था, वह आज त्याज्य और हेय माना जाता है। इसके बदले सामाजिक दायित्व, समता, नैतिक व्यवहार और आचरण आदि नये आदर्शों का आग्रह किया जा रहा है। बहुत से नये विचारक और भविष्य द्रष्टा आज एक नई संस्कृति की पुकार उठा रहे हैं, जिसे वे मध्ययुग की धार्मिक संस्कृति का नई परिस्थिति के अनुरूप नवोन्मेष का नाम देते हैं। उनका झुकाव भारतीय और एशियाई संस्कृतियों की ओर भी कम नहीं है। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि यूरोप अपने पिछले सामाजिक आदर्शों को छोड़ चला है और वह नये जीवन-तथ्य की खोज में है। प्रश्न यह है कि क्या उन त्यक्त आदर्शों को हम आज अपने समाज में और अपने साहित्य में अपनाने जा रहे हैं? यदि नहीं तो हमारे आज के सामाजिक और साहित्यिक आदर्श क्या हो सकते हैं?

यदि हम योरों सी दूरवर्ती भूमिका लेकर आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास को देखें तो उसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई देंगी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से आरम्भ होने वाले आधुनिक साहित्यिक युग की मूल रागिनी सामूहिक रही है और सामूहिकता की ओर बढ़ती चली आई है। भारतेन्दु युग में रीति काल की शृंगारिक प्रवृत्तियाँ भी शेष थीं। स्वयं भारतेन्दु वैष्णव भक्ति परम्परा के अनुयायी थे और उनकी अधिकांश कविताएँ भक्ति परक है। परन्तु भारतेन्दु के काव्य पर रीतिकाल की शृंगारिकता की इतनी घनी छाया है कि उनकी काव्य कृतियों को भक्त कवियों की परम्परा में मान लेने में बड़ी कठिनाई होती है। कहना पड़ता है कि भारतेन्दु व्यक्तिगत प्रेरणा से तो भावात्मक भक्ति की ओर उन्मुख थे, परन्तु वे अपनी समकालीन रीति परम्परा के बोझ से भी आक्रान्त रहे हैं। यह उनका वैयक्तिक संघर्ष था, जो उन्हें रीतिकाव्य की ऐहिकता और भक्ति काव्य की भावनात्मकता के बीच एक या दूसरी ओर पारी पारी से खींचता रहा। परन्तु भारतेन्दु और उनके युग की वास्तविक देन भक्ति और रीति के इस संघर्ष में नहीं पाई जाती। उनका असली कार्य नई सामाजिक चेतना को प्रतिबिम्बित करने में था और वह चेतना एक शब्द में राष्ट्रीय थी। इस व्यापक चेतना के अन्तर्गत विदेशी राज्य की भलाइयाँ बुराइयाँ, हिन्दू मुसलमानों के आपसी झगड़े और मतभेद तथा भारतीय समाज के विभिन्न अंगों और वर्गों की अलग अलग समस्याएँ थीं। किन्तु कुल मिलाकर नवीन राष्ट्रीय एकता और विकास की प्रभाती ध्वनि ही इन कवियों और लेखकों की वाणी में व्यक्त हुई। विशेषकर इस युग के गद्य साहित्य और प्रमुख रूप से नाटकों में इस नवीन राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति हुई है। हरिश्चन्द्र युग की इस नव जाग्रत राष्ट्रीय भावना को प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान और रीति विरोधी नई सामाजिक नैतिकता के निर्माण में नियोजित करने का कार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके समकालीन लेखकों और कवियों ने किया। एक प्रकार से यह कार्य हरिश्चन्द्र युग की राष्ट्रीय चेतना को परिपुष्ट करने वाला रहा है, परन्तु कविता के भावनात्मक क्षेत्र में इसने कुछ गतिरोध भी उत्पन्न किया था। एक तो ब्रजभाषा की बँधी हुई परिपाटी के विरुद्ध खड़ी बोली का नया काव्य माध्यम आरम्भ में अनगढ़ था। दूसरे, लेखकों और कवियों के ऊपर द्विवेदीजी के अतिरिक्त आचार्यत्व का दबाव भी था। कदाचित् इसी दबाव की प्रतिक्रिया में नये छायावादी कवि भावना के क्षेत्र में एक नई चुनौती देते हुए आये थे। छायावादी काव्य पर देशी और विदेशी कितने भी प्रभाव रहे हैं, परन्तु मुख्यतः उसके

सूत्र हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा समाज के द्विवेदीकालीन विकास में मिलते हैं। यदि हम छायावाद युग के दो प्रमुख कलाकार प्रेमचन्द और प्रसाद को एक साथ लेकर देखें तो ऊपर का तथ्य स्पष्ट हो जाता है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में द्विवेदी युग की नैतिकता की ओर आदर्शवाद की छाया है। प्रसाद के काव्य में इन दोनों का विरोध है। वे नीतिवाद के विरुद्ध स्वच्छन्दतावाद की भूमि पर पूरी तरह उतर आए थे। इस दृष्टि से वे प्रेमचन्द से एक श्रेणी आगे के कलाकार हैं। परन्तु दूसरी ओर राष्ट्रीय और सामाजिक विकास की यथार्थ भूमि पर प्रेमचन्द प्रसाद से एक श्रेणी आगे हैं। प्रसाद ने अपने उपन्यासों में जिस सामाजिक विकास की भावात्मक कल्पना की है, प्रेमचन्द ने उसी विकास को एक वास्तविक स्तर के माध्यम से चित्रित किया है। यहाँ प्रेमचन्द प्रसाद से अधिक राष्ट्रीय और सामाजिक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि द्विवेदी युग के पश्चात् आने वाला छायावाद युग प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे भिन्न प्रकृति के साहित्यकारों का सृजन करते हुए भी विकासमान राष्ट्रीय और सामूहिक चेतना से सम्पन्न है। छायावाद को कुछ समीक्षकों ने व्यक्तिवादी, पलायनवादी अथवा वेदनावादी जीवन दृष्टि का परिणाम बताया है। किन्तु, यदि हिन्दी साहित्य के विकास की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि पर देखा जाय, तो छायावाद वस्तुतः हरिश्चन्द्र और द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय विकास भूमियों को अधिक गहराई, स्वरता और प्रसार ही देता है। वह किसी भी अर्थ में साहित्य का पश्चात्गामी या पीछे ले जाने वाला युग नहीं है।

छायावाद-युग को पार कर जब हम नवतर युग में प्रवेश करते हैं तब हमें सबसे पहली अभिज्ञता यह होती है कि साहित्य में सामूहिकता का स्वर मन्द पड़ने लगा है और लेखकों में व्यक्तिनिष्ठता और खण्डदृष्टियाँ बढ़ने लगी हैं। छायावाद युग में प्रसाद और प्रेमचन्द जैसे दो भिन्न प्रकृति के लेखकों के बीच भी राष्ट्रीयता का एक सुदृढ़ सम्बन्ध सूत्र बना हुआ था, परन्तु आज के किन्हीं भी दो या अधिक विशिष्ट लेखकों के बीच कोई सम्बन्ध सूत्र ढूँढ निकालना कठिन हो गया है। यदि आज के लेखकों और कलाकारों में कोई सम्बन्ध सूत्र है भी तो वह अनास्था और अविश्वास का है, जो एक नकारात्मक वस्तु है। दूसरा सूत्र मनुष्य की एक सी स्वार्थ वृत्तियों का, पशु वृत्तियों का है—आहार, निद्रा, भय और मैथुन का सूत्र। किन्तु इन सूत्रों को पकड़कर साहित्य और मनुष्यता कितने पग आगे बढ़ेगी? छायावादी कवि और लेखक किसी न किसी सम्मानित विचारधारा का विज्ञापन करते थे। परन्तु नये कवि और लेखक अपने को एक अज्ञेय आवरण में छिपाकर चल रहे हैं। ऐसे लेखकों से हमारा साग्रह निवेदन होगा कि वे अपनी वैचारिक स्थिति स्पष्ट करें। यूरोप में ह्रासोन्मुखी भाव धाराओं के कलाकार भी अपना जीवन अभिमत व्यक्त करने में हिचकते नहीं हैं। फिर हमारे लेखक ही क्यों हिचकें?

वे कौनसे तर्क हैं जो नये लेखक अपनी कृतियों के पक्ष में देते हैं? छायावाद युग के साहित्य को कल्पनाजीवी और यथार्थवादी बता कर वे एक नये यथार्थ की बात कहते हैं। छायावाद में कल्पना की प्रधानता तो थी, किन्तु वह एक भावात्मक और राष्ट्रीय दृष्टि से सम्पन्न कल्पना थी। उसमें व्यक्तिवाद तो था, परन्तु एक उदात्त समष्टि चेतना से ऊर्जस्वित। उसके स्थान पर नये यथार्थ का स्वरूप क्या है? उसकी रचनात्मक प्रेरणा और क्षमता कितनी है? यह नया यथार्थ जिस प्रकृतिवादी प्रवृत्ति पर आधारित है, वह राष्ट्रीय विकास के उपकरणों से बहुत कुछ रिक्त है। आज के मनोवैज्ञानिक उपन्यास लेखक जिस यथार्थ के चित्रण का दावा

करते हैं, उसका क्रियात्मक रूप क्या है ? यथार्थ और सत्य की खोज में व्यस्त होकर ये लेखक अधिकाधिक अन्तर्मुखी होते जा रहे हैं। कुछ लेखकों ने एक नये स्वातन्त्र्य का भी उद्घोष किया है, जो आज यथार्थवादी रोमांस के नाम से पुकारा जाता है। इस अव्याहत स्वातन्त्र्य का आज शरीर से शरीर के सुदीर्घ मिलन के रूप में चित्रित किया जाता है। क्या यह उसी फाउस्टियन संस्कृति का चरम चिह्न नहीं है जिसे आज पश्चिम का समाज भयभीत होकर छोड़ रहा है ? पिछले विश्वयुद्ध के और उससे उत्पन्न नई परिस्थिति का हवाला देते हुए यह भी कहा जाता है कि आज के जीवन में भय की विभीषिका समाई हुई है, इसलिए नवीन साहित्य में कोई स्थिर और केन्द्रवर्ती विचार दृष्टि आ ही नहीं सकती। नये लेखक अपनी इस कमजोरी का हवाला इस प्रकार देते हैं, जैसे वह कोई वाञ्छनीय वस्तु हो। स्वराज्य की उपलब्धि के अनन्तर नये लेखक एक उल्लास मय जीवन का अभूतपूर्व साक्षात्कार कर रहे हैं, अतएव उनकी रचना में उन्मत्त विनोद और उच्छृङ्खलता आनी ही चाहिए। साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या का समर्थन करते हुए नये लेखक यह भी कहते हैं कि आज के मध्यवर्गीय लेखकों द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला साहित्य दिग्भ्रमित और दिशाशून्य होने को बाध्य है। इस प्रकार जितने मुँह उतनी बातें सुनकर आज का पाठक एक बड़े असमंजस की स्थिति में पहुँच गया है।

हम जानते हैं कि लेखकों का एक बहुत बड़ा समूह इन आत्म सकोची प्रवृत्तियों से कोई नाता नहीं रखता और वह इस अवसाद भरे वातावरण में उलझने या खो जाने को किसी प्रकार तैयार नहीं है। हम उन बाधाओं से भी अपरिचित नहीं हैं, जो इन स्वाधीन चेता साहित्यिकों के मार्ग में पग पग पर आती और उनके साहस को तोड़ना चाहती हैं। हमारे ये कमण्य और संघर्षशील लेखक उन परिस्थितियों से टक्कर ले रहे हैं जो उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय और मानवीय स्वातन्त्र्य के मार्ग में बाधक होकर खड़ी हैं। ऐसा करते हुए वे न तो समाज के किसी अधिकारी वर्ग की अनुचित परवा करते हैं और न शासनसत्ता के हाथों में बिक जाने को तैयार हैं। क्या आज के सामाजिक जीवन में वैषम्यों और विकृतियों की कमी है ? हम तो देखते हैं कि स्तर-स्तर पर असंगतियाँ हैं, अनाचार हैं, अपराध हैं। क्या लेखकों के लिए उत्तेजनाकारी दृश्य कम हैं ? उनकी कर्मण्यता को चुनौती देने वाली हीनताएँ नहीं हैं ? अवश्य हैं, और हमारे अनेकानेक लेखक उन सबका डटकर सामना करने में संलग्न हैं। सच पूछिए तो ये लेखक ही उस साहित्यिक परम्परा के अग्रिम प्रतिनिधि हैं जो भारतेन्दु युग से लेकर आज तक विकसित होती चली आई है। 'आलोचना' द्वारा इनकी सब प्रकार से अभ्यर्थना करना हमारा कर्तव्य होगा।

हमारे लिए यह कम खेद की बात नहीं है कि हिन्दी के साहित्यिक प्रतिमान अब तक अनिश्चित और डाँवाडोल बने हुए हैं। सर्वमान्य और सर्वस्वीकृत तथ्यों की अतिशय कमी है। साहित्य के व्यवस्थित विकास के लिए यह कितनी घातक स्थिति है कि हम अपने प्रमुख कवियों और लेखकों के सम्बन्ध में भी कोई सुनिश्चित धारणा नहीं रखते। विदेशों में भी साहित्यिक प्रतिमान बदलते हैं पर उनका बदलना युग संस्कृति के परिवर्तन का द्योतक होता है। यूरोप में साहित्यिक मान्यताओं में मतभेद विभिन्न राष्ट्रों की साहित्यिक दृष्टियों के अन्तर के कारण भी होता है। परन्तु हिन्दी में कोई भी कच्चा पक्का लेखक किसी भी दिन निश्चिन्त होकर कोई स्वेच्छाचारी सम्मति दे डालता है और उस पर लोग

गम्भीरतापूर्वक विचार करने लगते हैं। कारण यह है कि हिंदी भाषी समाज अब तक सुगठित समाज नहीं है। उसकी साहित्यिक चेतना क्रमागत संस्कारों से परिपुष्ट नहीं हो पाई है। हिंदी का पाठक, नवसिखुए विद्यार्थी की तरह, बिना प्रश्न किये ही सब कुछ स्वीकार करने को तैयार रहता है। यों तो किसी भी समय इस प्रकार की निरीहता साहित्य के लिए शुभ लक्षण नहीं है, परन्तु आज की साहित्यिक आपाधापी में इसके घातक दुष्परिणाम हो सकते हैं और हो रहे हैं। यद्यपि प्रतिमानों का स्थिरीकरण एक दिन का काम नहीं है, फिर भी दूरवर्ती लक्ष्य के रूप में यह कार्य सदैव हमारे सामने रहेगा।

समय आ गया है, जब हम अपनी प्राचीन पोथियों को खोलकर यह देखने का प्रयत्न भी करें कि नये साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में वे कहाँ तक हमारा साथ दे सकती हैं और उनका आधार लेकर हम किस प्रकार आगे बढ़ सकते हैं। हमारे देश में एक प्राचीन और समृद्ध साहित्य शास्त्र भी मौजूद है जिसका सम्यक् अनुशीलन हमें करना चाहिए। वर्तमान युग विज्ञान की शोधों से भरा पूरा है। हमारे प्राचीन सिद्धान्त उच्चतम मनीषा की उपज हैं, परन्तु उनमें नवीन और आधुनिक विज्ञान की उपलब्धियों का योग नहीं है। हमें अपने प्राचीन सिद्धान्तों को इतिहास की पृष्ठभूमि पर रखकर देखना होगा। उन विभिन्न सिद्धान्तों की मौलिक दृष्टियाँ क्या हैं? उनमें परस्पर कितना अन्तर है? और पारस्परिक आदान प्रदान से उनकी किस प्रकार प्रगति हुई है? यह कार्य प्राचीन शोध के उद्देश्य से विश्वविद्यालयों तथा दूसरी संस्थाओं में किया जा सकता है। परन्तु 'आलोचना' पत्रिका में हमारा प्रयोजन उन सिद्धान्तों की ऐसी छानबीन करना होगा जिससे हम उन्हें नये उपयोग में लाने के योग्य बना सकें। इसका यह अर्थ नहीं कि हम ज्ञान के क्षेत्र में पुरातनवादी हैं। इसका अर्थ इतना ही है कि हम अपने राष्ट्र के वर्तमान संक्रांतिकाल में प्राचीन और नवीन की एक सुसम्बद्ध और समन्वित शृंखला बनी हुई देखना चाहते हैं।

रामविलास शर्मा

कालिदास साहित्य के स्थायी मूल्यों की समस्या

[साहित्य के स्थायी मूल्यों की छानबीन करते हुए कालिदास की चर्चा करना स्वाभाविक है। वह भारतीय साहित्य के सबसे स्थायी कवि हैं। शताब्दियों से सहृदय काव्य मर्मज्ञ उन्हें कविकुलगुरु कहते आए हैं। जिस समाज व्यवस्था में उनका जन्म हुआ था, वह नष्ट हो चुकी है या नष्टप्राय है, फिर भी उनका काव्य सौष्ठव न तो नष्ट हुआ है, न भविष्य में नष्ट होता दिखाई देता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह काव्य सौष्ठव समाज निरपेक्ष है, वह ऐसे शाश्वत सौन्दर्य की व्यञ्जना है जो देश काल की सीमाओं के परे है? क्या कालिदास की काव्य महिमा इस बात के लिए प्रबल तर्क नहीं है कि साहित्यकार को सामाजिक उथल पुथल से दूर रहकर सौन्दर्य की एकान्त साधना करनी चाहिए?]

१

कालिदास जिस समाज व्यवस्था से परिचित हैं और जिसे वह अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित करते हैं, वह चार वर्णों में विभाजित है। इसमें श्रेष्ठ वर्ण ब्राह्मणों का है जो सभी के पूज्य हैं। क्षत्रिय सभी की रक्षा करने वाले हैं। वैश्य व्यापार आदि कार्य करते हैं और शूद्र दूसरों की सेवा करते हैं। अपनी रक्षा के लिए प्रजा एक निश्चित कर राजा को देती है। यह व्यवस्था इतनी रूढ़ हो चुकी है कि वर्ण का निश्चय कर्म से नहीं, जन्म से होता है। शम्बूक जन्म से शूद्र था, इसलिए उसे तप करने का अधिकार न था। उसके 'अपचार' से एक ब्राह्मण का पुत्र अकाल ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, इसलिए तप करते हुए शम्बूक का सिर काटकर राम ने उस ब्राह्मण के लड़के को जिला दिया (रघुवंश, सर्ग १५)। दुष्यन्त अपने पुत्र के हाथ में चक्रवर्तियों के लक्षण देखते ही पहचान जाते हैं कि वह किसी राजा का पुत्र है और चक्रवर्ती बनने के लिए पैदा हुआ है। सुदक्षिणा के गर्भ में लोकपालों के अंश विद्यमान हैं, इसलिए उसके पुत्र को चक्रवर्ती होना ही चाहिए (रघुवंश, सर्ग ३)। राजा लोग दो काम करते हैं—भोग और युद्ध। दोनों से छुट्टी मिलने पर योग साधते हैं। यद्यपि वे प्रकृति रंजक प्रजा को प्रसन्न रखने वाले हैं, फिर भी यह पृथ्वी उनके भोग के लिए है। रघु ने अज को पृथ्वी ऐसे सौंप दी,

मानो वह दूसरी इंदुमती हो (रघुवंश, सर्ग ८)। सीता को वनवास देने के बाद राम ने पृथ्वी का ही भोग किया (उप० सर्ग १५)। दुष्यंत प्रतिज्ञा करते हैं कि अनेक रानियों के रहते हुए भी उनके यहाँ दो ही की प्रतिष्ठा होगी—एक तो पृथ्वी की, दूसरी शकुन्तला की। प्राचीन कवियों ने पृथ्वी को माता और अपने को उसका पुत्र कहा था। अब वह भोग की वस्तु बन गई है। कवि राजाओं के चाटुकार बन गए हैं। सरस्वती यह देखकर सिर धुनने और पछताने के बदले चारणों के कपट में बैठकर रघु की स्तुति करती हैं (रघुवंश, सर्ग ४)।

समाज व्यवस्था के प्रति कालिदास उदासीन नहीं हैं। उनका एक निश्चित दृष्टिकोण है। वह प्रचलित समाज व्यवस्था का पोषक है। यह व्यवस्था अभ्युदयशील न होकर काफी रूढ़ हो गई है। उसकी गहरी छाप कालिदास के काव्य पर है। यह छाप उनके काव्योत्कर्ष में सहायक न होकर एक बाधा बन गई है। कालिदास और उनके अनेक—सम्भवतः अधिकांश—सामयिक काव्य प्रेमियों की सहृदयता को यह देखकर धक्का न लगा होगा कि पृथ्वी नारी के समान भोग्या है, सरस्वती राजाओं की स्तुति करती है और शूद्र के तप करने पर उसका सिर काट लिया जाता है। उस समय की सामाजिक परिस्थितियाँ ऐसी ही थीं, यह कहा जा सकता है। तब कालिदास की रचनाओं में इस तरह के प्रसंग साहित्य के स्थायी तत्व हैं या अस्थायी? यदि स्थायी हैं तो आज के कवि—साधारण कवि नहीं, रवीन्द्रनाथ, भारती, निराला जैसे कवि—उन पर क्यों रचनाएँ नहीं करते? यही नहीं, कालिदास के दृष्टिकोण से विरोधी विचारधारा अपनाकर वे महान् कृतियाँ कैसे दे सके हैं? यदि अस्थायी हैं तो स्वीकार करना होगा कि कालिदास साहित्य के सभी तत्व समान रूप से स्थायी नहीं हैं, कुछ उनमें अस्थायी भी हैं और वे हमारे लिए अनुकरणीय नहीं हैं।

पृथ्वी भोगने के लिए युद्ध करना आवश्यक है। रामायण और महाभारत में युद्ध अन्याय के प्रतिकार के लिए था, राम, कृष्ण, अर्जुन आदि वीर इसीलिए आदर्श पात्रों के रूप में चित्रित किये गए थे। लेकिन कालिदास के रघुवंशी राजा यश के लिए विजय प्राप्त करने चलते हैं (रघु०, सर्ग १)। युद्ध आदि के वर्णन में अतिरंजित चित्रों और कल्पना चमत्कार का बाहुल्य रहता है। रघु जब दिग्विजय के लिए चलते हैं तो सबसे आगे उनका प्रताप चलता है, उसके बाद सेना का कोलाहल, उसके बाद धूल और सबसे पीछे सेना (रघु०, सर्ग ४)। इंदुमती के साथ लौटते हुए अज अपने विरोधियों से युद्ध करते हैं, तब एक योद्धा सिर कटने पर देवता हो गया, विमान पर चढ़कर स्वर्ग पहुँच गया और वहाँ से सुराङ्गना के साथ समर भूमि में देखने लगा कि उसका धड़ अब भी नाच रहा है (रघु०, सर्ग ७)। दो योद्धा एक साथ मारे जाकर स्वर्ग पहुँच गए और वहाँ एक ही अप्सरा के पीछे झगड़ा भी करने लगे (उप०)। कुमारसम्भव में योद्धा हाथियों पर ऐसे बाण चलाते हैं कि हाथियों के सिर पहले गिरते हैं, बाण पीछे (सर्ग १६)। जिन योद्धाओं को हाथियों ने उछाल दिया, उनके प्राण ऊपर ही स्वर्ग चले गए, शरीर नीचे आ गिरा (उप०)। दो योद्धाओं ने एक दूसरे का सिर काट दिया, स्वर्ग पहुँचकर वे अपने धड़ों का नाच भी देखने लगे (उप०)। कालिदास की महान् प्रतिभा भी उनके युद्ध वर्णन को प्रभावशाली नहीं बना सकी। युद्ध वर्णन में उन्होंने परम्परा का निर्वाह मात्र किया है। उनकी चमत्कार प्रदर्शन की शैली उनकी प्रकृति वर्णन की सहज शैली से एकदम भिन्न है। युग विशेष की रूढ़ि का

अनुसरण भर उन्होंने किया है, उत्साह और तन्मयता का अभाव स्पष्ट है। यह भी उनके काव्य का स्थायी तत्त्व नहीं है, वरन् राजाश्रय प्राप्त कविता की रूढ़ि से उत्पन्न दोष है।

युद्ध के बाद दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सुरभोग है। सुरत का अर्थ है नारी। कालिदास के अधिकांश राजा अनेक पत्नियों वाले हैं। पतिव्रत धर्म स्त्रियों के लिए है, पुरुष पत्नीव्रत से प्रायः मुक्त हैं। पुरुष भोक्ता है, नारी भोग्या है। इसलिए भोक्ता के लिए कोई बन्धन नहीं है। विवाहिता पत्नियों के अतिरिक्त प्रमोद नृत्य के लिए वारयोषिताएँ हैं (रघु०, सर्ग ३), यक्ष का सन्देश ले जाने वाला मेघ पण्यस्त्रियों के साथ विहार करने वाला के उद्दाम यौवन की जानकारी प्राप्त करता हुआ जाता है।

'य: पण्यस्त्री रतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि।"

और भी—

"वेश्यास्त्वत्तो नखपद सुखान प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू
नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान कटाक्षान।"

वेश्यावृत्ति इस नागर संस्कृति का अभिन्न अंग है। उनके बिना उनके उद्दाम यौवन का सगात अधूरा रहेगा। ये पण्यस्त्रियाँ थीं, पैसे के लिए उनका शरीर बिकता था। सहृदय रसिकों के दुर्भाग्य से साहित्य का यह स्थायी तत्त्व भी अब मिटता जा रहा है।

भोग के उत्कर्ष के लिए मद्यपान आवश्यक तत्त्व के रूप में ग्रहण किया गया है। रघु के सैनिक मदिरा के साथ शत्रु का यश पी जाते हैं। अज को देखने वाली स्त्रियों में मुँह से आसवगन्ध निकालने वाली देवियाँ भी हैं, अज इन्दुमती के लिए विलाप करते हुए याद करते हैं कि उसने अज के अधरपिये मधु को पिया था, वसन्त में अङ्गनाएँ स्मरसखा मधु का सेवन करती हैं (रघु०, सर्ग ६)। यह कहना कठिन है कि कालिदास के समाज में (या उनकी कल्पना में) कौन अधिक पाता था—स्त्रियाँ या पुरुष। कालिदास ने मदविह्वला रमणियों का उल्लेख अधिक किया है। रति विलाप करते हुए इस बात पर क्षोभ प्रकट करती है कि अरुण नेत्र घुमती और बोलने में अटपटाती प्रमदाओं का मद्यपान काम के बिना व्यर्थ जायगा। 'माल विकाग्निमित्र' में इरावती कहती है, लोगों की उक्ति है कि मद्यपान से स्त्रियों की शोभा विशेष रूप से बढ़ जाती है। इसलिए भगवान् शंकर ने अनङ्गदीपन मद अम्बिका को भी पिला दिया, रति विलाप की महिलाओं की तरह "घूर्णमाननयन स्खलत्कथ" उनका भी वैसी ही दशा हो गई। मद्यपान की अतिशयता भोगराग का अतिशयता की ही सूचक है। मद्यपान और वेश्यावृत्ति में कौन श्रेष्ठ है और कौन निम्न है, इसका निर्णय पाठक करें, किन्तु यदि घूर्णमान नयनों वाली प्रमदाओं का वर्णन कवि न करे तो क्या इसे साहित्य के एक स्थायी तत्त्व का अभाव माना जायगा?

नारी भोग की वस्तु है, इसलिए शृंगार रस के सिद्ध कवि द्वारा नर नारी के परस्पर-सम्बन्ध का वर्णन स्वाभाविक ही है। छहों ऋतुओं की सृष्टि इसलिए हुई है कि भोगियों का रस शृंगार एकरस न होकर विभिन्न प्रकृति परिवेशों में सरस बना रहे। गर्मी में 'नितम्ब बिम्बै" तथा "स्तनै" "स्त्रियो निदाघ शमयन्ति कामिनाम्' (ऋतुसंहार, सर्ग १)। वर्षा का तो कहना ही क्या? बिजली चमकते ही अपराधी प्रियों को भी देवियाँ क्षमा कर देती

हैं। गुफाओं में विहार करते हुए किंपुरुषों और उनकी प्रेमिकाओं के लिए बादल पर्दे का काम करते हैं (कुमारसम्भव, सर्ग १)। यदि वर्षा की बूँदें नहीं हैं तो सुरतग्लानि दूर करने के लिए शिप्रावात है (मेघदूत)। कालिदास के कामीजन शृंगार रस में ऐसे डूबते हैं कि सिर उठाने का नाम नहीं लेते। उनके आदर्श भोगी भगवान् शंकर हैं जो आदर्श योगी भी हैं।

समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शम्भोः
शतमगमदृतूनां साग्रमेका निशेव।
न तु सुरतसुखेभ्यश्छिन्नतृष्णो बभूव
ज्वलन इव समुद्रान्तर्गतस्तज्जलौघैः ॥ (कुमारसम्भव, सर्ग ८)

दिन रात भोग करते हुए सौ वर्ष एक रात की तरह बिता देने पर भी वड़वानल की तरह सुरत सुख से वह छिन्नतृष्ण न हुए।

शिवजी तो योगी थे, उनके लिए सब कुछ सम्भव था। लेकिन शिवजी के इस मार्ग पर चलने वाले रघुवंशी राजा अग्निवर्ण की बुरी दशा हुई। वह रमणियों से भरी हुई पानशाला में वैसे ही जाते थे जैसे कमलिनियों के बीच हाथी जाता है। रमणियाँ उनका जूठा मद पीती थीं, वह रमणियों का। अंत में उन्हें क्षय रोग हो गया, वे दूसरों का सहारा लेकर चलने लगे। अन्त में पुत्र का मुँह देखे बिना ही वह चल बसे। कालिदास ने भोगवाद का यह परिणाम दिखाया, यह अच्छा किया। किंतु यह उन्होंने 'रघुवंश' में दिखाया है, उसके अंतिम सर्ग में। 'रघुवंश' को उनकी अंतिम रचना माना जाता है। यदि यह सत्य है तो अग्निवर्ण का अंत कालिदास की अन्य रचनाओं में वर्णित भोगवाद पर अच्छी टिप्पणी है। यह रोग उस समाज-व्यवस्था में लग चुका था जिसमें एक अवकाशभोगी वर्ग दूसरों की अर्जित सम्पत्ति के बल पर भोग (और योग) के सिवा दूसरी बात सोच ही न सकता था। उस रोग का जो परिणाम हुआ, उसे भारतीय इतिहास का हर विद्यार्थी अच्छी तरह जानता है।

इस भोग के साथ योग का संसार है। योग के चमत्कार से असम्भव बातें भी सम्भव हो जाती हैं। गुरु वशिष्ठ ने ध्यान लगाया और उन्हें मालूम हो गया कि दिलीप के पुत्र क्यों नहीं होता। कार्तवीर्य नाम के योगी युद्ध करने चलते थे तो उनके हज़ार हाथ निकल आते थे, इसलिए कोई राजा उनका सामना न कर सकता था (रघु०, सर्ग ६)। एक महर्षि ऐसे थे जो हिरनों के साथ रहते थे और घास खाते थे (दमाङ्कुरमात्रवृत्ति) और इस 'तप' से इन्द्र को भय हो गया था। जिस शम्बूक ने तप करके वर्ण-व्यवस्था का उल्लंघन किया था, वह वृक्ष की डाल पर उलटा लटका हुआ था और उसके मुँह के नीचे आग जल रही थी। इस तरह के तप का अधिकार ब्राह्मणों के लिए सुरक्षित था। शरीर को इस तरह कष्ट देने से आध्यात्मिक उत्थान होती थी। कहाँ उपनिषदों का रहस्य चिन्तन और कहाँ यह उलटे लटकने की क्रिया! कालिदास की सामाजिक विचारधारा—राजा, प्रजा आदि के सम्बन्ध में—वाल्मीकि और व्यास से पिछड़ी हुई है, उसी तरह योग के विषय में उनका दृष्टिकोण उपनिषदों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। आगे चलकर तुलसीदास ने इसी चमत्कारवाद का प्रबल विरोध करके अपना भक्ति मार्ग प्रतिष्ठित किया था।

पशुबलि का अलग चलन था। निःसन्देह कालिदास को जीवमात्र से प्रेम था। उनके तपोवनों में पहुँचते ही राजा अपना धनुष अलग रख देते हैं। लेकिन धार्मिक रूढ़ि के रूप में

उन्हें पशुबलि स्वीकार थी। जिस धीवर के दुष्यन्त की अँगूठी मिली थी, वह उन श्रोत्रियों का हवाला देता है जो पशुमारण के दारुण कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

कालिदास के समान की विशेष धार्मिक उपज पुराण थे। पुराणों से महाकवि ने अपने काव्य सौन्दर्य की ही बहुत सी सामग्री नहीं ली, उनसे उन्होंने कुछ ऐसी बातें भी ली हैं जो जहाँ तहाँ काव्य को पुराण बना देती हैं और इससे काव्य सौन्दर्य घट जाता है। रघुवंश में देवताओं द्वारा विष्णु की स्तुति कुमारसम्भव में ब्रह्मा की स्तुति आदि ऐसे ही प्रसंग हैं। रघुवंश के अठारहवें सर्ग में कवि ने राजाओं के नाम गिनाकर पुराणों की तरह वंशावली लिख डाली है। पुराणवाद ने यहाँ उनके काव्योत्कर्ष को प्रायः नष्ट ही कर दिया है। कालिदास का कलात्मक दृष्टिकोण एक कुशल चित्रकार का है। साधारणतः वह पुराणों से ऐसे तत्त्व लेते हैं जो सौन्दर्य बोध को निखारने वाले होते हैं। लेकिन रूढ़ियों का पालन करते हुए उन्होंने छः दिन के षडानन से युद्ध ही नहीं कराया, ब्रह्मा के चार मुखों द्वारा षडानन के छः मुखों का चुम्बन भी कराया है।

घनप्रमोदाश्रु तरंगिताक्षमु ख़श्चतुर्भि प्रचुर प्रसाद।
श्रयो प्रचुम्ब्द्विधिरादिवृद्ध षडानन षट्सु निर सुचिरम्॥

वैसे तो ब्रह्मा के लिए सब कुछ सम्भव है लेकिन देवताओं का जितना ही मानवीयकरण हो, उतना ही काव्य के लिए उपयोगी होते हैं। अद्भुत रस का प्रसंग होता तो चित्र ठीक रहता। इस विचित्र व्यापार का कारण अनेक पौराणिक रूढ़ियों को स्वीकार कर लेना है जिससे काव्य कला की क्षति हुई है।

पौराणिक रूढ़ियों के अतिरिक्त कालिदास ने अनेक काव्यगत रूढ़ियों का अनुसरण भी किया है। उनके युद्धवर्णन का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके अतिरंजित आलंकारिक वर्णन इसी रूढ़िवाद के अन्तर्गत आते हैं। शुक्लजी ने रीतिकालीन कवियों के जिस चमत्कारवाद का विरोध किया था, उसके बीज कालिदास में विद्यमान हैं। उनमें इस तरह का कल्पना विलास मिलता है—हंस, तारे, कुसुम आदि देखकर लगता है कि ये रघु का यश है। शिवजी ने पार्वतीजी की आँखों में लगाने के लिए अपने तीसरे नेत्र से ही काजल पार लिया। शिवजी के पुत्र षडानन अपना हाथ शिवजी के सिर पर बहती हुई गंगा में डाल देते हैं और जब ठण्ड लगती है तब उनके तीसरे नेत्र से उसे सेंक लेते हैं।

कालिदास की काव्य कला का अध्ययन उनके समय की समाज व्यवस्था से अलग करके नहीं किया जा सकता। उस व्यवस्था को भुलाकर एक महान् कवि में उपर्युक्त चमत्कारवाद की व्याख्या करना कठिन हो जायगा। कालिदास के समय में वह समाज व्यवस्था पूरी तरह परिपक्व हो चुकी है, इतनी कि उसमें ह्रास के चिह्न स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। इस व्यवस्था ने महाकवि की चेतना को सीमित कर दिया है। राजाओं के सम्बन्ध में उनके विचार उनके चरित्र चित्रण पर प्रभाव डालते हैं। वाल्मीकि की तरह वह अपने आदर्श पात्रों के मानवत्व की घोषणा नहीं करते—दैव सम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः। जो शिव के समान देवता हैं, षडानन के समान देवपुत्र हैं, राम के समान अवतार हैं, उनके चमत्कारों का तो कहना ही क्या, दुष्यन्त जैसे राजा भी इन्द्र की सहायता करने पहुँच जाते हैं। राम को विजय प्राप्ति के लिए भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा था, वाल्मीकि के राम मानसिक अन्तर्द्वन्द्व से अपरिचित नहीं।

कालिदास के राजा बड़ी सरलता से विजय पा जाते हैं। उनमें रामायण और महाभारत के वीरों की प्रयत्नशीलता का अभाव है। युद्ध में अनेक चमत्कार दिखाने वाले ये राजा वास्तव में निष्क्रिय लगते हैं। उनकी सक्रियता प्रायः भोग्या नारी को देखकर जाग्रत होती है, उनकी मुख्य मानसिक व्यथा विरहजन्य होती है। स्त्रियाँ और भी निष्क्रिय हैं। ओष्ठ रंगने और भ्रूसञ्चालन में वे पटु होती हैं। नखक्षतों की पीड़ा वे जानती हैं। वे वात्स्यायन की प्रयोगशाला की सजीव मानव मूर्तियाँ हैं। उनमें प्राचीन महाकाव्यों की वीर नारियों के से दर्प और संघर्ष की क्षमता नहीं है। कालिदास के समाज में नारी का व्यक्तित्व दबा दिया गया है। वीर नारियों का स्थान वेश्याओं और अभिसारिकाओं ने ले लिया है। अन्य नारियाँ अधिकतर प्रेमिका मात्र रह गई हैं। चरित्र चित्रण में कविकुलगुरु आदि कवि से बहुत पीछे हैं और इसका कारण उस समय के सामाजिक वातावरण में उनका कला का गहरा सम्बन्ध है।

सामन्तों की आश्रय प्राप्त कविता चमत्कार प्रधान हो चुकी है। कालिदास की अद्भुत उत्प्रेक्षाओं में ही यह चमत्कारवाद नहीं दिखाई देता, उनके साधारण कथा प्रवाह में भी यह प्रयत्न दिखाई देता है कि हर छन्द में कोई विशेष आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न किया जाय। इस कारण उनके कथा वर्णन में वह ओजपूर्ण प्रवाह नहीं है जो वाल्मीकि की विशेषता है। उनकी कविता सुन्दर है लेकिन उसमें उस गरिमा का अभाव है जो व्यास की विशेषता है, जो मनुष्य की चेतना को भावना के एक उच्च धरातल पर ले जाती है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से उनका काव्य जगत् सीमित है इसलिए उन्होंने मनुष्य के जिस भावजगत् का उद्घाटन किया है, वह तुलसीदास की तुलना में सीमित है। शृङ्गार रस के अतिरिक्त वे जिस रस को छूते हैं उसमें उन्हें अपेक्षाकृत कम सफलता मिलती है। इसलिए पंडितों ने शृङ्गार को रसराज घोषित करके उनके सीमित भावजगत् को एकमात्र भावजगत् बना दिया है। वाल्मीकि और तुलसी के साथ न्याय करने के लिए कालिदास की इन ऐतिहासिक सीमाओं को याद रखना आवश्यक है। निस्सन्देह प्राचीन समाज व्यवस्था से उन्होंने बहुत कुछ पाया, किन्तु यह भी सही है कि इस व्यवस्था की उसकी धार्मिक और साहित्यिक रूढ़ियों की गहरी छाप उनके काव्य पर है और वह सदा उनके उत्कर्ष में सहायक नहीं हुई।

२

कालिदास का काव्य साहित्य एक ओर पूर्ण विकसित प्राचीन समाज व्यवस्था का प्रतिबिम्ब है, दूसरी ओर वह उसकी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों और निर्जीव रूढ़ियों की प्रतिक्रिया भी है। वर्गयुक्त समाज के अनेक महान् साहित्यकारों की तरह कालिदास में भी अनेक प्रकार के अन्तर्विरोध हैं। ये अन्तर्विरोध उनके धार्मिक और दार्शनिक विचारों में, उनके राजनीतिक और सामाजिक विचारों में, उनके सौन्दर्यबोध और भावजगत् में सर्वत्र न्यूनाधिक मात्रा में मिलते हैं। इसीलिए कालिदास को सामन्ती व्यवस्था का चारण समझना बहुत बड़ा भ्रम है, किसी सामन्त विशेष का चारण समझना और भी बड़ा भ्रम है। कालिदास का साहित्य उस काल की समाज-व्यवस्था को प्रतिबिम्बित करता है, साथ ही उसका बहुत बड़ा भाग उस व्यवस्था से मुक्त होकर एक कल्पना लोक की सृष्टि भी करता है। इसलिए कालिदास में जो कुछ भी मिले, उस सभी को हम उस युग का सामाजिक यथार्थ नहीं मान सकते।

कालिदास ने अनेक राजाओं के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु इन सभी के चित्र यथार्थ जीवन से नहीं लिये गए। अनेक पात्र आदर्श राजाओं के रूप में कल्पित किये गए हैं। राजा दिलीप के कारागारों में कोई भी बन्दी न था जिसे वह पुत्र जन्मोत्सव पर छोड़ते। राम लोभ पराङ्मुख थे, इसलिए प्रजा अर्थवान् हो गई। कालिदास ने रघुवंशी राजाओं को आसमुद्र क्षितीश कहा है। समग्र देश की एकता और उस पर एक ही चक्रवर्ती सम्राट् का शासन उनका आदर्श था। देश के सामने उन्होंने यथार्थ चित्रण के बदले एक आदर्श चित्र ही रखा था। दुष्यन्त यह घोषणा कराते हैं कि राज्य में निवश कुटुम्बी न रहे, वह दुष्यन्त को अपना कुटुम्बी समझे। एक ओर राजा के लिए पृथ्वी भोग का साधन है, दूसरी ओर वह प्रजा का साधारण कुटुम्बी भी है।

कालिदास ने राजाओं के वैभव का वर्णन किया है, किन्तु मानो इससे सन्तोष न होने पर वह बराबर प्रकृति की ओर भागते हैं या कल्पना लोक रचते हैं। यह आकस्मिक बात नहीं है कि दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रेम नगर के बाहर तपोवन में होता है। शिव और पार्वती के प्रेम की भूमि गन्धमादन आदि अनेक पर्वत हैं। अलका विलास और वैभव का कल्पना लोक है। वहाँ के फर्श मणियों से बने हुए हैं। यहाँ के हर्म्य स्थल सितमणिमय हैं। यक्षबालाएँ कनक-सिकता फेंककर मणियों को छिपाती हैं और फिर उन्हें ढूँढने का खेल खेलती हैं। अपने दुकूल खींचे जाने पर जब वे रत्नप्रदीपों पर चूर्ण फेंकती हैं तो वे बुझते नहीं हैं। उनकी सुरतजनित अङ्गग्लानि दूर करने के लिए चन्द्रकान्त मणियों से जलबिन्दु टपकते हैं। उन्हें अपनी सारी शृङ्गार-सामग्री कल्पवृक्ष से प्राप्त हो जाती है। यक्ष के घर की वापी में स्वर्ण कमल खिलते हैं। उसके उद्यान में इन्द्रनील मणिकृत क्रीडाशैल है और वह 'कनक कदली वेष्टन प्रेक्षणीय' है। इस तरह के काल्पनिक वर्णन कालिदास में अन्यत्र भी हैं। आजकल की आलोचना की शब्दावली में हम कहेंगे कि कालिदास रोमांटिक कवि हैं। श्री भगवतशरण उपाध्याय ने मेघदूत के लिए लिखा है—"It may stand to proclaim the inauguration of a romantic era in Sanskrit poetry" (India in Kalidasa पृ० २८५)। संस्कृत काव्यजगत् में रोमांटिक युग का आरम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। असंदिग्ध बात यह है कि कालिदास एक महान् रोमांटिक कवि हैं और विश्व के प्रथम रोमांटिक कवियों में से हैं। उनकी रोमांटिक वृत्ति नर-नारी के प्रेम के वर्णन में, प्रकृति चित्रण में, उनके सूक्ष्म इन्द्रिय बोध में और पौराणिक गाथाओं के सौन्दर्य-शाली उपयोग में सर्वत्र दिखाई देती है।

कालिदास की समाज व्यवस्था के भोगवाद का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यूरोप में १६वीं सदी से पहले जो काव्य लिखा गया है, उसमें प्रेम की जगह अधिकतर वासना की प्रतिष्ठा है। यूरोप के प्राचीन (यूनानी) साहित्य की चर्चा करते हुए, वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक एङ्गेल्स ने राज्यसत्ता और व्यक्तिगत सम्पत्ति के उद्भव पर लिखे हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में यह मत प्रकट किया है कि यूनानियों के लिए भोग का इतना महत्त्व था कि उन्हें इसकी भी चिन्ता न रहती थी कि जिसका वे भोग कर रहे हैं, वह नारी है या नर। उनका संकेत यूनान में सुलेआम पुरुषों में प्रचलित अप्राकृतिक व्यभिचार की ओर था। यूरोप में नवजागरण (रिनेसंस) के प्रथम कवि इटली के दान्ते ने व्यक्तिगत प्रेम को उच्च साहित्य में प्रतिष्ठित किया। उनसे अनेक शताब्दियों पहले महाकवि कालिदास ने भारतीय काव्य में व्यक्तिगत प्रेम की प्रतिष्ठा

की थी। व्यक्तिगत प्रेम से तात्पर्य उस प्रेम से है जो एक पुरुष और एक नारी के बीच अनुराग रहता है। पुरुष के लिए अनेक स्त्रियाँ अपने यौवन और सौन्दर्य के कारण भोग्या नहीं होतीं, वरन् उसका हृदय केवल एक से ही प्रेम करता है।

कालिदास के नायक बहुधा अनेक पत्नियों वाले होते हैं, किन्तु प्रेमी के रूप में वे एक से ही हार्दिक स्नेह करते हैं। दिलीप की अनेक पत्नियाँ हैं लेकिन वह प्रेमी सुदक्षिणा के हैं। यही हाल दुष्यन्त का है। लेकिन इनसे भिन्न उनके अन्य प्रेमी पात्र हैं जो एक पत्नीव्रती हैं। यक्ष की अलका में विलास की सभी सामग्रियाँ हैं, लेकिन वासना के कलुष से निरे होने पर भी वह केवल अपनी प्रिया से स्नेह करता है और वह प्रिया भी अलका के विलासमय वातावरण में पूर्ण विरह पर हिमाद्रि की शाप कलामात्र सी शय्या पर पड़ी रहती है। इसी प्रकार शिव और पार्वती का प्रेम है। इन्दुमती के लिए अज की उक्ति साहित्य के इतिहास में अद्भुत है—

गृहिणी सचिव सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणा विमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥

यूरोप में प्रेम के सबसे बड़े गायक शेली तक में पत्नी तो क्या किसी एकमात्र प्रेमिका के लिए भी ऐसी उत्कट प्रेम व्यञ्जना नहीं है। यूरोप की अधिकांश मध्यकालीन कविता में विवाह-सम्बन्ध से बाहर अवैध प्रेम का कीर्तन है। केवल मिल्टन ने अपने महाकाव्य 'पैराडाइज़ लॉस्ट' में विवाहित प्रेम का अभिनन्दन किया है। जब तक विवाह का आधार कुल, नाम और सम्पत्ति के विचार रहते हैं, तब तक विवाह के साथ प्रेम का अस्तित्व दुर्लभ ही होता है। काव्य में दुर्लभ ही रहा है। किन्तु भारत में नारी के लिए अपना प्रेमी चुनने का आदर्श रहा है—कम से कम काव्य में वह आदर्श बना रहा है—इसलिए विवाह और प्रेम में कोई आधारभूत विरोध नहीं रहा है।

इन्दुमती ने अज को पिता के कहने से नहीं, स्वेच्छा से स्वीकार किया था। स्त्रियाँ कहती हैं कि स्वयंवर के बिना इन्दुमती को आत्मतुल्य कान्त कैसे मिलता! इसीलिए वह गृहिणी सचिव, सखा, शिष्या सभी कुछ है। उसके न रहने से अज के लिए संसार सूना हो गया है। नारी स्वयं पति चुनती है, इसलिए कालिदास ने अनेक बार विवाह से पहले पुरुष और स्त्री के प्रेम का चित्रण किया है। इन्दुमती ने अज को देखते ही उन्हें अपनी दृष्टि से वर लिया। अन्य रामायणिक कवियों की तरह कालिदास में भी प्रथम दर्शन से ही प्रेम का अभ्युदय होता है। इन्दुमती की तरह शकुन्तला दुष्यन्त को देखते ही उन पर मोहित हो जाती है। कालिदास ने इस प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम का वर्णन ही नहीं किया, दीर्घ साहचर्य से स्थिर रहने वाले प्रेम की अभिव्यंजना भी की है। यक्ष और उसकी पत्नी दोनों ही विरह की आग में जलते हैं। शकुन्तला और दुष्यन्त दोनों ही विछोह में कष्ट पाते हैं। अज अपनी पत्नी को सदा के लिए खो बैठने पर करुण विलाप करते हैं। प्रेम नर नारी में असमानता का भेद नहीं करता। विरही पुरुष भी होता है, नारी भी। यह कहना कि भारतीय साहित्य नारी के विरह का ही वर्णन करता है, कालिदास को भारतीय साहित्य की परिधि से बाहर निकाल देना होगा।

अज का कहना है कि वह शाब्दिक रूप से क्षितिपति थे, उनका वास्तविक प्रेम इन्दुमती से था। कालिदास के राजा शाब्दिक रूप से राजा हैं, अपने वास्तविक रूप में वे प्रेमी हैं। उनके राज्य-सञ्चालन आदि का वर्णन कवि ने रूढ़ि का पालन करने के लिए किया है। उसका

वास्तविक लक्ष्य उन्हें प्रेमी रूप में चित्रित करना है। फिर यह और शिव तो सामन्त नहीं हैं। नारद ने भविष्यवाणी की थी कि पार्वती शिव की एकमात्र पत्नी और उनके आधे शरीर की स्वामिनी बनेंगी—

समादिदेशैकवधू भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य।

पार्वती की सखियों ने उन्हें आशीर्वाद दिया, "अखण्डित प्रेम लभस्व।" आदर्श प्रेम अखण्डित ही होता है। पार्वती ने शिव के आधे शरीर पर अधिकार करके अपनी सखियों के आशीर्वाद को पीछे छोड़ दिया। यक्ष के लिए उसकी पत्नी "जीवित म द्वितीय" है। अनेक स्थलों में कालिदास ने संकेत किया है कि मानव प्रेम इस जन्म से पहले और उसके बाद भी स्थिर रहता है। अज अपना शरीर छोड़ने पर स्वर्ग में इन्दुमती से फिर मिलते हैं। काम के भस्म हो जाने पर भी रति उसे पुन प्राप्त कर लेती है। पार्वती ने पूर्व जन्म में सती रूप में शिव से प्रेम किया था। सहस्रों राजाओं में इन्दुमती ने अज को ही चुना, इसका कारण पूर्वजन्म की पहचान है। इस तरह के कथा प्रसंगों में प्रेम की रहस्यवादी व्यञ्जना का संकेत मिलता है।

यह अनिवार्य था कि प्रेमी कवि कालिदास कहीं न कहीं रूढ़ियों से टकराते। उन्होंने मरसक रूढ़ियों की रक्षा की है, फिर भी शाप देने वाले दुर्वासाओं से वह सदा अपने प्रेमीजनों की रक्षा नहीं कर सके। यक्ष अपने प्रेम के कारण स्वाधिकार प्रमत्त हो जाता है, शकुन्तला अनन्यमनसा दुष्यन्त का ध्यान करती हुई दुर्वासा का सत्कार नहीं कर पाती। यही नहीं, उसने गुप्त प्रेम किया है, दुष्यन्त से गान्धर्व विवाह किया है। इस पर बाद में उसे ताने भी सुनने पड़ते हैं। स्पष्ट है कि कालिदास की सहानुभूति शकुन्तला के प्रति है, न कि दुर्वासा के प्रति। किन्तु दुर्वासा के शाप के कारण अभिशप्त यक्ष की तरह दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों को यातना सहनी पड़ती है। शाप पाने वाली देवियाँ बहुधा अप्सराओं की कन्याएँ हैं। शकुन्तला मेनका की कन्या है, उसके पिता कौशिक गोत्र के एक राजा थे। किन्तु शकुन्तला कौशिक मेनका के विधिवत् पाणिग्रहण का परिणाम न थी। क्या इस तरह की अविवाहित अप्सराओं की सन्तान से राजा को विवाह करना चाहिए? कालिदास का उत्तर विवाह के पक्ष में है। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरूरवा की प्रेयसी उर्वशी है। उर्वशी भी शापवश लता बन जाती है, क्योंकि वह स्त्रियों के लिए निषिद्ध वन में चली गई थी। अज की प्रिय पत्नी इन्दुमती पूर्वजन्म में अप्सरा थी, जिसे ऋषि ने शाप देकर मनुष्यलोक में जन्म लेने के लिए बाध्य किया था। अप्सराओं या अप्सराओं की कन्याओं के प्रति यह प्रेम क्या महाकवि के जीवन की किसी विशेष घटना की ओर इंगित करता है? इतना निश्चित है कि इस तरह का प्रेम साधारण रूढ़ियों से दूर है।

यौवन और सौन्दर्य से कालिदास के प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भोगवाद के अतिरिक्त उनमें भरे पूरे जीवन की आनन्दकामना है। जैसे रंग भरने से चित्र खिल उठता है, वैसे ही यौवनागम से नारी का सौन्दर्य निखर जाता है (कुमारसम्भव, सर्ग १)। कोयल स्त्रियों को मान तजने की सीख देती है क्योंकि यौवन चला जाने पर फिर नहीं आता (रघुवंश, सर्ग ६)। मिल्टन ने ईव की सुन्दरता का वर्णन करते हुए लिखा है कि शैतान उन्हें देखकर ठगा सा रह गया और एक क्षण के लिए दूसरों का अमंगल करने की वृत्ति भूल गया। कालिदास ने भी उस रूप का वर्णन किया जिससे मनुष्य चमत्कृत होकर पापवृत्ति भूल जाय। उमा का सौन्दर्य भी "पापवृत्तये न" था (कुमारसम्भव, सर्ग ५)। शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन में कालिदास जहाँ

विभिन्न अंगों की अलग अलग सुन्दरता की चर्चा करते हैं, वहाँ समग्र रूप का आभास देने के लिए वह उसे अपार्थिव कल्पना लोक की वस्तु बना देते हैं। शिव उमा के लिए कहते हैं—'त्रिलोक सौन्दर्य मिवोदित वपु।'' उमा के शरीर में मानो तीनों लोकों का सौन्दर्य उदय हो गया था। यक्ष की पत्नी "युवतिविषये सृष्टि राधेव धातु' है। विधाता ने अपना प्रथम कृति के रूप में उसीको सँवारा था।

शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त की समझ में आता है कि उद्यानलता और वनलता में क्या अन्तर है। शकुन्तला का सौंदर्य वनलता का सा है। उसका वपु अव्याज मनोहर है। वल्कल पहने हुए भी वह मनोज्ञ मालूम होता है। वह अनाघ्रात पुष्प है, अलून किसलय है, अनाविद्ध रत्न है, अनास्वादित नव मधु है, उसका अनघ रूप पुण्यों का अखण्ड फल है। प्रेमी की रूपतल्लीनता उसे आत्मविभोर कर देती है। अन्य कवियों की भाँति कालिदास ने भी प्रकृति में नारीत्व का आरोप किया है। प्राकृतिक उपमानों से नारी की तुलना करते हुए वह रूपजन्य आनन्दातिरेक की व्यञ्जना भी करते हैं। आभरण पहने हुए उमा नक्षत्रमायुक्त त्रियामा जैसी लगती है। रेशमी वस्त्र पहने हुए उमा "क्षीरोद वेलेव सफेनपुञ्जा" लगती है। नारी के प्रसाधनों में प्राकृतिक वस्तुओं का महत्त्व ही अधिक है। उमा को देखकर जब शिव पहली बार विचलित हुए थे, उस समय वह कर्णिकार और साधारण पल्लवों से शृङ्गार किये हुए थी। चन्द्रमा की किरणें देखकर शिव कहते हैं कि वे जौ के अङ्कुरों के समान हैं और उनसे उमा के लिए कर्णपूररचना हो सकती है। रोमांटिक शृङ्गार भावना की यह चरम परिणति है।

अन्यत्र महाकवि ने तमाल के प्रवाल को अवतंस बनाकर सीता के 'यवाङ्कुरापाण्डुकपोल' को और भी सुन्दर बना दिया है। इस तरह के उपमान असाधारण रूप से सुन्दर तो हैं ही, उनसे कवि के सूक्ष्म इन्द्रियबोध का भी पता चलता है। रूप, स्पर्श और गन्ध का एक साथ सम्मिश्रण दाय प्रवालमादाय सुर्गा व यस्य' में मिलता है। उनके लिए रूप मूर्ति की तरह प्राणहीन न होकर स्पन्दनशील है। वह अपने उपमानों द्वारा मानो उसका सजीव स्पन्दन ही प्रकट कर देते हैं। अंग्रेज कवि कीट्स के सौन्दर्यबोध की उचित और यथेष्ट प्रशंसा की गई है। किन्तु कीट्स के लिए मूर्त रूप उस तरह जीवित और स्पन्दनशील नहीं है जैसे महाकवि कालिदास के लिए। मनुष्य के विचार बदल जाते हैं, उसके भावजगत् में भी यथेष्ट परिवर्तन होते हैं, किन्तु उसका इन्द्रियबोध इनसे अधिक व्यापक होता है। इन्द्रियबोध के क्षेत्र में यह सदा सम्भव है कि सामाजिक विकास की दृष्टि से एक पिछड़ी हुई व्यवस्था का कवि शताब्दियों तक अपनी कोटि के रचनाकार के अभाव में अनामिका को सार्थक करता रहे। जौ के अङ्कुर कालिदास के प्रिय उपमान हैं। उनसे स्पर्श मार्दव, नेत्र सुखद रंग और जीवन क्रिया तीनों ही अभिव्यक्त हैं। कालिदास के लिए सप्राण प्रकृति और चेतन मनुष्य में घनिष्ट सम्बन्ध है। उर्वशी शापवश लता हो जाती है और पुरूरवा जब उन्मन की सी दशा में उसे भेंटता है, तो वह उर्वशी रूप में परिवर्तित हो जाती है। कालिदास का हृदय प्रकृति की जीवन क्रिया से तन्मय हो जाता है। प्राकृतिक परिवेश में प्रेमीजन मिलते हैं, उनके प्रेम का सहज स्फुरण लता विटपों के मिलन जैसा लगता है। शकुन्तला की प्रिय नवमालिका ने बालसहकार से स्वयंवर कर लिया है। जिस समय उमा ने शिव को किंचित्परिलुप्तधैर्य अपनी ओर निहारते देखा, उस समय स्फुरद् बाल कदंब के समान अपने अंगों से भाव प्रकट किये। यह प्रेम जीवन की वह स्वाभाविक क्रिया है

जहाँ मनुष्य की संवेदना, भावना और विचार एक ही राग में झंकृत हो उठते हैं।

कालिदास के सौंदर्यबोध का मूलाधार उनका जीवन प्रेम है। यह जीवन मनुष्य, पशु और वनस्पति में सर्वत्र है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे विश्व में किसी अगोचर चेतना के दर्शन करते हैं। उनके लिए यह जीवन घोर गोचर है, वह इन्द्रियबोध से अभिन्न है, उससे परे नहीं। विलास और वैभव का यह कवि धरती के इतना निकट है जितना कोई भौतिकवादी कवि नहीं हुआ। उसे वर्षा के बाद धरती से उठने वाली सोंधी सुगंध अत्यन्त प्रिय है। ग्रमा के अंत में वर्षा होने पर हाथी बार बार खालों की मिट्टी सूँघते हैं (रघु०, सर्ग ३), वर्षा के कारण धरती से जो गन्ध निकली उससे कंदली की खिली हुई लाल कलियाँ विवाह के समय हवन का धुआँ लगने से सीता की लाल आँखों जैसी हो जाती हैं (उप०, सर्ग १२)। यक्ष के सखा मेघ के सहायकों में धरती से उठती हुई गंध सूँघने वाले हाथी भी हैं। देवगिरि की ओर जाते हुए मेघ को जो पवन थपकियाँ देगा, वह उसके निश्वास से उच्छ्वसित वसुधा से सम्पर्क रम्य है। मेघ यक्ष के हृदयोच्छ्वास के साथ वसुधा का गंधोच्छ्वास भी लेकर अलका की ओर जाता है।

यह गंधोच्छ्वास भारत की ही धरती का है। मेघदूत में भारत के ग्राम-नगरों और प्रकृति के प्रति अपूर्व अनुराग प्रकट किया गया है। इंदुमती के स्वयंवर में राजाओं के परिचय के बहाने भारत के सभी भागों की प्रकृति का परिचय दिया गया है। कालिदास के मानववाद में देशभक्ति के बीज हैं।

जीवन का जो उभार प्रकृति में दिखाई देता है, वही मानवमात्र में यौवन बनकर फूल करता है। जो पवन भरी बालों से झुके हुए धान के पौधों को हिलाता है, वही नवयुवकों के हृदय चंचल करता है (ऋतुसंहार, सर्ग ३)। पृथ्वी जैसे अपने गर्भ में बीज छिपाये रहती है, वैसे ही अग्निवर्ण की रानी अपने गर्भ में नया जीवन छिपाये रहती है। मानव और प्रकृति में जीवन विकास की यह रहस्यमय क्रिया कालिदास को समान रूप से आकर्षित करती है। पाश्चात्य साहित्य में गर्भवती नारी को यह महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ जो उसे भारतीय साहित्य में प्राप्त है। प्रभात के शशिवाली शर्वरी के समान लोध्रपाण्डु मुखवाली सुदक्षिणा सुन्दर है। दशरथ की रानियाँ दानों से भरी हुई नाज की बालों के समान पीली पड़कर भी सुन्दर हैं। नाज की भरी बालों के उपमान में केवल रंग की ओर संकेत नहीं है, वरन् उस स्वाभाविक जीवन क्रिया की ओर भी संकेत है, जो प्रकृति और मानव के लिए समान है। रूप, रस, गंध, स्पर्श का सुख जीवन का ही सुख है। यह कालिदास की महत्ता है कि वह इस इन्द्रियबोध के साथ मूलतः जीवन के प्रति अनुराग प्रकट करते हैं। वनस्पति जगत् और पशुओं के प्रति जैसी सुकुमार सहानुभूति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के चौथे अंक में प्रकट हुई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है और उसका कारण प्रकृति सापेक्ष जीवन के प्रति असीम अनुराग है। वशिष्ठ के आश्रम में मृग दरवाजा रोककर खड़े हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें भी ऋषियों की संतान की तरह नीवार में भाग मिलता है (रघु०, सर्ग १)। कालिदास को तपोवन अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि यहाँ सभी जीव वीतभय हो गए हैं (रघु०, सर्ग १४)। जिस हरिण पर दुष्यन्त बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच तपस्वी आकर खड़े हो जाते हैं। यही नहीं, जिस हरिण पर दशरथ बाण चलाना चाहते हैं, उसके और राजा के बीच हरिणी आकर खड़ी हो जाती है। न केवल जीवन के स्पन्दन वरन् प्रेम के स्पन्दन से भी पशु जगत् वंचित नहीं है। इसलिए जब शकुन्तला आश्रम

से चलने लगती है, तब उसका पुत्रतुल्य पाला हुआ मृग आकर उसकी राह रोककर खड़ा हो जाता है। कालिदास की करुणा मानव ही नहीं, जीवमात्र को अपने अन्दर समेट लेती है। इस करुणा का स्रोत दया नहीं है, उसका स्रोत व्यापक जीवन के प्रति गम्भीर अनुराग है। पाश्चात्य रोमांटिक कवियों में रूप रस गन्धमय मानवीय और प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति अतिशय अनुराग है और कभी कभी उसके साथ अतीन्द्रिय, अगोचर विश्व व्यापी चेतना की उद्भावना भी है। कालिदास के लिए रूप रस गन्धमय सौंदर्य निर्जीव नहीं है न वह अतीन्द्रिय चेतना की ओर ही काल्पनिक उड़ान भरते हैं। वह सूक्ष्म इन्द्रियबोध और मार्मिक करुणा से समृद्ध जीवन के अद्वितीय कवि हैं। इस दृष्टि से उनकी रोमांटिक भावधारा एक अन्य और उच्च स्तर की है। गोचर जगत् के समृद्ध जीवन के प्रति यह सघन अनुराग अवश्य ही साहित्य का स्थायी तत्व है।

३

यहाँ कालिदास के जीवन दर्शन का प्रश्न हमारे सामने आता है। सुबोध विद्वान् डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है कि "शिव के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही कालिदास के दर्शन और साधना का ज्ञान है" (मेघदूत एक अध्ययन)। उनका कहना है कि पार्वती सुषुम्ना नाड़ी का नाम है। मेरुदण्ड हिमालय है जिसके भीतर सुषुम्ना है। शिवजी ने मदन को भस्म किया, तदुपरान्त उमा की तपस्या से सुषुम्ना नाड़ी द्वारा योग की साधना से शिव और पार्वती का विवाह हुआ, अर्थात् व्यक्ति की चिदात्मक शक्ति जो अधोमुखी थी वह अन्तर्मुखी होकर सहस्रदल में स्थित परबिन्दु शिव से संयुक्त हो जाती है, फिर विषयों से उसे कोई भय नहीं रहता।

यहाँ कई शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। पार्वती अर्थात् सुषुम्ना से विवाह होने के पहले ही 'कुमारसम्भव' के तीसरे सर्ग में शिवजी अक्षर ब्रह्म को अपनी आत्मा के अन्दर देख चुके हैं। इसलिए जहाँ तक शिव का सम्बन्ध है, उन्हें कुण्डलिनी जगाने की आवश्यकता नहीं है। यदि सुषुम्ना का कल्याण करना है तो शिवजी किंचित्परिलुप्तधैर्य होकर उनके (पार्वती के) बिम्बफलाधरोष्ठों को क्यों निहारने लगते हैं ? और जब अपने विचलित होने का ज्ञान होता है तब 'स्त्री सन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छन्' सुषुम्ना का साथ छोड़कर अन्तर्धान होने की आवश्यकता क्यों उत्पन्न होती है ? काम को एक बार भस्म कर देने पर उसे फिर जिलाने की आवश्यकता क्या थी ? जब विवाह पक्का हो गया, तब 'अद्रिसुता समागमोत्सुक' (पार्वती परिणयोत्सुक —मल्लिनाथ) शिव के लिए तीन दिन काटना भी कठिन हो गया। इस पर महाकवि कहते हैं कि इस तरह के भाव यदि शिव को स्पर्श करते हैं, तब अन्य जन 'अवश' (इन्द्रियपरतन्त्रम्—मल्लिनाथ) हो जाय तो आश्चर्य क्या ? पार्वतीजी ने शिव को पाने के लिए तपस्या अवश्य की थी। शिवजी ने उन्हें अपनी शिष्या भी बना लिया, किन्तु वह योगाभ्यास में शिष्या न थीं वरन्

शिष्यतां निधुवनोपदेशिनः शंकरस्य रहसि प्रपन्नया।
शिक्षितं युवतिनैपुणं तया यत्तदेव गुरुदक्षिणीकृतम्॥

निधुवनोपदेशिन का अर्थ है 'सुरतोपदेष्टु'। ऐसे गुरु से पार्वतीजी ने जो शिक्षा पाई थी वही 'युवतिनैपुणम्' दक्षिणा के रूप में उन्हें अर्पित कर दी। हो सकता है, योग की बातें सुरत

शब्दावली में समझाई गई हों, किन्तु आगे चलकर कालिदास कहते हैं—

एवमिन्द्रियसुखस्य वर्त्मनः सेवनादनुगृहीतमन्मथ ।

इन्द्रियसुख के मार्ग के सेवन से मन्मथ अनुगृहीत हुआ। यदि इन्द्रियसुख का अर्थ अतीन्द्रिय आनन्द हो और मन्मथ का अर्थ सच्चिदानन्द ब्रह्म हो, तब तो डॉ० अग्रवाल की व्याख्या ठीक मानी जायगी, वरना कहना पड़ेगा कि ऐसी व्याख्या अरविन्दवादी कवियों के लिए तो उपयुक्त है, शैव कवि कालिदास के लिए नहीं।

डॉ० अग्रवाल ने 'मेघदूत' के सम्बन्ध में नम्रता के साथ लिखा है, "यह भी सत्य है कि कालिदास के समान उस ग्रन्थ का गम्भीर किन्तु प्रमेयपूर्ण पारायण आज तक कोई नहीं कर सका।" इसका कारण यह है—"काव्य में कान्ता सम्मित उपदेश दिया जाता है। इसीलिए 'मेघदूत' के अध्यात्म ज्ञान का ऊपर से कुछ पता नहीं चलता।" कवि ने स्थान स्थान पर जो स्कन्द, शिव और कैलाश का उल्लेख किया है, "इन सब बातों में एक ही अध्यात्मभाव दृष्टिगोचर होता है, जिसके द्वारा काम का कल्मष दूर होगा और यह शिव का सान्निध्य प्राप्त कर अन्तत अध्यात्म बोध में विपरिणमित हो जायगा।" ऐसा लगता है कि यक्ष ने अपना सन्देश अपनी "प्रिया के प्राणों को सहारा देने की इच्छा से" (डॉ० अग्रवाल की टीका) नहीं भेजा, वरन् कामरूप मेघ को अध्यात्मप्रसाद विधान के लिए उसे 'कान्तासम्मित' उपदेश दिया है। मेघ महाकाल के मन्दिर में पहुँचेगा। उस पवित्र धाम के उपवन को "कमलों के पराग से सुगन्धित एवं जलक्रीड़ा करती हुई युवतियों के स्नानीय द्रव्यों से सुरभित गन्धवती की हवाएँ झकोर रही होंगी।" इन हवाओं से अपना तन मन शुद्ध करके जब वह सन्ध्याकालीन आरती के समय धीर गम्भीर गर्जन करेगा, तब उसे अपनी इस भक्ति का पूरा फल मिलेगा। वह इस प्रकार "वहाँ प्रदोषनृत्य के समय पैरों की ठुमकन से जिनकी कटिकिंकिणी बज उठती हैं और रत्नों की चमक से झिलमिल मूठों वाली चौंरियाँ डुलाने से जिनके हाथ थक जाते हैं, ऐसी वेश्याओं के ऊपर जब तुम सावन के बुन्दाकड़े (वर्षाग्रबिन्दून्) बरसाकर उनके नखक्षतों को सुख दोगे, तब वे भी भौंरों सी चञ्चल पुतलियों से तुम्हारे ऊपर अपने लम्बे चितवन चलाएँगी।" (डॉ० अग्रवाल की टीका) यह फल पाकर वह रात में प्रियतम से मिलने जाती हुई अभिसारिकाओं के लिए बिजली से प्रकाश कर देगा। महाकाल के दर्शन कराने के बाद ही यक्ष मेघ को यह परमज्ञान का तत्त्व बतलाता है—

ज्ञात्वा स्वादौ विवृतजघना को विहातुं समर्थः ।

अलका में कुबेर के मित्र शिव को बसता जानकर काम अपना धनुष चढ़ाने से डरता है, लेकिन "कामी जनों को जीतने का उसका मनोरथ तो नागरी स्त्रियों की लीलाओं से ही पूरा हो जाता है, जब वे भौंहें तिरछी करके अपने कटाक्ष छोड़ती हैं तो कामीजनों में अचूक निशाने पर बैठते हैं।" इस प्रकार शिवसान्निध्य से मदन व्यापार में जरा भी बाधा नहीं पड़ती। अन्त में काम कल्मष धुल जाने पर मेघ के लिए यक्ष जिस अध्यात्मविधि में विपरिणमित होने की कल्पना करता है, वह 'मेघदूत' की अन्तिम पंक्ति यह है—

माभूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः ।

"हे जलधर, तुम्हें अपनी प्रियतमा विद्युत् से क्षण भर के लिए भी मेरे जैसा वियोग न सहना पड़े।" प्रिया से सुखद संयोग की अवस्था ब्रह्मानन्द तुल्य हो सकती है, किन्तु साक्षात् ब्रह्मानन्द नहीं।

कालिदास अद्वैत सत्ता में विश्वास करते हैं, किन्तु यह सत्ता गोचर संसार का तिरस्कार नहीं करती। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के आरम्भ में कालिदास ने जिन शिव की वन्दना की है वह जल, अग्नि, पृथ्वी, वायु, आकाश आदि आठ प्रत्यक्ष रूपों में सभी को दिखाई देते हैं। इसलिए वह विशुद्ध अप्रत्यक्ष सत्ता नहीं है।

द्रव संघातकठिन स्थूल सूक्ष्मो लघुर्गुरुः ।
व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि प्राकाम्यं ते विभूतिषु ॥ (कुमार०, सर्ग २)

वह द्रव भी हैं, संघात कठिन भी (अर्थात् उपलाकार मंगल द्रवित मल नीहार—निराला), वह स्थूल भी हैं, सूक्ष्म भी वह व्यक्त भी हैं, अव्यक्त भी। कालिदास के लिए प्रकृति और पुरुष की सम्मिलित इकाई है—

त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥ (उप०)

शिव भोग्य और भोक्ता दोनों हैं, इसलिए महाकवि वर्तमान युग के अनेक अद्वैतवादियों की तरह जड़ चेतन के द्वैत से पीड़ित नहीं हैं। आधुनिक कवियों में उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सच्चे उत्तराधिकारी आनन्दवादी जयशंकरप्रसाद थे, जिन्होंने लिखा था—"एक तत्त्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन। 'कुमारसम्भव' के पाँचवें सर्ग में कवि ने शिव को विश्वमूर्ति कहा है और मल्लिनाथ ने 'विश्व मूर्तिर्यस्य' कहकर उसकी व्याख्या की है। यह विश्व ही शिव की मूर्ति है" (चिति का विराट् वपु मंगल—प्रसाद)।

कालिदास का यह दार्शनिक दृष्टिकोण साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। वह विश्व को शिवरूप मानते हैं, इसलिए उनकी सहानुभूति का क्षेत्र व्यापक है। वह मानवजीवन को क्षणभंगुर और संसार को नाशवान् कहकर वैराग्य का उपदेश नहीं देते। अनेक राजाओं को बुढ़ापे में वैरागी बनाकर उन्होंने एक रूढ़ि का अनुसरण मात्र किया है। शिव साधना गृहस्थ धर्म में भी सम्भव है। वह रहस्यवादियों की तरह परोक्ष सत्ता के गीत नहीं गाते, वह प्रकृति और मानव का प्राण स्पन्दन सुनते हैं और इस जीवन को अपनी कला का आधार बनाते हैं। इस अद्वैतवाद के कारण वह पौराणिक गाथाओं का भी यथोचित उपयोग करते हैं और पुराणवादियों की तरह सैकड़ों देवताओं में अन्धविश्वास उत्पन्न नहीं करते। उनके लिए गंगा भी 'शम्भोरम्भोमयी मूर्तिः (शम्भु की ही जलमयी मूर्ति) हैं और ब्रह्मा विष्णु-महेश—**एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा**—एक ही मूर्ति के तीन भेद हैं। इस कारण वह धार्मिक आग्रहों से मुक्त पूर्ण कवि हैं।

अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण कालिदास ने पौराणिक गाथाओं की रूढ़ियों से बचते हुए साधारणतः उनका कलात्मक उपयोग किया है। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, देवता, अप्सराएँ आदि उनके काव्य का वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे यूनान की देवगाथाएँ वहाँ के प्राचीन काव्य का अंग थीं। इसके साथ ही उन्होंने अशोक और बकुल के फूलने आदि की किंवदन्तियों का भी कलात्मक उपयोग किया है। सुन्दरियाँ मदिरा की कुल्ली करती थीं तो बकुल फूल उठते थे। जहाँ शिव तप कर रहे थे, वहाँ काम के आने पर सुन्दरियों के नूपुरसंजित चरणों की अपेक्षा किये बिना ही अशोक खिल उठा। इसी तरह सुन्दरी के मुख को कमल समझकर भौंरा उसके पास आयेगा ही (चाहे वह मुख पार्वती का हो चाहे शकुन्तला का), यह भी

कालिदास के सौन्दर्यशास्त्र का एक सूत्र है। प्रचलित विश्वासों के अतिरिक्त कालिदास प्रकृति में मानवत्व का आरोप करके स्वयं नई रोचक गाथाएँ (myth) गढ़ लेते हैं। 'मेघदूत' इसका श्रेष्ठ निदर्शन है। कालिदास का युग उस काल के बहुत बाद का है, जब मनुष्य ने सत्य मानकर प्रकृति सम्बन्धी अनेक चित्रमय उद्भावनाएँ की थीं। कालिदास रोमांटिक इसीलिए हैं कि वह उस बीते युग का स्वप्न देखते हैं। स्वयं उनके युग के अनुकूल महाकवि में एक तीक्ष्ण बौद्धिकता के दर्शन भी होते हैं। जिस चन्द्रमा का कलङ्क देखकर अनेक कवियों ने कल्पना-चमत्कार दिखलाया था, उसके बारे में कालिदास को ज्ञान है कि चन्द्रमा पर पृथ्वी की छाया पड़ती है। छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः (रघु०, सर्ग १४)। बाल चन्द्रमा जब बड़ा होता है, तब वह सूर्य का तेज पाकर ही बड़ा होता है पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा (कुमार०, सर्ग ३)। इस प्रकार बौद्धिकता के कारण कालिदास की लोकोत्तर कल्पना के साथ यथार्थवादी प्रकृति का मिश्रण हो गया है। सेंधा नमक चाटते हुए घोड़े (रघु०, सर्ग ५), शुष्क कर्दम वाले सिर को खोदते हुए सूर्य की किरणों से व्यथित वराहयूथ (ऋतुसंहार, सर्ग १), मुँह से लार और फेन निकालते हुए तृषाकुल महिषीकुल (ऋतु०), वर्षा का पहला गँदला पानी जो कीटरजस्तृणान्वित है (ऋतु०, सर्ग २), सभी औषधियों को व्यर्थ करने वाला सन्निपात (कुमार०, सर्ग २)—ये सब भी 'कुमारसम्भव' में हैं।

कालिदास की उपमाएँ प्रसिद्ध हैं। उनमें संसार की विभिन्न वस्तुओं का साम्य देखने के लिए वह सहज क्षमता विद्यमान है जिसके बिना कोई कवि नहीं हो सकता। उनके अधिकांश उपमान उनके सूक्ष्म इन्द्रियबोध और सौन्दर्यग्राहिका वृत्ति के परिचायक हैं। जहाँ तहाँ उन्होंने बड़े साहस के साथ मौलिक उपमानों का प्रयोग किया है। अज के शोक के बारे में लिखा है—

तस्य प्रसह्य हृदयं किल शोकशङ्कुः प्लक्षप्ररोह इव सौधतलं बिभेद। (रघु०, सर्ग ८)
जैसे प्लक्षप्ररोह सौधतल भेदकर नीचे निकल जाते हैं, वैसे ही शोक ने अज के हृदय को बेध दिया था। अज की विजय से प्रसन्न इन्दुमती के मुख के लिए लिखा है कि निश्वासबाष्प के दूर होने से जैसे दर्पण चमकने लगता है वैसे ही उसका मुख प्रसन्न हुआ। स्नान की हुई पार्वती ऐसी लगती हैं जैसे पर्जन्य जल से अभिषिक्त प्रफुल्लकाशा वसुधा हो। उनके अधिकांश उपमान प्रकृति से लिये गए हैं जिससे यही परिणाम निकलता है कि नगर से अधिक उन्हें प्रकृति ही प्रिय है।

कालिदास का काव्योत्कर्ष उपमाओं तक सीमित नहीं है। उनकी कला का शृङ्गार उनकी सुकुमार संवेदनाएँ हैं। ये संवेदनाएँ वस्तुओं का रूप ही ग्रहण नहीं करतीं, वरन् उनके जीवन का स्पन्दन भी सुनती हैं। उनकी सहानुभूति जगह जगह सामन्त व्यवस्था और सामन्त काव्य परम्परा की रूढ़ियों का खण्डन करती चलती है। नारी का सम्मान करने में वह वाल्मीकि की परम्परा का अनुसरण करते हैं। दुष्यन्त के पास गर्भवती शकुन्तला को छोड़कर जाते हुए शारद्वत का कहना है कि पति की प्रभुता सर्वतोमुखी है, वह चाहे पत्नी को छोड़ चाहे ग्रहण करे और शाङ्गरव उसे पति के घर में दासी बनकर रहने की सलाह देते हैं। शकुन्तला क्रोध से दुष्यन्त को फटकारती है—"अनार्य, दूसरों को अपने जैसा समझते हो। तृणों से ढके हुए कुएँ की तरह कौन तुम्हारे सिवा धर्म का ढोंग करेगा?" और भी, "तुमने मुझे स्वच्छन्दचारिणी बना डाला, सो ठीक किया। मैं पुरुवंश का विश्वास करके तुम जैसे व्यक्ति के हाथ पड़ गई,

जिसके मुँह में मधु है और हृदय में विष है।" यही कालिदास ने महाभारत की रोष-भरी शकुन्तला की ही थोड़ी-सी झाँकी दी है।

गर्भवती सीता को जब लक्ष्मण वन में छोड़कर चलना चाहते हैं तब वह राम को राजा रूप में स्मरण करती है—'वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा।' इससे बड़ी फटकार राम के लिए और क्या हो सकती थी? यह स्वाभाविक था कि रोती हुई सीता को ढाढ़स बँधाने वही महाकवि आते जिन्होंने विलाप करते हुए क्रौञ्च पक्षी को देखकर पहला श्लोक रचा था। "शोक श्लोकत्वमागत" को स्मरण करते हुए कालिदास ने यह अनुपम छन्द लिखा है—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषाद विद्धाण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं"— वाल्मीकि के लिए यह उक्ति नहीं है। किसी संचित पुण्यफल की भाँति सौन्दर्यवादी के हृदय में आदि कवि के लिए श्रद्धा बची हुई है, मानो वाल्मीकि से होड़ करते हुए कालिदास ने उनसे कहलाया है—

उत्खात लोकत्रय कण्टकेऽपि सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि।
त्वां प्रत्यकस्मात्कलुषप्रवृत्तावस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे॥

राम ने तीनों लोकों के कण्टक रावण का नाश किया, वह सत्य प्रतिज्ञ हैं और आत्मप्रशंसा भी नहीं करते। फिर भी तुम्हारे प्रति अकारण निन्दा-व्यापार में प्रवृत्त होने वाले राम पर मैं क्रोध करता हूँ।

वाल्मीकि ही राम पर क्रोध कर सकते थे और कालिदास ही उसके बारे में यों लिख भी सकते थे।

वनवास ही नहीं, उससे पहले भी कालिदास की भक्ति राम से अधिक सीता में है। लंका से लौटने पर माताएँ आशीर्वाद देती हैं

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोसौ वृत्तेन भर्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत्तीर्ण इति प्रियार्हां तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या॥

उन्होंने सीता से उठने को कहा और बोलीं – निश्चय ही भाई के साथ यह भर्ता तुम्हारे ही शुद्ध व्रत के कारण भारी संकट से पार हुए हैं। इस पर कालिदास की टिप्पणी है कि यह बात प्रिय भी थी और सत्य भी!

नारी सौन्दर्य के प्रशंसक कालिदास मातृत्व की वन्दना करते हैं। पार्वती को पाकर मेना और भी शोभित हुई। जब पार्वती ने अपने पुत्र को गोद में लिया तब वात्सल्य रस की अति शयता से उनके स्तनों से दूध बह चला। अनेक स्थलों पर महाकवि ने सन्तान के प्रति इस ममत्व की अभिव्यञ्जना की है। इस प्रकार सौन्दर्यवादी कवि मानवता की उच्चभूमि तक पहुँचते हैं। इस भूमि में प्रवाहित उनकी करुणा साहित्य का स्थायी तत्त्व है।

साहित्य किन्हीं विशेष सामाजिक परिस्थितियों में ही रचा जाता है। इन परिस्थितियों की छाप उस पर पड़ती ही है। किन्तु साहित्य किसी समाज-व्यवस्था का यान्त्रिक प्रतिबिम्ब नहीं है। सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य रचने के उपकरण प्रस्तुत करती हैं, लेकिन इन वस्तुगत परिस्थितियों के साथ साहित्यकार का आत्मगत प्रयास भी आवश्यक होता है। यह बिलकुल सम्भव है कि उपकरण श्रेष्ठ हों किन्तु उनका समुचित उपयोग करने वाले का अभाव रहे। एक

ही समान और एक ही वर्ग के व्यक्तियों की मेधा, सहृदयता, जीवन दर्शन की क्षमता में भेद होता है। यह भेद बहुत कुछ साहित्य का उत्कर्ष निश्चित करता है। अपने युग को प्रतिबिम्बित करने में कालिदास निष्क्रिय नहीं हैं। उनकी अपनी मेधा, सहृदयता, जीवन दर्शन की क्षमता अपना पूर्ण चमत्कार दिखलाती है। इसी कारण उस युग का और उस समाज व्यवस्था का कोई भी कवि कालिदास को नहीं पाता। वाल्मीकि और व्यास ही इसके अपवाद हैं। उनकी तुलना में कालिदास का काव्यजगत् संकुचित है। वह उदात्त चरित्र निर्माण में अक्षम हैं। यद्यपि वे तीन नाटक रचे हैं, फिर भी उनकी प्रतिभा मुख्यतः एक सौन्दर्योपासक 'लिरिक' कवि की है। मानव-जीवन के सर्वाङ्गीण चित्रण बिना कोई भी व्यास और वाल्मीकि की बराबरी नहीं कर सकता। मनुष्य का अपना अनुभव जितना समृद्ध होता है, उतना ही समृद्ध वह साहित्य भी चाहता है। कालिदास की रोमांटिक कल्पना, उनका सूक्ष्म सौन्दर्यदर्शन हमारे लिए काफी नहीं है। तुलसीदास ने मध्यकालीन समाज के साधारणजनों की जिस व्यथा को पहचाना है और उसे वाणी दी है, उससे कालिदास सामान्यतः अपरिचित थे। महाभारत और रामायण में मनुष्य की विजय में जो उद्दाम आशा प्रकट की गई है, करुणा के साथ अन्यायी को दंड देने के लिए जो सत्य प्रियता व्यञ्जित हुई है, शृङ्गार के अतिरिक्त मनुष्य के भावजगत् का जो विविध और गम्भीर चित्रण हुआ है, वह कालिदास के लिए सुलभ नहीं है।

वह एक युग विशेष के कवि हैं और उसकी अनेक विशेषताएँ आज हमें प्रिय नहीं हैं। नर नारी के यौन सम्बन्धों के वर्णन में उनकी रुचि बहुत जगह हमें कुरुचि मालूम होती है। वैसे तो यह मानव का (और पशुओं का भी) सार्वजनीन व्यापार है जो सनातन काल से अभी तक तो चलता ही आया है (आगे आणविक शक्ति के प्रकोप से मनुष्य उसके अयोग्य हो जाय, यह दूसरी बात है) किन्तु साहित्य का उत्कर्ष सार्वजनीन व्यापार के वर्णन से ही सम्भव नहीं होता। अपने सामाजिक विकास क्रम में मनुष्य की साहित्यिक रुचि का भी परिष्कार होता चलता है। यह क्रम सामाजिक विकास से सम्भव होता है, किन्तु उसका सीधा परिणाम नहीं है। इसलिए नहीं है कि मनुष्य का इन्द्रियबोध उसे अपने जीवन के साथ मिला है, उसके आर्थिक सम्बन्धों की भित्ति पर उसकी रचना नहीं हुई। उसका भावजगत् भी आर्थिक सम्बन्धों के बदलने के साथ तुरन्त और पूर्ण रूप से नहीं बदल जाता। इसका कारण यह है कि मनुष्य के भावों का सम्बन्ध प्रकृति से है, परिवार के लोगों से है, गाँव और नगर के मित्रों आदि से है। परिवार के सम्बन्ध बहुत कुछ आर्थिक विकास से निश्चित होते हैं, किन्तु वे उसका प्रतिबिम्ब नहीं हैं। सौन्दर्येच्छा, यौन प्रेम, सन्तान के प्रति स्नेह पशुओं में भी मिलता है, मानव समाज में यह सब विकसित होता है, कभी कभी ह्रास की दिशा में भी चलता है जिससे मनुष्य पशुओं से नीचे गिर जाता है।

कालिदास के समय की अनेक धार्मिक, साहित्यिक और सामाजिक रूढ़ियाँ अब निरर्थक हो गई हैं। उन पर आधारित काव्यांश भी निर्जीव हो गया है। भोगवाद के लिए कवि का आग्रह सार्वजनीन होते हुए भी अनेक स्थलों पर अपरिष्कृत लगता है। यह सब होने पर भी वह महाकवि के रूप में उचित ही प्रतिष्ठित हैं। उनकी सौन्दर्यवृत्ति कण्व के तपोवन, शिव के कैलास और यक्ष की अलका से ही सन्तुष्ट होती है। उद्यानलताओं के बदले वह वनलताओं के सौन्दर्य पर अपने को उत्सर्ग कर देते हैं। वह रूप रस गन्ध स्पर्शमय प्रकृति और मानव के

समृद्ध जीवन के गायक हैं। प्रकृति और प्राणिमात्र के जीवन स्पन्दन साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। उमा का सौन्दर्य, वाल्मीकि का सात्विक क्रोध, इन्दुमती के लिए अज का शोक, भारत की धरती से कवि का प्रेम—ये सभी साहित्य के स्थायी तत्त्व हैं। इन्हें कवियों ने तुरन्त नहीं पा लिया, इन्हें पाने के लिए उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक विकास का लम्बा मार्ग तय करना पड़ा था। कालिदास ने उन मानव मूल्यों को सहेजा और अनेक दिशाओं में उन्हें अधिक विकसित किया।

कालिदास के भोगवाद को रीतिकालीन कवियों ने अपनाया, किन्तु वे उसकी छाया ही छू सके। कालिदास के सूक्ष्म सौन्दर्यबोध का आज तक कोई नहीं पा सका। किन्तु साहित्य के मूल्यवान तत्त्व समाज निरपेक्ष नहीं हैं। हम उन्हें अपने सामाजिक विकास क्रम में ही पाते हैं। आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों के अनुरूप मनुष्य के बहुत से विचार बदल जाते हैं, किन्तु उसका इन्द्रियबोध और भावजगत् परिवर्तनशील होते हुए भी आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों की प्रतिच्छवि नहीं हैं। राजा प्रजा के सम्बन्ध में, धार्मिक कर्मकाण्ड और वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में कालिदास के भाव और विचार साधारणतः हमें आकृष्ट नहीं करते। किन्तु उनकी यह कल्पना कि राज्य में कोई बन्दी नहीं है, राजा के निर्लोभी होने से प्रजा अर्थवान होती है, उनके भावुक हृदय का परिचय देती है और उसमें बाद को आने वाले कवियों के लोक प्रेम के बीज हम देखते हैं। नारी के प्रति उनकी सम्मान भावना, मातृत्व का आदर, जीवमात्र से सहानुभूति, इस देश की प्रकृति से अगाध स्नेह, अपनी समग्र चेतना से व्यापक विश्व जीवन का स्पन्दन सुनने की शक्ति उनकी आत्मनिर्भर गेयता, भाषा पर असाधारण अधिकार और उनकी चारित्रगत नम्रता जो उनकी कला के पीछे छिपी हुई है—ये सभी बातें आज भी अभिनन्दनीय हैं, अनुकरणीय भी। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ पर कालिदास का गहरा प्रभाव है और 'तुलसीदास' लिखते समय निराला महाकवि के अध्ययन में डूबे हुए थे।

कालिदास के काव्य साहित्य के ये सब तत्त्व स्थायी ही नहीं हैं, वे आधुनिक भारतीय साहित्य में अन्तर्धारा की भाँति प्रवाहित भी हैं।

●

रामरतन भटनागर

प्रतीकवाद

१

प्रतीकवादी आंदोलन को हम एक प्रकार से स्वच्छंदतावादी आंदोलन का विकास ही कह सकते हैं, यद्यपि दोनों में असमानताएँ कम नहीं हैं। दोनों धाराओं के पारस्परिक सम्बन्ध को देखने के लिए हमें उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जाना होगा।

अठारहवीं शताब्दी के अंत में हमें इंगलैंड में एक नई धारा का स्पंदन सुनाई पड़ने लगता है, जो काव्य के आगस्टन चिन्तन को एक बार झकझोर देता है। यही स्पन्दन बाद में भाव और विचार के उन विप्लवी स्रोतों का रूप ले लेता है, जिन्हें सामूहिक रूप से 'रोमांटिक धारा' या 'स्वच्छंदतावाद' कह दिया गया है। इस आंदोलन की कई विशेषताएँ थीं। इसने रूढ़ि, परम्परा और श्रद्धा के स्थान पर अनास्था को महत्त्व दिया और काव्य रुचि की सापेक्षिकता की घोषणा की। कविता स्वयं अपना मानदण्ड है। उसके बाहर किसी भी दूसरे मानदण्ड को हम नहीं ढूँढना है, यह दृष्टिकोण रखा गया। कल्पना की उन्मुक्ति इस आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में उसे सत्य से भी ऊँचा सिंहासन दे दिया गया। कीट्स के शब्दों में 'वाट द इमेजिनेशन सीज़ेज़ एज़ ब्यूटी मस्ट बी ट्रुथ'। कल्पना में जो सुन्दर लगे वह निश्चय ही सत्य है। पिछले युग में तर्क को सर्वोपरि माना गया था, नये युग में कल्पना को वही स्थान मिला। प्लेटो ने काव्य को 'अनुकृति' माना था और आगस्टन काव्य में इसी धारणा की प्रधानता थी। परन्तु रोमांटिकों का कहना था कि मानव मन प्रकृति का दर्पण नहीं है, वह बहिर्सत्य को प्रतिबिम्बित नहीं करता, वह नये नये संसारों का निर्माण करता है। कवि वस्तु जगत् के आधार पर जिस कल्पना जगत् का निर्माण करता है, उसके अपने नियम हैं। कल्पना को एक अत्यन्त चमत्कारी आश्लेषक शक्ति माना गया और कल्पना एवं जल्पना में अंतर स्थापित किया गया। कल्पना अधिक गहरी और संयुक्त वस्तु है। इस प्रकार काव्य प्रक्रिया में कल्पना शक्ति को महत्त्व प्राप्त हुआ, क्योंकि उसी द्वारा कवि की विभिन्न प्रवृत्तियों और कर्तृत्वों में संतुलन स्थापित होता है। कॉलरिज ने काव्य प्रक्रिया में कल्पना के महत्त्व को इस प्रकार स्थापित किया है "This power, first put into action by the will and understanding, and retained under their irremissive, though gentle and unnoticed, control, reveals itself in the balance or reconcilement of opposite or discordant qualities of sameness, with difference, of the general with the concrete, the idea with the image, the individual with the representative, the sense of novelty and freshness with old and familiar objects, a more than usual state of emotion with more than usual order, judgement

ever awake and steady self possession with enthusiasm and feeling profound or vehement [1] मन की स्वतन्त्र प्रकृति के रूप में तर्क या बुद्धि का काव्य प्रक्रिया में कोई स्थान नहीं था। कल्पना के सीधे सम्पर्क से कवि जिस सत्य को उद्घाटित करता है, या कवि कर्म द्वारा शब्दों में जिस प्रकार उस अनुभूत सत्य को बाँधता है, उसे तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। वास्तव में कॉलरिज की यह परिभाषा आदर्श स्थिति की सूचक है। अधिकांश कवियों ने कल्पना के सभी तत्त्वों का उपयोग नहीं किया है। अतिभावुकता, अनुभूति की आत्यन्तिकता, भावावाद, अनियन्त्रित असंयम—यही तत्त्व अधिक लोकप्रिय हुए। स्वच्छन्दतावादी जीवन-दर्शन और कला का मूल मन्त्र है, भावोन्मेष। जिस स्वच्छन्दता और असंयम को लेकर कवि आगे बढ़े, वही इस काव्यधारा की शक्ति और दुर्बलता बन गए। स्वच्छन्दतावादी कवियों की कल्पना अप्रतिहत गति से समस्त विश्व पर छा गई और उसने जीवन के उपेक्षित और दुर्गम स्तरों में भी सौन्दर्यान्वेषण में सिद्धि प्राप्त कर ली। जहाँ भी उसे सौन्दर्य के दर्शन हुए, वहीं उसने अपरिसीम आनन्द और उल्लास का अनुभव किया। वास्तव में शताब्दियों से विश्व के वस्तु जगत् के सौन्दर्य का ऐसा सूक्ष्म और भावोन्मेषपूर्ण संकलन नहीं हुआ था। सौन्दर्य ही नहीं, विभ्रम और भय के प्रति भी रोमांटिक कवियों का आकर्षण था। स्वच्छन्दतावादी कल्पना सुदूरवर्ती, अद्भुत और असाधारण में रम गई। करुण, भयानक, अद्भुत, सभी रसों में उसने सौन्दर्य के दर्शन किये, यद्यपि शृंगार के प्रति वह सबसे अधिक संवेदित थी।

स्वच्छन्दतावादी काव्य का कल्पना जगत् वस्तु जगत् से इसलिए भिन्न है कि उसमें आत्यन्तिकता और असाधारणता के तत्त्वों की प्रधानता है। कभी कभी स्वच्छन्दतावादी कवि और पाठक जीवन की विषमता तथा कटुता से भागकर इस शीतलच्छाय प्रमोद वन में विहार करने लगता है और कदाचित् इसीलिए रोमांटिकों पर 'पलायन' का आरोप लगाया जाता है। परन्तु महत्तम स्वच्छन्दतावादी कवियों ने जीवन को भ्रामक न बनाकर उसे अप्रतिम सौन्दर्य से मण्डित किया है और एक नई ही परिभाषा सामने रखी है।

कवि स्वातन्त्र्य के स्वच्छन्दतावादी सिद्धान्त ने छन्दों के क्षेत्र में भी प्रयोग किया, क्योंकि स्वच्छन्दतावादी भावनाओं और परम्पराओं को परम्परागत रूढ़ छन्दों में ढालना असम्भव बात थी। फलतः काव्यभाषा और छन्दों के सम्बन्ध में समस्त प्रतिबन्ध अमान्य हुए और कवियों ने इन क्षेत्रों में नई-नई उद्भावनाएँ आरम्भ कीं। भाषा शैली के क्षेत्र में दो दृष्टिकोण हमारे सामने आरम्भ में ही आते हैं। एक दृष्टिकोण वर्ड्सवर्थ का सरल बोलचाल की भाषा का था। वर्ड्सवर्थ के अनुसार गद्य-पद्य की भाषा में अन्तर नहीं होना चाहिए। उसका कहना था कि छन्द आरोपित वस्तु है, कविता की मूलभूत आवश्यकता नहीं है। परन्तु कॉलरिज का विश्वास था कि काव्य कृति में भावना और धारणा, तात्कालिक स्फूर्ति और बोधमय लक्ष्य के ताने बाने अनिवार्य रूप से बुने होते हैं और इसीलिए कवि को विशिष्ट और असाधारण भाषा शैली तथा चुने हुए छन्दों का उपयोग करना होता है। अन्य रोमांटिक कवियों को कॉलरिज का पक्ष ही गृहीत हुआ।

रोमांटिक काव्यधारा की कुछ त्रुटियाँ भी क्रमशः स्पष्ट होने लगीं। इनमें से कुछ ये हैं—

(१) चेतन लक्ष्य की अपेक्षा भावानुभूति को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

(२) कवि बुद्धि या तर्क को काव्य प्रक्रिया में स्थान देने को तैयार नहीं है। उसका कहना

1 S T Coleridge Biographia Literaria Pt I P 200

है कि इससे कवि की सहज काव्य स्फूर्ति नष्ट हो जायगी। फलत उस अनुभूति की अभिव्यक्ति की मार्मिकता में भी कमी हो जायगी।

(३) रोमांटिक काव्य में कलाकारिता को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया है।

(४) रोमांटिक काव्य में वह वस्तु नहीं है जिसे क्लासिकल परिभाषा में 'डिस्पोजीशन' या आकृति सौन्दर्य कहते हैं।[१]

स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा की विशेषताएँ हैं कवि स्वातन्त्र्य, प्राचुर्य, कल्पना, बौद्धिकता की अपेक्षा भावुकता पर बल, कला सामञ्जस्य और विन्यास का अभाव। ये तत्त्व हम विभिन्न कवियों में भिन्न भिन्न रूप में मिलते हैं। भिन्न भिन्न कवियों ने कवि स्वातन्त्र्य और कल्पना से विविध बोध ग्रहण किए हैं और इस विभिन्नता के कारण विभिन्न कवियों के काव्य और कलागत दृष्टिकोण में धरती आकाश का अन्तर है। वास्तव में रोमांटिक धारा को हम एक अत्यन्त विस्तीर्ण अर्थ में ग्रहण कर सकते हैं।

यूरोपीय काव्य में रोमांटिक धारा का सर्वोत्तम हमें अंग्रेजी काव्य में मिलता है। फ्रांसीसी रोमांटिक कवि अपेक्षाकृत असफल रहे हैं। अंग्रेजी कवियों में प्रमुख हैं ब्लेक, वर्डस्वर्थ, कॉलरिज, शेली, कीट्स और बायरन। फ्रांसीसी रोमांटिक कवियों में सबसे अधिक महत्ता लामार्तीन, शैतूब्रियाँ, विक्टर ह्यूगो, जेरार्द द नर्वल, अल्फ्रेड द मुसे और विन्ये की है। ऐन्द्रे जीद ने इन कवियों में ह्यूगो को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। वास्तव में फ्रांसीसी रोमांटिक कवि रोमांटिक काव्य के किसी एक या अधिक तत्त्वों में सीमित हो गए। रोमांटिक धारा का जैसा विविध और सम्पूर्ण विकास हमें अंग्रेजी रोमांटिकों में मिलता है, वैसा हमें फ्रांस रोमांटिक कवियों में नहीं मिलता।

रोमांटिक काव्य सिद्धान्तों का सबसे विशुद्ध रूप हमें ब्लेक के सिद्धान्त में मिलता है। ब्लेक के काव्य सिद्धान्त उनके जीवन दर्शन के ही अंग हैं। ब्लेक के अनुसार कल्पना एक रहस्यमयी प्रवृत्ति है जिससे कवि वास्तविक और शाश्वत जगत् से, जिसकी यह दृश्यमान जगत् प्रतिच्छाया मात्र है, परिचित होता है। कल्पना द्वारा कवि आत्मा जीवन में प्रवेश करता है, जो 'सत्य, शिव, सुन्दर' है और इसी पृथ्वी पर, इसी जीवन में, जिसकी अनुभूति सम्भव है। प्रातिभ ज्ञान द्वारा इस आत्मा के जीवन से हमें जो प्राप्त होता है तर्क और इन्द्रिय बोध को अधिक महत्त्व देकर हम उससे वञ्चित रह जाते हैं। विशुद्ध अनुभूति द्वारा मनुष्य प्रत्येक वस्तु में अन्तर्निहित शाश्वत और अनन्त का आभास प्राप्त करता है। मनुष्य इन्द्रिय ज्ञान और तर्क द्वारा एक बन्दीगृह का निर्माण कर लेता है। कल्पना द्वारा ही वह बन्दीगृह से बाहर झाँककर शाश्वत जीवन की झाँकी पा सकता है। ब्लेक की मान्यता है कि कल्पना में ही मनुष्य की सभी आत्मिक प्रवृत्तियाँ, जैसे प्रेम, आस्था, साहस, शक्ति, आकांक्षा आदि,

१ We are not surprised if study & imitation go to the winds, since "Knowledge of ideal beauty" in Blake's Phrase "is not to be acquired, it is born in us", yet the fundamental discipline exerted by the poet on his own imagining that sense of structure & proportion which enhances the beauty of a work & makes it appeal as "whole & not only in fragments" —'disposition' in this sense, whether attained by study or by innate power, is too often rejected by the Romantics, to their great loss (Jean Stewart 'Poetry in France & England', P 107)

का निवास है। तर्क और कल्पना का विरोध है। तर्क और बुद्धि मानव की आत्मिक प्रगति को कुण्ठित कर देते हैं। कला द्वारा मनुष्य उस अनन्त से संस्पर्शित होता है और इसलिए कला शाश्वत जीवन की अभिव्यक्ति है। ब्लेक कला के क्षेत्र में किसी भी प्रकार के बन्धन को स्वीकार करने को तैयार नहीं है, क्योंकि इससे मनुष्य की आत्मा कुण्ठित हो जाता है। फलत कवि के लिए छन्दों के बन्धन को तोड़ना अनिवार्य बात है। काव्य में मानव मन की सम्पूर्ण और अबाध अभिव्यक्ति है, यह ब्लेक की मान्यताओं का मूलाधार है। प्रातिभ ज्ञान या प्रत्यक्षानुभूति द्वारा ही कवि और पाठक सौन्दर्य तथा परीक्षा से साक्षात्कार करते हैं और काव्य के विशुद्ध, आत्यान्तिक और चिरनवीन रहस्यानुभवों में प्रविष्ट होते हैं। इन मान्यताओं में हम स्वच्छन्दतावाद और कवि के व्यक्तित्व की सबसे व्यापक तथा सबसे अधिक उन्मुक्त स्थिति पाते हैं।

वर्डस्वर्थ के लिए भी कल्पना उतनी ही रहस्यमयी है जितनी ब्लेक के लिए। इसी कल्पना द्वारा वह सामान्य फूल में सम्पूर्ण जीवन को आत्मसात् करके देख लेता है, परन्तु वर्डस्वर्थ की कल्पना उसे जीवन के स्थूल और तात्विक संस्पर्श से अलग नहीं करती। उसकी अनन्त और शाश्वत जीवनानुभूति जीवन के दैनंदिन अनुभवों और प्रकृति के सर्वसुलभ रूपदर्शों पर ही आधारित है। रोमाण्टिक काव्य का भावातिरेक, कल्पना प्राचुर्य और कलात्मक आत्यन्तिकता वर्डस्वर्थ के काव्य के तरह नहीं है। उसमें अनुभूति की तीव्रता और आत्यन्तिकता हमें नहीं मिलती। वर्डस्वर्थ ने कविता को प्रशान्त क्षणों में पुनर्जाग्रत रसात्मक अनुभूति माना है। इससे उसके काव्य में हमें गम्भीरता और संयम की तो पराकाष्ठा मिलती है, परन्तु बहा देने वाला भावोद्रेक और रोमाण्टिक उच्छ्वास उसकी विशेषता नहीं है। सरल अभिव्यञ्जना शैली ने उसके काव्य को सर्वग्राह्य और मार्मिक बना दिया है। फिर भी वर्डस्वर्थ में वैयक्तिकता की पराकाष्ठा है और विशुद्ध, ऐकान्तिक जीवनानुभूति के प्रति उसका आग्रह किसी भी अन्य रोमाण्टिक कवि से कम नहीं है। कल्पना उसके लिए प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन है। सामान्य वस्तुओं का सौन्दर्य अतिपरिचय और स्वार्थ भाव के कारण कुण्ठित हो जाता है। कल्पना द्वारा कवि उस सौन्दर्य से साक्षात्कार करता है और उसे विशुद्ध तथा निःस्वार्थ रूप से पाठक को देने का प्रयत्न करता है। कल्पना द्वारा उद्घटित इस वस्तु सत्य या मूल सौन्दर्य में जो भी बाधक है, वह कवि को स्वीकार नहीं है। फलस्वरूप वर्डस्वर्थ काव्य रूढ़ियों, परम्पराओं, अलङ्कृतियों और दूरारूढ़ कल्पनाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। विशिष्ट एवं अभिजात भाषा शैली का तीव्र और व्यापक विरोध हमें वर्डस्वर्थ में मिलता है। इस प्रकार वैयक्तिकता और स्वच्छन्दतावादिता का एक नये तल पर प्रसार हमें वर्डस्वर्थ के काव्य में उपलब्ध होता है।

कॉलरिज में हम वर्डस्वर्थ के विपरीत असाधारण, अतिप्राकृतिक और अद्भुत के प्रति विलक्षण रूप से आग्रह पाते हैं। कल्पना शक्ति द्वारा उसने अनन्त यत्नों से लेकर एक चित्र विचित्र, सूक्ष्म और विविध जगत् का निर्माण किया है, जिसमें मध्ययुगीन गाथाओं यात्रा-वृत्तान्तों, स्वप्न और सत्य की रूपरेखाएँ मिलकर एकाकार हो गई हैं। विचित्रालयों और संगीत के सूक्ष्म विधानों एवं भाषा की चित्रात्मक और व्यञ्जनात्मक सम्भावनाओं द्वारा कॉलरिज जादूगर की भाँति अद्भुत रहस्य और अप्रतिम को क्षण क्षण पर जगाने में समर्थ है। रोमाण्टिक कल्पना की संश्लेषात्मक और अभिचारी विशेषताएँ हमें कॉलरिज में सबसे

अधिक मात्रा में मिलती है।

शेली और कीट्स के काव्य सिद्धान्तों तथा काव्य परिपाटियों में भी काफी विभिन्नता है। शेली आदर्श को उस ऊँची स्थिति की कल्पना करता है कि यह उसके लिए रहस्यात्मक हो जाता है। यह कवि के जगत् को दृश्यमान जगत् से अधिक सन्तुलित, सुन्दर तथा ग्राह्य मानता है और उसके काव्य में एक प्रकार की पलायनशीलता हमें मिल जाती है। परन्तु साथ ही विश्व की अशान्ति और असन्तुलन के प्रति विद्रोह तथा पुनर्निर्माण की इच्छा भी हमें पूर्ण मात्रा में मिलती है। शेली सौन्दर्य को मानवात्मा की उन्मुक्ति की कुञ्जी मानता है और उसका विश्वास है कि सौन्दर्यानुभूति द्वारा ही संसार अन्ध संस्कारों, रूढ़ियों और स्वार्थों के बन्धन से मुक्ति पा सकता है। सौन्दर्य की अन्यतम उपासना ही शेली का कवि दर्शन है। काव्य सामाजिक साम्य, सन्तुलन और नैतिकता का उद्बोधक बनकर ही सफल है, ऐसा शेली का विश्वास है और इस प्रकार उसने रोमांटिकों की स्वच्छन्द और निरपेक्ष कल्पना को उपयोगितावाद से ग्रथित कर दिया, यद्यपि यह उपयोगितावाद सूक्ष्म और व्यापक है। ब्लेक के बाद रोमांटिक काव्यधारा का सबसे सुन्दर उदाहरण शेली ही है।

कीट्स के काव्य और उसके पत्रों में हम उसकी काव्य प्रक्रिया तथा उसके काव्य सिद्धान्त का विशद् विवरण पाते हैं। कलाकार की आत्मचेतना और कलात्मकता उसमें सब रोमांटिकों से अधिक है। उसमें बौद्धिक तत्त्वों के प्रति विशेष आग्रह है और उसके लिए काव्य आत्मगत भावनाओं की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार कीट्स के काव्य में क्लासिकल तत्त्वों का सम्मिश्रण हो गया है। 'ओड्स' और 'हाइपीरियन' उसकी काव्य कला के सर्वोच्च विकास हैं और उनमें हमें जिस कवि और कलाकार के दर्शन होते हैं, वह शेली और वर्ड्सवर्थ से भिन्न है।

इंगलैण्ड की रोमांटिक काव्यधारा में हम जीवन और काव्य का पारस्परिक विरोध ही पाते हैं। कल्पना जगत् और वस्तु जगत् में जो अन्तर पड़ गया था, उसने काव्य को विशिष्टता देते हुए भी उसे जन साधारण के लिए अग्राह्य बना दिया था। काव्य रचना के लिए कवि का व्यक्तित्व ही काफी समझा जाने लगा। कवि के स्वप्न, उसकी आकांक्षाएँ, उसकी संवेदनाएँ, उसके अपने मौलिक लय ताल और वैयक्तिक कल्पना चित्र ही काव्य के उपादान बने। जैसे जैसे समय बीतता गया, जीवन और काव्य में यह व्यवधान बढ़ता गया। अन्त में कवियों का आत्म-विश्वास डिग गया। भौतिकवादी संस्कृति के विकास और विज्ञान एवं बुद्धिवाद के आग्रह से भावना जगत् में परिवर्तन होना आवश्यक था। आदर्शवाद, सौन्दर्यवाद, कल्पना और स्वच्छन्दता रोमांटिक काव्य के चार स्तम्भ थे। बुद्धिवाद, विज्ञानवाद, नैतिकता और सामाजिक रूढ़िवाद ने इन्हें एकदम हिला दिया। वे तो ये स्तम्भ नहीं, परन्तु जर्जर अवश्य हो गए। परवर्ती काव्य (विक्टोरियन युग के काव्य) में हम बार बार कला को जीवन के पास लाने, या जीवन से भागकर कला की शरण जाने का प्रयत्न पाते हैं। परन्तु यह निश्चित है कि कवि केन्द्रच्युत हो गया था और केवल मात्र कल्पना के पंखों पर उड़कर सौन्दर्य के अतीन्द्रिय देश तक पहुँचना अब उसके लिए असम्भव बात थी। विक्टोरियन युग के कवियों ने रोमांटिक काव्योद्भावनाओं और विचार सरणियों के सूत्र का ही विकास किया और उन्हें अतिवाद तक पहुँचा दिया। पूर्ववर्ती धारा के विभिन्न तत्त्वों के ग्रहण और त्याग द्वारा उन्होंने अपने काव्य में कुछ विशिष्टता तो

मिलता, परन्तु किसी नये काव्य सिद्धान्त को जन्म नहीं दिया। काव्य-सम्बन्धी धारणा में कोई भी क्रान्तिकारी परिवर्तन दिखलाई नहीं देता। अधिकांश कवि व्यक्तिवादी थे और वे स्वतन्त्र रूप से आगे बढ़े। केवल प्री रेफेलाइट वर्ग के रूप में एक विशेष 'स्कूल' के दर्शन हमें होते हैं।

विक्टोरियन युग के कवियों में टेनीसन, ब्राउनिंग और आर्नाल्ड प्रमुख हैं। इनमें आर्नाल्ड ने एक बार फिर क्लासिकल सिद्धान्तों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। ब्राउनिंग और टेनीसन के काव्य में हम जिन तत्त्वों को पाते हैं वे मूल रूप से रोमांटिक काव्य तत्त्वों का अवशेष होते हुए भी परस्पर दो विरोधी ध्रुवों को सूचित करते हैं। ये दोनों कवि दूसरी पीढ़ी के रोमांटिक कवियों से मिलते जुलते हैं। वास्तव में वे उसी श्रेणी के कवि हैं। परन्तु वे मूलतः कवि हैं, उनके लिए काव्य सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। कला और जीवन में सन्तुलन स्थापित करने में दोनों असफल रहे हैं। टेनीसन मूल रूप से गीति कवि हैं, परन्तु उत्तर जीवन में वे कवि से अधिक उपदेशक बन गए हैं। शैली भी कवि को द्रष्टा मानते हैं, परन्तु टेनीसन से अधिक व्यापक दृष्टिकोण से। वास्तव में टेनीसन की उपदेशात्मक प्रवृत्ति और उनकी रूपात्मक कलाकारिता ने उन्हें 'क्लासिकल' कवि के निकट पहुँचा दिया है। ब्राउनिंग के काव्य में हमें रोमांटिक व्यक्तित्व का ही विकास मिलता है। ब्राउनिंग कवि स्वातन्त्र्य का उपयोग करते हुए नये नये काव्य रूपों की सृष्टि करते हैं, जिनमें उनकी प्रवृत्तियाँ और अभिरुचियाँ पूर्ण रूप से प्रतिबिम्बित हैं। पाठकों की बौद्धिक चेतना और सौन्दर्य भावना की ग्राहक शक्ति की उपेक्षा उनकी रोमांटिक विद्रोहात्मक प्रवृत्ति की ही सूचना देती है। भाषा की निरंकुशता और कलाकारिता के प्रति अन्यमनस्कता ब्राउनिंग की रोमांटिक कला की दो विशेषताएँ हैं। रोमांटिक कवि की उद्बुद्ध सौन्दर्य भावना के विपरीत प्रतिक्रिया रूप में ब्राउनिंग में कुरूपता और असभ्यता के प्रति आग्रह मिलता है। ब्राउनिंग शक्ति, स्वतन्त्रता और भावोन्मेष के पुजारी हैं और ये उनके जीवन दर्शन के प्रमुख अंग हैं। उनमें उस आत्यन्तिक कल्पना का अभाव है जिससे ये विभिन्न तत्त्व मिलकर एकाकार हो जाते। लक्ष्यबहुलता, अनियन्त्रण और उपदेशात्मकता पर आग्रह होने के कारण उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता।

वास्तव में रोमांटिक धारा का पहला अग्रचरण हमें प्री रेफेलाइट काव्यधारा में मिलता है। रॉजेटी, मॉरिस, स्विनबर्न—इन्हें हम इस धारा का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं। रॉजेटी के अनुसार नई काव्यधारा (प्री-रेफेलाइट काव्यधारा) का अर्थ है 'वस्तुवाद, भावप्रवण परन्तु साथ ही सूक्ष्म भी।' ('रियलिज़्म, इमोशनल बट एक्सट्रीमली माइन्यूट') रोमांटिक कवियों की भाँति इस वर्ग के कवियों में भी मतैक्य नहीं था। रॉजेटी को हम कीट्स और कॉलरिज के साथ रख सकते हैं। तीनों में समान रूप से सौन्दर्य के प्रति ऐन्द्रिय आसक्ति है और तीनों ही रहस्य और स्वप्न के मध्य प्रसार में विचरण करते हैं। मॉरिस अपने काव्य विषय और प्रतीकों के लिए मध्ययुग की ओर जाता है, जब जीवन दुर्दमनीय आकांक्षाओं और अप्रतिहत कर्तृत्व से भरा हुआ था। सच तो यह है कि प्री रेफेलाइट वर्ग के कवियों ने अपना लक्ष्य इतना ऊँचा रखा था कि वह उनसे सध नहीं सका। इन कवियों ने जीवन स्थितियों से भागकर एक सुन्दर कल्पना लोक का निर्माण किया और उसी के हो रहे। स्विनबर्न विशुद्ध काव्य का समर्थक था और उसने काव्य में नादात्मकता और संगीत तत्त्व का इतना उपयोग किया कि वह कदाचित्

शब्दों के नाद-तत्त्व तक रह जाता है और इसी एक तत्त्व से अर्थ बोध कराने का प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड में रोमान्टिसिज्म का प्राधान्य रहा और उसकी प्रक्रियाएँ नये नये रूपों में ग्रहीत होती रहीं।

२

यहीं से प्रतीकवाद की धारा का आरम्भ होता है। इस धारा का सम्बन्ध फ्रांस से है जहाँ रोमान्टिक आंदोलन असफल रहा था और निर्बल था। फ्रेञ्च रोमान्टिक काव्यधारा के दो रूप हमें मिलते हैं। एक में भावुकता की प्रधानता है, कवि अपनी भावधारा और संवेदना के आधार पर ही काव्य-भवन का निर्माण करता है और उसका विश्वास है कि मानवता के दुःख का निराकरण उसका कर्तव्य है। दूसरा वर्ग कलात्मक प्रयोगों और सुन्दर शब्द चित्रों को प्रधानता देता है। ह्यूगो में हमें इन दोनों वर्गों या दृष्टिकोणों का समन्वय मिल जाता है। ह्यूगो के ही 'ले ओरियेंतेलें' के आधार पर गातियर ने एक विस्तृत कला सिद्धान्त का निर्माण किया, जिसमें हमें प्रतीकवाद के परवर्ती विकास के चिह्न मिलते हैं। गातियर मूलतः चित्रकार था, रूपचित्रण और रंगलेखन के प्रति उसका आकर्षण स्वाभाविक था। उसके लिए स्वच्छन्दतावाद स्थूल वस्तुओं के सौंदर्यांकन तक सीमित था। कविता में वह इसी इंद्रिय गोचर सौंदर्य को वाणी देना चाहता था और इस दिशा में कवि की सफलता ही उसकी सबसे बड़ी सफलता थी। स्वच्छन्दतावादी कवियों की आत्माभिव्यञ्जना के स्थान पर उसने निर्वैयक्तिक, वस्तुगत दृष्टिकोण को प्रधानता दी और रोमान्टिक काव्य की अस्पष्टता तथा भावोन्मूलक धारावाहिकता के स्थान पर स्थूलता और आयास सिद्ध सज्जा काव्य में आई। फलस्वरूप एक ऐसी काव्य पद्धति का विकास हुआ जिसे पर्नासी काव्य पद्धति का विकास कहा जा सकता है। कवियों का यह वर्ग काव्य को उपदेशात्मक या नीतिमूलक न मानकर 'कला कला के लिए' सिद्धान्त का समर्थन करता है। परन्तु यह निश्चित है कि इस कलावादिता के पीछे महत् विषयों की उपेक्षा है और कवि की भावुकता एवं महत् विषय का स्थान कलावादिता कभी भी नहीं ले सकती। फिर भी इस नये सिद्धान्त का स्वागत हुआ। रोमान्टिक काव्य की अतिभावुकता और समसामयिक समाज के भौतिक दृष्टिकोण के विपरीत इस धारा में जीवन से ऊपर उठकर, तटस्थ भाव से सौन्दर्य-सृष्टि की प्रेरणा थी। कला जगत् का सौन्दर्य ही उसकी एकमात्र सार्थकता थी। इस पर्नासी साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि कला की एकनिष्ठ उपासना में जब कलाकार जीवन की वास्तविक और गम्भीर सम्भावनाओं से हट जाता है तब उसकी रचना अनिवार्य रूप से निर्बल हो जाती है। गातियर के बाद इस वर्ग के दूसरे कलाकार लेकान्ते द लिस्ले और जोसेमेरिया द हेरेडिया हैं। इन कलाकारों में हमें निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त का पालन, कलात्मक संयम, अप्रतिहत आत्माभिव्यञ्जना के प्रति उपेक्षा भाव, विवरणात्मकता, कलावादिता अथवा कलात्मक सज्जा के प्रति आग्रह जैसे नये तत्त्व मिलते हैं जो उन्हें 'रोमान्टिकों' के विरोध में रख देते हैं। इन्होंने काव्य को जीवन से समीकृत करने की चेष्टा की है और सामयिक तत्त्व चिन्ता तथा वैज्ञानिक प्रगति को काव्य में स्थान दिया है। विज्ञान और कल्पना के विभिन्न सत्ता को समीकृत करने का यह नया प्रयास निस्सन्देह अभिनन्दनीय था। इस प्रयास में कवियों को पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त नहीं हुई। इन कवियों में हम पहली बार प्रतीकों का निश्चित और सैद्धान्तिक प्रयोग

देखते हैं। परन्तु इन कवियों की रचनाओं में अन्ततः 'कला के लिए कला' के सिद्धान्त की ही जय हुई है और जीवनगत गम्भीर आध्यात्मिक मूल्यों की बहुत-कुछ हानि या उपेक्षा भी हुई है।

पनासी और प्रतीकवादी कवियों के बीच में हम बोदलेर को खड़ा पाते हैं। वास्तव में बोदलेर अँग्रेज़ी और फ्रांसीसी समकालीन कवियों को जोड़ने वाली शृङ्खला है। अँग्रेज़ी के ह्रासोन्मुख (डिकेडेण्ट) काव्य पर बोदलेर का व्यापक प्रभाव दिखलाई देता है और परवर्ती फ्रेञ्च प्रतीकवादियों ने भी उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया है। बोदलेर में हमें रूपगत पूर्णता का तो आग्रह मिलता ही है, परन्तु उसने पनासी कवियों के विपरीत अपनी निजी और कदाचित् रोमाण्टिकों से भी अधिक गम्भीर एवं आत्यन्तिक अनुभूतियों को अपने काव्य में वाणी दी है। बोदलेर में हमें आदर्श तथा यथार्थ का संघर्ष बड़े मार्मिक ढंग से मिलता है और इस संघर्ष से टूटकर वह अपनी स्वप्न यात्रा के लिए बराबर तैयार दिखलाई पड़ता है। अद्भुत गन्धों और विचित्र गीत ध्वनियों के प्रति उसकी आसक्ति है। उसने अपनी अन्तरानुभूतियों और मन दुल नाओं को बड़े वैभव के साथ वाणी दी है। वस्तु जगत् के पीछे परोक्ष जगत् को वह रहस्य वादियों की भाँति पकड़ने में सफल है। उसके काव्य में स्वप्न भंग का महान् चीत्कार भी है। निराशा, विद्रोह और पीड़ा में आनन्द की जिजुगुप्सक भावना ने उसके काव्य को लाञ्छित परन्तु अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। सबसे बड़ी चीज यह है कि बोदलेर ने स्पष्ट रूप से अपने काव्य सिद्धान्तों की घोषणा की और इस दिशा में प्रतीकवादियों का पथ प्रदर्शन किया।

बोदलेर के प्रभाव का एक पक्ष उसके काव्य सिद्धान्त हैं और दूसरा पक्ष उसका काव्य। सम्भवतः बोदलेर ने अपने काव्य सिद्धान्तों के निर्माण में एडगर एलेन पो की समीक्षात्मक स्थापनाओं से सहायता ली है, जिनमें कॉलरिज और शेली के बहुत से तत्त्व हमें मिल जाते हैं। बोदलेर के अनुसार काव्य के माध्यम से कवि पीड़ा को आनन्द का रूप देता है और उसके द्वारा उसके मन स्वप्न को स्थायित्व प्राप्त होता है। कला जगत् में ही कवि के आदर्शों को स्थायित्व और स्थूलता मिलती है। प्रकृति में सौन्दर्य और प्रगति के तत्त्व बोदलेर को दिखलाई नहीं देते। कला (या कलाकारिता) में ही वह सौन्दर्य की प्रतिष्ठा मानता है। फलतः उसके काव्य में कविता के कला तत्त्वों का व्यापक प्रसार है। काव्य के रूपात्मक, नादात्मक और मूर्तिमत्तात्मक पक्षों का सम्पूर्ण विकास हम बोदलेर के काव्य में दिखलाई देता है। उसके काव्य में परवर्ती विकास के अङ्कुर स्पष्टतः अन्तर्निहित हैं। उसकी स्वप्निलता, उसके व्यञ्जनात्मक प्रतीक, विभिन्न इन्द्रिय बोधों में रहस्यात्मक सम्बन्ध कल्पना, विभिन्नता में आत्मिक एकता का आग्रह—ये सब प्रतीकवाद के ही तत्त्व हैं जो बोदलेर के काव्य में पूर्ण रूप से व्यवस्थित हैं। लाफ़र्ग और इमेजिस्ट के काव्य में व्यंग, परिहास, विशृंखलित रूपकों का उपयोग और इसी प्रकार के जो अन्य तत्त्व मिलते हैं वे भी बोदलेर के काव्य में प्रचुर मात्रा में हैं। वास्तव में बोदलेर के काव्य सिद्धान्त स्वयं उसकी काव्य प्रक्रिया और काव्य संवेदना से उद्भूत हैं उसने और उसमें अपने लिए समाधान खोजने की चेष्टा की है। प्रतीकवादियों ने बोदलेर के सिद्धान्तों में तत्कालीन जीवन चिन्ता का आभास पाया है और उनके आधार पर एक विस्तृत सौन्दर्य शास्त्र ही खड़ा कर दिया है।

३

प्रतीकवादी सिद्धान्तों के लिए हमें पाल वर्लें, मेलार्मे और रिम्बो की विचारधाराओं तथा काव्य प्रक्रियाओं को देखना होता है। इस आन्दोलन का जन्म १८७० ई० के लगभग होता है। आंदोलन का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष बुद्धिवाद का विरोध है। पिछली पीढ़ी की मान्यता थी कि बुद्धि द्वारा सारी सृष्टि प्रक्रिया को समझा जा सकता है और तटस्थ दार्शनिक दृष्टिकोण ही सर्वोपरि वस्तु है। पर्नासी कवियों की रचनाओं का मूलाधार यह वैज्ञानिक बुद्धिवाद ही था। परन्तु १८७० ई० के लगभग स्पेन्सर, हार्टमा और शोपनहार की नई मान्यताओं ने बुद्धि के प्रति इस आस्था को डावाडोल कर दिया। इन तत्त्ववेत्ताओं का यह कहना था कि जीवन प्रक्रिया में रहस्यमय, बुद्धि द्वारा अग्राह्य और अवचेतन, अज्ञात शक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है और तत्त्व वस्तुत मरु मरीचिका की भाँति अग्राह्य छलना मात्र है। इस नई विचारधारा ने फ्रांस के कला चिन्तकों को भी प्रभावित किया और उन्होंने जीवन के रहस्यावर्तों को हटाकर उनसे प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न किया। कला के माध्यम से जीवन की अपरिमेयता, अपराजितता और रहस्यमयता को प्रकट करना ही सच्चा कला धर्म है, यह मान लिया गया। अतिप्राकृत, स्वप्न और कल्पना जगत् को वस्तु जगत् से अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर कवि इन्हें ही उद्घटित करने में लगे। यह कहा गया कि काव्य में जो तत्त्व बौद्धिक तर्क सिद्धता और ऐन्द्रिय ग्राह्यता की अपेक्षा करते हैं वे वस्तु सत्य को देने में असमर्थ हैं। काव्य हमारे उस रहस्यमय अन्तर्बोध का प्रकाशन हो जहाँ विचार, अनुभूति और ऐन्द्रिक संवेदनाओं एवं प्रतिक्रियाओं में विभाजन रेखाएँ नहीं रहतीं—इनमें परस्पर आदान प्रदान सम्भव है। स्वप्न और आकांक्षा का एक नया संसार कवियों के प्रयोगों के लिए खुल गया और वस्तु जगत् से हटकर इस नये आत्म जगत् में केन्द्रित होने वाले कवियों को अधिक मान्यता मिली।

प्रतीकवादी काव्यधारा की विशेषताएँ, जैसी वे वर्लें, मेलार्मे और रिम्बो के काव्य में दिखलाई देती हैं, इस प्रकार हैं—

(१) अनुभूति की आन्तरिकता (इन्टिमेसी)।

(२) व्यञ्जना (सजेशन)।

(३) ध्वनियों और आयोजित कल्पना चित्रों के माध्यम से परोक्ष व्यञ्जना।

(४) कवि द्वारा भाव भूमि के निवेदन का प्रयत्न, जिसके लिए वह स्वप्न और सत्य, अनुभूति और इन्द्रिय बोध को विचित्र ढंग से संयोजित कर देता है, जिससे वर्णित वस्तु कवि के मानोभाव का आत्यन्तिक प्रतीक बन जाती है।

(५) कविता के परम्परागत रूप विधान और लय-विधान की उपेक्षा और उन्हें लोकवाणी और संगीत तत्त्व के निकट लाने का प्रयत्न।

(६) तुकान्त के प्रति विद्रोह और छन्द मुक्ति के लिए आग्रह।

(७) बौद्धिक सूक्ष्म और परिपाटी बद्ध शैली के प्रति अनादर भाव।

(८) यह विश्वास कि काव्य में तथ्य कथन महत्त्वपूर्ण नहीं है, ध्वनि और व्यञ्जना महत्त्वपूर्ण हैं, उसमें भड़कीले रंगों की अपेक्षा सूक्ष्म तरल रंग अधिक उपादेय हैं। काव्य की पहली शर्त यह है कि वह संगीतात्मक हो और उसमें दिवा स्वप्न तथा भावुक स्पन्दन को जगाने की शक्ति हो।

(९) प्रतीकवादी आन्दोलन में बुद्धि का बाध है और काव्य प्रक्रिया का सहज स्रोत स्फूर्ति (अथवा मनोवैज्ञानिक शब्दावली में) अन्तश्चेतन का विस्फोट माना जाता है। रिम्बो का विश्वास था कि सर्वोत्तम काव्य कृति में काव्य भाषा तर्क और अर्थ संगति के सम्पूर्ण अभाव में ही हमें प्रभावित करने में सफल होती है। बाद में रिने गिल न रिम्बो के इन सिद्धान्तों को और भी विस्तार दिया और उसने भाषा को तर्क संगति से अलग ही संगीतात्मक मूल्य देने की चेष्टा की, जिसका आधार संगीत शास्त्र की भाँति नाद संतुलन का सिद्धान्त था, परन्तु जिसमें साथ साथ रंगों की निश्चित व्यंजना भी रहती थी। प्रयोग की यह दिशा बोदलेर में भी हमें दिखलाई देती है।

(१०) प्रतीकवादियों, विशेषतः रिम्बो के काव्य में उपचेतन तत्वों का अत्यधिक उपयोग हुआ है और उसका साहित्य मनोविश्लेषकों के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके काव्य में उसके अन्तश्चेतन की सम्पूर्ण और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। सुर रियलिस्ट आन्दोलन के समर्थक कवियों ने रिम्बो की काव्य प्रक्रिया का व्यापक उपयोग किया है। वे अन्तश्चेतन मूलक लेखन में विश्वास करते हैं और उनके काव्य में अद्‌भुत कल्पनाओं तथा विचित्र स्वप्नों का प्राधान्य है। उनके कल्पना चित्र स्वतन्त्र, परम्परा विच्छिन्न और तर्कविरहित रहते हैं। वास्तव में एक वर्ग प्रतीकवादी काव्य की फ्राइडीय व्याख्या उपस्थित करता है, यद्यपि दूसरा वर्ग (जिसका प्रमुख प्रवक्ता पाल क्लादेल है) उस सौंदर्य और दृश्य जगत् की आध्यात्मिक एवं रहस्यमय अनुभूति मानता है। इसमें सन्देह नहीं कि रिम्बो के काव्य में रहस्यानुभव की अनेक प्रतिध्वनियाँ हैं। आधुनिक काव्य पर रिम्बो की विचारधारा और काव्य प्रक्रिया का व्यापक प्रभाव है।

(११) प्रतीकवादी काव्य का एक नया विकास हमें मेलार्मे और पाल वैलेर में मिलता है। रिम्बो का काव्य उसके अन्तर्जगत के ऐश्वर्य और उसकी विचित्र कल्पनाओं तक सीमित था। मेलार्मे शाश्वत सत्य और सम्पूर्णता की भावना से ग्रस्त था। उसके अनुसार यह असम्पूर्ण जगत् सम्पूर्ण और सत्य जगत् की छाया मात्र है। मेलार्मे की सबसे आकर्षक कल्पना अनस्तित्व की है और उसके काव्य का मूलाधार ही नकारात्मक है। अभाव, मौन, मरण—ये उसके महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। बोदलेर की भाँति मेलार्मे का भी विश्वास है कि बौद्धिक और कलात्मक सृजन द्वारा ही मनुष्य दृश्यगत सत्ता से अधिक विशुद्ध और आदर्श सत्ता तक पहुँच सकता है। कवि का कर्तव्य यही है कि वह परोक्ष सत्य और सौन्दर्य की इसी अनुभूति को शब्दों के व्यंजनात्मक एवं ध्वन्यात्मक सौन्दर्य से पाठकों में जाग्रत करे। बड़े परिश्रम से मेलार्मे ने इस सूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिए एक नई परिपाटी का निर्माण किया। काव्य परिपाटी में कल्पना चित्रों का उपयोग कोई नई चीज नहीं है। दृश्यमान जगत् से सम्बन्धित और संवेदना जाग्रत करने वाली वस्तुओं एवं प्रक्रियाओं से कवि अपनी आत्मानुभूति की व्यंजना के लिए कल्पना चित्रों को चुनता है। ये कल्पना चित्र उसके लिए स्वयमेव महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वे इस लिए महत्त्वपूर्ण हैं कि वे आदर्शों के प्रतिरूप या प्रतीक हैं। शेली जैसे रोमान्टिक कवियों में हम इस धारणा का प्राचुर्य पाते हैं, किन्तु रोमान्टिक काव्य में इस धारणा और तज्जन्य प्रयोग के प्रति उतना निरन्तर और जागरूक आग्रह नहीं जितना हमें मेलार्मे के काव्य में दिखलाई देता है। बोदलेर की भाँति मेलार्मे भी विभिन्न इन्द्रिय बोधों के पारस्परिक सम्बन्ध और ऐक्य का

विश्वासी है और वह अंततः उस मूलभूत आध्यात्मिक या परोक्ष अनुभव तक पहुँचना चाहता है जो सभी पार्थिव संवेदनाओं का उद्गम है अथवा सभी इंद्रियानुभूतियां मे जिसका मात्र प्रसार है। इस मूलभूत अनुभव को वह इंद्रियगम्य कल्पना चित्रों के सूक्ष्म और अबाध उपयोग द्वारा पाठक तक पहुँचाने मे प्रयत्नशील है। वह तथ्य कथन और निश्चित सामान्य अर्थबोध की उपेक्षा करता है। फलस्वरूप उसकी काव्य कला में वक्रता और सूक्ष्म अगम्यता की प्रधानता है। वह वस्तु जगत् के प्रति अपनी संवेदनाओं और अपनी रहात्मक अनुभूतियों को वर्णित या सूचित किये बिना ही पाठक के प्रति निवेदित होना चाहता है। इसके लिए वह ध्वन्यात्मक व्यञ्जनाओं और शब्द एवं कल्पना चित्रों के अनेकानेक संदर्भों का उपयोग करता है। तथ्य कथन द्वारा वह विचार या अनुभूति को सीमाओं में बाँधना नहीं चाहता। इसीलिए वह सहज ग्राह्य नहीं है। उसकी विचार प्रक्रिया सूक्ष्म, वक्र तथा उलझी हुई है और अनेकानेक संदर्भों से पुष्ट होने के कारण वह सहज ही पकड़ मे नहीं आती। कविता के बहिरंग में भी नवीनता का आग्रह है। मेलार्मे काव्य की भाषा को स्थूल, ग्राम्य और तथ्यवादी तत्वों से अलग कर विशुद्ध भावमूर्ति बनाना चाहता है। वह शब्द समूहों के चुनाव और उपयोग के प्रति इतना जागरूक है कि वह उनके द्वारा व्यञ्जना को अनन्त सीमाएँ उद्घटित करता है और वे शब्द समूह संश्लिष्ट भावनाओं या विचारों के वाहक बनकर एक नई ही इकाई बन जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मेलार्मे के काव्य में बौद्धिकता का आग्रह अधिक है और प्रतीकवाद को दार्शनिक एवं सैद्धांतिक पृष्ठभूमि देकर उसने उसे एक आकर्षक और निश्चित 'वाद' का रूप दिया है। शब्द शक्ति के रहस्यों के प्रति उसकी निरन्तर जागरूकता और काव्यानुभूति के प्रति ईमानदारी उसके काव्य की विशेषताएँ हैं। काव्य का एक नया आत्मचेतन और निश्चित ढंग से प्रयोगवादी रूप हमें प्रतीकवादियों में मिलता है। रोमांटिक कवियों में हम सिद्धान्तों के प्रति उतना आग्रह नहीं पाते और उनका काव्य प्रक्रियाओं एवं कला तत्वों का बोध भी उतना जागरूक नहीं है। परन्तु रोमांटिक काव्य मे भी हमे कल्पना की आत्यंतिकता, छंद मुक्ति और शब्द शक्ति के व्यञ्जनात्मक प्रयोग का आग्रह उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार प्रतीकवादी काव्य में। वास्तव में फ्रांस का प्रतीकवादी आंदोलन इंगलैंड के रोमांटिक आंदोलन से अवश्य प्रभावित था। एक प्रकार से हम उसे रोमांटिसिज्म का ही परवर्ती विकास कह सकते हैं। प्रतीकवाद के दो प्रमुख उन्नायक बोदलेर और मेलार्मे अंग्रेजी रोमांटिक काव्य से पूर्ण रूप से परिचित थे और उन पर एडगर एलन पो के काव्य सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव था। प्रतीकवादी ही नहीं, बाद के सुररियलिस्ट कवि भी पो से प्रभावित हैं और अर्द्ध जाग्रत चेतना में व्याप्त कल्पनाओं तथा मनस्वप्नों के विश्लेषणात्मक और प्रतीकात्मक प्रयोग उन्होंने वहीं से सीखे हैं। पो के काव्य सिद्धान्तों और उसकी काव्य प्रक्रिया को हम अंग्रेजी रोमांटिकों (कॉलरिज और श्री रेफलाइट) के सिद्धान्तों तथा काव्य प्रक्रियाओं से निकटतम रूप से सम्बन्धित कर सकते हैं। इस प्रकार चाहे सीधे, चाहे परोक्ष में, प्रतीकवाद रोमांटिसिज्म का ही विकास सिद्ध होता है और इसलिए एव नवीन कवियों के काव्य में अब भी उसीकी जय भेरी बज रही है। यह अवश्य है कि इलियट में क्लासिकल तथा दार्शनिक तत्वों का भी संश्लेष है और नूतनतम काव्य में और भी अनेक धाराएँ तथा प्रक्रियाएँ आकर मिल गई हैं और काव्यचेतना मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से पुष्ट होकर और भी वैज्ञानिक एवं जागरूक हो गई है।

४

प्रतीकवादी दर्शन जहाँ एक ओर बुद्धि की महत्ता को अस्वीकार करता है, जो क्लासिकल दृष्टिकोण के विपरीत है वहाँ दूसरी ओर वह रामान्टिकों की भावना की प्रधानता की बात को भी अस्वीकृत कर देता है। प्रतीकवादी जीवन दर्शन के अनुसार दृश्यमान जगत् परोक्ष जगत् की अपूर्ण प्रतिच्छाया है। इस परोक्ष जगत् तक पहुँचना असम्भव बात है। काव्य और साहित्य का मूल लक्ष्य ही वस्तु-जगत् के दृश्यगत, श्रवणगत और स्पर्शगत ज्ञान के ऊपर उठ कर अतिवास्तव, चिर सत्य और शाश्वत की झाँकी देना है। मेलार्मे के काव्य में हम स्पष्ट देखते हैं कि वह इन्द्रियानुभूतियों से सम्पन्न बहिर्जगत् को अपनी परीक्षा का केन्द्र बनाता है और उसके 'पार' देखना चाहता है। बाद के कवियों ने अन्तर्जगत् (आत्मा) को अपने अन्वेषण का केन्द्र बनाया है। उनके लिए यह अन्तर्जगत् (आत्मा) भी एक शाश्वत विश्व की असम्पूर्ण प्रतिच्छाया है और असफलता, पीड़ा एवं दुःख के पीछे हमें शाश्वत का बोध प्राप्त होता है। इस जीवन दर्शन के अनुसार आत्मा, प्रेम, सौन्दर्य सब भ्रम मात्र हैं और इनकी उपादेयता यही है कि हम इनके 'पार' शाश्वत जीवन तत्त्व को देख सकें।

परन्तु इस शाश्वत जीवन-तत्त्व को बुद्धि, भावना अथवा इन्द्रिय ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता। केवल संवेदन मात्र रह जाते हैं। प्रतीकवादियों का कहना है कि ये संवेदनाएँ ही सत्य हैं, शेष सब भ्रम है, भ्रान्तिपूर्ण और अवास्तव है। हमारी इन्द्रियों पर जो आघात होते हैं, वही सत्य हैं, वास्तविक तथ्य हैं। इस आघात से जिन विचार और भावनाओं का जन्म होता है, वे सत्य नहीं हैं, आधारहीन और भ्रामक हैं। फलतः संवेदना ही सब कुछ हो जाती है। बुद्धि और भावना के संयम द्वारा जब हम अपने व्यक्तित्व को ठीक रूप से संयोजित कर लेते हैं, तब हम उस अनन्त से संस्पर्शित हो जाते हैं। ये क्षण अत्यन्त दुष्प्राप्य हैं, परन्तु इसीलिए मानव के लिए अमूल्य भी हैं। कलाकार इन्हें ही खोजता है। मेलार्मे से वेलेर तक हम इसी खोज का इतिहास बनता पाते हैं।

प्रतीकवाद स्वच्छन्दतावाद का ही परवर्ती विकास है। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि प्रतीकवादी काव्यधारा के आरम्भ में जिन दो कवियों का नाम आता है (बोदलेर और वर्लें) उन्हें हम स्वच्छन्दतावाद के अन्तर्गत भी ले सकते हैं। वास्तव में उनमें नई धारा की अपेक्षा पुरानी धारा के तत्त्व ही अधिक हैं। रिम्बो (१८५४-६१) के काव्य में हमें नये काव्य तत्त्व पूर्ण विकसित रूप में ही मिलते हैं। रिम्बो का प्रारम्भिक काव्य विक्टर ह्यूगो के काव्य से भिन्न नहीं है, परन्तु 'ले इलूमिनेशन' नाम की उत्तर-रचना में वह एकदम अभिनव धरातल का निर्माण करता है। इन्हीं अभिनव तत्त्वों ने बाद में मेलार्मे और वर्लें को प्रभावित किया। रिम्बो कलात्मक सम्पूर्णता को मरीचिका मात्र मानता है। वह स्पष्टता और तथ्य कथन का विरोधी है। दृश्य जगत् को छोड़कर उसने रहस्यमय परोक्ष का अंचल पकड़ा है। उसने भाव और अभिव्यंजना में वैदग्ध्यता लाने का प्रयत्न किया और नवीन काव्य भाषा की सृष्टि करनी चाही। भाषा शैली के क्षेत्र में वह किसी भी रूढ़ि को मानने को तैयार नहीं था। मौलिकता के इस अति आग्रह ने कहीं-कहीं रिम्बो के काव्य को असन्तुलित बना दिया है। यहाँ कवि को कुछ नवीन या विशेष कहना नहीं है, यहाँ काव्य-क्षेत्र में अव्यवहृत शब्दों का प्रयोग ही एकमात्र ध्येय है। मेलार्मे (१८४२-६८) ने रिम्बो के इस काव्य प्रयोग को उपयुक्त चिन्ताभूमि दी।

मेलार्मे के काव्य दर्शन को हम १८७० १९४० के काव्य का मेरुदण्ड मान सकते हैं। यह काव्य दर्शन इतना सूक्ष्म और ऊँचा है कि कोई भी रोमांटिक कवि इस मानदण्ड पर पूरा नहीं उतरता, यद्यपि लगभग सभी रोमांटिक कवियों में ऐसी पंक्तियाँ मिल जाती हैं जो नई काव्यधारा के उदाहरण के रूप में उपस्थित की जा सकती थीं। सृजन के अप्रतिम क्षणों में कवि जहाँ पहुँच जाता है, वे सिद्धान्तों में बहुत बाद में बँध पाते हैं। वास्तव में ब्लेक और पो के काव्य में नई धारा का पूर्व विकास मिलता है, और बोदलेर एवं मेलार्मे ने स्रोतों से पर्याप्त लाभ उठाया है। परन्तु नई काव्यधारा का सुस्पष्ट, शृङ्खलित और निश्चित रूप हमें मेलार्मे में ही मिलता है। 'वर्स ए प्रोज़' में हमें मेलार्मे का काव्य चिन्तन इस प्रकार मिल जाता है

Abolished, the intention, aesthetically an error, although it directs nearly all masterpieces of enclosing into the subtle paper of a book anything else than, for instance, the horror of the forest, or the silent thunder diffused in the leaves, not the intrinsic & dense wood of the trees A few jets of intimate glory truthfully trumpted, evoke the architecture of the only inhabitable palace, not any stone (Verse et Prose P 184)

यह स्पष्ट है कि मेलार्मे 'वस्तु' और कला में भेद मानता है। कथा कहानी, उपदेश, भावनाओं का प्रकाशन, ये काव्य नहीं हैं। काव्य होने के लिए कुछ होना आवश्यक है। कुछ होने के लिए या काव्य होने के लिए कवि को यथार्थ के पार जाना होगा और शाश्वत रूपरेखाओं को उभारना होगा। इस परिभाषा के अनुसार काव्य कही जाने वाली चीज़ बहुत कम रह जाती है— कुछ पृष्ठ या कुछ पंक्तियाँ।

काव्य की जो धारणा मेलार्मे ने उपस्थित की है उसमें वह संगीत के अनेक तत्वों को ग्रहण कर लेता है। संगीत द्वारा हमें अनन्त के बोध की प्राप्ति होती है, बुद्धि के परे के अरूप जगत् तक हमारी पहुँच उसीके माध्यम से है। काव्य और संगीत में विशेष अन्तर यही है कि संगीत जिन नादात्मक ध्वनियों का उपयोग करता है अपने आपमें उनके कोई अर्थ नहीं होते। अर्थ का ह्रास होने पर भी हम अतीन्द्रिय जगत् में प्रवेश कर पाते हैं। काव्य को संगीत से यही व्यञ्जनात्मकता सीखनी है। अर्थ-बोध तक सीमित रखकर हम काव्य को छोटा करते हैं। काव्य को अर्थ से बड़ी, हो सके तो अर्थ से परे की वस्तु हमें देना है।

कवि के पास और भी बहुत कुछ है जिससे काव्य संगीत से कहीं अधिक अभिव्यञ्जक बन जाता है। गन्ध, रंग, रूप, स्वाद, भावोद्रेक, ये कुछ संवेदनाएँ हमें परोक्ष जगत् से सम्बन्धित करती हैं। शब्द इन संवेदनाओं के (जो स्वयं अनन्त और शाश्वत जीवन की प्रतीक हैं, आभास मात्र हैं) प्रतीक होने के कारण द्विधापूर्ण, अस्पष्ट और रहस्यमय हैं। ये न हों तो वे प्रतीक ही कैसे? इस प्रकार शब्दों के रूप, रंग, गन्ध, स्पर्श और नाद सम्बन्धी उपकरणों से कवि रहस्यमय अतीन्द्रिय परोक्ष जगत् में प्रवेश करने की अलौकिक शक्ति प्राप्त करता है।

यह विचारधारा काव्य को अलौकिक और एक तरह से आध्यात्मिक बना देती है। यह चेतन बौद्धिक तत्वों पर आधारित न होकर दुर्गम्य भाव-संवेदनाओं पर आश्रित हो जाती है। फलत कवि-कर्म सामान्य कर्म न रहकर एक अत्यन्त विशिष्ट कर्म बन जाता है। वर्लें ने 'आर्ट पोइटीक' (१८७४) में काव्य की सीमाएँ बाँधते हुए (जिनमें क्रमश अर्थ, व्याकरण आदि का बाध हो जाता है) यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रेष्ठ काव्य व्यक्तिगत प्रतीकों और कल्पना बिना

के कारण वृह काव्य से कम दुर्बोध और रहस्यमय नहीं होता। वस्तुत काव्य के उन आकाश चुम्बी शिखरों पर पहुँचना बड़ा कठिन है और वहाँ देर तक ठहरना और भी दुस्साध्य है। इसमें स देह नहीं कि प्रतीकवादी विचारधारा में मानव जीवन और काव्य प्रक्रिया को अत्यत गम्भीरता से देखा गया है और कवियों एव पाठकों की अन्तर्दृष्टि को उससे अपरिसीम विस्तार मिला है। अब भी उसके समर्थक कम नहीं हैं। मेलार्मे के बाद पाल वेलेर (१८७१ १६४५) में इस काव्य शैली का हम सर्वोच्च विकास पाते हैं। यह अवश्य है कि वह मेलार्मे से कहीं अधिक निराशापूर्ण है, परन्तु निराशा आधुनिक काव्य का प्रमुख अग है।

परन्तु प्रतीकवादी विचारधारा प्रमुखत निराशावादी होते हुए भी एकमात्र निराशावादी नहीं है। उदाहरण के लिए जुले सपरवे केवल कल्पनात्मक सवेदनाओं तक सीमित रहता है और अपने लिए अथवा पाठक के लिए किसी भी सत्य सिद्धा त के आविष्कार का दावा नहीं करता। पिछले प्रतीकवादी कवियों के लिए हमें एक प्रकार का अतिवाद मिलता है। वे सामान्य जीवन के अनुभवों से भागते हैं, सम्भवत उनके अनुभव असामान्य हैं। पर तु इस कवि में हम जीवन को अखण्डित और व्यापक रूप में देखने की चेष्टा पाते हैं। काव्य का जीवन समीक्षा का रूप हमें यहाँ पूर्ण विकसित मिलता है। उसने घृणा, प्रेम आदि मानवी सवेदनाओं को उपयुक्त परिवेश में देखा है। रोमान्टिकों के काव्य में जिस व्यक्तिवाद (लक्षण 'मैं—शैली') का प्राचुर्य है, वह सपरवे में नहीं मिलता। उसका भोक्ता कवि अधिक गम्भीर, तटस्थ, फलत निर्वैयक्तिक है। इसमें स देह नहीं कि यह प्रतीकवादी काव्यधारा में नये विकास को सूचित करता है।

प्रतीकवादी धारा का एक तकच्छिद्र परन्तु अतिवादित विकास हमें सुर रियलिस्ट आन्दोलन मे मिलता है जो १६१४ के बाद प्रेम-काव्य में एक नया फैशन है। इस धारा के कवियों ने गद्य पद्य में कोई भेद नहीं रखा। एक नई काव्य शैली के निर्माण के प्रयत्न में सभी काव्य रूढ़ियों के प्रति विद्रोह उठाया गया और काव्य विषय को ऐसे साकेतिक एव प्रतीकात्मक रूप से उपस्थित किया गया कि गद्य पद्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। तक सगीत के अभाव में यह गद्यात्मक पद्य वृह काव्य बन गया है जैसे इलुअर्द की यह कविता—

Nous approchous
Dans Les forets
Prenez la me du matin
Montez les marches de la brume
Nous approchous
La terre en a le coeur crispe
Encore un jour a mettre an monde (Sans Age)[1]

इन पक्तियों में गद्य पद्य का कोई भेद ही नहीं रह गया है। अपालिने, अरागों, ब्रीतों, सोपाल,

१ We approach
Within the forest
Come with me at the dawn
Let us march in the mist
We approach
The earth gives the heart a thrill
(for we have) Still to enjoy & to stake a day in this world (The Ageless)

बाचो, इलुअर्ट आदि इस धारा के प्रमुख कवि हैं। इस काव्यधारा ने हमें काव्य नाम की चीज कम दी। सुर रियलिस्ट कवियों ने पाठकों से बहुत चाहा। जब कविता विशेष प्रकार के पाठ या नादात्मक संगीत-तत्त्व अथवा स्वयं पाठक के कल्पना जगत् पर आश्रित हो जाती है, तो वह अपनी व्यापक संवेदना खो देती है और कविता नहीं रह जाती। सुर रियलिस्ट कवियों का काव्य निःसन्दिग्ध रूप से कूट काव्य बन गया है और उसमें कवि की संवेदना उसकी अभिव्यञ्जना शैली में उलझकर रह गई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रोमांटिक काव्यधारा, प्रतीकवादी धारा, दादाइज्म और सुर रियलिस्ट धारा विचारों, भावनाओं और प्रयोगों की एक उत्तरोत्तर विकसित और सूक्ष्म शृङ्खला का निर्माण करती हैं। कविता की अतीन्द्रिय और अलौकिक उपचेतनमूलक कल्पना के प्रति कवियों का आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता गया है और काव्य अन्त में एक बन्द गली में पहुँच गया है। फ्राइड और अन्य मनोवैज्ञानिकों की मान्यताओं ने इन धाराओं की मान्यताओं को ही पुष्ट किया है और अन्तश्चेतनमूलक काव्य अथवा प्रपंचवादी काव्य की एक नई धारा ही प्रवाहित हुई है। प्रतीकवादी विचारधारा और काव्य की जैसी गहरी जीवन दर्शन की भित्ति इस नई धारा के पास नहीं है, परन्तु कवि के व्यक्तित्व का स्वप्न प्रतीकों और यौनमूर्त विधानों द्वारा उद्घाटन इसकी विशेषता है।

प्रतीकवादी आन्दोलन प्रमुखतः फ्रांस तक सीमित रहा और उसने काव्य को विशद रूप से प्रभावित किया, परन्तु बाद में वह सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप पर छा गया और साहित्य की अन्य कोटियों में भी उसका प्रवेश हुआ।[1] उसका सबसे विकृत रूप हमें जर्ट्रूड स्टेन के काव्य में दिखलाई पड़ता है, जिसमें प्रतीकवादी सिद्धान्तों को इतनी दूर तक खींचा गया है कि काव्य हास्यास्पद हो गया है।[2] कदाचित् प्रतीकवाद के आविष्कर्ताओं ने भी ऐसी दूरारूढ़ कल्पना नहीं की होगी। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि अत्याधुनिक काव्य का सम्पूर्ण इतिहास प्रतीकवाद के विकास का इतिहास है।

५

आरम्भिक प्रतीकवादी कवियों ने अपनी धारणा का निर्माण प्रकृतिवाद के तथ्य कथन और बुद्धिवाद की तर्कसंगतता के विरोध में किया था। उन्होंने ध्वनि या व्यञ्जना के सिद्धान्त का आविष्कार किया और उसे साहित्य का सबसे बड़ा तथ्य माना। उनका अतिवाद यह था कि वे समझते थे कि व्यञ्जना एवं अर्थ दो एकदम भिन्न और विरोधी वस्तुएँ हैं। वेलेरे, इलियट और ईट्स में हम व्यञ्जना के पक्ष का पूर्ण समर्थन पाते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि कोई भी शब्द केवल वाच्य ही नहीं है, उसमें व्यंग्य भी अन्तर्हित है। यह कहना कठिन है (कदाचित् गणित और

1 जर्मनी में प्रतीकवादी आन्दोलन के प्रमुख कवि हैं रेनर मेरिया रिल्के (१८७५—१९२६) और स्टेफन जॉर्ज (१८६८-१९३३) और रूस में अलेक्जेण्डर ब्लोक (१८८०-१९२१)। सी० एम० बाउरा ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'The Heritage of Symbolism' में इन कवियों का विशद विवरण उपस्थित किया है।

2 देखिए एडमण्ड विल्सन का ग्रन्थ 'Axel's Castle' (प्रतीकवाद पर निबन्ध और जर्ट्रूड स्टेन सम्बन्धी आठवाँ अध्याय), पृ० २३-२४ और पृ० २३७-२३६)।

भौतिक विज्ञान को छोड़कर) कि एक प्रकार का लेखन अर्थी मात्र है, दूसरी प्रकार का लेखन व्यञ्जना मात्र। वास्तव में प्रत्येक श्रेष्ठ साहित्यिक रचना में विचार, भाव और संवेदन तीनों मिलकर चेतन मन की प्रक्रिया का निर्माण करते हैं। श्रेष्ठ रचना की प्रभावोत्पादिता सूक्ष्म अन्तर्ध्वनियों, अन्तस्सन्दर्भों और रहस्यमय अर्थों पर आधारित होती है, जिनमें अर्थ के साथ लक्षणा और व्यञ्जना का पूरा पूरा समारम्भ रहता है। वह हमारी प्रकृति और हमारे मन के सहस्रविध आलोडन विलोडन का फल है। वास्तव में हमारे शब्द मूल रूप से प्रतीक ही हैं और प्रतीकवादियों को यदि श्रेय दिया जा सकता है तो वह यह है कि उन्होंने भाषा की प्रतीकात्मकता (ध्वन्यात्मक या व्यञ्जनात्मक शक्ति) की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित किया और कविता को हृदय—मन की गम्भीरतम अभिव्यक्ति बना दिया। विशुद्ध या कोशीय अर्थों में शब्दों की कल्पना ही असम्भव है। प्रत्येक शब्द प्रयुक्त होते ही पूर्वापरता, परम्परा, विशिष्ट भाव संवेदना और नवीन उद्बोधनों का एक वृहद् संसार सामने लाता है। पूर्व सन्दर्भों या पूर्वानुभूत संवेदनाओं को उभारकर वह तात्कालिक अनुभूतियों या संवेदनाओं को अपरिसीम गम्भीरता और मार्मिकता प्रदान करता है। इस चिंतन भूमि से देखें तो यह स्पष्ट है कि प्रतीकवाद सदैव ही काव्य और साहित्य का अंग रहा है और विशेषकर रोमांटिक काव्य और साहित्य में उसका व्यापक रूप से उपयोग हुआ है।

प्रतीकवादी स्कूल की सीमाओं का विवरण देते हुए ऐंद्रे जीद ने इस प्रकार लिखा है—"प्रतीकवादी धारा की एक बड़ी लाचारी यह है कि उसमें जीवन के प्रति कुतूहल का अभाव है। एकमात्र वे ग्रिफिन को छोड़कर (और इसीसे ग्रिफिन की रचनाएँ ऐसी विशिष्ट हैं) शेष सभी निराशावादी, वीतरागी, भाग्यवादी 'इस धरती के दुखद अस्पताल से ऊबे' (लेफार्गो के शब्दों में) हैं। यह नीरस और असाधक पितृदेश है। काव्य में उनके लिए एकमात्र आश्रय है, जीवन की भयावह यथार्थता से पलायन के लिए विश्राम स्थल। उन्होंने सब ओर से आश्रय छोड़कर उसीकी शरण ली। उन्होंने प्रत्येक वस्तु को छलना समझा और निष्प्राण माना। प्राण धारण करने योग्य है, इसमें उन्हें सन्देह ही बना रहा। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि उन्होंने हमें कोई नया नैतिक दृष्टिकोण नहीं दिया। उन्होंने विग्नी के दृष्टिकोण से ही सन्तोष कर लिया, यद्यपि उसे भी वे परिहास का रूप ही दे सके। उनकी नैतिकता सौंदर्योन्मुखी थी। इस कथन की समीक्षा करते हुए 'एक्सिल्स कैसिल' का लेखक लिखता है—"कल्पनात्मक रसानुभूति मात्र के प्रति आग्रह होने के कारण बहिर्जगत् के प्रति वीतरागिता का आदर्श, व्यक्ति का समाज से यह पलायन भाव एक ऐसे दृष्टिकोण को जन्म देता है जो विग्नी के निराशावाद से भिन्न है।" (पृ० २५७-२५८)।[1]

एक प्रश्न प्रतीकवादी काव्य के भविष्य के सम्बन्ध में भी उठता है। नई नई खोजों के कारण कवि के लिए बहिर् अथवा अन्तर्जगत् को सीधी सादी रेखाओं में बाँधना कठिन हो गया है। परन्तु कवि के लिए निवेदन की समस्या और भी कठिन हो गई है। क्या वह धीरे धीरे कूट लिखने लगेगा? अथवा, क्या विज्ञान कवि की भाषा या जीवनदृष्टि को इतना प्रभावित

१ This ideal of renunciation of the experience of the outside world for the experience of the imagination alone this withdrawal of the individual from society did however give rise to an attitude quite distinct from the stoicism of Vigny (वही, पृ० २५७-२५८)

कर देगा कि उसके लिए अन्तर्प्रान्तीय और पारिभाषिक शब्दों की भीड़ में से उपयुक्त शब्दों को निकालकर उन्हें प्रतीक के रूप में प्रयोग में लाना असम्भव ही हो जायगा ? इसमें सन्देह नहीं कि १८५२ ई० के बाद से यूरोपीय काव्य सूक्ष्म, अन्तर्मुख और दुर्बोध के प्रति आग्रही रहा है और उसका शैलीगत विकास भी इतना जटिल और व्यक्तिगत रहा है कि वह कुछ ही मनुष्यों के रसोद्रेक की वस्तु रह गया है। धीरे धीरे उसने अपनी रहस्यमयी कूट शैली का निर्माण कर लिया है और वह उसीमें कुण्डली मारकर बैठ गया है। परन्तु यह स्थिति सदा बर नहीं बनी रहेगी। यह स्पष्ट है कि जीवन के सामाजिक पक्ष से निरपेक्ष होकर अन्तर्जगत् के रहस्यों में कवि काफी डूब लिया और कदाचित् वहाँ उसे अब अधिक कुछ शेष नहीं रह गया है। ज्वॉइस और प्रूस्त के उपन्यासों में हम प्रतीकवाद को प्रकृतिवाद से समझौता करते पाते हैं और नये कवियों में अन्तर्मन के साथ बहिर्जगत् को देखने की भी प्रवृत्ति है। देह और मन की भूख का अनन्य सम्बन्ध है जो फ्राइड और मार्क्स को जोड़ता है। नये कवि ने इस सत्य को समझ लिया है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्रतीकवादियों ने काव्य को बहुत कुछ दिया है। वास्तव में विज्ञान और दर्शन के क्षेत्रों में जो प्रगति हुई है उसने काव्य क्षेत्र में नये अध्याय जोड़े हैं और नई सम्भावनाओं को जन्म दिया है। नये काव्यान्दोलन में प्रतीकवाद के तत्त्व उसी तरह आत्मसात् हो जायँगे जिस प्रकार प्रतीकवाद में रोमांटिसिज्म के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का समावेश हो गया था, अथवा टेनीसन और आरनाल्ड के काव्य में रोमांटिसिज्म के साथ क्लासिकल तत्त्वों का विकासमान मिश्रण हमें दिखलाई पड़ता है। यदि प्रतीकवाद मानव की संवेदना को बनाता है और उसे अपने प्रति अधिक से अधिक ईमानदार बनने की प्रेरणा देता है, तो भी उसका महत्त्व कम नहीं है। उसका ऐतिहासिक महत्त्व तो बना रहेगा ही।

समस्या और चिन्तन

श्रीनारायण मिश्र

कवि-प्रेरणा का स्वरूप और काव्य-प्रक्रिया

साहित्य के उत्कर्ष और उसकी प्रतिष्ठा के लिए सबसे अधिक हानिकारक धारणा यह है कि महान् साहित्य अथवा उत्कृष्ट साहित्य का सर्जन कष्टकर साधना के बिना सम्भव है। यदि साहित्य का अर्थ सूक्ष्म संवेदनाओं और उदात्त भावनाओं को सुंदर भाषा में वाणी देना है तो यह प्रक्रिया सरल कदापि नहीं हो सकती। शब्द स्फटिक-खण्ड के सदृश होते हैं तथापि साहित्यिक कलाकार को उनके ही माध्यम से विशद जीवनानुभूति को सप्राण बनाना पड़ता है। सभी माध्यम कठोर रहते हैं और कलाकार का आधा जीवन इसीमें बीत जाता है कि वह माध्यम की कठोरता पर शासन कर सके। तब कहीं जाकर वह अपनी सौंदर्यानुभूति को रूपों में ढालने में सफल हो सकता है।

उस प्रचलित धारणा में मूलतः कुछ भ्रान्ति है जो कवि को नैतिक जीवन से छुट्टी ही नहीं दे देती, वरन् उसे उस आत्मानुशासन से भी अवकाश दे देती है जिसके द्वारा वह शक्ति अर्जित करता है। पूर्ण संयोजित जीवन के अभाव में चरम अभिव्यञ्जना शक्ति सम्भव ही नहीं है। जिन कहानियों और किंवदन्तियों के अनुसार लेखकों ने महान् ग्रन्थों की रचना पत्र लेखन की त्वरा से की है उन्हें हम हानिकारक और अविश्वसनीय मानते हैं, क्योंकि ऐसी सम्भावना एक प्रतिशत से अधिक नहीं है। शेक्सपियर, ब्लेक, जॉनसन, स्टॉक, शेली और कुछ अन्य लेखकों के विषय में यह चमत्कार सिद्धि उल्लिखित है और उनमें से कुछ के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि वे अपनी पाण्डुलिपियों में जरा भी काट छाँट नहीं करते थे। प्रेरणा होने पर कोई भी ऐसा कर सकता है और साहित्य का सर्जक बन सकता है। कवि की तुलना वीणा से की जाती है, जिसके तारों को छेड़कर अनुभूति का पवन संगीत की सृष्टि करता है। उसे केवल प्रेरणा की प्रतीक्षा करनी होती है और उसके प्रभाव के प्रति अपने को सम्पूर्ण रूप से निवेदित कर देना पड़ता है। जब प्रेरणा का स्फुलिंग सुलग उठता है तो वह अग्निशिखा का रूप धारण कर लेता है, जब भावना की बाढ़ आती है तो वह सतत प्रवाहित, अप्रतिरोधित धारा के रूप में वेगवान हो उठती है। यह अग्निशिखा और धारा प्रवाह स्वतः प्रसूत हैं। सर्वोत्कृष्ट काव्य भावोन्माद से निष्पन्न होता है और अनिवार्यतः वह रूप धारण करता है जिससे हम बाद में परिचित होते हैं। सामान्यतः यह समझा जाता है कि ज्वालामुखी के तरल अग्निप्रवाह की तरह कविता सीधी अनुभूति की अंगीठी से गर्म निकलती है और उत्तापहीन हो जाने पर अपना सुनिश्चित और शाश्वत रूप ग्रहण कर लेती है।

स्वयं कवियों ने प्रेरणा-सम्बन्धी इस धारणा का समर्थन किया है। उन्होंने बार बार एक नियामक शक्ति की चर्चा की है, जिस पर उनका कोई वश नहीं और जिसे उन्होंने अपनी रचनाओं की सञ्चालिका कहकर स्वीकार किया है। प्रत्येक सच्चे कवि की यह चमा प्रार्थना अथवा गर्वोक्ति रही है कि 'गीत किसी के गाता हूँ मैं।' उनमें से सर्वोत्तम कवियों ने बार बार किसी शक्ति के हाथ में पड़कर ऐसी असमर्थता का अनुभव किया है जैसी यहूदी पैगम्बर की इन स्मरणीय पंक्तियों में है—"तब मैंने कहा, मैं न उसका नाम लूँगा, न आगे कभी उसे प्रमाण के रूप में उपस्थित करूँगा। परन्तु प्रज्वलित अग्नि की भाँति उसका शब्द मेरे अस्थि पिंजर में बन्द होकर जलता रहा और मैं उस असहनीय को सह न सका, मौन न रह सका।" इस प्रकार अपने मस्तिष्क पर छा जाने वाले प्रवाह की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए कवियों ने अपनी प्रतिभा के दैवी उद्‌गम की ओर संकेत किया है और कुछ सीमा तक अपनी मन प्रक्रिया को इस प्रकार रहस्यमण्डित रखा है कि उसमें बुद्धि का प्रवेश ही निषिद्ध है। इस दृष्टिकोण ने काव्य चेतना के इलहामी स्वरूप पर बल देकर, कि कवि को किसी का संदेशवाहक होना है, प्राचीन साहित्य के स्तर को ऊँचा रखने में सहायता दी है और इस प्रकार मानव जाति की बड़ी सेवा की है। परन्तु जहाँ तक उसने काव्य प्रक्रिया को रहस्य बनाकर उस वस्तु को, जिसे सभी साहित्य-निर्माताओं के अध्ययन का प्राथमिक विषय बनाना था, गूढ़ बनाया है, उसने कवि शिक्षा-सम्बन्धी वास्तविक साधना में बहुत बड़ी बाधा भी उपस्थित की है।

कवि प्रेरणा के प्रकृत रूप के सम्बन्ध में भ्रामक धारणा ने आधुनिक युग में कविता के मानदण्ड को नीचा किया है। विज्ञान के विकास ने आज मनुष्य को इस योग्य बना दिया है कि वह उस अध्यात्म जगत् का परिचय पा सके जिससे कवि दैवी सन्देश प्राप्त करता है। जिन भेद प्राचीरों के ध्वंस से प्रजातन्त्र का जन्म हुआ है उसकी प्रक्रिया में कवि का प्रेरणा लोक भी कट छूट गया और शीघ्र ही ऐसा कुछ भी न रहेगा जिसके लिए हमें नक्षत्रों की ओर ताकना पड़े। आज कवि भवभूति के समान यह नहीं कहता कि "कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।" वह भावी पीढ़ियों को कुछ ऐसी वस्तु देने का आकांक्षी नहीं है जिसे वे चिरकाल तक धरोहर बनाकर रखें। वह नव्य चेतना को यथातथ्य रूप देकर संतुष्ट है, जिससे वह संवेदनशील आधुनिकों को अस्वीकृत हो सके। कवि प्रेरणा के दैवी रूप के प्रति आस्था आज के समाज में उतार पर है। आज के कवि से यह अपेक्षा की जाती है कि वह तात्कालिक घटना के प्रति उसी प्रकार जागरूक रहे जिस प्रकार पत्रकार अथवा दल नेता रहता है। यह कहा जाता है कि कवि उस समय तक सुन्दर रचना प्रस्तुत नहीं कर सकता और अपने समीक्षकों को रसानुभूति नहीं दे सकता जब तक वह अपने युग की हलचलों का पूर्णतया जानकार न हो। ये युगनिष्ठ समीक्षक उदार शिक्षा की उपज हैं और ऐसे नर नारी हैं जिन्हें कुछ भी पढ़ना है, चाहे वह सूचीपत्र ही क्यों न हो। यह विशाल और सब कुछ पढ़ने की दावेदार जनता, जिसे कवि को प्रत्यक्षतः संवेदित करना है, मुख्य रूप से तात्कालिक वर्तमान के लिए अवबोध चाहती है। विषय की अपेक्षा 'रूप' उसके लिए महत्त्वहीन तथा अप्रधान है और रहेगा। इसीसे आधुनिक कवि को एक प्रकार से पत्रकार बन जाना पड़ा है और किसी भी विषय के सम्पूर्ण सत्य के स्थान पर उसे सत्य का वह प्राथमिक पक्ष प्रस्तुत करना पड़ा है जो आज के देश काल को अनुप्राणित करता रहे। उसने सामयिकता और स्पष्टता को लक्ष्य बनाया है, अपनी आँखों

से देखा है और परम्परा के अन्तिम अवरोधों से भी अपने को मुक्त कर लिया है।

जहाँ प्राचीन युग का कवि प्रेरणा के क्षणों में एक ऐसी शक्ति से आन्दोलित होकर, जो उसका अपना नहीं है, विश्वप्रपञ्च के नियति चक्र के सपने को देखता था, वहाँ आज का कवि अपनी सीमित व्यक्तिमत्ता को उन कविताओं पर आरोपित कर देता है जो उसकी 'रचना' हैं। प्राचीन कवि निर्वैयक्तिक था और सच्चे योगी की भाँति व्यक्तिमुखी चिन्तन एवं व्यक्तिगत पूर्वग्रहों से अलग तथा तटस्थ रहकर अपनी अभिव्यञ्जना को शाश्वत सत्य का रूप देकर सन्तुष्ट था। आधुनिक कवि मौलिकताग्राही है, यहाँ तक कि उसमें अभिव्यञ्जना के ऐसे साधनों और शैलियों के आविष्कार का हठ है जो निःसन्देह व्यक्तिनिष्ठ हैं।

आधुनिक युग की स्वीकृति के लिए काव्य की दैवी प्रेरणा के सिद्धान्त की नई व्याख्या देनी होगी। हम मन की अन्तर्निष्ठा अथवा आन्तरिक जीवन को तथ्यरूपेण मानते हैं। हमारी यह धारणा है कि मनुष्य अपनी अन्तर्वृत्तियों से प्रभावित होकर अज्ञात रूप से उन लक्ष्यों की ओर बढ़ता है जो चेतन मन में ज्ञात रूप से स्वीकृत नहीं होते। अवचेतनमूलक अन्तर्वृत्तियों का आग्रह इतना सशक्त होता है कि उसकी अवज्ञा का अर्थ है असफलता के दुर्दमनीय अभिशाप की निरन्तर पीड़ा से ग्रस्त रहना, जैसे हमने अपना भवितव्य स्वयं बिगाड़ लिया हो और अपने उच्च स्वरूप के प्रति मिथ्या सिद्ध हुए हों। उसकी स्वीकृति असन्तोष का आह्वान है, मन में नई आकांक्षाओं का द्वार उन्मुक्त करना है, निरन्तर ऊर्ध्व लोकों की ओर संक्रमण है, दूरातिदूर क्षितिज को हमारी भाव परिधि में ले आना है। जो शक्ति व्यक्ति को आगे ढकेलती है वह इतनी 'पर' नहीं है कि वह न उसकी गति को नियमित कर सके न उसके स्रोत और गन्तव्य को पहचान सके। अन्तर्प्रवृत्तियों से उद्भासित होने के कारण वह नितान्त व्यक्तिगत है, परन्तु साथ ही वह ऐसी बहिर्भूत शक्ति के समान है जो उसकी चेतना से बाहर किसी बिन्दु पर आसन जमाकर ध्रुवतारा की भाँति उसके जीवन का दिशा निर्देश करती है।

कवि अपनी आभ्यन्तर प्रकृति से भावित और आन्दोलित होता है। एक ऐसी शक्ति उस पर हावी हो जाती है और उसे उँगली पकड़कर चलाती है जो अतिप्राकृत नहीं तो असामान्य तो है ही। अन्तर्वृत्तियों के माध्यम से प्रकृति कवि पर इतना दबाव डालती है कि वह स्वयं को उसके हाथों में दे देता है और उसके लक्ष्यों एवं प्रस्तावों को अपना भाग्यादेश मान लेता है। इस प्रकृतिगत प्रभाव के बलारोप को हम कवि की नियति अथवा उसकी 'प्रतिभा' कह सकते हैं। हम उसे चाहे जो नाम दें, इस शक्ति की अपरिहार्यता का तथ्य उसकी चेतना के नियन्त्रण से बाहर रहेगा और इस अनिवार्यता को हमें मानकर चलना होगा। हमें सदैव यह स्मरण रखना होगा कि कवि प्रतिभा से सम्बन्धित गुप्त तथ्यों में से एक यह भी है कि उसकी बलि पर उसके दावा का अन्त नहीं है और सम्पूर्ण समर्पण से भी चरम शान्ति की उपलब्धि नहीं होती। अपनी आभ्यन्तर प्रकृति के दबाव को कवि भावना के रूप में प्रत्यक्ष करता है जो इतनी गम्भीर और शक्तिमती होती है कि उसकी सम्पूर्ण प्रकृति को आत्मसात् कर लेती है और आनन्द की अपेक्षा पीड़ा ही अधिक बनकर अनुभूत होती है। उसकी गम्भीरता और शक्तिमत्ता में पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया होती है और यह द्वन्द्व उसे विस्फोट मात्र अथवा स्वप्न-मात्र बनने से रोकता है। फलस्वरूप, कवि भावुकता के उन क्षणों में उस अनन्त ज्योति से ओत प्रोत हो जाता है जिसे प्रेरणा कहते हैं और जिसके द्वारा वह विश्वाधिकार का मेन्ता

है। इसीलिए ब्राउनिंग को इस लोक भावना के विरोध में पुकार कर कहना पड़ा

A Poet never dreams
We prose folks do we miss the proper duct
For thoughts on things unseen

कवि स्वप्न नहीं देखता। स्वप्न हम साधारण जन देखते हैं। अदृश्य को आत्मसात शक्ति द्वारा ही हम नहीं मिल पाती।

कवि प्रतिभा अथवा कवि की आभ्यन्तर प्रकृति को, जिसके द्वारा दैव उसे अनुशासित करता है, हम इन्द्रियगम्य और इन्द्रियातीत के बीच में पड़े आवरण पट की छेदन शक्ति कह सकते हैं। जिस अन्त स्फूर्ति द्वारा यह परदा क्षीण होता है, प्रकृति का वह अकुश जो उसे निरन्तर कर्वांकाक्षों को स्पर्श करने की चुनौती देता है, उसे हम स्वयमेव लक्ष्य नहीं कह सकते। यह उसे ऐसे उद्देश्य के प्रति चैतन्य प्रदान करता है जो ज्ञान, स्वार्थ अथवा सौंदर्य से बड़ा है।

कवि की आन्तरिक प्रकृति से जिस घनीभूत भावना का जन्म होता है, वह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में उसके वस्तु सत्य से सपर्कित होने का फल है। वह कवि के व्यक्तित्व और उसके परिवेश के विभिन्न धरातलों का मिलन बिन्दु है। इस माध्यम से वह जिसे हम 'वस्तु' कहते हैं, प्रतिभासित और अन्तर्बोधित हो उठता है। जिस प्रकार भाव बोध अनेक हैं, उसी प्रकार वस्तु सत्य, अस्तित्व पक्ष और प्रत्यक्षानुभूति के स्तर भी अनेक तथा विभिन्न हैं। यह अनुभूति का विषय है कि हमारी कुछ भावनाएँ उच्चतर हैं क्योंकि वे उच्चतर वस्तु सत्य से प्रसूत हैं। उदाहरणस्वरूप किसी महान् सगीतज्ञ से हम जिस रसानुभूति की प्राप्ति करते हैं, वह सुस्वादु भोजन की रसानुभूति से उच्चतर एव शुद्धतर है और हम यह सोचें तो ठीक ही है कि यह वस्तु चाहे जो हो, वस्तु स्तर पर उस चीज से ऊँची है जिससे हमारी रसना तृप्त होती है। अपने चारों ओर की वस्तुओं से जो भाव हमें प्राप्त होते हैं उनके अनुरूप हमारे भीतर भाव-बोध के स्तर का जन्म होता है और यह भाव बोध हमें भीतरी वास्तविकता के लिए ऐसा मापदण्ड दे देता है जिसे हमें अनिवार्य रूप से स्वीकार करना होता है।

सच तो यह है कि जिस शक्तिमती और गम्भीर सवेदना की अभिव्यक्ति कविता के रूप में होती है वह मानव व्यक्तित्व के उच्चतर पहलुओं से सम्बन्धित है और उसका वस्तुगत प्रतिपक्ष वास्तविक जीवन में प्रतिभासित है। यहाँ वास्तविकता को हम गम्भीरतम अर्थों में लेते हैं। जहाँ तक कवि की ये भावनाएँ सामान्य मनुष्य की सतही भावनाओं से अधिक शक्तिमान और गम्भीरतर हैं, वहाँ तक उन भावनाओं द्वारा उद्घाटित वस्तु सत्य जीवन और प्रकृति के सतही पहलुओं से अधिक वास्तविक होगा। अपनी शक्ति के बल पर कवि भावना के इस अन्तरंग तक पहुँचने में समर्थ होने के कारण चेतना के निगूढ़ स्तरों पर पहुँच जाता है और उस 'अवरुद्ध जीवन' का अन्वेषण करता है जो कला में अभिव्यक्ति पाने वाली सवेदनाओं का मूल उत्स है। उस गहराई तक पहुँचकर, जो हममें से बहुतेरों के लिए अज्ञात देश है, कवि उस निरुद्ध जगत् से साक्षात्कार प्राप्त करता है जो हमारे सामान्य जगत् के पीछे और परे की वास्तविकता है। इस प्रक्रिया में वह ऐसे वस्तु सत्य की उपलब्धि करता है, जो हमारे दैनदिन अस्तित्वमय ससार के सौंदर्य और सत्य को अतिक्रम कर जाता है। कवि का सच्चा कार्य यह है कि वह अपनी असाधारण सवेदनशीलता द्वारा इस भाव जगत को उद्घाटित करे और उद्दीप्त भाव

माध्यम के माध्यम से उसको दूसरों पर उजागर करे।

यह वास्तविक वस्तु क्रम, यह 'गुहा निहित' जीवन, जिसे कवि ऊपर लाता है, अप्राकृत नहीं है। सच्चे कवि के लिए कोई द्विधा नहीं होती, उसके लिए अस्तित्व के अन्तर्बहिर् पक्षों में किसी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है। जो कुछ उसे इन्द्रियगोचर है, उसके प्रति उसकी घनाभूत सहानुभूति प्रतिबिम्बित प्रकाश की भाँति उसके बहिर्बोध को उसके आन्तरिक जीवन का अंग बना देती है। शिशिर के तूफ़ान की भयकरता कवि शैली के उर अन्तराल को आच्छादित कर लेती है और उसके विरुद्ध जीवन की रहस्यमय गहराइयों में प्रतिध्वनित होती है। शेक्सपियर की पंक्तियाँ हैं—

Night s candles are burnt out, and jocund day
Stands tip toe on the misty mountain tops

इन पंक्तियों में कवि के सरल शब्द हमारे वसन्त स्वप्न को जगा देते हैं और साथ ही हमारे दृष्टिपथ में सौन्दर्य का सजीव आकार खड़ा कर देते हैं। हमारी स्मृति और कल्पना शक्ति एक बार फिर बदलते हुए रंगों के वैभव को, मुखरित मौन को, उषा की हिमधौत निर्मलता और ताजगी को लौटा लाती हैं। हमारा हृदय आनन्द से भर जाता है। शीघ्र ही यह अर्द्ध ऐन्द्रिक आनन्द गम्भीरतम संवेदना में बदलने लगता है, हमारे आभ्यन्तर जीवन की गहराइयाँ उषा की गुलाबी किरनों से उद्भासित हो उठती हैं। जिस समय यह सूक्ष्म संवेदना हमारे भीतर जाग उठती है, हम वस्तुओं के विशुद्ध शाश्वत स्वरूप के प्रति अपनी एकात्मता का अनुभव करने लगते हैं और जीवन-मरण, पूर्व-पश्चिम के धुँधले प्रकाशबिन्दु अपरिसीम दिवस ज्योति में घुल मिल जाते हैं।

कविता का जादू सिर पर चढ़कर बोले, इससे पहले कवि के लिए आवश्यक है कि वह अखण्ड, अद्वय स्थिति का अनुभव करे और सृष्टि के गम्भीरतम जीवन स्रोतों तक पहुँच जाय। प्रकृति की आत्मा से तादात्म्य प्राप्त करके ही कवि अपने अहं को व्यक्तिमत्ता के पाश से मुक्त कर सकता है। कुविग्रह में जलती हुई निष्कम्प दीपशिखा की भाँति उसे ऐसी परम शान्ति की अनुभूति हो जाती है जो तर्क वितर्क के परे स्वयंसिद्ध है। या यों कहिए कि उसके सामने से चेतन अविचेतन के बीच का अन्तपट हट गया हो और उसकी आँखें उस कालातीत एवं सार्वभौम सत्य से प्रत्यक्षीभूत हो उठी हैं जिसे मनुष्य-मात्र पर उद्घाटित करना उसका अनन्य धर्म है। कवि अपनी अन्तरंग प्रकृति की उच्छ्रृंखल शक्ति द्वारा शासित होकर भावमयी अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न हो जाता है। इस तथ्य से उसकी प्रतिभा का रूप बदल नहीं जाता। प्रेरणा के क्षणों में उसका मन प्रकृति के गम्भीर और सूक्ष्म प्रभावों के प्रति खुला रहता है। इन प्रेरक क्षणों में कवि प्रकृति की सहकारिणी मन स्थिति को हम 'रसोल्लास' कह सकते हैं जिसमें आध्यात्मिक किरणों के प्रवेश के लिए चेतना पारदर्शक माध्यम बन जाती है। इस स्थिति में मन स्वीय धारणा और स्वीय चिन्तना से हटकर परे खड़ा हो जाता है और कल्पना की सघनता द्वारा खण्ड के स्थान पर अखण्ड और सम्पूर्ण बनकर तोष की प्राप्ति करता है। इस प्रकार सन्नद्ध मन में विचार एवं प्रेरणा सामान्य चेतना से बाहर से आते लगते हैं और कवि उन्हें अन्तर्ज्योति की अखण्डता में सौन्दर्यानुभूति के रूप में ग्रहण करता है।

इस साक्षात्कार की यह विशेषता है कि उसे मन के सम्मुख बहुत समय तक दृढ नहीं

रखा जा सकता। वह लपट की तरह झपटता चला जाता है और कालानुभूति एवं काला तर को ध्वसमात् कर देता है। फल यह होता है कि मनुष्य का चञ्चल मन उसे आत्मभूत नहीं कर पाता। वस्तुत कवि सयार्त रहता है कि उसकी चेतना इस साक्षात्कार से मुद्रित हो, इससे पहले ही वह लुप्त न हो जाय। उसका प्राथमिक प्रयत्न यह होता है कि वह तुरन्त समाधि द्वारा उसके अतिचेतन को, प्रस्तुत छिप जाने वाले इस विस्तृत आलोप को, मुद्रित कर ले। भावात्मक सहज-बोध की यह आभ्यन्तरिक अभिव्यञ्जना एक ऐसी प्रक्रिया से प्रभावित होती है जो फोटो पट पर बिम्ब उभारने के समान है। कवि जब अपने मधुर स्वप्न को अपनी चेतना पर मुद्रित करने में सफल हो जाता है, जब वह प्रेरणा के अश्व पर सवार हो जाता है, तब सर्जन का प्रारम्भिक अध्याय समाप्त होता है। परन्तु ससीम के अंचल में बँधकर भी कवि का मन स्वप्न अनुशासित और साकार होता है। जब तक कवि का मन कल्प छाया नीहार अथवा स्वप्न के समान रहता है, तब तक वह उसको सम्पूर्ण विस्तार से ग्रहण नहीं कर पाता। जब तक प्रेरणा के अश्व की वल्गा नहीं लगती, कवि को यह खतरा रहता है कि वह अपने मन कल्प को खो देगा। यदि यह मन कल्प सर्जनात्मक प्रेरणा की परिसमाप्ति पर अतीन्द्रिय लोकों में अरूप बना रहता है तो सम्भव है कवि उसे कभी रूप नहीं दे सके। वास्तविक सर्जन की अन्तिम प्रक्रिया अंशत कल्पना द्वारा, अंशत भाषा की सहायता से सम्पूर्णता को प्राप्त होती है।

प्रत्येक सच्चे कवि में कल्पना शक्ति रहती है, जिसके द्वारा वह अमूर्त को मूर्त करता है, वस्तुओं को नये योगायोग देता है—ऐसे योगायोग जो मन को यथातथ्य एवं सम्भाव्य की सीमा से दूर, बहुत दूर ले जाते हैं। उसके द्वारा कवि अपने मन के भाव सत्य और दृश्यमान जगत् के यथार्थोन्मुख सत्य में शृङ्खला स्थापित करता है। वह अपनी प्रकृति को इतनी सचाई से जानता है और विश्व प्रकृति की एकात्मता एवं तादात्म्यता का उसे इतना स्पष्ट आभास रहता है कि उन परिपार्श्वों में उसकी कल्पनात्मक अन्तर्दृष्टि विकसित हो जाती है जो उसका साधारण अनुभूति के क्षेत्र से बाहर पड़ते हैं। इस अन्तर्दृष्टि से निर्दिष्ट हो वह प्रकृति के अर्द्धोन्मीलित रहस्य को पढ़ सकता है और जिस दिशा में वह परिचालित होती है उससे उन आदर्शों की परिकल्पना कर लेता है जिन्हें मूर्तिमान् करने में वह असमर्थ है। जिसे सामान्यत प्रकृति कहा गया है उसके सम्बन्ध में उसके दो भाव हैं। जिस लक्ष्य की ओर वह प्रयत्नशील है उसे देखते हुए प्रकृति एक साथ सफल असफल है और कवि न उसकी सफलता को श्रेय देता है, न विफलता से ग्रस्त होता है। उसकी कल्पना स्फुट तत्वों का उस असम्बद्धता में पुनर्निर्माण करती है जो साधारण अनुभव के क्षितिज से बाहर है। जिस प्रकार हृदय की आकांक्षा अप्राप्य की ओर धावित होती है, उसी प्रकार अकल्पनीय में ही कल्पना का मुक्त प्रसार है। उसमें स्वप्न तन्तुओं और आत्मप्रकाश से गढ़े हुए अनेक अस्तित्व समाहित रहते हैं। इसके लिए वह प्रकृति के दुष्प्राप्य और वाध्यीय अमृत सार का उपयोग करता है, उसे तरतमता के नियमों में आबद्ध करता है। इस प्रकार गढ़ा हुआ प्रतिमान उसकी जाग्रत चेतना पर मुद्रित हो जाता है और सृजनात्मक स्फूर्ति के निःशेष हो जाने पर भी उसकी पुनरुपलब्धि सम्भव है।

जब एक बार आवेशमय सहजानुभूति कवि की सर्जनात्मक कल्पना में मूर्तिमान् हो उठती है, जब एक बार सौन्दर्य स्वप्न इस प्रकार आभ्यन्तर अभिव्यञ्जना प्राप्त कर लेता है, तो वह प्रगट होना तथा स्रष्टा से स्वतन्त्र अपनी सत्ता से जीना चाहता है। स्वतन्त्र अस्तित्व के

साधनों के अभाव में वह जो हो सकता है नहीं हो पाता, न वह स्रष्टा की मृत्यु के सहस्रों वर्षों बाद दूसरों की अनुभूति में जावित रह सकता है। वह शरार माँगता है जिसमें वह अपना व्यक्तित्व भर सके और रह सके। जब तक कलाकार कोई स्थायी वस्तु नहीं पा लेता, जिसमें वह अपने स्वप्न को मूर्त कर सके और उसे अमरता दे सके, तब तक सजन का अन्तिम अध्याय समाप्त नहीं होता। उसे अभी पकड़ना का माध्यम खोजना होगा—स्फटिक खण्ड, ताम्रपत्र, स्वर प्रवाह अथवा रंग पट—जिसमें उसका स्वप्न बन्दी होगा और जिसके द्वारा वह सहस्रश नक्षत्रों के सौन्दर्य से आवृत रूप वैभव के दर्शन कर सकेगा अथवा उस प्रभात की देवी का रूप धारण करेगा जो गुलाबी परिधान पहनकर

प्राची के उत्तुंग शिखर पर तुहिन बिन्दुओं पर पग धरती मन्द उतरती दीखती है।

माध्यम द्वारा अपने मन स्वप्न को अभिव्यंजित करने की प्रक्रिया में कलाकार उसकी वास्तविकता से परिचित होता है। इमरसन ने कहा है—"मैं जो अपने से नहीं कह सकता, उसे तुमसे भी नहीं कह सकूँगा।" इस 'कहने' के प्रयत्न में, भाषा के माध्यम से गम्भीर विचार अथवा भावानुभूति की अभिव्यक्ति में मन उसे अखण्डत ग्रहण कर लेता है। अन्य किसी भी प्रकार यह सवग्रहण असम्भव है। भाषा के ससीम ज्ञान में चिर बुद्धिमान वस्तु चक्र को बन्दी करने की प्रक्रिया में, जिसमें कवि की व्यक्तिगत अनुभूति का साधारणीकरण हो जाता है कवि अपने स्वप्न की महत्तीयता का अनुभव करता है। अभिव्यक्ति के प्रयत्न में पीड़ा अनिवार्य है—असीम के प्रति आकांक्षी हृदय की पीड़ा, परन्तु इस प्रयत्न में सफल होने पर मानव जीवन के चारों पुरुषार्थों की उपलब्धि हो जाती है। जिसे 'कवि की पीड़ा' कहा गया है वह वस्तुत अभिव्यक्ति के माध्यम में वस्तु सत्य के न समा सकने की पीड़ा है।

माध्यम द्वारा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया दूरदर्शक अथवा अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा 'फोकस' करने के समान है। कष्टकर प्रयत्नों के बाद ताल इस स्थिति में आता है कि दृश्य दृष्टि पथ में तीव्रतम रेखाओं में उभर आता है। शिल्पी के मन में एक ऐसा चित्र होता है जिसे वह स्फटिक में प्रत्यक्ष और अमर करना चाहता है। छैनी हथौड़े से वह प्रस्तर खण्ड को काटने छाँटने लगता है और कभी इधर, कभी उधर पत्थर को तराशता है। ऊपर से देखने पर ऐसा लगेगा कि हथौड़े के प्रहारों में कोई संगति नहीं है। परन्तु उसकी आँख उस 'मूर्ति' पर लगी है जो प्रस्तर खण्ड के केन्द्र में विराजमान है और जिस तक पहुँचने में वह प्रयत्नशील है। जैसे-जैसे वह केन्द्र के पास आता जाता है, वैसे वैसे उसकी तराश सूक्ष्म होती जाती है। जब स्फटिक में से मूर्ति साकार होगी तो क्या वह अपनी आभ्यन्तर चेतना में प्रसुप्त 'मूर्ति' को आकार धारण करा सकेगा अथवा क्या वह कोई अपर या आधी चीज होगी और उसकी विफलता का प्रतीक बनेगा? हथौड़े का अन्तिम प्रहार कलाकार के लिए आत्मोपलब्धि का अतिक्रान्त क्षण है जब वह अपनी मानसी सृष्टि से साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार संगीतज्ञ के लिए मुक्ति या आत्म लब्धि का क्षण उस समय आता है जब अनेक यत्नों और निरन्तर प्रयोगों के बाद वह अपनी प्रिय रागिनी के स्वरूप तक पहुँच जाता है। गायक की मन मूर्ति और रागिनी के स्वरूप में तादात्म्य स्थापित होने पर ही उसकी आत्मा संगीत के लोकोत्तर रस से उद्दीप्त हो पाती है। राग चमक उठता है, स्वर लौ लेने लगता है।

कलात्मक सृजन की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए कविताओं और चित्रों के लिए प्रयुक्त

'रचना' शब्द निराशाजनक और भ्रान्तिपूर्ण है। एक प्राचीन कहानी है कि ग्रीस के एक कलाकार से हेलेन का एक चित्र तैयार करने को कहा गया था और उसे यह अनुमति प्राप्त थी कि वह नगर की सुन्दरतम कुमारिकाओं का 'मॉडल' के रूप में उपयोग कर सकता था। अपनी चेतना में हेलेन की छवि को मूर्तिमान न कर उसने बौद्धिक चुनाव द्वारा दृश्यमान परिपूर्ण सौन्दर्य से चित्र की 'रचना' करनी चाही। इस प्रकार की जोड़ तोड़ वाली कृति में एकान्विता असम्भव है। सर्वहुत् भावावेश के ताप से गले बिना विभिन्न अंग कलात्मक ढंग से एकीकृत नहीं हो सकते। सच्चा कलाकार अपने चित्र को अखण्ड 'देखता' है और अपनी आभ्यन्तर चेतना में उसकी प्रतिकृति समस्त अंगोपांगों के साथ उतारता है। वह उसी समय चित्र बनाना आरम्भ करता है जब यह मन चित्र सम्पूर्ण रूप से आलेखित हो जाता है।

अन्य कला-माध्यमों की भाँति भाषा भी कवि-स्वप्न की अभिव्यञ्जना के मूर्तिमान होने की प्रक्रिया में बाधक है। कवि की अनुभूति अपने लिए कुछ शब्द खोज लेती है और ये शब्द मिले जुले कुछ अन्य शब्द घसीट लाते हैं तथा ये नये शब्द अनुभूति को प्रभावित करते हैं जो कालान्तर में, काव्य सृजन की प्रक्रिया में, स्वयं रूपायित होती है और रूप की व्यञ्जनाओं एवं आवश्यकताओं के अनुसार नई गहराइयों तथा नई सूक्ष्मताओं का अन्वेषण करती है। जैसे जैसे 'रूप' अनुभूति के उपयुक्त ढाँचे में बँधता चलता है, वैसे वैसे केन्द्रीय विचार अथवा भाव के नये पहलू मन में उभरते जाते हैं। फलस्वरूप ऐसे शब्दों और वाक्यांशों के नये आरोहावरोह वाञ्छनीय होते हैं जो कविता में आवश्यक प्रवाह एवं गतिशीलता उत्पन्न कर सकें। अनेक महाकवियों ने एक ही छन्द के साधने में अनेक दिन व्यतीत किए हैं और अकेली कविता पर वर्षों लगाए हैं। ग्रे को एकमात्र कविता में अनुभूति और 'रूप' की पटरी बिठाने में चौदह वर्ष लगे। टेनीसन को अपनी अभिव्यञ्जना को बार बार बदलना पड़ा, यहाँ तक कि प्रत्येक संस्करण में पाठ बदला हुआ है। रासेटी ने उन्नीस वर्ष की आयु में 'Blessed Damosel' की रचना की, परन्तु इस रचना का पाठ आज के संस्करण से नितान्त भिन्न है। बीसियों बार उसमें संशोधन किये गए हैं और अन्त में जब कवि के मन में सुन्दरतम 'रूप' प्रादुर्भूत हुआ तो वही पहली वस्तु-सत्य की झाँकी थी जिससे कवि ने आरम्भ किया था। आज तक उपलब्ध कोई भी महान् काव्य भावोद्रेक की पहली अभिव्यक्ति नहीं है। प्रारम्भिक तात्कालिक पाठ सम्पूर्णतया सन्तोषजनक नहीं हो सकता, क्योंकि जिस भाषा द्वारा अपरिसीम को वाणी देनी है वह जड़ और ससीम है।

तथ्य यह है कि भाषा सदैव अनुभूति के सामान्य धरातल पर चलता है और इसीसे कवि के लिए अपने असाधारण स्वप्न को वाणी देना कठिन हो जाता है। कवि की भावमय अन्तरानुभूति या तो सामान्य तल पर इतनी उतर आए कि सामान्य भाषा में उसका प्रकाशन हो सके या कवि शब्दों और वाक्यांशों का प्रयोग कुछ इस तरह से करे कि उनके द्वारा उसका स्वप्न चरितार्थ हो। कवि धारणातीत को धारणा में बाँधना चाहता है, अकल्पित की कल्पना करना चाहता है। वह अनभिव्यक्त को सामान्य भाषा की निश्चित रूपरेखा में आमन्त्रित करना चाहता है। यदि वह असीम की अभिव्यक्ति नहीं कर सका तो उसका लक्ष्य अपूर्ण रह जायगा। चूँकि उसका उत्तरदायित्व अपने ही प्रति है, चूँकि उसकी सर्वप्रमुख आकांक्षा यही है कि वह अपने स्वप्न को मूर्त करे और उसे विस्मृति के अभिशाप से बचाए, इसीसे जो अपनी

महानता के कारण स्पष्ट एवं संहत अभिव्यक्ति का अधिकारी बन जाता है वही सफल कवि कहा जा सकता है। भाषा के सृजनात्मक प्रयोग से कवि कल्पना शक्ति के तकाज़े पूरे करता है जो अंश से अंशी तक, प्रतीक से प्रतीत तक और कल्पना से धारणा तक पहुँचने का प्रयत्न करता है। जब वह अपने इस आदर्शपूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह कर चुकता है, तब वह यह प्रयत्न करता है कि उसकी वाणी बुद्धिगम्य हो जिससे उसका गान अरण्य-रोदन न हो जाय।

अन्य द्वारा बोधगम्य होने की उसकी सफलता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी अपने आन्तरिक उत्तरदायित्व के निर्वाह की सफलता। उसकी सफलता का स्रोत इसमें है कि उसे जो भावनाएँ संवेदित करती हैं वे मानव हृदय की सामान्य सम्पत्ति हैं। उसके पाठक इन संवेदनाओं में अपनी संवेदनाओं की अनुभूति प्राप्त करते हैं, जैसे वह मानव प्रकृति की अन्तर्भूत आत्मा हो। यदि ये संवेदनाएँ एकान्तत: उसीकी निजी होतीं, यदि उसकी प्रतिमा लोकोत्तर या विलक्षण होती तो वही अपने गीत का आनन्द ले सकता। उसके लिए गाना असम्भव हो जाता, क्योंकि वह सामान्य धरातल ही उसे प्राप्त नहीं होता जो अन्य मनुष्यों के लिए मिलन बिन्दु बनता। कवि और अन्य मनुष्यों में अन्तर यह है—जबकि कवि में ये भावनाएँ प्रत्यक्ष हो उठी हैं, चेतना के प्रकाश में आ गई हैं, वहाँ सामान्य मनुष्यों के हृदयों में उनका अस्तित्व सम्भावना की भूमि पर ही है। निरुद्ध जीवन के अन्धकार में वे उस क्षण की प्रतीक्षा करती हैं जब वे प्रत्यक्ष होंगी। हम जब कविता से अनुप्राणित होते हैं तो कवि की संवेदना हम तक नहीं पहुँचती। होता यह है कि हमारे संजात संचारीभाव तीव्र से तीव्रतर होते जाते हैं और संवेदना स्तरों को भेदकर अन्त में निरुद्ध जीवन की गहराई में उतर जाते हैं। कवि द्वारा हम एक भाव की सिद्धि में समर्थ होते हैं और तब हमें दूसरे और अधिक गम्भीर भाव का पता चलता है जो और भी गहरे भाव-बोध से निवेष्टित है। जो भावनाएँ कवि के लिए अर्द्धोन्मीलित हैं उनके सम्बन्ध में हम अचेत रहते हैं और कवि जिनके प्रति चेतन है उनका हमें धुँधला आभास भर रहता है। कवि सचेतन रूप से आभ्यन्तर जीवन के अग्राह्य को मूर्त करने में सहायक होता है और इस प्रकार हमारी निरुद्ध भावनाओं को स्वरूप देता है। चाहे कितने ही असम्पूर्ण रूप में अभिव्यञ्जित हो, प्रत्येक अर्थ-बोध हमें आभ्यन्तर जीवन के अन्ध-रहस्यों में उतार देता है और हमें वही देता है जो उसने कवि को दिया है। इस तरह शब्दों की अभिव्यञ्जना शक्ति उतनी ही महत्त्वपूर्ण और यथार्थ हो जाती है जितनी स्पष्ट बोध की शक्ति। अपने मन की मूर्ति को निखारने के सिलसिले में कवि हमारे मन की उन गहराइयों को व्यञ्जित करता है जहाँ से प्रेरणा उद्भूत हुई है। व्यञ्जना की असम्पूर्णता के कारण ही यह सम्भव है कि कविता उस अगाध वास्तविकता को प्रकट कर सकती है जिसके सम्मुख कवि, हममें से सर्वश्रेष्ठ मनुष्य की तरह ही, समाधि के मौन में खो जाता है। गीतकार जब चिरन्तन के प्रति अपने गीत उठाता है तो उसे तर्क संगति एवं अर्थ-बोध की स्पष्टता को तिलाञ्जलि देनी होती है। काल शैल पर चढ़कर कवि कालातीत कैलाश शिखरों की उस मेघाकार रूपरेखा की झाँकी पाता है जहाँ शब्द अर्थ की बोधगम्यता और संग्राम के बन्धन से मुक्त हो जाता है। केवल इसी प्रकार कविता उस असीम तक पहुँच सकती है एवं उसे ग्राह्य बना सकती है जो मन की चिरन्तन जिज्ञासा का विषय है। केवल इसी प्रकार कवि हमें उस बिन्दु की अनुभूति दे सकता है जिसकी ओर उसकी कल्पना सङ्केतित है। अभिधा के विपरीत व्यञ्जना पाठक अथवा श्रोता के मन में अपरिसीम

की सम्भावना विकसित करती है। अपनी शक्ति के अनुसार हम उसके सहारे कवि के साथ सोच यात्रा पर निकल चलते हैं। वह कवि को हमारे लिए मुक्ति दूत बना देती है और काव्य मानव जाति की स्थायी सम्पत्ति बन जाता है। वह ऐसा कोश हो जाता है जिससे प्रत्येक उत्तर पीढ़ी समाज के विकास के साथ धन सञ्चय करती है, सर्वश्रेष्ठ कवि का स्वप्न और उसे व्यञ्जित करने वाले शब्दों के अर्थ समाज विकास के साथ उत्तरोत्तर अधिक सुन्दर रूप से आत्मसात् होते जाते हैं और मनुष्य मात्र के लिए अनन्त काल तक ज्ञान के अक्षय स्रोत बने रहते हैं।

७

अध्ययन : भारतीय लेखक

रामलालसिंह

साधारणीकरण तथा आचार्य शुक्ल

स्वस्थ मन वाले मनुष्य की प्रकृति में पूर्णता, सगति, अभेदत्व तथा समष्टि की ओर जाने की प्रवृत्ति बीज रूप में छिपी रहती है, इसीलिए वह किसी स्थान, काल की उपाधि से सीमित विशिष्ट वस्तु की सामयिक अथवा स्थानीय विशेषताओं का उतना आदर नहीं करता, जितना वह उसके सार्वभौम अथवा चिरन्तन गुणों का आदर करता है। इसी प्रवृत्ति के कारण वह विशेष से सामान्य की ओर जाने की प्रवृत्ति रखता है। इसी प्रवृत्ति का दर्शन हमें साधारणीकरण की प्रक्रिया में दिखाई पड़ता है। इस मानवीय प्रवृत्ति को पकड़ने के कारण भारतीय काव्य दृष्टि भिन्न भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है। किसी न किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विशेष हमारे यहाँ आते रहे हैं। भाव क्षेत्र के बीच हमारी वाणी सदा भेदों को चीरकर अभेद को ऊपर करती रही है। इसीलिए यहाँ के शास्त्रीय ग्रन्थों में साधारणीकरण की चर्चा बहुत अधिक मात्रा में मिलती है।

इस निबन्ध की प्रथम समस्या साधारणीकरण की परिभाषा, प्रक्रिया, तत्त्व और महत्त्व का विवेचन तथा तत्सम्बन्धी प्राचीन मतों का उल्लेख है, तदनन्तर उसके विषय में शुक्लजी के मत का स्पष्टीकरण तथा मूल्यांकन है।

साधारणीकरण का शाब्दिक अर्थ है—व्यक्तित्व का विलयन, निर्वैयक्तीकरण, सम्बन्ध विशेष का त्याग, असाधारण का साधारणीकरण। इस प्रकार साधारणीकरण वह सामान्यीकृत अनुभव है, जिसमें वस्तुएँ स्थान तथा काल की उपाधि से मुक्त होकर निर्वैयक्तिक रूप में दिखाई पड़ती हैं। इस साधारणीकरण की प्रक्रिया वह प्रक्रिया है, जिसमें सहृदय अपने सामान्य मानवीय हृदय द्वारा काव्य या जीवन के विभावादि को सामान्यीकृत अथवा मानवीय रूप में ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया से सहृदय तथा अनुभाव दोनों कालगत तथा स्थानगत विशिष्ट उपाधियों को छोड़कर सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। साधारणीकरण का व्यापार विशिष्ट भाव की वैयक्तिक अनुभूति को रस रूप में परिणित कर देता है। यह क्रिया पाठक, श्रोता, दर्शक,

कवि, सबके हृदय म घटित होता है। इसको भट्टनायक भावना व्यापार, साहित्य दपणकार विभावन व्यापार, अभिनव गुप्त वीत विघ्न प्रतीति व्यापार या कभी कभी साधारणीकरण भी कहते हैं। विभावन व्यापार ही रस प्रक्रिया की सुदृढ भूमिका तैयार करता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से साधारणीकरण की प्रक्रिया में पाँच अवस्थाएँ दिखाई पडती हैं। वे क्रमश —पूर्वज्ञान (Apperception) इन्द्रियसन्निकर्ष (Preparation) अनुभूति (Perception) तुलना (Comparison) और सामान्यीकरण (Abstraction) हैं।

प्रथम अवस्था में सहृदय में काव्य शास्त्रादि के अध्ययन तथा लोक निरीक्षण श्रवणादि से काव्य अथवा जगत् की अनुभूतियों को समझने की शक्ति आती है। इसके बिना कोई भी सहृदय साधारणीकरण की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। भरत मुनि इसी को 'बुध' शब्द से अभिहित करते हैं।[१] उनकी दृष्टि से 'बुध' का अर्थ केवल पुस्तकीय ज्ञानयुक्त व्यक्ति नहीं वरन् विविध अनुभवज्ञ व ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति है। अभिनव गुप्त निरूपित सहृदयों के लक्षण व्यासंग (अध्ययन), विकसित मन, तथा समरस होने की चित्तवृत्ति में साधारणीकरण की प्रथम स्थिति की आवश्यक विशेषताएँ विद्यमान हैं।

द्वितीय अवस्था में सहृदय काव्य, नाटक अथवा प्रत्यक्ष जीवन का दृश्य रागात्मक रूप म देखता है, जिस सुख दु खादि विषयी भावों से मुक्त होता है, क्योंकि सहृदय जब तक अपने वैयक्तिक सुख दु खों से आबद्ध रहेगा, तब तक वह त मयता की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता।

तृतीय अवस्था में सहृदय काव्य पढते समय या नाटक देखते समय पात्रों को अपने दृष्टि पथ के सामने घूमता हुआ पाता है। इस समय वह उन्हें विशिष्ट देश, काल, नाम आदि उपाधियों से मुक्त रूप में देखता या अनुभव करता है।

चतुर्थ अवस्था तुलना की है। इस अवस्था में सहृदय अपने मन में आये हुए विशिष्ट उपाधियों से युक्त पात्रों को अपनी कल्पना द्वारा अपनी पूर्वार्जित अनुभूतियों तथा संस्कारों से बार बार तुलना करता है। यही स्थिति तन्मयता की होती है।

अंतिम स्थिति में उन पात्रों में पूर्वार्जित अनुभूतियों, आदर्शों तथा संस्कारों की अनुरूपता पाकर उनको उपाधिमुक्त रूप में निरूपित करता है, जिसे साधारणीकरण की स्थिति कहते हैं। इस स्थिति में पात्रगत् अनुभूतियों की व्यक्तिनिष्ठता दूर हो जाती है।

साधारणीकरण का कारण मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति है, मानव सुलभ सहानुभूति है, अथवा किसी वस्तु को एक साँचे में देखने की प्रवृत्ति है, या इसीको दार्शनिक पदावली में भेद में अभेद की ओर जाने की प्रवृत्ति कह सकते हैं।

साधारणीकरण में मुख्यत तीन तत्त्व हैं—१ कवि का लोकधर्मी व्यक्तित्व, जिससे वह अपनी अनुभूति अथवा विभावादिकों को विश्वात्मक बना देता है, २ भाषा का भावमय प्रयोग और ३ पर प्रतीति म भरा व्युत्पन्न स्वस्थ सहृदय।

यदि कवि का व्यक्तित्व लोकधर्म का अनुकरण नहीं करता, लोकसाधारण भावों को नहीं अपनाता तो साधारणीकरण सम्भव नहीं। कवि की रसवत्ता ही काव्य की जननी होती

---

१ षडङ्गनाट्यकुशला प्रबुद्धा शुचय सभा ।
चतुरातोद्यकुशला नेपथ्यज्ञा सुधार्मिका ॥ 'नाट्यशास्त्र'

है, और कवि की रसज्ञता का अर्थ है—साधारणीकरण की क्षमता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साधारणीकरण की शक्ति के बिना काव्य सृष्टि नहीं हो सकती। साधारणीकरण के व्यापार से ही कवि अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर साक्षात् रूप से जगत् के पदार्थों से रसमयी अनुभूति प्राप्त कर कलात्मक रूप में उसकी अभिव्यक्ति करता है। साधारणीकरण के व्यापार को अपनाये बिना जो कविता या साहित्य रचा जायगा वह वाग्जाल, शब्द कारीगरी, अलंकार चमत्कार कहा जा सकता है, पर काव्य नहीं। वह विस्मय, कुतूहल की सृष्टि कर सकता है पर रस नहीं उँडेल सकता। कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक ही भावना सैकड़ा, हजारों क्या लाखों आदमी ग्रहण करें। जब किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता ही न रहेगी तब उसे कोई पढ़ने या सुनने क्या जायगा? जिस कवि का वृत्तान्त सुनाय सबका सुख नहीं पा सकता, जिसका चित, भाव, विचार, आदर्श, कल्पना, धारणा सार्वजनीन नहीं हो सकते, उसके साथ साधारणीकरण नहीं हो सकता। अतः यदि कवि को अपनी आत्मानुभूति को विश्वानुभूति बनाना वाञ्छनीय है तो उसे साधारणीकरण का व्यापार अपनाना पड़ेगा। इसी प्रकार सहृदय के भावमय व्यापार को सञ्चालित करने के लिए भाषा का भावमय प्रयोग आवश्यक है। तीसरे, यदि सहृदय पर प्रतीति में भरा नहीं है, किसी निजी सुख दुःख के वेग में है, तो उसका हृदय साधारणीकृत अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता।

साधारणीकरण के कारण रस विस्मय, लोकोत्तर चमत्कार ज्ञानस्वरूप, सत्त्वोद्रेकयुक्त, अखण्डानन्दमय, अभिलाषानन्द रूप बन सका। इसी कारण वह भग्नावरणाचित अथवा अलौकिक कोटि का माना गया। इसी कारण रस की प्रकृति लोक सम्बन्धात्मक कोटि की हुई। इसीसे साहित्य मात्र परम सामाजिकता के रूप में स्वीकृत हुआ। इसी साधारणीकरण के व्यापार को अपनाने के कारण सहृदय अपनी पृथक् सत्ता का परिहार कर संसार के द्वन्द्वात्मक भावों की अनुभूति स्वार्थमुक्त रूप में करता है, अपने वैयक्तिक स्वार्थों की संकुचित सीमा से उठकर लोक सामान्य भावभूमि में विचरण करने लगता है, जहाँ वह जाति, देश, काल की सीमा से ऊपर उठकर मानव मात्र के सुख दुःख, हर्ष क्लेश, विजय हार का स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करता हुआ अपने हृदय को विश्व हृदय में परिणत कर देता है। जिस मनुष्य में साधारणीकरण की जितनी अधिक शक्ति सामान्य जीवन में आ जायगी, उसके हृदय का बन्धन उतना ही अधिक खुल जायगा, उसका हृदय सकोच उतना ही नष्ट हो जायगा तथा उसे मनुष्यता की उच्चभूमियों के दर्शन भी उतनी ही अधिक मात्रा में प्रतिक्षण होने लगेंगे। किसी कलाकृति में साधारणीकरण की जितनी अधिक क्षमता रहेगी, उसमें उतना ही अधिक सच्चा समन्वय, सच्ची संगति एवं सच्चे सौन्दर्य का दर्शन होगा। कलाकृति में इसी साधारणीकरण की विशेषता होने के कारण अनेक युद्धों, पराभव एवं अस्तव्यस्तता के बीच भी सहृदय जनता रंग रसों को रंगीन स्मृतियों को कई पीढ़ियों तक सँभालकर रखती आई है, इसी विशेषता के कारण कवि के शब्दों का सिल-सिला पीढ़ियों का पोषण एवं उत्तराधिकार बनता आया है, इसी विशेषता को धारण कर कलाकृति सहस्र-सहस्र भावना को नवीन जन्म देती आई है, अतिदेशकाल के अस्तित्व की भाँति बनती आई है। संक्षेप रूप में हम कह सकते हैं कि साधारणीकरण का सिद्धान्त तत्त्वमसि को प्रयोगात्मक रूप में चरितार्थ करता है। इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हमारे आचार्यों ने लोक हृदय की सामान्य अन्तर्भूमि परखकर की है। यह सामान्य अन्तर्भूमि कल्पित या कृत्रिम नहीं है। वह

काव्य रचना की रूढ़ि या परम्परा, सभ्यता के न्यूनाधिक विकास, जीवन-व्यापार के बदलने वाले बाहरी रूप रंग पर स्थित नहीं है। इसकी नींव बहुत गहरी है। इसका सम्बन्ध हृदय के भीतरी मूल देश से है, उसकी सामान्य भावनात्मक सत्ता से है, जो देश, काल की उपाधियों से मुक्त है। साधारणीकरण का महत्त्व काव्य के प्रत्येक अंग में समाया है। इसका अभाव कवि, भावना, भाषा, कल्पना, अलंकार, सहृदय आदि जहाँ कहीं भी हुआ कि काव्य सौन्दर्य विकृत हो जायगा।

साधारणीकरण सम्बन्धी सिद्धान्त की स्पष्टता के लिए उसके विषय में प्राचीन आचार्यों का मत संक्षेप में नीचे विवेचित किया गया है।

भट्टनायक इसके आविष्कारक हैं। इनकी दृष्टि में काव्य सौन्दर्य, गुण, शक्ति आदि से भावकत्व व्यापार उद्भूत होता है। इसी भावकत्व व्यापार से साधारणीकरण व्यापार सम्भव होता है। इसीसे विभावादिकों का रूप साधारणीकृत कोटि का हो जाता है[1], अर्थात् आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, स्थायीभाव, अनुभाव, सञ्चारीभाव का साधारणीकरण होता है। वस्तुतः भावना व्यापार का सम्बन्ध कवि कर्म से है। कवि-कर्म से ही काव्य में सौन्दर्य, प्रसाद, शक्ति आदि का समावेश होता है, जिससे भावकत्व-व्यापार सम्पन्न होता है। भावकत्व व्यापार प्रकारान्तर से कवि कर्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में कवि-कर्म का साधारणीकरण अन्तर्निहित है। भट्टनायक के साधारणीकरण में विभावादिक, विशेषतः आलम्बन के साधारणीकरण पर अधिक बल है। विभावादिक कवि की पूरी अनुभूति के प्रतीक हैं, अतः विभावादिक के साधारणीकरण में कवि की अनुभूति या कवि कर्म का साधारणीकरण प्रकारान्तर से निहित है। विभावादिक खड़ा करना कवि कर्म के अन्तर्भूत है। इस प्रकार साधारणीकरण में आलम्बन पर अधिक बल देकर भट्टनायक साधारणीकरण में कारयित्री प्रतिभा पर अधिक बल देते हैं।

भट्टनायक के साधारणीकरण विवेचन में सहृदय का, कवि निरूपित विभावादिक को सामान्यीकृत रूप में अपनी अनुभूति का विषय बनाना, उसके हृदय में सत्त्वोद्रेक होना, संविद् विश्रान्ति की अवस्था उत्पन्न होना, इस बात का प्रमाण है कि उसका भी साधारणीकरण होता है।

इस प्रकार भट्टनायक के साधारणीकरण में कवि, सहृदय, विभावादि सबका साधारणीकरण निहित है—यह दूसरी बात है कि वे विभावादिक के साधारणीकरण पर सर्वाधिक बल देते हैं।

इसके पश्चात् अभिनव गुप्त के गुरु भट्टतौत साधारणीकरण में कवि, सहृदय, आलम्बन सबके साधारणीकरण की स्पष्ट चर्चा करते हैं।[2] अभिनव गुप्त के साधारणीकरण में विभावादि के साथ सहृदय, कवि, सबका साधारणीकरण माना गया है। भट्टनायक या भट्टतौत से

१ न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादि साधारणीकरणात्मना भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेक प्रकाशानन्दमय संविद्विश्रान्ति सत्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः। (मम्मट के अनुसार)—'काव्यप्रकाश', चतुर्थ उल्लास

२ कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।
नायकस्य कवेः श्रोतुः समानानुभवस्तथा॥ —भट्टतौत

अन्तर यही है कि इनके साधारणीकरण में सहृदय के ऊपर अधिक बल है, इसीलिए ये साधारणीकरण-व्यापार को 'वीतविघ्न प्रतीति व्यापार', साधारणीकरण से उपलब्ध अनुभव को 'वीतविघ्न प्रतीति' तथा रस को 'सर्वथा वीतविघ्न प्रतीति ग्राह्यो' अभिहित करते हैं, तथा साधारणीकरण में बाधक विघ्नों में अधिकांश का सम्बन्ध सहृदय से स्थापित करते हैं।

दशरूपककार की दृष्टि में साधारणीकरण में सभी सामान्य हो जाते हैं। कवि कर्णपूर भी रसानुभूति में सबके सम्भेद पर बल देते हैं। मम्मट के मत में सम्बन्ध विशेष का त्याग, निर्वैयक्तीकरण अथवा असाधारण का साधारणीकृत होना ही साधारणीकरण है। ये भी भट्टनायक का अनुसरण करते हुए साधारणीकरण में विभावादिक के साधारणीकरण पर अधिक बल देते हैं।

विश्वनाथ अपने साधारणीकरण विवेचन में विभावादिक,[1] स्थायीभाव[2] तथा सामाजिक का साधारणीकरण बताते हुए आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य[3] की भी चर्चा करते हैं। साधारणीकरण में आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की बात अलग रूप से विश्वनाथ में ही मिलती है। इसी तथ्य पर गम्भीरता से सोचने के कारण ही आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होने वाली स्थिति में कवि के भाव या अनुभूति-मात्र के साथ सहृदय का तादात्म्य होने पर शुक्लजी को भाव विवेचन में शील दशा की बात सूझी और सहृदय को शील द्रष्टा में निरूपित कर उन्होंने साधारणीकरण की मध्यम कोटि का आविष्कार किया।

पण्डितराज जगन्नाथ साधारणीकरण को प्रत्यक्ष रूप से नहीं मानते, किन्तु रस को भग्नावरणाचित कहकर अभेद की बात द्वारा साधारणीकरण को प्रकारान्तर से मान लेते हैं।

शुक्लजी की कृतियों में साधारणीकरण की व्याख्या एक स्थान पर पूर्णरूपेण नहीं मिलती, इसीलिए उनके आलोचक किसी एक वाक्य को लेकर उड़ पड़ते हैं और उसे एकाङ्गी, सङ्कुचित अथवा अशास्त्रीय घोषित करने का प्रयत्न करते हैं, और कुछ उसे किसी आचार्य के अनुकरण का फल बतलाने का प्रयत्न करते हैं।

रस मीमांसा के 'काव्य का लक्ष्य' नामक निबन्ध में शुक्लजी ने साधारणीकरण में कवि, विभाव तथा सहृदय तीनों के साधारणीकरण की बात कही है, वह उन्हीं के शब्दों में देखिए—"जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहाँ तीनों हृदयों का समन्वय चाहिए। आलम्बन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम कवि में चाहिए, फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में। विभाव द्वारा जो साधारणीकरण कहा गया है, वह तभी चरितार्थ हो सकता है।"[4] अर्थात् काव्य में साधारणीकरण की स्थिति लाने के लिए शुक्लजी सर्वप्रथम कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर बल देते हैं। इसे भी उन्हीं के शब्दों में स्पष्ट रूप से देखिए—"विषय के सामान्यत्व की ओर जब कवि की दृष्टि रहेगी तभी यह साधारणीकरण हो सकता है।"[5] अर्थात् विषय

१ व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।

२ साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते।

३ प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते। —'साहित्यदर्पण'

४ 'रस मीमांसा', पृष्ठ ६७-६८।

५ " " " ६०।

के सामान्य रूप की ओर दृष्टि जाते ही कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होने लगता है, और जब तक वह सामान्यत्व का चयन तथा निरूपण करता रहता है, तब तक उसकी अनुभूति का साधारणीकरण होता रहता है। कवि की अनुभूति अथवा कवि कर्म के साधारणीकरण पर बल देने के कारण ही वे सच्चे कवि की कसौटी, लोक हृदय की पहचान, लोक धर्म का निरूपण, अनेक विशेषताओं एवं विचित्रताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय का चित्रण मानते हैं।[1] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि कवि की अनुभूति का सामान्यीकरण कौन करता है? शुक्लजी का उत्तर है—आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित सामान्य धर्मवाला व्यक्ति या वस्तु। जब तक आलम्बन सार्वजनीन या मानवीय कोटि का नहीं होगा, सामाजिक स्तर का नहीं होगा, तब तक वह कवि या सहृदय की सहानुभूति आकर्षित नहीं कर सकता, उसमें समानुभूति उत्पन्न नहीं कर सकता, सत्वगुण का उद्रेक नहीं कर सकता, सामान्य कोटि का भाव उत्पन्न नहीं कर सकता। शुक्लजी का कहना है कि जब तक किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता नहीं रहेगी, तब तक उसे कोई पढ़ने या सुनने क्यों जायगा? फिर वे आगे कहते हैं—"जब तक किसी भाव का विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।"[2] अर्थात् किसी कवि की कविता में दूसरे हृदय की समानता, आलम्बन रूप में साधारणीकृत धर्म की प्रतिष्ठा से आती है। तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सब के भावों का आलम्बन हो जाता है।[3]

इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है। यदि शुक्लजी केवल आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण का उल्लेख मात्र करके रह गए होते, साधारणीकरण के स्वरूप विवेचन के प्रसंग में और कुछ चर्चा न करते, तब भी इस प्रसंग में उनके ऊपर यह आरोप लगाना ठीक नहीं होता कि उनका साधारणीकरण सम्बन्धी विवेचन एकांगी है, उसमें कवि की अनुभूति अथवा पूरे कवि कर्म का साधारणीकरण विवेचित नहीं है। वस्तुतः जिसे हम आलम्बन कहते हैं वह कवि की अनुभूति का संवेद्य रूप है, उसकी मानसी सृष्टि का प्रतीक है वह पूरे कवि कर्म से निर्मित हुआ है। काव्य का विषय सदा विशेष होता है, सामान्य नहीं, वह व्यक्ति सामने लाता है, जाति नहीं, किन्तु वे विशेष या व्यक्ति सामान्य के प्रतिनिधि होकर आते हैं।[4] इस सामान्य के प्रतिनिधियों के निरीक्षण, पहचान तथा निर्माण काल में कवि ही नहीं, सहृदय मात्र की अनुभूति का साधारणीकृत हो जाना स्वाभाविक है। इस तथ्य का समर्थन काव्य शास्त्र ही नहीं, मनोविज्ञान भी कर रहा है। शुक्लजी ने कवियों की उच्चता साधारणीकृत अनुभूति के तारतम्य से निरूपित की है। उन्होंने वाल्मीकि, कालिदास और तुलसी की श्रेष्ठता उनकी साधारणीकृत अनुभूति की मात्रा के आधार पर स्थापित की है, रीतिकालीन अधिकांश कवियों की निन्दा उनमें साधारणीकृत अनुभूति के अभाव के कारण की है। भारतीय काव्य की विशेषता

१ 'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृष्ठ ३०८-३०९।
२ " " पृष्ठ ३०८।
३ " " पृष्ठ ३१३।
४ " " पृष्ठ ३०५।

निरूपित करते समय भी उनकी दृष्टि कवि की साधारणीकृत अनुभूति पर सर्वाधिक मात्रा में स्थित है, यह तथ्य उनकी निम्नांकित पदावली से स्पष्ट है—"भारतीय काव्य दृष्टि भिन्न भिन्न विशेषों के भीतर से सामान्य के उद्घाटन की ओर बराबर रही है, किसी न किसी सामान्य के प्रतिनिधि होकर ही विशेष हमारे यहाँ के काव्यों में आते रहे हैं। हमारे यहाँ के कवि उस सच्चे तार की झंकार सुनाने में ही संतुष्ट रहे, जो मनुष्य मात्र के भीतर से होता हुआ गया है।"[१]

उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य यह है कि कवि की अनुभूति के साधारणीकरण पर शुक्ल जी ने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष, स्पष्ट अस्पष्ट रूप से अनेक बार, अनेक बातें, बलपूर्वक अनेक प्रसंगों में कही है।

अब शुक्लजी के साधारणीकरण सिद्धान्त के द्वितीय तत्त्व आलम्बन के साधारणीकरण पर विचार करना चाहिए, जिस पर वे सबसे अधिक बल देते हैं।[२] यहाँ यह प्रश्न उठता है कि शुक्लजी के आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण पर सबसे अधिक बल देने का कारण क्या है और वह कहाँ तक ठीक है?

समीक्षक रूप में शुक्लजी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे किसी भी सिद्धान्त के निरूपण में मूल तथा केन्द्रीय वस्तु तुरन्त पकड़ लेते हैं। यह बात साधारणीकरण के विषय में भी सत्य है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो यही अवगत होगा कि जीवन तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में किसी तरह की अनुभूति उत्पन्न करने में आलम्बन की सत्ता मुख्य है।[३] कवि अथवा श्रोता, पाठक आलम्बन के ही माध्यम से अपनी अनुभूति साधारणीकृत करने में समर्थ होते हैं। हमारे हृदय में प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों के सामाजिक रूप की प्रतिष्ठा सामाजिक कोटि के आलम्बनों के दर्शन, सम्पर्क, प्रत्यभिज्ञान आदि से ही होती है। कवि में भावुकता की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान ये ही हैं।[४] उदात्त कोटि की सौन्दर्य भावना जगने का अर्थ है—मन में उदात्त कोटि के आलम्बन का चित्र आना।[५] तात्पर्य यह है कि सामाजिक कोटि का भाव उत्पन्न करने के लिए सामाजिक कोटि का विभाव आवश्यक है। इसी कारण शुक्लजी भी सच्ची सहानुभूति के लिए भाव विभाव का सामञ्जस्य आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं।[६] रसात्मक बोध के विविध रूप नामक निबन्ध में आलम्बन के सामाजिक स्वरूप का महत्ता पर विचार करते हुए उन्होंने बताया है कि जो व्यक्ति प्रत्यक्ष जीवन अथवा साहित्य में सामाजिक कोटि के आलम्बनों में रुचि नहीं रखता, उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ नहीं होता, वह काव्य का सच्चा प्रभाव ग्रहण नहीं कर सकता, वह सच्ची कविता में रुचि नहीं ले सकता।[७] यदि साधारणीकरण में शुक्लजी के मुख्य सिद्धान्त आलम्बन धर्म के साधारणीकरण को न मानें तो फिर किसी भी प्रकार की कविता से सहृदयों का साधारणीकरण

१ 'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृष्ठ ३२४।
२ " " " ३१३।
३ " " " ३२८।
४ " " " ३३१।
५ " " " ३३०।
६ " " " ३३८।
७ " " " ३३१।

तुरन्त सम्भव हो जायगा।

रामवनगमन के पश्चात् भरत, रामवनगमन में कैकयी का मूल कारण समझकर, उन पर बिगड़ते हैं, उन्हें भला बुरा कहते हैं। इस आधार पर तुलसी ने कैकयी को राम विरोधी दिखा कर उनमें आलम्बनत्व धर्म का समावेश कर दिया है, अन्यथा भरत से पाठक या श्रोता का तादात्म्य न हो पाता। साधारणीकरण में केन्द्रीय वस्तु आलम्बन का लोक धर्मी स्वरूप है, अन्यथा सहृदय मात्र के साथ उसका साधारणीकरण नहीं हो सकता, वह सबके भावात्मक सत्त्व पर समान प्रभाव नहीं डाल सकता, उसके आश्रय के साथ सभी सहृदयों का तादात्म्य नहीं हो सकता, फलत रसानुभूति प्रक्रिया में सहृदयों के व्यक्तित्व का परिहार नहीं हो सकता। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से अभिज्ञ होने के कारण शुक्लजी ने अपनी साधारणीकरण की परिभाषा में आलम्बन के लोक-धर्मी स्वरूप पर सर्वाधिक मात्रा में बल दिया है। इस तथ्य की स्पष्टता के लिए उनकी परिभाषा का उल्लेख यहाँ आवश्यक है। 'जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ साधारणीकरण कहलाता है।'[1] आगे इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस तथ्य को और स्पष्ट किया है—

साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही अपने सामान्य धर्मों के कारण सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।[2]

इससे सिद्ध हुआ कि साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है, व्यक्ति तो विशेष ही रहता है, पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है, जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।[3] तात्पर्य यह है कि आलम्बन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति समान प्रभाव वाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण सबके भावों का आलम्बन हो जाता है। 'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं', इसका तात्पर्य यही है कि रस मग्न पाठक के मन में यह भेदभाव नहीं रहता कि यह आलम्बन मेरा है, या दूसरे का। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक का सामान्य हृदय हो जाता है, उसका अपना अलग हृदय नहीं रहता।[4]

'विभावादि सामान्य रूप में प्रतीत होते हैं', यह पदावली स्पष्ट कर देती है कि शुक्लजी साधारणीकरण में विभाव (आलम्बन तथा उद्दीपन), अनुभाव, संचारीभाव तथा आश्रय का साधारणीकरण मानते हैं, अन्यथा विभाव के पश्चात् आदि न जोड़ते। थोड़ी देर के लिए पाठक या श्रोता का हृदय लोक हृदय हो जाता है, उसका अपना हृदय नहीं रहता।" ये दोनों वाक्य स्पष्ट करते हैं कि उन्हें सहृदय पाठक तथा श्रोता के हृदय का साधारणीकरण भी मान्य है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि शुक्लजी के साधारणीकरण में कवि, आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन तथा श्रोता अथवा पाठक—सबके साधारणीकरण का तत्त्व विद्यमान है। जिस

१　'चिन्तामणि', प्रथम भाग, पृ० ३०८।
२　"　"　"　३१२।
३　"　"　"　३१३।
४　"　"　"　३१३।

काव्यात्मक रसानुभूति में कवि, सहृदय तथा विभावादि तीनों तत्त्वों का साधारणीकरण सम्भव होता है, उसीको शुक्लजी उत्तम कोटि की रसावस्था मानते हैं। जहाँ पाठक या आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होकर कवि की भावना या अनुभूति के साथ साधारणीकरण होता है वहाँ शुक्लजी मध्यम कोटि की रसावस्था मानते हैं।[1] जैसे कोई क्रोधी प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराधी दीन पर क्रोध की प्रबल व्यञ्जना कर रहा है, तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रागात्मक सञ्चार न होगा, बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा, आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं होगा, उसके भाव में वह लीन नहीं होगा, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शीलद्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा, उसकी भाव-व्यञ्जना की स्वाभाविकता मात्र का अनुमोदन करेगा। शुक्लजी के अनुसार यह प्रभाव भी रसात्मक ही है।[2] पर उनकी दृष्टि में यह रसात्मकता मध्यम कोटि की मानी जायगी। फिर इसी प्रसंग में आगे स्पष्ट करते हुए उन्होंने बतलाया है कि जहाँ पाठक या दर्शक किसी काव्य या नाटक में संनिविष्ट पात्र या आश्रय के शील द्रष्टा के रूप में स्थित रहता है,[3] वहाँ भी पाठक या दर्शक के मन में कोई न कोई भाव अवश्य जगा रहता है। अन्तर इतना ही पड़ता है कि उस पात्र का आलम्बन पाठक या दर्शक का आलम्बन नहीं होता, उस पात्र के साथ पाठक का तादात्म्य नहीं होता, वरन् वह पात्र ही पाठक या दर्शक के किसी भाव का आलम्बन[4] हो जाता है। इस दशा में भी एक प्रकार का तादात्म्य या साधारणीकरण होता है, पर वह तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है।[5] शुक्लजी इसे भाव की शील दशा मानते हैं। शील दशा के विषय में उनकी मान्यता है कि "वह अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति होती है।"[6] इसकी अनुभूति पात्रों के चरित्र चित्रण अथवा चरित्रानुशीलन के अवसर पर होती है। इस प्रकार भाव की शील दशा को वे मध्यम कोटि की रसानुभूति मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की स्थितियाँ हमारे यहाँ भाव अथवा भावाभास की स्थिति के भीतर विवेचित हैं। किन्तु साधारणीकरण के प्रसंग में इसका विवेचन शुक्लजी के अतिरिक्त उनके किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने नहीं किया है। अतः साधारणीकरण के प्रसंग में उनकी इस विवेचना को मौलिक मानने में किसीको आपत्ति नहीं होनी चाहिए। शुक्लजी की यह विवेचना साधारणीकरण की दृष्टि से मौलिक होते हुए भी अशास्त्रीय नहीं कही जा सकती। जैसा ऊपर के विवेचन से स्वयं शुक्लजी भी इसे अशास्त्रीय नहीं मानते। उनकी मान्यता है कि दो प्रकार की अनुभूति तो लक्षण ग्रन्थों की रस पद्धति के भीतर ही सूक्ष्मता से विचार करने से मिलती है—(१) जिस भाव की व्यञ्जना हो उसीमें लीन हो जाना।[7] (२) जिस भाव की व्यञ्जना हो उसी भाव में लीन

1 'चिन्तामणि' प्रथम भाग, पृष्ठ ३१६।
२ " " " पृष्ठ ३१४।
३ " " " पृष्ठ ३१४।
४ " " " पृष्ठ ३१५।
५ " " " पृष्ठ ३१४-३१५।
६ 'अभिभाषण', पृष्ठ ८४-८५।
७ 'काव्य में रहस्यवाद', पृष्ठ ५६-६०।

तो न होना पर उसकी व्यञ्जना की स्वाभाविकता अथवा उत्कर्ष का हृदय से अनुमोदन करना। शुक्लजी द्वारा विवेचित उत्तम कोटि की साधारणीकरण की स्थिति लक्षण मे यों द्वारा अनुमोदित प्रथम प्रकार की रसानुभूति के भीतर आएगी तथा मध्यम कोटि की स्थिति द्वितीय प्रकार की रसानुभूति के भीतर।

साधारणीकरण की मध्यम स्थिति के आविष्कार में शुक्लजी के ऊपर दो पुस्तकों—विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' तथा शैण्ड के 'फाउण्डेशन ऑफ कैरेक्टर'—का प्रभाव जान पड़ता है। भाव विवेचन में शील दशा की बात उन्हें शैण्ड की उक्त पुस्तक से प्राप्त हुई। साधारणीकरण में आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की बात उन्हें विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से मिली। 'साहित्य दर्पण' में पठित आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य वाली बात पर गम्भीरता से सोचने के कारण उसका अपवादात्मक स्थिति का आविष्कार उन्होंने किया। आश्रय के साथ तादात्म्य तथा आलम्बन के साथ साधारणीकरण न होने वाली इस स्थिति में कवि के भाव या अनुभूति मात्र के साथ सहृदय के तादात्म्य होने पर तथा भाव विवेचन में शैण्ड की शील दशा का उपयोग करने के कारण, उक्त स्थिति में सहृदय को शीलद्रष्टा के रूप में निरूपित करते हुए साधारणीकरण की मध्यम कोटि की बात सूझी।

शुक्लजी की साधारणीकरण विवेचन सम्बन्धी विशेषता के ज्ञान के लिए इस सम्बन्ध में पुराने आचार्यों से उनकी तुलना आवश्यक है। भट्टनायक साधारणीकरण का सामर्थ्य भावकत्व व्यापार में मानते हैं, अभिनवगुप्त व्यञ्जना व्यापार में, किन्तु शुक्लजी लोकधर्म वाले आलम्बन में। आचार्य शुक्ल की दृष्टि में साधारणीकरण में केन्द्रीय वस्तु आलम्बन का लोकधर्मी स्वरूप है, भट्टनायक के मत में भावना व्यापार तथा अभिनवगुप्त की दृष्टि में सहृदयता। आचार्य भट्टनायक के अनुसार साधारणीकरण का मूलाधार कवि की कारयित्री शक्ति है, अभिनवगुप्त की दृष्टि में सहृदय तथा शुक्लजी की दृष्टि में आलम्बन। साधारणीकरण के स्वरूप निरूपण में लगभग तीनों सहमत दिखाई पड़ते हैं, केवल बल में कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। कवि सहृदय के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, सञ्चारी, सभी का साधारणीकरण तीनों को मान्य है। इसमें भट्टनायक कवि की कारयित्री प्रतिभा पर सर्वाधिक बल देते हैं, शुक्लजी आलम्बन के लोकधर्मी स्वरूप पर तथा अभिनवगुप्त सहृदय पर। साधारणीकरण का प्रभाव—व्यक्तित्व का परिहार, सत्त्वगुणोद्रेक रसानन्द, सविद्विश्रान्ति, रसास्वादन मानने में सभी सहमत हैं। सैद्धान्तिक रूप में भारतीय आचार्यों का साधारणीकरण सम्बन्धी मत मानते हुए भी, मध्यम कोटि के आविष्कार और काव्य तथा नाटक के अतिरिक्त अन्य साहित्य रूपों के साथ इसके व्यावहारिक प्रयोग की विधि बताने में शुक्लजी की देन मौलिक कोटि की कही जा सकती है। पुराने आचार्यों ने प्रायः शृङ्गार-वीर अथवा कभी कभी रौद्र रस को ही लेकर साधारणीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया था, शुक्लजी ने इससे आगे बढ़कर अन्य रसों के साथ इसके प्रयोग की विधि बताई। साधारणीकरण की पुरानी परम्परा का अनुसरण करते हुए भी शुक्लजी ने आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा लेकर तथा उसमें अपने व्यक्तित्व का पुट देकर उसे मनोवैज्ञानिक तथा सामयिक बनाने का प्रयत्न किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों दिशाओं में भी शुक्लजी का प्रयत्न साधारणीकरण विवेचन के क्षेत्र में मौलिक कोटि का है।

अवन्त चतुर्वेदी

इलाचन्द्र जोशी की औपन्यासिक प्रवृत्तियाँ

जोशीजी का उपन्यास साहित्य मे आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना है। उपन्यास साहित्य में पात्रों की मन स्थिति के आधार पर पूरे उपन्यास के सूत्र इकट्ठे करके संजोना इसी प्रतिभाशाली कलाकार की विशेषता है। जोशीजी के उपन्यासों के पूर्व तक हिन्दी उपन्यासों की स्थिति वाह्यार्थवादी रही है। कतिपय सामाजिक अथवा राजनीतिक समस्याओं को विभिन्न घटनाओं और चरित्रों के सहारे से खड़ा कर देना, यही इन उपन्यासों का उद्देश्य रहा है। किन्तु चरित्रों की आत्मचेतना और विकृतियों के आधार पर उपन्यास के एक पूरे ढाँचे को खड़ा कर देना शायद जोशीजी के पूर्व तक किसीने भी नहीं किया। सन् '२० के साहित्यिक परिवर्तन काल में जिन प्रमुख प्रवृत्तियों का प्राधान्य रहा, उनमें यह मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई है। आधुनिक उपन्यास साहित्य को इस प्रवृत्ति ने सबसे अधिक प्रभावित किया है। प्रेमचन्द-युग में इस प्रवृत्ति के केवल दो ही विशिष्ट कलाकार थे—जैनेन्द्र और जोशीजी।

जैनेन्द्रजी के उपन्यास एक आदर्श से आच्छादित हैं, पात्र केवल इस आदर्श को प्राप्त करने में सहायक मात्र हैं। उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व उतना महत्त्वपूर्ण नहीं लगता जितना कि जोशीजी के उपन्यासों के पात्रों का लगता है। इस मूल अन्तर का केवल एक प्रमुख कारण है। जैनेन्द्रजी वास्तव में एक दार्शनिक उपन्यासकार हैं। उन्होंने सामाजिक समस्याओं को अपनी विशिष्ट शैली से आवृत कर एवं पात्रों को रहस्यात्मकता का आवरण डालकर प्रस्तुत किया है। मूल में उनके उपन्यास व्यवहारगत विषमता का आधार लिये हुए हैं। उनके पात्र इस विषमता को एक रहस्यवादी ढंग से प्रकट करते हैं। बीच बीच में इन पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की झलक भी मिलती चलती है। लेकिन केवल पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अथवा अन्तश्चेतना के नग्न रूप को प्रकट करना उनका उद्देश्य नहीं है। यह तो उनके उपन्यासों का सहायक-मात्र है। जैनेन्द्रजी के लिए मनोविज्ञान एक साधन है, साध्य नहीं।

वस्तुतः जोशीजी के उपन्यासों के आधार कुछ अन्य तत्त्व हैं। यह मन के अन्दर होने वाली क्रिया के रासायनिक तत्त्वों के प्रदर्शीकरण हैं। दूसरे रूप में, वे मन के अन्दर घटित होने वाली विभिन्न मनोवृत्तियों—विकृतियों—के इतिहास हैं। वे वास्तव में कोई सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य के पोषक नहीं हैं (हालांकि सामाजिक और राजनीतिक विचार भी प्रकट किये गए हैं, किन्तु वह गौण महत्त्व के हैं)। वे तो केवल मनुष्य की चित्तवृत्ति की जो विभिन्न स्थितियाँ हैं और उनके जो परिणाम हैं, उनके ही चित्रण करने वाले हैं। उनके उपन्यासों के यही आधार हैं। अतः जैनेन्द्रजी और जोशीजी के उपन्यासों के मूल अन्तर को प्रस्तुत किया जाय तो दो बातें सम्मुख आती हैं—

(१) जैनेन्द्रजी के उपन्यास उद्देश्य (आदर्श) के साथ पात्रों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं, किन्तु मूल में उद्देश्य को ही महत्त्व देते हैं। जोशीजी पात्र के अन्तर्जगत् को प्रथम महत्त्व और उद्देश्य को गौण महत्त्व देते हैं।

(२) जैनेन्द्रजी घटनाओं द्वारा पात्र की मन स्थिति का चित्रण करते हैं और कथानक को आगे बढ़ाते हैं। जोशीजी के उपन्यास केवल चरित्रों की विभिन्न मनोवृत्तियां (या विकृतियों)

से उत्पन्न घटनाओं के सहारे आगे बढ़ते हैं।

इन दोनों उपन्यासकारों के ये दो मूलगत अन्तर उनके उपन्यासों को दो अलग अलग रास्तों पर ले जाते हैं और दो विभिन्न प्रवृत्तियों को सम्मुख रखते हैं।

जोशीजी ने अपने उपन्यास 'लज्जा' (घृणामयी) के साथ औपन्यासिक क्षेत्र में पदार्पण किया और आज तक वे इस क्षेत्र को सुशोभित किये हैं। 'लज्जा' के अतिरिक्त उनके अन्य प्रकाशित उपन्यासों के नाम हैं—'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', 'मुक्ति-पथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी'। इस लेख में उनके प्रथम उपन्यासों के आधार पर ही मूल्याङ्कन किया गया है।

लज्जा—यह उपन्यास मूलतः एक चरित्र को लेकर चलता है और उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए विरोध और उत्तोलक के रूप में राजू और डॉक्टर साहब के चरित्र आये हुए हैं। लज्जा का चरित्र बुद्धि व्यापार से सम्बद्ध नहीं, प्रत्युत काम की अगाध और उन्मुक्त अन्तःप्रेरणा को लेकर चलता है। केवल इस एक मूल प्रेरणा को लेकर ही उसके चरित्र की योजना की गई है और उसके वास्तविक व्यक्तित्व को उद्घाटित किया गया है। वह एक सम्पन्न परिवार में पली है, माता बच्चों की ओर से उदासीन रही है और पिता निरन्तर व्यस्त रहने वाले हैं, किन्तु उसके प्रति उन्हें विशेष अनुराग है। लज्जा की काम-चेष्टाएँ स्वल्प अवस्था से ही आरम्भ हो जाती हैं और अपने रूप से पुरुषों को मन्त्रमुग्ध करने में उसे उल्लास मिलता है। किन्तु वह किसी विशेष व्यक्ति की ओर आकृष्ट नहीं हो पाती और पुरुषों पर अपने मायावी प्रभाव की सुखद अनुभूति के पश्चात् जब वह अकेली होती है तब एक गहरा अवसाद उसके मन को घेर लेता है, रोने को जी चाहता है किन्तु वह छटपटाकर रह जाती है।

उसकी कल्पना में ऐसा मायालोक घूमा करता है जो स्वप्निल और उन्मादक वातावरण की भूमिका में चिर युवा स्त्री पुरुषों की अनन्त प्रेमकेलि से परिपूर्ण है। उसीके दिवा स्वप्नों और स्वप्नों में वह खोई रहती है।

डॉक्टर से मिलने पर एक नया ज्वार उसके तन मन में उठता है और वासनामय प्रेम की ऐसा लीलाएँ वह करती है मानो इस कार्य में वह जन्म से ही दक्ष हो। इतनी ढिठाई, इतनी चपलता, पुरुष को फँसाने के ऐसे दाव पेच एकाएक उसने कैसे सीख लिए, इसका एकमात्र उत्तर है उसकी आभ्यन्तरिक चेतना की प्रचण्ड शक्ति, जिसने वास्तव में उसे दीक्षित किया है।

अपने भाई राजू से उसे बहुत प्रेम है, किन्तु वह न जाने क्यों आरम्भ से ही डॉक्टर से घृणा करता है। उसके साथ अपनी बहन का हेल मेल उसे तनिक भी सहन नहीं। डॉक्टर और लज्जा के बीच वह अनेक ऐसे अवसरों पर उपस्थित हो जाता है जो उनके लिए बहुत सङ्कटमय सिद्ध होते हैं। उसकी बढ़ती हुई घृणा भी लज्जा को विचल नहीं पाती, बल्कि उसकी जलन को देखकर लज्जा एक प्रकार से सुखी होती है। इस स्थिति में सम्प्रप अनेकमुखी हो जाता है।

लज्जा समझ जाती है कि अब अन्तिम निर्णय का क्षण आ गया है। अपने भाई और डॉक्टर के बीच में किसी एक का वरण उसे करना ही होगा। उसका अन्तर्मन इस सहसा ज्ञान से काँप उठता है कि उसके भाई के लिए भी वह अन्तिम निर्णय का क्षण हो गया है और वह निर्णय निश्चित रूप से बहुत भयकर होगा। निर्णय की इस सीमा पर वह भयभीत, आहत और कम्पित होती है, किन्तु उतनी ही शीघ्रता के साथ वह स्पष्ट निर्णय भी कर लेती है।

राजू के प्रति बाल्यकाल से चले आने वाले गूढ़, गम्भीर और श्रद्धामिश्रित प्रेम के समक्ष डॉक्टर साहब के लिए पैदा हुआ नया उबाल नहीं ठहरता। उन्हें वह तत्काल स्वयं से दूर हटा देती है।

राजू यह नहीं जानता कि अपनी बहन और डॉक्टर साहब में उसने कैसी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी है। वह यही जानता है कि इतने दिनों तक खुले आम उसकी अवहेलना करते हुए लज्जा, डॉक्टर की ओर निरतर अधिकाधिक बढ़ती ही गई है। जो कुछ वह देखता है उसमें उसे अपनी अन्तिम पराजय दिखाई देती है और इस चूणतम हताशा में वह भी अन्तिम निर्णय कर लेता है—आत्महत्या।

इस प्रकार जो बातें उपन्यास के आरम्भ में सीधे सादे रूप में उठी थीं, वे पुष्ट, अन्त गुंम्फित और विकराल होती हुई एक निर्दय नियति का रूप धारण कर लेती हैं। इस नियति का चक्र अब स्पष्ट है। राजू को आत्महत्या करनी ही चाहिए, यह उसका अनिवार्य आदेश है और राजू आत्महत्या करता है। लज्जा को अपने भाई का वरण करना चाहिए और वह आत्महत्या इस वरण पर अपनी मुहर मोहर लगा देती है और डॉक्टर साहब। यहाँ आकर उनकी कोई स्थिति नहीं रह जाती और वे परिस्थिति विशेष से निष्कासित हो जाते हैं।

लज्जा और डॉक्टर के प्रेमाचार में मनोविश्लेषण (Psycho analysis) और मानसोपचार (Psychiatry) इत्यादि की बातें उठती हैं और लज्जा अपने रोग के वास्तविक मानसिक हेतु को व्यक्त करने के लिए भरपूर चेष्टाएँ करती है। उद्दाम कामावेग और इस सुख से वंचित होने का अभाव यह उसकी दो मूल प्रेरणाएँ हैं। अन्त में वह सबसे घृणा करती है—स्वयं से, समस्त नारी जाति से, डॉक्टर से—जो नारी द्वारा सताई हुई पुरुष जाति का प्रतिनिधि होकर भी उसे छल गया। इस प्रकार उसके जीवन में हम सर्वत्र पराजय पाते हैं। कहानी के मनोवैज्ञानिक सूत्र इस प्रकार विकसित होते हैं कि उनका परिणाम एक क्रूर नियति का रूप धारण कर लेता है—ऐसी नियति जिसकी प्रेरणा शक्ति स्वयं लज्जा की आन्तरिक भावग्रन्थियों में प्रस्तुत है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राजू का चरित्र अधिक सूक्ष्म, गहन और रहस्यमय तन्तुओं से बना हुआ प्रतीत होता है। उसके अन्तर्मन की प्रेरणाएँ और ग्रन्थियाँ एक गहरे कुहावेश में उपस्थित होती हैं, जबकि लज्जा की मूल प्रेरणाएँ अपेक्षाकृत स्पष्ट और खुली हुई हैं।

उपन्यास आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया है।

संन्यासी—यह उपन्यास नन्दकिशोर (नायक) के आत्मवक्तव्य के रूप में लिखा गया है। इसमें विभिन्न घटनाओं और परिस्थितियों के अन्तर्गत नन्दकिशोर के चरित्र की एक झलक प्रस्तुत की गई है।

नन्दकिशोर भरपूर पैसा पाकर भी पंडितों के समान सादगी का जीवन व्यतीत करता है। उसकी कोई विशेष रुचि नहीं है, यथार्थ जीवन की प्रखरताओं और कटुताओं का उसे कोई अनुभव नहीं है, उसमें संकल्प अथवा दृढ़ निश्चय शक्ति नाम की कोई शक्ति नहीं। जयन्ती के प्रति अपने मन में वह एक तीव्र आकर्षण का अनुभव करता है और अपने लिए उसे यह एक नई बात प्रतीत होती है। उपन्यास में जयन्ती नन्दकिशोर के मन में प्रेमाकांक्षा का उदय करके केवल अन्तिम विध्वंस के लिए ही लौटकर आती है।

किंतु प्रेम का यह सूत्र पुनः आगे बढ़ता है—इस बार शान्ति को लेकर। शान्ति से

नन्दकिशोर की भेंट अन्य न विचित्र परिस्थितियों में होती है। शान्ति एक पाठशाला में अध्यापिका है। क्रमशः शान्ति के साथ नन्दकिशोर की घनिष्टता बढ़ जाती है और परिस्थितियाँ उसे शान्ति के साथ इलाहाबाद पहुँचा देती हैं और वहाँ वे पति पत्नी के रूप में रहने लगते हैं।

प्रयाग में नन्दकिशोर बलदेव के सम्पर्क में आता है। नन्दकिशोर और बलदेव के चरित्र पूर्णतम विरोध को प्रस्तुत करते हैं। प्रथम निश्चिन्त जीवन, दायित्वहीनता, अस्थिर जीवन गति, प्रावृत्तिक चरित्र, स्वप्नमग्न जीवन और अहं के पालन वाला व्यक्ति है। द्वितीय जीवन का कटुतम परिस्थितियों और अनुभूतियों द्वारा विद्रोह की ज्वाला से भरा हुआ, ताजी और क्रान्तिकारी विचारधारा का व्यक्ति है। बलदेव एक ओर वर्तमान कटु सामाजिक यथार्थ का ज्वलन्त प्रतिनिधि है, तो दूसरी ओर उसका चरित्र नन्दकिशोर की अस्थिरता, सकल्प शक्ति के अभाव और घोर अयथार्थवादिता को सुस्पष्ट बनाता है। यह वैपरीत्य द्वारा दो चरित्रों और उपन्यास की भावभूमि में सतुलन भी स्थापित करता है।

नन्दकिशोर बलदेव और शान्ति के सम्बन्ध को लेकर अपने मन में अकारण शक कर लेता है। बलदेव के प्रति उसके हृदय में भीषण घृणा और ईर्ष्या के भाव उठते हैं तथा शान्ति के प्रति उसके प्रेम में भी विष घुल जाता है। इसके द्वारा उसके घोर अहंभाव की अभिव्यक्ति होती है। वास्तव में उसमें प्रेम करने की वास्तविक क्षमता नहीं है। प्रेम दो व्यक्तियों, दो आत्माओं के बीच प्रवाहित होता है। किंतु नन्दकिशोर दूसरी आत्मा, दूसरे व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं रहने देता, उसे मानता ही नहीं। केवल वह स्वयं रह जाता है। तब प्रेम कहाँ रहता है।

शान्ति नन्दकिशोर के मोह की बातें सुनकर नन्दकिशोर को छोड़कर चली जाती है। बलदेव द्वारा शान्ति का विदा पत्र पाकर उसका यह निर्मूल सदेह और भी दृढ़ हो जाता है कि वह बलदेव को चाहने लगी थी और उसके प्रेम के नितान्त अयोग्य है।

जयन्ती से नन्दकिशोर का विवाह हो जाता है। कैलास से उसकी भेंट होती है। उसकी बातें उसे रहस्यमय लगती हैं और सन्देह होता है कि उसके और जयन्ती के बीच अवश्य कोई गुप्त सम्बन्ध रहा है। एक बार कैलाश जयन्ती से पर्दे के पीछे मिलकर नन्दकिशोर के शक को विश्वास में बदल देता है। नन्दकिशोर जलन और आक्रोश से उन्मुक्त होकर उनकी कोई बात नहीं सुनता, कैलास को निकाल देता है और जयन्ती को प्रताडित करता है।

यह विस्फोट जयन्ती को भी अन्तिम निर्णय पर पहुँचा देता है। वह चूल्हे में बैठकर भस्म हो जाती है।

विफलता, जलन, अपनी दायित्वहीनता का उत्पीडक ज्ञान, असन्तोष और हाहाकार—यही नन्दकिशोर के जीवन में शेष रहते हैं। उसके अहं ने जिस नारकीय ज्वाला में सदा जलने के लिए उसे छोड़ दिया है, उससे वह कैसे त्राण पाए? यथार्थ से उसका कभी कोई नाता नहीं रहा। अपना मनोरथ सृष्टियों में ही उसने अपना समस्त जीवन व्यतीत किया था—अब भी उसकी प्रतिक्रिया यथार्थमूलक नहीं रहती। वह संन्यासी बन जाता है, अपने नारकीय अन्तर्दाह से मुक्ति पाने के लिए, किंतु साथ ही वह जानता है कि उसकी यह ज्वाला कभी न बुझ सकेगी।

पर्दे की रानी—इस उपन्यास की नायिका निरंजना चार व्यक्तियों के सम्पर्क में आती है। इनके सम्पर्क में ही उसका पूर्ण आन्तरिक व्यक्तित्व उद्घाटित किया गया है। यद्यपि

इन धारा पात्रों के चरित्र की पर्याप्त झलक उपन्यास में प्रस्तुत की गई है, तथापि वे इस आवश्यकता से सीमित हैं कि उनके द्वारा निरञ्जना के चरित्र पर ही प्रकाश पड़े। इस प्रकार इस उपन्यास की वस्तु जोशीजी के अन्य उपन्यासों की वस्तु की अपेक्षा कहीं अधिक एकरूप, एकाग्र और एक-लक्ष्यात्मक है। जिन अन्य प्रवृत्तियों के संघर्ष को इसमें व्यक्त किया गया है वे परिणामत अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, अमिश्रित और विकसित रूप में इसमें आई हैं। अतिरिक्त वस्तु को अलग रखकर इस प्रकार इस कृति में जो सतर्क चालन किया गया है और उसे आवश्यकता की सीमा के अन्तर्गत ही रखा गया है उससे जोशीजी की के रचना-उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए यह कृति अधिक एकाग्र, अतिरिक्त विस्तार से रहित और स्वय म अधिक सम्पूर्ण बन पड़ी है।

इसमें दो अहवादी नारियों की अन्त प्रेरणाओं के सूक्ष्म विश्लेषण के साथ ही उनके विनाशक सघात को भी अंकित किया गया है।

निरञ्जना एक भयानक हीनता के भाव से पीडित नारी है और इसकी उत्पत्ति उस आघात के फलस्वरूप होती है जो मनमोहन ने उसके अह पर यह उद्घाटित करके पहुँचाया है कि उसकी मा वेश्या थी और उसके पिता हत्यारे थे। इस प्रकार चोट खाया हुआ उसका अह अधिक विक्षुब्ध और भयानक हो जाता है तथा हीनता के इस भाव से निवारण के लिए वह निरन्तर लोगों को अपने जाल में फसाकर उन्हें नष्ट कर देने की योजना बनाती रहती है। अपनी आन्तरिक वृत्तियों को वह आत्मविश्लेषण द्वारा समझ भी लेती है और उनकी भयकरता से चौंककर उनसे बचने की इच्छा भी करती है, किन्तु अपनी अन्त प्रेरणाओं पर उसका कोई वश नहीं, वे कठपुतला के समान उसे चलाती हैं और अन्तिम सर्वनाश होकर रहता है।

उपन्यास में आये हुए चार पात्रों के साथ उसके सम्बन्ध इस प्रकार हैं—

(१) शीला के साथ उसका गहरा प्रेम है। शीला के अतुलित स्नेह को पाकर अपने मन में वह उसे अपनी स्नेहमयी माता का स्थान प्रदान करती है। शीला इस प्रकार उसकी माँ का प्रतीक बन जाती है। किन्तु निरञ्जना के मन में अपनी इस माँ के प्रति घोर घृणा और प्रतिहिंसा का भाव भी है, जो वेश्या थी और इस प्रकार निरञ्जना के जीवन पर कलक और सामाजिक हीनता की एक अमिट छाप लगा गई है। यह घृणा और प्रतिहिंसा माँ की प्रतीक शीला के प्रति प्रवर्तित होती है और परिणाम होता है निरञ्जना के कुटिल निर्देशों के कारण इन्द्रमोहन द्वारा शीला की हत्या। इस प्रकार अपनी मृत माता से मानो वह बदला ले लेती है।

(२) इन्द्रमोहन भी उतनी ही दुर्धर्ष अन्त प्रवृत्तियों का व्यक्ति है जितनी निरञ्जना। वह कामुक, धूर्त, मक्कार और अपनी लक्ष्यप्राप्ति के लिए कुछ भी न उठा रखने वाला ऐसा व्यक्ति है जो ऊपर से अत्यन्त सुन्दर, सुसस्कृत और आकर्षक प्रतीत होता है। निरञ्जना और उसकी टक्कर में दोनों पक्ष समान बलशाली हैं, दोनों का नाश होता है, दोनों की विजय होती है और दोनों की हार भी। निरञ्जना इन्द्रमोहन को साधन बनाकर शीला को मिटा देती है, किन्तु इन्द्रमोहन निरञ्जना से जो चाहता था, उसे पाकर ही रहता है। इन्द्रमोहन शीला की हत्या भी करता है और इस प्रकार ट्रेन के सूने डिब्बे में निरञ्जना की सहमति से उसके कौमार्य को खण्डित करने का अवसर पा जाता है। यही उसके जीवन का ध्रुवतारा था और अब उसे पा

वाला भयंकर असामाजिक प्रवृत्तियों से है। ये प्रवृत्तियाँ कठोरता से मनुष्य का सञ्चालन तो करती हैं, किन्तु चेतना में आने का उन्हें साहस नहीं होता। चेतना के निर्बल क्षणों में यदि कभी अवसर मिला तो वह वहाँ पहुँच जाती है, किन्तु छद्मवेश में। इस प्रकार पारसनाथ अपने को समाज से बहिष्कृत समझकर 'अपराध और पाप' के अन्धकारमय जगत् का अधिवासी समझने लगता है। उस जगत् में ही वह रह सकता है और सामाजिक जगत् में आने का उसे साहस नहीं। इस प्रकार 'प्रेत और छाया' एक रूपक है जो पारसनाथ के विकृत जीवन का निर्देश करता है। 'प्रेत और छाया' अन्धकार में ही बसती हैं। इसी प्रकार एक विशिष्ट भाव से प्रताड़ित पारसनाथ भी अध:पतन, अपराध और पाप के जगत् में ही बस सकता है। नन्दिनी से प्रेम करने पर वह कहता है कि मैं प्रेत हूँ, तुम छाया अर्थात् वह उन व्यक्तियों से ही प्यार करता है जिनकी स्थिति उसे अपने समान प्रतीत होती है। समाज से भागकर भी वह अकेला नहीं रहना चाहता। पाप की दुनिया में और साथी बनाकर उसे प्रसन्नता होती है।

निर्वासित—महीप कवि है—पहले सुकुमार भावनाओं का और अब क्रान्ति की आग उगलने वाला। वह सब तरह सुयोग्य है किन्तु कद और स्वरूप में बालक जैसा प्रतीत होता है। उसकी यह विशेषता हर क्षेत्र में उसे निष्फल बनाती है। कविता के क्षेत्र में क्रान्ति की आग उगलकर, प्रेम के क्षेत्र में नारियों पर विजय पाकर, जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक तुच्छताओं के परे उच्च आदर्श को अपनाकर, प्रत्येक विधि से वह अपना बड़प्पन सिद्ध करना चाहता है। उसके इन रूपों और उनके पीछे संचित भावावेश की प्रचण्ड शक्ति का स्पष्ट परिचय पाकर कभी कभी अन्य व्यक्ति—और विशेषतः नीलिमा—उसके व्यक्तित्व की महानता से प्रभावित हो उठते हैं और ऐसे क्षण महीप के जीवन के सबसे महान् उल्लास के क्षण बनते हैं। किन्तु ये क्षण ही रह जाते हैं और उसका अनिवार्य बबुआ रूप ही अन्य लोगों के समक्ष यथार्थ बना रहता है। परिणामतः रमा और सुषमा ने तथा नीलिमा ने भी उससे प्रेम किया, किन्तु अपने सहचर पुरुष के रूप में नहीं, प्रत्युत् उसे एक सुन्दर बालक समझकर।

ठाकुर साहब की दुर्दमता से टकराकर वह अपनी हीनता का, अपने छोटेपन का और गहरा अनुभव करता है। प्रतिद्वन्द्विता और ईर्ष्या उसके मन में उठती है किन्तु ठाकुर साहब का सामना करने की शक्ति वह स्वयं में नहीं पाता। केवल नीलिमा ही ठाकुर साहब को पराजित कर सकती है, किन्तु नीलिमा का मन भी दो विपरीत तत्त्वों से निर्मित प्रतीत होता है। जिसे वह प्रेम करती है वह उसे सहन नहीं और जो उसे सहन नहीं उसे वह प्रेम करती है। दो पुरुष उसे मिलते हैं, किन्तु दोनों अधूरे। वह किसे चुने ? इस विकल द्वन्द्व में वह अनेक ऐसे कार्य करती है, जो उसे कभी ठाकुर साहब की ओर झुका हुआ दिखाते हैं और कभी महीप की ओर। वह चुन नहीं सकती, किन्तु उसे चुनना ही होगा और वह ठाकुर साहब का वरण करती है। इस वरण में उसकी माँ की प्रबल आन्तरिक इच्छा और अपनी माँ के प्रति उसके प्रबल प्रेम का भी महत्त्वपूर्ण योग है।

ठाकुर साहब के समक्ष नीलिमा और महीप दोनों पराजित होते हैं। वे दृढ़ संकल्पी, कठोर, अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किसी भी साधन का उपयोग करने वाले, निर्भय व्यक्ति, हत्यारे, स्त्रियों को अपनी भोगवृत्ति का साधन बनाकर नष्ट कर देने वाले, अपनी प्रजा के शोषक जमींदार हैं। वे एक वर्ग के प्रतीक हैं और उनका मनोविज्ञान उस वर्ग का मनोविज्ञान है, इसी

लिए नीच और दुश्चरित्र होने पर भी उनके चरित्र की रूपरेखा अत्यन्त स्पष्ट रूप में उभर आई है और उनके कार्यों में शोषक वर्ग का चरित्र प्रतिबिम्बित है।

महीप नीलिमा और ठाकुर साहब की प्रणय त्रिकुटी के नीचे एक ज्वालामुखी विद्यमान है और वह है शारदा देवी का चरित्र। शारदा देवी ऊपर से अत्यन्त शुष्क और दुर्बल प्रतीत होती हैं, किन्तु उनके मन म उतनी ही भयानक प्रतिहिंसा सुलग रही है। यह प्रतिहिंसा ठाकुर साहब के विरुद्ध है, क्योंकि वे उसकी बहन को अपने प्रेम जाल में फँसाकर अ त म उससे पीछा छुड़ाने के लिए उसकी चुपचाप हत्या कर देने वाले व्यक्ति हैं। दूसरी स्त्रियों के साथ भी उ होंने ऐसा किया है। सब कुछ जानते हुए भी स्वय शारदा देवी उनके प्रेमजाल म फँसी हैं, किन्तु मानो प्रतिहिंसा के लिए ही वे जी रही हैं। अपने और ठाकुर साहब के बीच इस व्यक्तिगत सम्ब ध को उ होंने सामाजिक रूप दे दिया है और निम्न मध्यम वर्ग की क्रान्ति का सिद्धान्त निर्मित किया है। क्रान्ति का यह धारणा वैयक्तिक अनुभव से उत्पन्न होती है और बाद में उसे तर्कयुक्त बनाया जाता है।

महीप अपने बबुआ रूप और तज्जनित हीनभाव से निवृत्ति पाने के लिए एकदम महान् महत्त्वाकांक्षा को ले बैठता है। शारदा देवी की प्रेरणा के आधार पर वह एक क्रान्तिकारी दल का सगठन करता है। वह जब निष्क्रिय था तब भी नीलिमा उसकी प्रेरणा थी और उसे पाने की आशा उसके मन में बनी हुई थी और क्रान्तिकारी बन जाने पर भी नीलिमा ही उसकी प्रेरणा है, यद्यपि उसे पाने की आकांक्षा अब मिट गई है।

इस उपन्यास की रूपरेखा जोशीजी के पिछले सभी उपन्यासों से अधिक जटिल है और उनके द्वारा उठाई गई मानव जीवन की समस्याओं ने अधिक व्यापक रूप धारण कर लिया है। इसके पूर्ववर्ती उपन्यासों में वे मूलत एक चरित्र को ही लेकर उसका विशद विश्लेषण प्रस्तुत करते रहे हैं। किन्तु 'निर्वासित' के पात्र तुलनात्मक महत्त्व में एक दूसरे के अधिक समीप हैं। उनके आन्तरिक द्वन्द्व के साथ अनेक विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियों के बीच घात प्रतिघात द्वारा औपन्यासिक वस्तु अन्तमन के अतल कूप से उठकर सामाजिक संघर्ष के धरातल पर उभर आई है और इस प्रकार यह उपन्यास वस्तु की दृष्टि से अधिक समृद्ध, द्वन्द्व एव आरोह अवरोह की दृष्टि से अधिक स्पन्दनशील तथा सजीव और विश्लेषण की दृष्टि से अधिक अर्थग्राही हो उठा है। इतनी जटिल पृष्ठभूमि को सफलता के साथ एक सुदृढ़ और गतिमान रूप में गूँथ कर विशुद्ध कला पक्ष में जोशीजी ने एक नया उन्नयन प्राप्त किया है।

मुक्तिपथ—इस उपन्यास के प्रकाशन से जोशीजी की औपन्यासिक कला में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लक्षित हुआ है। इसमें वे स्पष्ट रूप से एक आदर्श को, जो गांधीवाद से प्रभावित है, लेकर चले हैं। पात्रों में रहस्यात्मकता का कम होना, चरित्रों में सेवा भावना की पूर्णता, बुर्जुआ की क्रान्ति के विरोध में गांधीवादी सामूहिक सर्वोदय की भावना का आना ये इस उपन्यास की विशेषताएँ हैं, जिनसे यह आभास होता है कि जोशीजी में आन्तरिक परिवर्तन हो रहा है। इस बात के प्रमाण उनके अगले उपन्यास 'सुबह के भूले' और 'जिप्सी' भी हैं।

राजीव एक बी० ए० पास बेकार नवयुवक है। यह नवयुवक एक क्रान्तिकारी की हैसियत से अण्डमान जेल जाने के पश्चात् अब लौटा है और एक नौकरी की खोज में है। लखनऊ म दूर के रिश्ते के एक भाई उमाशंकरजी के यहाँ वह टिका हुआ है जो सरकार म उच्चपदाधि

कारी भी हैं। इन भाइ के परिवार में उनकी पत्नी के अतिरिक्त एक रिश्ते की विधवा बहन भी है, जिसने परिवार के समस्त बोझ को अपने कन्धे पर उठा लिया है। यह नारी सुनन्दा राजीव के जीवन के प्रति आस्था रखती है और अपनी सहानुभूति प्रकट करती है। एक दिन चर्चा में राजीव इसी सुनन्दा को परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह करने की प्रेरणा देता है। इस प्रेरणा को ग्रहण करने के बाद सुनन्दा में एक परिवर्तन लक्षित होने लगता है—उसके स्वभाव में भी, कार्य में भी। उमाशंकरजी की पुत्री प्रमिला राजीव के प्रति उसके गहरे स्नेह को देखकर उसे एक दिन सदैव के लिए राजीव के साथ कर देती है। राजीव उसे लेकर एक शरणार्थी बस्ती में बस जाता है जहाँ वह सुधार की नई आदर्शवादी योजना पर कार्य प्रारम्भ कर देता है और बहुत हद तक सफलता भी प्राप्त करता है। किन्तु यह बाह्य सफलता सुनन्दा के लिए कोई महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि उसका हृदय जैसा पहले सूना था वैसा ही अब भी है और अन्त में एक दिन इसीलिए उसे राजीव का साथ छोड़कर चल देना पड़ता है।

इस उपन्यास की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) इसमें व्यक्तिगत प्रश्नों की अपेक्षा एक सामूहिक विकास और उसकी महत्ता पर बल दिया गया है।

(२) इसमें प्रथम बार पुरुष एक दृढ व्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ है जो निरन्तर अपनी मन की भ्रान्ति से न लड़कर एक सुस्पष्ट विकास के लिए सचेष्ट है। वह केवल अपनी भावना में मग्न नहीं रहता, दूसरों की भी चिन्ता करता है।

(३) इसमें पुरुष और नारी की अकर्मण्यहीनता, आलस्य सभी के विरुद्ध प्रबल प्रयत्न है।

(४) इसमें मनोवैज्ञानिक ऊहापोह जोशीजी के सभी उपन्यासों से कम है।

(५) इसमें एक क्रियात्मक आदर्श की ओर मानवता को प्रेरित किया है जो अभी तक उनके किसी भी उपन्यास में इतने स्पष्ट रूप से नहीं आई।

नैतिकता, अहिंसा, सामूहिक विकास योजना के साथ सर्वोदय की भावना में विश्वास इस उपन्यास की विचारधारा के अन्य तत्त्व हैं जिनसे वह प्रभावित है।

जोशीजी के उपन्यासों के विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि उनके छः उपन्यासों में से चार का सम्बन्ध पुरुष के मन का विकृत अहंवाद है और दो उपन्यासों का सम्बन्ध नारी के मन की विकृति से है। दूसरे रूप में यह भी अहंवाद का एक रूप है।

जोशीजी का विश्वास है कि चरित्र जिस रूप में जगत् के सामने आते हैं उनका वह रूप वास्तविक नहीं होता अर्थात् मनुष्य जैसा ऊपर से दीखता है, आन्तरिक रूप से वैसा नहीं होता। वह मूलत चेतनबुद्धि से परिचालित नहीं होता, किन्तु उसे जीवन में प्रवर्तित करने वाली वास्तविक प्रेरणाएँ उसके अन्तश्चेतन में निवास करती हैं, इसीलिए ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्य अपनी समझ से कोई विशेष संकल्प ले चुका है, किन्तु उसकी आन्तरिक शक्तियाँ उसे उस संकल्प की ठीक विपरीत दिशा में प्रवर्तित कर रही हैं।

व्यक्तित्व के बाह्य स्तर को चीरकर उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करना अपने उपन्यासों में जोशीजी का प्रधान लक्ष्य रहता है। स्वभावत उनके उपन्यास विश्लेषणात्मक, मनोवैज्ञानिक और चरित्रमूलक होते हैं। उपन्यास के प्रधान चरित्र को वे अनेक परिस्थितियों और

घटनाचक्र से पार होता हुआ दिखलाते हैं। पाठक उनके सम्बन्ध में अपनी एक प्रारम्भिक धारणा बना लेता है, किन्तु एक स्थिति पर आकर इस चरित्र की मूल मनोवृत्तियों का उद्घाटन आरम्भ हो जाता है और पाठक उसके विरल अन्तर्मन्थन की झाँकी पाता है। यह आन्तरिक विवशता बढ़ते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है और उस मनोवैज्ञानिक क्षण में नायक के वास्तविक व्यक्तित्व, उसकी मूल अन्तःप्रेरणाओं का पूर्ण उद्घाटन हो जाता है। यह उनके उपन्यासों की रचना और विकास की रीढ़ है।

जोशीजी के पात्रों की मूल प्रवृत्ति दो हैं—अहं और हीनता की भावना। हीनता की भावना के कारण ही अहं की उत्पत्ति होती है। सारे पुरुष एवं नारी पात्र इसी हीनता ग्रंथि और अहंवाद से परिचालित होते हैं। पुरुष पात्रों द्वारा इस अहं की अभिव्यक्ति प्रचण्ड रूप में हुई है। ये पात्र नारी पर अपना स्वत्व पूर्ण रूप से चाहते हैं। नारी के अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व जैसी किसी वस्तु की एक झलक भी उन्हें सहन नहीं हो सकती, मानो जिसे वे प्रेम करते हैं उसे पूर्णतया अपने अहं से आच्छादित किए बिना वे नहीं रह सकते और प्रिय पात्र के रूप में मानो उनका अहं ही अधिक विस्तार प्राप्त करता है। प्रिय पात्र उनके व्यक्तित्व का एक अंग मात्र है, स्वयं में कुछ नहीं। वास्तव में प्रेम करने की इनमें क्षमता नहीं है। प्रेम दो आत्माओं के बीच प्रवाहित होता है, किन्तु ये पात्र दूसरी आत्मा अथवा दूसरे व्यक्तित्व को मानते ही कहाँ हैं?

सच तो यह है कि निज अहं के वशीभूत हो पात्र दूसरे पर छाया होने का प्रयत्न करते हैं, यहाँ तक कि दूसरे की सत्ता मिटा डालने पर भी तुल जाते हैं, उनका यह अहं अन्त में टूट कर ही रहता है। कोई भीषणतम आघात उनके इस अहं को तोड़ देता है। जोशीजी ने एक स्थल पर लिखा है—"मेरे सभी उपन्यासों का प्रधान उद्देश्य व्यक्ति के अहंवाद की ऐकान्तिकता पर निर्मम प्रहार करने का रहा है—'घृणामयी', 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित', इन पाँच उपन्यासों में मैंने इसी दृष्टि को अपनाया है।"[1]

इस अहं के साथ ही ये पात्र भयानक हीनता ग्रन्थि से पीड़ित होने वाले व्यक्ति हैं और वे निरन्तर इस हीनता के भाव से अपने आपको छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं और रहस्यमय तथा अटपटे कार्य करते हैं। 'पर्दे की रानी' की निरञ्जना यह सुनकर कि उसकी माँ वेश्या थी और पिता हत्यारा, इस भाव से अभिभूत होकर तद्‌जनित हीनता की भावना से उत्पीड़ित होती हुई अपने आहत अहं की क्षतिपूर्ति के लिए विनाश विकृतिमय जीवन में अग्रसर होती है। इसी प्रकार 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ भी अपने पिता से यह सुनकर कि उसकी माँ व्यभिचारिणी है और वह जारज पुत्र है, अपने व्यक्तित्व के समस्त सन्तुलन को खो बैठता है। हीनता के इस भाव से निवृत्ति पाने के लिए वह निरन्तर विफल एक स्थान से दूसरे स्थान घूमता फिरता है। अन्तर्मन में गहरा पैठा हुआ यह हीन भाव ही अपनी अबाध शक्ति का परिचय देता हुआ उसे कपट, आत्मपीड़न और सब पतन के और गहरे गर्त में ढकेल देता है। 'निर्वासित' का महीप एक सफल कवि है और सब तरह योग्य है, किन्तु कद और स्वरूप में बालक जैसा प्रतीत होता है। यह पात्र हीनता की भावना से ग्रसित होकर, कविता के क्षेत्र में क्रांति की आग उगलकर, प्रेम के क्षेत्र में नारियों पर विजय पाकर, जीवन के क्षेत्र में व्यावहारिक तुच्छताओं से परे उच्च आदर्श को अपनाकर प्रत्येक विधि से अपना बड़प्पन सिद्ध करने का प्रयत्न करता है,

1 इलाचन्द्र जोशी, 'विवेचना', पृ० १२४।

किंतु कहीं भी सफल नहीं होता। जोशीजी के अधिकांश पात्र इसी हीनता ग्रंथि से पीड़ित हैं।

'लज्जा' और 'संन्यासी' में हम यही देखते हैं कि उनके केंद्रीय पात्र अपनी उद्दाम अन्त प्रेरणाओं के वशीभूत होकर और अपने अहं का असीम सत्ताकांक्षा के कारण अन्त में चूर चूर हो गए हैं, किंतु 'पर्दे की रानी' में यह स्थिति आने के बाद इसके विपक्ष का एक और भी सत्य प्रस्तुत किया गया है। एडलर के अनुसार व्यक्ति के जीवन में दो मूल प्रेरणाएँ रहती हैं। शारीरिक अथवा अन्य किसी हीनता के कारण उसमें एक अज्ञात हीनता का भाव रहता है। उसके निवारण के लिए वह महत्ता का एक कल्पित लक्ष्य स्थापित करता है और उसका समस्त जीवन योजना उस लक्ष्य की प्राप्ति की ओर निरन्तर क्रियाशील रहती है। दूसरों पर हावी होकर, उन पर प्रभुत्व स्थापित करके वह स्वयं को यह विश्वास दिला देना चाहता है कि वह वास्तव में हीन और दुर्बल नहीं, किंतु महान् और सर्वशक्तिमान है। यह है व्यक्ति का अनिवार्य अहंकार, किंतु व्यक्ति यह भी अनुभव करता है कि समाज के बिना उसका अस्तित्व सम्भव नहीं और अस्तित्व की इच्छा प्रत्येक जीवधारी की मूल अन्त प्रेरणा है। इस प्रकार व्यक्ति सामाजिक सहयोग और सामाजिक प्रेमभाव की आवश्यकता भी अनुभव करता है। इस प्रकार व्यक्ति में एक ओर होता है उसे समस्त दुनिया के विरुद्ध स्थापित करने वाला दुर्धर्ष, ज्वलनशील, सत्ताकांक्षी और विनाशक अहं और दूसरी ओर सहयोग में सामाजिक त्यागमूलक और समाज से अनन्य बनाने वाली विश्वबन्धुत्व की भावना। अहं और प्रेम इन दो पक्षों में से 'संन्यासी' में हम केवल समाजविरोधी और विनाशक अहं की लीला ही देखते हैं। किंतु 'पर्दे की रानी' में इससे आगे बढ़कर प्रेम के कल्याणमय पक्ष के उदय का आभास भी दिया गया है। एडलर के अनुसार मानव जीवन का सूत्र होना चाहिए। अपनी सत्ताकांक्षा को विश्वबन्धुत्व द्वारा सीमित कर देना यह उपन्यास में स्पष्ट नहीं, किंतु निरञ्जना के व्यक्तित्व के नये मोड़ में संकेतित अवश्य है। इस प्रकार एडलर का दृष्टिकोण अपनी तात्विक पूर्णता में प्रथम बार जोशी जी के इस उपन्यास में प्रस्तुत हुआ है।

उनके सभी पात्र सुगम्भीर होते हैं, उनका बौद्धिक स्तर सामान्य से ऊपर रहता है, अधिकांश में बनी हुई आत्मविश्लेषण की प्रवृत्ति और क्षमता रहती है। प्राय अपनी प्रवृत्तियों को पहचान लेने पर भी उनके विरुद्ध अपनी रक्षा नहीं कर पाते और आत्मविश्लेषण के साथ उनमें बहुधा दूसरे व्यक्तियों को देखकर उनके अन्तर्मन की गोपनमूलक प्रेरणाओं को पहचान लेने की शक्ति भी पाई जाती है।

जोशीजी मूलत व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं। प्राय एक ही व्यक्ति—ऐसा व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व अनेक मानसिक और यौनवर्जनाओं से कुण्ठित और विघटित हो गया है—उनके उपन्यासों का केंद्र रहता है। किंतु जोशीजी "सामाजिक परिपार्श्व को और उसमें काम करने वाली जानी हुई पूर्वानुमेय शक्तियों को उचित महत्त्व नहीं देते। व्यक्ति महान् है तो इसलिए कि वह स्वयं अननुमेय स्वच्छन्द और अनियमित है, वरन् इसलिए कि वह एक अनुमेय और नियमित सामाजिक परिपार्श्व में रहते हुए भी उस परिवर्तित करता है और नई दिशाएँ तथा नई गति दे सकता है। परिपार्श्व के साथ उसके अन्यो-न्याश्रय को न देखने का परिणाम सम्पूर्ण पराजय और निराशावाद हो सकता है और वास्तव में इलाचन्द्रजी के उपन्यासों में यह परिणति हुई है। 'संन्यास' से निर्वासित'

तक का विकास इसे सूचित करता है।"[1]

पुरुष पात्र—जोशीजी ने एक स्थल पर लिखा है—"धीर नायकों की गाथा लिखने वाले उपन्यासकारों की कमी नहीं है, पर दुर्बल स्वभाव व्यक्तियों को कथानायक बनाने का सौभाग्य अकेले मुझे ही प्राप्त है।"[2] उनकी यह स्वीकारोक्ति शत प्रतिशत सत्य है। उनके प्रायः सभी पात्र निष्क्रिय हैं और अपने आपमें डूबे रहने वाले, अकर्मण्य, आलसी तथा अकर्मण्य जीवन बिताने वाले हैं और अधिक रूप से दूसरों पर अवलम्बित हैं। यथार्थ से इन पात्रों का कोई नाता नहीं रहता। अपनी मनोरम सृष्टियों अथवा विकृत कुण्ठाओं में ही ये अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये पात्र प्रायः परिवार के बन्धन से मुक्त स्वच्छन्द विचरण करने वाले प्राणी हैं। प्रेम करना उनका मुख्य कार्य है। एक साथ वे तीन तीन, चार चार नारियों से प्रेम करते हैं। किन्तु वास्तव में वे नारियों को अपने व्यक्तित्व से आच्छादित कर देना चाहते हैं, अपने अहं की तुष्टि के लिए उनसे खेलते हैं, वास्तव में प्रेम वे नहीं करते। अन्त में वे अपनी प्रेमिकाओं को धोखा भी देते हैं।

पुरुष पात्रों की उपर्युक्त प्रवृत्तियों को देखकर ही एक आलोचक ने शिकायत के लहजे में लिखा है—"इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में कुण्ठाग्रस्त पात्रों के रुग्ण मानस को औचित्य प्रदान करके उनके जघन्य और असामाजिक कृत्यों को महिमा मण्डित करने का प्रयत्न है। 'संन्यासी' 'पर्दे की रानी' तथा 'प्रेत और छाया' आदि उपन्यासों में पाठकों को ऐसे ही पात्रों का चित्रण मिलता है। जोशीजी के पात्र हीन भावना, मातृरति, स्वरति, आदि मानसिक विकृतियों के शिकार होते हैं। इस अवस्था में वे नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करके पूर्ण स्वच्छन्दता से अपने पाशविक और हिंसक रूप में समस्त मानवीय सम्बन्धों को ठुकराते हुए केवल अपनी स्वार्थसिद्धि और भद्र अभद्र नारियों के साथ काम तृप्ति करते फिरते हैं।"[3]

नारी पात्र—जोशीजी के नारी पात्रों की अपनी विशेषताएँ हैं। वे जैनेन्द्र की नारियों की भाँति आत्महनन करने वाली नारी नहीं हैं और न ये पति की दासी ही प्रमाणित होती हैं, बल्कि पति या प्रेमी के पशुबल के विरुद्ध अपना विरोध स्पष्ट घोषित करती हैं। लज्जा अपने भाई की इच्छा के विरुद्ध भी डॉक्टर से प्रेम करती रही और भाई की मृत्यु का कारण बनी। 'प्रेत और छाया' में मन्जरी और नन्दिनी दोनों ही पारसनाथ को उसके पशुबल के कारण आज भी क्षमा नहीं कर पातीं। वे अन्त तक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित किए रहती हैं। 'संन्यासी' की शान्ति का भी यही रूप है और 'निर्वासित' की नीलिमा तथा प्रतिमा भी आखिर तक पुरुष के सम्मुख नहीं झुकतीं। 'मुक्तिपथ' में सुनन्दा राजीव से अपने प्रेम की उपेक्षा या उसे छोड़कर चली जाती है, राजीव के अन्त में झुकने पर भी। कहने का तात्पर्य यह है कि जोशीजी के समस्त नारी पात्र अपने में एक दृढ़ता रखे हुए हैं और वे जैनेन्द्र के नारी पात्रों की भाँति निरीह नहीं हैं। वे कल्याणी की भाँति सड़क पर जूते खाने के बाद भी पति के साथ नहीं रहतीं, बल्कि वे शान्ति की भाँति नन्दकिशोर को छोड़कर जीवन के पथ पर निपट अकेली

१ अज्ञेय, 'साहित्य सन्देश', नवम्बर १९४६, पृष्ठ १२४।

२ 'जिप्सी', उपन्यास, पृ० ७०६।

३ शिवदानसिंह चौहान, 'नई धारा', अगस्त १९५३, पृ० २६।

अपने साहस और विश्वास के सहारे बढ़ चलती हैं। अपने नारी पात्रों को गढ़ने में जोशीजी का एक विशेष दृष्टिकोण रहा है जिसका स्पष्टीकरण एक लेख में उन्होंने किया है। उनका कथन है—"धीरे धीरे वर्तमान युग की बुद्धिवादिनी नारी का दृष्टिकोण यथार्थवादी बनता चला जा रहा है अर्थात् वह शरत युग की नारी की तरह भावुकता के फेर में पड़कर अहंवादी पुरुष की इच्छा के बहाव में अपने को पूर्णतया बहाना और मिटाना पसन्द नहीं करती, बल्कि स्थिति की वास्तविकता को समझकर व्यक्ति और समाज के अत्याचारों का सामना पूरी शक्ति से करने के योग्य अपने को बनाने की चेष्टा में जुट रही है। सामाजिक पर्दे के भीतर छिपे हुए इसी सत्य का उद्घाटन मनोवैज्ञानिक उपायों से करने का प्रयास मैंने किया है।"[1]

विचारधारा—जोशीजी की यह विशेषता है कि वे चरित्रगत जगत् की घटनाओं और सामाजिक तत्वों का सन्निवेश भी कुशलता के साथ अपने उपन्यासों में करते हैं। इसलिए उनकी कृतियों में एक यथार्थवादी भ्रान्ति भी कुछ सीमा तक आ जाती है, किन्तु पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सांसारिक और सामाजिक पक्षों की उपस्थिति होते हुए भी लेखक का मूल उद्देश्य व्यक्ति की आन्तरिक सत्ता का उद्घाटन रहता है।

वे अपनी कृतियों में विभिन्न विचारधाराओं का समावेश भी करते हैं, किन्तु उनमें से कोई ऐसी नहीं होती जिससे यह प्रतीत हो कि वह उनके द्वारा अपना ली गई है। विभिन्न विचार धाराएँ विभिन्न पात्रों से सम्बन्ध रखती हैं और लेखक की दृष्टि से वे उन पात्रों के आन्तरिक चरित्र की यथार्थ बाह्य प्रतिच्छवि (प्रतिरूप) हैं।

जोशीजी का विश्वास है कि बाह्य जगत् का जो घटनाचक्र है, जो अव्यवस्था है, वह अन्तर्जगत् का प्रतिरूप है। 'प्रेत और छाया' नामक उपन्यास की भूमिका में उन्होंने इस विषय में अपना मत प्रकट किया है जो महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं—"आज का मनोवैज्ञानिक जब गहराई से सोचता है तो उसे यहाँ तक विश्वास करना पड़ता है कि समय समय में जिन विभिन्न आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं का प्रकोप या प्रताप संसार में छाया है, उनके मूल में अज्ञात चेतना के भीतर अज्ञात रूप से ही कुलबुलाने वाली असंख्य रहस्य मयी प्रवृत्तियाँ अथवा संस्कार हैं। मानव जाति के सामूहिक अवचेतन मन में निहित आदिम कालीन प्रवृत्तियाँ आज भी पूर्ण रूप से नये नये स्वरूपों में—बेमालूम ढंग से अथवा स्पष्टत —अपना कार्य करती चली जाती हैं, और राष्ट्रों के उत्थान पतनों, अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तियों अथवा विश्व व्यापी युद्धों के पीछे मूलतः उन्हीं निहित प्रवृत्तियों की अज्ञात रहस्यमयी शक्ति का चक्र चलता रहा है, इस बात के असंख्य प्रमाण मिल सकते हैं। मेरा यह ध्रुव, निश्चित विश्वास है कि व्यक्तियों के अन्तर्जीवन के स्वरूप ही सामूहिक बाह्य जीवन के रूपकों के रूपों में—विश्वव्यापी, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के प्रतीक बनकर—प्रकट होते रहते हैं।"[2]

वर्तमान परिस्थिति, वैयक्तिक जीवन और समाज व्यवस्था से जोशीजी को असन्तोष है। उनका विश्वास है कि वर्तमान समाज में मनुष्य अपना स्वाभाविक विकास प्राप्त नहीं कर

१ इलाचन्द्र जोशी, 'विवेचना', पृ० १२४।

२ इलाचन्द्र जोशी, 'प्रेत और छाया' की भूमिका से उद्धृत।

सकता। उसकी विफल और कुण्ठित होने वाली प्रवृत्तियाँ अनेक कल्पित रूप धारण करके प्रकट होती हैं। व्यक्ति अपनी इन आन्तरिक भावनाओं की गतिविधि को पहचान नहीं पाता और मायाजाल में फँसकर अधिकाधिक विकल और विफल होता जाता है, किन्तु इसी बिन्दु व मनुष्य के अन्तमन में सृजन के तत्त्व भी नियमान रहते हैं। आत्मविश्लेषण द्वारा अथवा दूसरों की सहायता से इन तत्त्वों को प्रकाश में लाकर और उनका विकास करके ही मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ता को पा सकता है। मनुष्य की समस्त भावनाओं एवं उनके उत्तर को वे उसकी मूल प्रकृति के रहस्योद्घाटन द्वारा समझना चाहते हैं। यह मूल प्रकृति अचेतन, अन्तमन के विश्लेषण से ज्ञात होती है। इसके द्वारा वे मनुष्य का वास्तविक स्वरूप समझ लेना चाहते हैं और उनका विश्वास है कि इसमें सफल हो जाने पर मानव व्यक्तित्व की चरम सिद्धि है। अतएव सामाजिक उथल पुथल के मूल में भी मानवीय अन्तर्मन की शक्तियों को ही देखते हैं। समाज उनकी कृतियों में प्रस्तुत होता है, किन्तु उनका दृष्टिकोण मूलतः व्यक्ति केन्द्रित है। मनोविज्ञान की इस स्वाभाविक योजना ने उनके उपन्यासों में कुछ विशेषताएँ उत्पन्न कर दी हैं। उनमें से निम्नलिखित विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

(क) अन्तर्मन का विस्फोट।

(ख) अहंता और हीनभाव तथा सेक्स—ये तीन मनुष्य को विवश बनाने वाली और संचालित करने वाली प्रवृत्तियाँ हैं।

(ग) मनुष्य के अन्दर जो सृजन के बीज होते हैं उन्हें पहचानने वाले व्यक्ति मानो एक विशेष शक्ति से सम्पन्न हैं। अपनी मर्मवेधी अन्तर्दृष्टि द्वारा वे उसे देख लेते हैं जो दूसरा की दृष्टि से गोपन रहता है।

(घ) ऐसे चरित्रों की योजना, जो किसी निपीड़क भाव की छाया में कार्य करते हैं अथवा प्रकृत जीवन नहीं जीते।

(ङ) ऐसे चरित्रों की योजना, जिनके कार्यकलाप विचित्र होते हैं—व्यावहारिक दृष्टिकोण से नहीं समझाए जा सकते—जिनके कार्यों की व्याख्या उनके अन्तमन के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उनमें सक्रिय ग्रन्थियों को खोजकर ही की जा सकती है।

उपसंहार—वस्तु विन्यास, कथा विकास, शिल्प और प्रकटीकरण की शैली—कला के इन बाह्य रूपों में जोशीजी बहुत कुछ परम्परावादी हैं। उनका कथा सौष्ठव प्रेमचन्द से समानता रखता है और उन्हीं की भाँति समृद्ध है। जोशीजी उपन्यास को सबसे पहले एक कहानी मानते हैं जिसे सुन्दर ढंग से कलात्मक सौष्ठव के पूर्ण निर्वाह के साथ कहा गया हो। जीवन की गहन समस्याओं से सम्बन्धित यह कहानी होनी चाहिए।[1] जोशीजी के उपन्यासों में उनकी यह परिभाषा पूर्णरूपेण चरितार्थ है।

---

1 इलाचन्द्र जोशी, 'निर्वासित' की भूमिका से उद्धृत।

अध्ययन · विदेशी लेखक

गंगाधर झा

दस्तोएवस्की की कतिपय आधुनिक समीक्षाएँ

दस्तोएवस्की का व्यक्तित्व और कृतित्व प्रतिध्वनियों से निर्मित धूमिल मायालोक के समान है। मानो वह एक ऐन्द्रजालिक दर्पण है, जिसमें प्रत्येक समीक्षक अपने आकांक्षित को प्रतिबिम्बित पाता है। नीति और अनीति, पाप और पुण्य, नास्तिकता और आस्तिकता, अपराध और मंगल, प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता में से प्रत्येक को विभिन्न समीक्षकों द्वारा उनके कृतित्व का मूल तथ्य निरूपित किया गया है। दब्रोल्यूबफ ने उनमें मानसिक विकार के लक्षण पाए और यह देखा कि समाज के दलित मनुष्यों के प्रति सहानुभूति दस्तोएवस्की के उपन्यासों का सार तत्व नहीं, किन्तु एक प्रकार के अपराधियों का चरित्र अंकित करने का नशा उनके मूल में है। टाल्सटॉय के अनुसार दस्तोएवस्की ने जिस जीवन का चित्र अंकित किया है वह असत्य, उद्भावित और छद्म निरूपित है। गोर्की उनमें मनुष्य के प्रति विश्वास का अभाव, मनुष्य की बुद्धिवृत्ति के प्रति आस्था का अभाव और मनुष्य के सुख और मुक्ति के प्रति प्रत्यय का अभाव प्रचारित पाते हैं। ऐसे ही दस्तोएवस्की की कृतियाँ महायुद्ध के उपरान्त इटली की धार्मिक पुस्तकों की दुकानों में अभूतपूर्व संख्या में बिकीं। फ्रायड ने उनमें यदि एक विफल व्याधिग्रस्त की कहानी देखी तो एडलर ने मानव जाति के महान् मंगलसाधक मसीहा के दर्शन किए।

समीक्षा एक ओर यदि आलोचित कृति अथवा लेखक की व्याख्या करती है तो दूसरी ओर वह स्वयं समीक्षक के जीवन दर्शन को भी प्रस्तुत करती है। इसलिए यदि एक ही लेखक पर विभिन्न जीवन दर्शनों से प्रेरित समीक्षाओं का अध्ययन किया जाय तो वह भी महत्त्वपूर्ण हो सकता है। उसके द्वारा यह सम्भव है कि अनेक दृष्टिकोणों से देखने पर समीक्षित लेखक के विषय में हम अधिक गहराई से जान सकें, अथवा एक ही तत्व पर विभिन्न समीक्षा पद्धतियों को क्रियाशील देखकर हम स्वयं इन समीक्षा पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन कर सकें। समीक्षा विषयक अपनी मान्यताओं और मानदण्डों पर पुनर्विचार इस विवेचन का अनिवार्य परिणाम होगा। यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं कि कला विषयक अपनी समस्याओं के हल के अभाव में हम, कला के गम्भीरतर स्रोतों की ओर प्रेरित होने के साथ, उन्हें कम से कम वैज्ञानिक रूप में सूत्रबद्ध कर लें। विशेषतः दस्तोएवस्की एक ऐसे लेखक हैं, जिन्होंने अपनी वैचित्र्यमय कृतियों द्वारा चाहे साहित्य के लिए प्रतिमान न उपस्थित किए हों, किन्तु उससे सम्बद्ध अनेक समस्याओं को अवश्य जन्म दिया है।

मनोविज्ञान और मार्क्सवाद वर्तमान युगचिन्तन की दो प्रमुख धाराएँ हैं। दस्तोएवस्की की समीक्षा में दोनों का प्रयोग भी हुआ है। उनके ही कुछ प्रतिनिधि रूपों का चयन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। दोनों समीक्षा पद्धतियों का प्रतिनिधित्व क्रमशः फ्रायड और एडलर तथा व्लादिमीर येर्मिलोफ और रैण्डल स्विंगलर यहाँ करते हैं। आरम्भ में दस्तोएवस्की पर बेलिन्स्की की समीक्षा उपस्थित की जा रही है, क्योंकि उसमें दस्तोएवस्की से सम्बद्ध मूल समस्या

सूत्रबद्ध हो गई है। अन्त में इस सामग्री के आधार पर हम कतिपय ऐसे सारगर्भ संकेतों का संकलन करेंगे जो गम्भीर विचारणा के योग्य हैं।

मृत्यु से पूर्व बेलिन्स्की दस्तोएवस्की की चार कृतियाँ देख सके। वे क्रमशः 'पुअर फाक', 'दि डबुल', 'मि० प्रोखार्चिन', और 'दि मिस्ट्रेस' हैं। प्रथम में उन्होंने लक्ष्य किया कि "जिस तीव्र गति से दस्तोएवस्की ने ख्याति लब्ध की, वह रूसी साहित्य में अभूतपूर्व है।" उसका दोष यह था कि "पाठक के मन में प्रशंसा का भाव जगाते हुए भी वह उसे थका देती है।" इसका कारण कुछ लोग अनावश्यक विस्तार तथा अन्य आलंकारिक उत्तरता में देखते थे। यही दोष द्वितीय कृति में अधिक विराट् बन गया है। एक ओर वह दस्तोएवस्की की अतुलित सृजन प्रतिभा का जीवन्त आख्यान है, किन्तु दूसरी ओर एक ऐसा दुर्बर कल्पना शक्ति का दृष्टान्त भी, जो मूल भाव के कलात्मक अनुशासन में अक्षम है, अर्थात् दस्तोएवस्की 'प्रकृति' से तो सम्पन्न हैं, किन्तु वांछित कलात्मक निपुणता उनमें नहीं। उपचार यह है कि अनावश्यक विस्तार निकालकर लेखक अपनी कृतियों को संक्षिप्त कर दें, और तब कला की दृष्टि से वे अधिक सम्पन्न हो जायेंगी। द्वितीय कृति में "एक और महत्त्वपूर्ण दोष है, और वह है उसमें अस्वाभाविक कल्पना का वातावरण।" बेलिन्स्की के अनुसार " अस्वाभाविक कल्पना को केवल पागलखानों में स्थान मिल सकता है, साहित्य में नहीं, वह डॉक्टरों के काम की वस्तु है, कवियों के काम की नहीं।" यहाँ स्वयं दस्तोएवस्की की 'प्रकृति' के विषय में संशय उठ खड़ा होता है।

उपर्युक्त संशय मिटता नहीं, किन्तु परिपुष्ट होता है। तृतीय कृति के विषय में बेलिन्स्की लिखते हैं—"यहाँ हम एक महान् प्रतिभा की जगमगाती चिनगारियाँ देखते हैं, किन्तु वे ऐसे सघन अन्धकार में चमकती हैं कि उनका प्रकाश पाठक की असहायावस्था को दूर नहीं करता ... । जहाँ तक हम देख सकते हैं वहाँ तक इस विचित्र कहानी को जन्म देने वाली वस्तु न तो प्रेरणा है और न उन्मुक्त एवं सहज सृजनशीलता, किन्तु वह वस्तु प्रवृत्या—किस प्रकार हम उस कहें?—आडम्बर और छद्म के समान कुछ है। सम्भवतः हम भूल में हैं, किन्तु तब यह इतनी कृत्रिम, विलक्षण और अगम्य क्यों है? मानो वह एक प्रकार की सत्य किन्तु अद्भुत और अबूझ घटना हो, एक काव्यात्मक सृष्टि नहीं। कला में कुछ भी धुँधला और अगम्य नहीं होना चाहिए।" यहाँ पहुँचकर दस्तोएवस्की का निपुणता विषयक दोष नगण्य हो जाता है। चतुर्थ कृति के अनुशीलन में बेलिन्स्की इसी दिशा में चलकर दस्तोएवस्की के समक्ष अपनी विश्लेषण क्षमता के चरमांत पर पहुँच जाते हैं। 'दि मिस्ट्रेस' के पात्रों का व्यवहार अद्भुत और रहस्यमय है तथा उनका वार्तालाप विलक्षण और अगम्य—"उनमें एक दूसरे से क्या भाव होती थी, जो वे इतने अनियन्त्रित रूप में हाथ पैर पटकते थे, विकृत मुद्राएँ बनाते थे, अचेत हो जाते थे और होश में आ जाते थे। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम इन लम्बे और दम भरे उद्गारों में एक शब्द भी नहीं समझ पाते हैं। इस सम्भवतः अत्यधिक मनोरंजक कहानी का केवल मूल भाव ही नहीं, किन्तु स्वयं उसका अर्थ उस समय तक हमारी बुद्धि के लिए रहस्य बना रहेगा जब तक लेखक अपनी विलक्षण कल्पना की इस विस्मयजनक पहेली की आवश्यक व्याख्या और टीका प्रकाशित नहीं करा देता। यह क्या हो सकता है—कलाशक्ति का

दुरुपयोग अथवा उसकी अकिंचनता, जो अपनी सीमा से ऊपर उठने का प्रयत्न करती है। और इसलिए, सामान्य पथ का अनुसरण करने में भयभीत होती है तथा ऐसा पथ खोजती है, जो असामान्य है ? हम नहीं जानते।"

हम नहीं जानते। यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि बेलिन्स्की और उनके युग की सुनिश्चित साहित्यिक मान्यताएँ थीं और दस्तोएव्स्की का कृतित्व उनके अनुकूल न था। दस्तोएव्स्की पुश्किन, गोगल और तुर्गनेव की परम्परा में विजातीय प्रतीत होते थे। यही नहीं, वे इतने अभिनव और भिन्न थे कि तात्कालिक समीक्षा पद्धति उनकी व्याख्या में अक्षम थी और जब कृति का अर्थ नहीं समझा जा सकता तब उस पर उपयुक्त निर्णय देना भी असम्भव नहीं। यही बेलिन्स्की में हम पाते हैं। आरम्भ में हम देखते हैं कि वे पूर्ण आत्मविश्वास के साथ दस्तोएव्स्की के कृतित्व पर निर्णय देते हैं, किन्तु उसके रूप की रहस्यमयता का आभास होते ही उनकी वाणी अनाश्वस्त और अनिर्णयात्मक हो जाता है। अतएव दस्तोएव्स्की की प्रथम समस्या उसकी व्याख्या है। यह सम्भव है कि जो कार्य बेलिन्स्की की समीक्षा पद्धति से सम्पन्न हो सका वह आधुनिक मनोवैज्ञानिक और मार्क्सवादी पद्धति से विश्लेषण करने पर सम्पन्न हो सके।

फ्रायड अपनी व्याख्या में दस्तोएव्स्की के व्यक्तित्व का इन चार पक्षों में विभाजन करते हैं—कलाकार, व्याधिग्रस्त, नीतिवादी और पापी। सर्वप्रथम दस्तोएव्स्की की उत्कृष्ट कला प्रतिमा की प्रशंसा करते हुए वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "कलाकार की समस्या के समक्ष मनोविश्लेषण को अस्त्र त्याग करना पड़ता है।" अतएव व्याख्या के लिए तीन पक्ष लक्षणीय हैं।

दस्तोएव्स्की का चरित्र इतनी विषमताओं से पूर्ण है कि उसकी सगठित धारणा दुःसाध्य प्रतीत होती है। दुर्भाग्य और यन्त्रणा के झंझावातों ने उनकी जीवनगाथा लिखी है एवं भीषणतम उतार-चढ़ाव उसमें आए और गए हैं। नीति और पाप का देवासुर संग्राम उनके अन्तरंग जीवन में परिणतिविहीन और अनवरत चलता रहा है। इस अनन्त द्वन्द्व में ही फ्रायड ने उनके चरित्र का सूत्र खोजने का प्रयत्न किया है। दस्तोएव्स्की की नैतिक दुर्बलता और विफलता का चित्र फ्रायड ने इस प्रकार अङ्कित किया है—

'नीति दस्तोएव्स्की का सबसे दुर्बल पक्ष है। यह कहकर उन्हें उच्च नैतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करना भ्रामक होगा कि पाप करने वाला ही नैतिकता का शिखर पा सकता है। प्रलोभन का अनुभव करते ही नैतिक मनुष्य उसमें फँसे बिना तत्काल उसका दमन करता है। जो व्यक्ति बारा बारी से पाप करता है और फिर पश्चात्ताप में नीति के ऊँचे ऊँचे मानदण्ड स्थिर करता है उसे नैतिक कहना कठिन है। नैतिकता के मूलमन्त्र 'त्याग' की सिद्धि उसे नहीं हुई, क्योंकि नैतिक आचरण एक व्यावहारिक मानवीय स्वार्थ है।...दस्तोएव्स्की की नैतिक साधना का परिणाम भी बहुत गौरवमय नहीं रहा। अपनी व्यक्तिगत वासनाओं तथा समाज की माँगों में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए घोरतम संघर्ष के पश्चात् उन्होंने सांसारिक और आध्यात्मिक अधीशों के आगे घुटन टेककर, ज़ार तथा ईसाइयों के भगवान के प्रति भक्ति भाव अपनाकर तथा एक संकीर्ण रूसी राष्ट्रीयता अंगीकार करके एक प्रतिगामी स्थिति ग्रहण कर ली। परन्तु यह एक ऐसी स्थिति है जिसे अल्पतर बुद्धिवालों ने लघुतर प्रयासों से सिद्ध किया है। उस महान् व्यक्तित्व में यही दुर्बलता है।

मानवता का शिक्षक और मुक्ति विधाता बनने का अवसर त्यागकर दस्तोएवस्की मानव-कारागार के सरदारों में जा मिले। ऐसा बहुत कम है जिसके लिए मानवीय सभ्यता का भविष्य उन्हें धन्य कह सकेगा। यह सम्भव है कि उनकी यह विफलता उनकी व्याधि का दुर्निवार अभिशाप थी। उनकी बौद्धिक महानता एवं मानवता के प्रति प्रबल प्रेम, उनके जीवन के लिए एक श्रुति प्रचारक (Prophet) का पथ त्याग सकते थे।"

महान् प्रतिभा और नैतिक विफलता, श्रुतिप्रचारक की क्षमता और व्यावहारिक प्रतिगामिता, दस्तोएवस्की की इस विपरीत परिणति की तह में फ्रायड 'यूरोसिस' की सम्भावना मानते हैं। दस्तोएवस्की को अपराधियों की कोटि में रखते हुए वे कहते हैं कि उनके द्वारा केवल हिंसामय, विनाशक और अहंकारी चरित्रों का चयन यह इंगित करता है कि उनके अन्तमन में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ विद्यमान थीं। उनकी आक्रान्ता प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल एवं प्रशान्त अन्तर्मुख थी। परिणामस्वरूप उनमें आत्मपीडन और पाप ग्रंथि का रूप धारण कर लिया था। दस्तोएवस्की के व्यवहार से यह प्रकट होता है कि "छोटी बातों में उनका पीडन प्रेम दूसरों की ओर उन्मुख था, और बड़ी बातों में स्वयं की ओर। आत्म पीडक होने के कारण वे अधिकतम मृदुल, दयालु और सहायक व्यक्ति थे।" इस चरित्र वैचित्र्य की व्याख्या में फ्रायड 'यूरोसिस' का सहारा लेते हुए इस सम्भावना पर ध्यान देते हैं कि दस्तोएवस्की जिस एपीलेप्सी से संत्रस्त थे वह उनकी मनोव्याधि की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हो सकती है।

एपीलेप्सी के आविर्भाव के पूर्व, जीवन के आरम्भिक वर्षों में, दस्तोएवस्की पर एक विशेष व्याधि का आक्रमण हुआ करता था। "ये आक्रमण मृत्यु का अर्थ संकेत रखते थे उनका आरम्भिक प्रकोप मृत्यु भय के रूप में होता था, और वह दशा शैथिल्य एवं तन्द्रा की स्थितियों से समन्वित रहती थी।" मनोविश्लेषण द्वारा ऐसे आक्रमणों की व्याख्या निम्नलिखित है।

"वे (आक्रमण) एक मृत व्यक्ति के साथ तादात्म्य का संकेत करते हैं, जो या तो वास्तव में मृत है या अभी भी जीवित है किन्तु व्याधिग्रस्त उसकी मृत्यु का आकांक्षी है। इनमें द्वितीय अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस स्थिति में, व्याधि का आक्रमण दण्ड का अर्थ रखता है। एक व्यक्ति ने दूसरे की मृत्यु की कामना की और अब वह स्वयं वह दूसरा व्यक्ति है और स्वयं मृत है।"

फ्रायड के अनुसार यह दूसरा व्यक्ति बालक के लिए सामान्यतः पिता ही होता है। दस्तोएवस्की और उनके पिता के सम्बन्ध में दो बातें विशेष हैं। प्रथम यह कि उनके पिता सचमुच अत्यन्त प्रचण्ड प्रकृति के थे और परिणामस्वरूप दस्तोएवस्की की निष्क्रिय नारी वृत्ति उतनी ही प्रबल थी, "उनकी असाधारण पापानुभूति और आत्म पीडक जीवन व्यवहार का सूत्र एक विशेष प्रबल नारी-वृत्ति के अवयव के साथ जोड़ा जा सकता है।" उभय यौन-वृत्ति की प्रबलता 'यूरोसिस' को अधिक सम्भव बना देती है। दस्तोएवस्की की व्याधि में पिता के साथ जो तादात्म्य सन्निहित है, उसकी कार्य प्रणाली का वर्णन फ्रायड 'इगो' के प्रति 'सुपर इगो' के इन वचनों में करते हैं—

"अपने पिता को तुम मारना चाहते थे, जिसमें स्वयं तुम अपने पिता बन जाओ, अब तुम अपने पिता हो, किन्तु मृत पिता।" और आगे—"तुम्हारा पिता अब तुम्हें

मार रहा है।" इसका आशय यह हुआ कि "मृत्यु लक्ष्य 'इगो' के लिए पुरुषवर्ती इच्छा की काल्पनिक परितृप्ति है, और साथ ही आत्मपीड़नमूलक तृप्ति भी। सुपर इगो के लिए वह दण्डित करने को तृप्ति, अर्थात् परपीड़न की तृप्ति है। इगो और सुपरइगो दोनों पिता का कार्य करते हैं।"

एपीलेप्सी की उत्पत्ति इस आरम्भिक व्याधि से हुई। दस्तोएवस्की के पिता की सच मुच भयानक मृत्यु इस परिणति में सहायक हुई। फ्रायड कहते हैं कि 'पितृघात की बाल्य आकांक्षा यदि सचमुच सफल हो जाती है तो उसके विरुद्ध समस्त रक्षात्मक शक्तियाँ अतिरिक्त शक्ति ग्रहण कर लेती हैं। दस्तोएवस्की के साथ यह बात हुई थी और परिणाम स्वरूप उनकी आरम्भिक व्याधि ने एपीलेप्सी का रूप ले लिया। इस स्थिति में भी व्याधि के आक्रमण दण्ड के रूप में पिता के साथ तादात्म्य सूचित करते हैं, किन्तु पिता की भयानक मृत्यु के समान व भी भीषण हो गए हैं।' पिता के साथ दस्तोएवस्की के सम्बन्ध का यह द्वितीय प्रमुख तत्त्व है।

सारांश यह है कि पितृघात की प्रबल आकांक्षा, असाधारण पापानुभूति तथा प्रायश्चित के रूप में दण्डित होने की आवश्यकता, दस्तोएवस्की के चरित्र की मूल अन्त वृत्तियाँ हैं। इगो और सुपर इगो के सम्बन्ध तथा पिता के साथ दोनों के तादात्म्य में उनकी प्रक्रिया लक्षित होती है। पिता की मृत्यु की आकांक्षा पूर्ण होने पर पहले आनन्द प्राप्त होगा, किन्तु उसके शीघ्र पश्चात् पाप की अनुभूति उद्दाम वेग से फूट पड़ेगी। ठीक यही बात दस्तोएवस्की की एपीलेप्सी में भी लक्षित होती है—"एपीलेप्टिक आक्रमण के बाल्यावस्था में एक परम आनन्द के क्षण की अनुभूति होती है। बहुत सम्भव है कि यह पिता की मृत्यु का समाचार सुनने पर अनुभूत जय और छुटकारे के भाव का अंकित प्रमाण हो, जिसके तत्काल पश्चात् एक क्रूरतर दण्ड का विधान चल निकलता है।

पिता के प्रति दस्तोएवस्की का जो मनोभाव था, उसी मनोभाव ने जार और ईश्वर के साथ उनके सम्बन्ध का भी निरूपण किया। दोनों की अधीनता उन्होंने स्वीकार की, तथा अपनी दण्डित होने की आवश्यकता की पूर्ति उन्होंने जार द्वारा दण्डित होकर की। इस विश्लेषण के पश्चात् उनके व्यक्तित्व पर फ्रायड का अन्तिम निष्कर्ष यह है—

"निश्शंक होकर यह कहा जा सकता है कि पितृघात की इच्छा से उत्पन्न पाप की अनुभूतियों से वे कभी मुक्त न हो सके। वैयक्तिक धरातल पर विश्व इतिहास के एक विकास की संक्षिप्त पुनरावृत्ति द्वारा उन्हें आशा थी कि ईसा के आदर्श में वे अपने पाप से बाहर निकलने का पथ और मुक्ति पा सकेंगे यही नहीं, उन्हें यह भी आशा थी कि अपने पीड़ित जीवन का उपयोग करके वे ईसा तुल्य जीवन साधना के दावी हो सकेंगे। यदि समस्त के पश्चात् वे मुक्ति न पा सके और प्रतिगामी बन गए, तो इसका कारण यह है कि पिता के प्रति वह बाल्य अपराध, जो मनुष्यों में सामान्य रूप से उपस्थित रहता है और जिसके ऊपर धार्मिक भावना निर्मित होती है, उनके अन्दर अतिवैयक्तिक प्रखरता प्राप्त कर चुका था और उनकी महान् बुद्धि के लिए भी वह दुर्लंघ्य बना रहा।"

दस्तोएवस्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'दि ब्रदर्स कारामाजोव' में भी फ्रायड वही तत्त्व प्राप्त करते हैं, जिनका विवरण ऊपर दिया गया है—" दि ब्रदर्स कारामाज़ोव' में हत्या किसी

अन्य व्यक्ति द्वारा की जाती है। किन्तु हत मनुष्य के साथ इस अन्य व्यक्ति का सम्बन्ध भी वही है जो नायक डिमिट्री का है, अर्थात् हत मनुष्य दोनों का पिता है। इस अन्य व्यक्ति के विषय में अन्त प्रेरणा के रूप में कामगत प्रतिद्वन्द्विता की स्वीकृति प्रत्यक्ष रूप से की गई है। वह नायक का भाई है और यह एक लक्षणीय तथ्य है कि दस्तोएवस्की ने स्वयं अपनी व्याधि, एपीलेप्सी का गुण उसे प्रदान किया है, मानो वे यह स्वीकार करना चाहते थे कि उनके अन्दर का एपीलेप्टिक, न्यूरॉटिक, पितृघाती था।" इसके अतिरिक्त फ्रायड हमारा ध्यान इस उपन्यास में वर्णित एक दृश्य विशेष की ओर आकृष्ट करते हैं, जिसमें एक धर्माधिकारी, डिमिट्री को पितृघात के लिए प्रस्तुत जानकर भी उसके चरणों में झुक जाते हैं। इस दृश्य को लेकर फ्रायड जो निर्णय देते हैं वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें दस्तोएवस्की के चरित्र एवं उनकी कृतियों का अन्तसम्बन्ध स्पष्ट होता है। उन्हीं के शब्दों में यह निर्णय इस प्रकार है—

"यह असम्भव है कि इस कार्य का (पितृघात के आकांक्षी के चरणों में झुकने का) आशय सराहना का भाव प्रदर्शित करना हो। उसका अर्थ यही होना चाहिए कि धार्मिक सज्जन हत्यारे से घृणा या जुगुप्सा करने का प्रलोभन त्याग रहे हैं, और इसीलिए उसके समक्ष अपना दैन्य प्रदर्शित करते हैं। अपराधी के प्रति दस्तोएवस्की की सहानुभूति सचमुच असीम है, वह उस करुणा को बहुत दूर तक अतिक्रान्त कर जाती है जिसकी याचना वह अभागा दुखिया कर सकता है। अपराधी उनके लिए प्राय त्राता ही है, उसने वह पाप अपने माथे ले लिया है जिसका बोझ अन्यथा दूसरों को वहन करना पड़ता। हत्या करने की अब कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'वह' पहले ही हत्या कर चुका है, अतएव उसका कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि उसके न होने पर स्वयं को हत्या के लिए विवश होना पड़ता। यह ठीक दयाजनित करुणा नहीं, यह तो समान हत्यावृत्ति पर आश्रित तादात्म्य—वास्तव में किंचित् स्थानान्तरित आत्मरति—है। इसमें सन्देह नहीं कि दस्तोएवस्की के वस्तु चयन में निर्णायक तत्व यह तादात्म्यजनित सहानुभूति ही थी। वे सर्वप्रथम साधारण अपराधों (जिसकी अन्त प्रेरणाएँ अहमूलक होती हैं) और राजनीतिक तथा धार्मिक अपराधों को लेकर चले, और अपने जीवन के अन्तिम चरण में ही आदिम अपराधी, अर्थात् पितृघाती, तक पहुँचकर एक कलाकृति में उसका उपयोग अपने पापों की स्वीकृति के लिए कर सके।"

दस्तोएवस्की का विचित्र चरित्र ही उनकी कलाकृतियों में अभिव्यक्त हुआ है। उनकी मनोव्याधि और वस्तु चयन का घनिष्ठ सम्बन्ध देखते हुए यह प्रश्न उठता है कि क्या कला का न्यूरॉसिस के साथ सहभाव अपरिहार्य है? निम्नलिखित वक्तव्य में फ्रायड बहुत स्पष्टता से इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

"दस्तोएवस्की के जटिल व्यक्तित्व में हमने तीन तत्त्व चुने हैं—उनके भावगत जीवन की असाधारण तीव्रता, उनकी प्रवृत्तियों की विकृत पूर्ववृत्ति—जिसने उन्हें अवश्य भावी रूप से आत्मपीडक और परपीडक अथवा अपराधी होने के लिए अंकित कर दिया, तथा उनकी अविश्लेष्य कलात्मक देन। तत्त्वों के ऐसे संयोग का अस्तित्व न्यूरॉसिस के बिना भी सम्भव है, ऐसे मनुष्य हैं जो पूर्णतया आत्मपीडक होकर भी न्यूरॉटिक नहीं हैं।

है—असीम उल्लास का क्षण विजय सूचक है, वह पितृघात की अचेतन आकांक्षा का सहसा पूर्ति से उत्पन्न हर्षोन्माद है। तत्काल दूसरी प्रतिक्रिया आरम्भ होती है, पितृघात का नैतिक दायित्व पापानुभूति बनकर दर्शित करने लगता है और प्रायश्चित रूप में दस्तोएव्स्की मृतवत् होकर स्वयं को दण्डित करते हैं। एडलर इस 'भीषण व्याधि' के कारण दस्तोएव्स्की के प्रति संवेदना दिखाते हुए कहते हैं कि वे अधिक महान् थे क्योंकि उससे त्रस्त होने के बावजूद वे मनुष्यत्व का चरम मन्त्र सिद्ध करने में सफल हो सके। 'उल्लास के क्षण' की उनकी व्याख्या यह है—'अपने आक्रमणों का वर्णन करते हुए दस्तोएव्स्की कहते हैं कि वे उनमें एक ऐसी अनुभूति जगाते थे मानो उन्हें उभाकर एक हर्षोन्माद जीवन के संवेदन की चरमान्तिक सीमाओं तक ले गया हो जहाँ वे ईश्वर को स्वयं के समीप अनुभव करते थे, सचमुच इतने समीप कि केवल एक कदम उन्हें जीवन से विच्छिन्न कर देने के लिए पर्याप्त था।" अर्थात् एडलर के लिए 'वह उल्लास का क्षण' किसी अचेतन आकांक्षा की पूर्ति का सूचक नहीं, प्रत्युत उस 'सीमा रेखा' का संकेतक है जो वैयक्तिक सत्ताकांक्षा के लिए मानव व ध्रुव द्वारा बनती है—वह 'सीमा रेखा' जिसका अतिक्रान्ता निश्चित विनाश को प्राप्त करता है।

एपीलेप्सी के साथ सीमारेखा का अनन्य सम्बन्ध एडलर के इस वक्तव्य में स्पष्ट है—'इस भावना को लिए जो उन्हें रुकने के लिए विवश कर देती थी, जो एक रक्षात्मक पापानुभूति में रूपान्तरित हो गई थी, दस्तोएव्स्की कोई कारण न जानते थे। विचित्र तो यह है कि अपनी व्याधि को आक्रमणों के साथ उन्होंने उसका सम्बन्ध स्थापित किया। जब भी मनुष्य गर्वोन्माद में अपनी सामाजिक भावना की सीमाओं के अतिक्रमण की इच्छा करता था उसी समय ईश्वर का हस्तक्षेप दृष्टिगोचर होता था और अन्तर्दर्शन का अनुरोध करते हुए चेतावनी के स्वर सुनाई पड़ते थे।" विशेष द्रष्टव्य यह है कि जो भावना दस्तोएव्स्की को सीमा पर रोक देती था, उसीने एक रक्षात्मक पापानुभूति का रूप ग्रहण कर लिया था। फ्रायड के अनुसार यह पापानुभूति सीमा के अनिवार्य अतिक्रमण का अवश्यम्भावी दण्ड है।

दो बातें और रह जाती हैं जो लक्षणीय हैं—दस्तोएव्स्की की कृतियों का निर्माण सूत्र एवं उनकी नैतिकता। मसीहा दस्तोएव्स्की ने अपनी कृतियों में जो मन्त्र जीवन्त किया है, उसके बावजूद उनकी कृतियाँ मूलभूत महत्त्वाकांक्षा की प्रेरणा से वंचित नहीं—'दस्तोएव्स्की के जीवन का प्रबलतम बिन्दु यह है कि उसकी समस्त अन्य रुचियों का उदय इस रूप में होता अर्थात् काय को निष्फल, दुष्प्रवृत्तिक तथा अपराधमूलक माना जाय और मुक्ति समर्पण में सन्निहित रहे—उस समय तक कि जब तक समर्पण दूसरों पर महत्त्व के गुप्त आनन्द को अन्तर्मुखता किए हो।' दूसरे शब्दों में समर्पण भी 'विजय के लिए झुकना' है।

फ्रायड की दृष्टि में दस्तोएव्स्की एक विफल नीतिवादी थे, किन्तु एडलर के अनुसार वे नैतिकता के चूड़ामणि तो हैं ही, उन्होंने उसके एक महामन्त्र की सृष्टि भी की है—' वे उस सूत्र तक पहुँचे जिसे काण्ट के 'केटागोरिकल इम्परेटिव' के बहुत ऊपर रखा जा सकता है—यह कि, अपने मानव बन्धु के पाप में प्रत्येक व्यक्ति भागी होता है।' इसमें प्रत्येक मनुष्य का एक मूलभूत दायित्व सन्निहित है—'यदि मैं अपने पड़ोसी के पाप में और प्रत्येक व्यक्ति के पाप में भागी हूँ तो इस उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करता हुआ एवं इसका मूल्य चुकाने का आदेश देता हुआ, मुझ पर एक चिरन्तन दायित्व है।"

उपर्युक्त आधारों पर एडलर का निर्णय यह है कि कलाकार और नीतिवादी दोनों रूपों में दस्तोएवस्की एक महान् और अनन्य व्यक्ति बने रहते हैं।

व्लादिमीर येर्मिलोफ मार्क्सवादी एवं सोवियत रूस के एक प्रमुख समीक्षक हैं। दस्तोएवस्की पर उनके विचार यहाँ बंगला में अनूदित उनके 'सोवियत जनगनेर चोखे दस्तोएभास्किर साहित्य' नामक लेख से संकलित किये गए हैं। उद्देश्य यह प्रस्तुत करना है कि सोवियत भूमि में दस्तोएवस्की का विरोध किसी पूर्वग्रह अथवा दुर्नीति पर आश्रित नहीं, किन्तु उसके कुछ महत्त्व पूर्ण कारण हैं। दस्तोएवस्की ने जहाँ तक जन जीवन का साथ दिया है, जनता की प्रगतिशील प्रवृत्तियों और वास्तविक अनुभूतियों का यथार्थमूलक चित्रण किया है, वहाँ तक वे एक महान् कलाकार के रूप में पूज्य और मान्य हैं। 'पुअर फोक' और 'मेमायर्स फ्रॉम ए डेड हाउस' जैसे ग्रंथों की गणना रूस के कालजयी साहित्य में की जाती है और उनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। किन्तु जहाँ उनमें प्रतिगामिता और विकृति का पुरस्कार है, वहाँ वे प्रशंसा के अधिकारी नहीं रह जाते और उनका केवल विरोध ही किया जा सकता है, अर्थात् दस्तोएवस्की एक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार थे, किन्तु दुर्भाग्य से उन्होंने जन जीवन के लिए घातक और प्रगति विरोधी पथ ग्रहण किया। प्रतिभा की इस विपरीत परिणति का, सत्य की इस प्रतिगामिता का, कारण क्या है? फ्रायड ने यदि उसे दस्तोएवस्की की मानसिक व्याधि और चारित्रिक विकृति में खोजा तो मार्क्सवादी येर्मिलोफ उसे रूस की तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति और उसकी अर्थ व्यवस्था में पाने का प्रयत्न करते हैं।

तत्कालीन रूस कैसा था? गत शताब्दी के छठे और सातवें दशक में वहाँ पूँजीवाद का विजयाभियान हुआ। इस अभियान तथा पूँजीवाद के जंगली कानूनों के समक्ष रूस के प्रतिगामी, प्रगति विरोधी, धर्मप्रधान, निम्न मध्य वर्ग के लोग शंकित हो उठे। दस्तोएवस्की के साहित्य में वही शंका प्रतिफलित हुई है। धर्मप्रधान रूस ढह रहा था। जिस मनुष्य की कहानी दस्तोएवस्की ने लिखी है वह इसी अबोध्य, भीषण, नये प्रकार की जीवन गति में पड़कर स्वयं को नितान्त एकाकी और परित्यक्त अनुभव करने वाला मनुष्य है।

दस्तोएवस्की के समक्ष सम्भावनाएँ ही कुल दो हैं—जल्लाद बनो या जल्लाद का शिकार। इसे छोड़ बचे रहने के लिए कोई तृतीय पथ नहीं। या तो वे दूसरों के ऊपर स्वेच्छाचार करेंगे, नेपोलियन अथवा रॉथ्सचाइल्ड बनेंगे, या वे नेपोलियन अथवा रॉथ्सचाइल्ड के समक्ष माथा झुकाकर सलाम करेंगे, जो उनका अपमान करते हैं, भक्ति के साथ उनका ही हाथ चूमेंगे। खून करो या खून हो जाओ, मनुष्य के सामने पूँजीवाद ने यही दो अभिशप्त सम्भावनाएँ रखीं। इस उभय संकट से मुक्ति पाने का जो एकमात्र पथ है, वह है उत्पीड़न के विरुद्ध संग्राम का पथ, मनुष्य के लिए मंगलमय नव समाज की रचना के लिए आन्दोलन का पथ, जिस पर सचमुच मनुष्य दस्तोएवस्की के पात्रों के समान निरस्त्र नहीं है, असहाय नहीं है। दस्तोएवस्की निम्न मध्य वर्ग की उलझन में फँस गए, किन्तु सर्वहारा की क्रान्ति में मुक्ति का गान न गा सके। इतिहास जिन्हें निगल रहा था उनकी अनुभूति उन्हें थी, किन्तु जो इतिहास रच रहे थे उनका साथ वे न दे सके।

फ्रायड और येर्मिलोफ की व्याख्या क्रमशः मनोवैज्ञानिक और सामाजिक है, किन्तु दोनों ही नियतिवादी हैं। मनोविज्ञान और ऐतिहासिक समाजवाद के आधार पर दोनों जीवन की

गति को सुनिश्चित नियमों द्वारा अनुशासित और परिचालित मानते हैं। फ्रायड के अनुसार यदि दस्तोएवस्की के व्यक्तित्व की अनिवार्यता उनकी कृतियों में प्रतिफलित हुई है तो येर्मिलोफ वहाँ उनकी वर्ग-चेतना की अनिवार्यता को उद्भासित पाते हैं। किंतु दोनों के निर्णयों में आश्चर्यजनक साम्य प्राप्त होता है। दोनों की दृष्टि में दस्तोएवस्की प्रतिगामी हैं, श्रुतिप्रचारक और मसीहा बनने का अवसर पाकर उन्होंने उसे खो दिया, उत्पीड़न के विरुद्ध संग्राम के पथ का वे अनुसरण न कर सके। फ्रायड के अनुसार दस्तोएवस्की में आत्मपीडन और परपीडन दोनों की उपस्थिति थी छोटी बातों में उनका पीड़न प्रेम दूसरों की ओर उन्मुख था, और घनी बातों में स्वयं की ओर। अपराधियों के प्रति उनमें अपार सहानुभूति थी तथा दूसरी ओर जार और ईश्वर के आगे घुटने टेककर वे मनुष्य के उत्पीड़कों के आराधक बन गए। येर्मिलोफ के अनुसार दस्तोएवस्की के समक्ष सम्भावनाएँ ही कुल दो थीं—जल्लाद बनो या जल्लाद का शिकार, खून करो या खून हो जाओ! किंतु कारण यदि फ्रायड दस्तोएवस्की की मानसिक रचना में पाते हैं तो येर्मिलोफ पूँजीवाद के अभियान में। निर्णय में न्यूरॉसिस और पूँजीवाद का मानो समीकरण हो जाता है, क्योंकि एक में यदि व्यक्तित्व का विफलता है तो द्वितीय में समाज व्यवस्था की। ऐसे व्यक्तित्व और ऐसे समाज में क्या कोई घनिष्ठ और अन्तरंग सम्बन्ध है?

रडल स्विंगलर की समीक्षा भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर आश्रित है, किंतु सिद्धान्त के साथ उन्होंने यर्मिलोफ की अपेक्षा तथ्य के उद्घाटन पर अधिक ध्यान दिया है। दस्तोएवस्की के समाज के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व, उनकी परम्परा तथा उनमें उसकी चेतना के आधार पर उनके कृतित्व का विश्लेषण करते हुए उन्होंने उनकी कृतियों की मूल वस्तु को सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न भी किया है।

हमारे युग की समस्या दस्तोएवस्की के समक्ष भी उपस्थित थी— 'क्या हम आगे बढ़ सकते हैं? क्या मनुष्य केवल अपनी चेतना और संकल्प द्वारा वातावरण और स्वयं अपने द्वारा विकसित शक्तियों का नियन्त्रण कर सकता है? अथवा रहस्यवाद और धार्मिक एकान्त में हमारा प्रत्यावर्तन अनिवार्य है? क्या हम अपनी सीमा को लाँघ गए हैं और आत्मिक अहंकार में पड़कर हमने पाप किया है? इस देश के अधिकांश बुद्धिजीवियों ने प्रत्यावर्तन का अनीति और पाप का, उसके निवारण के उपाय की खोज का पथ चुना है, जो दस्तोएवस्की का भी पथ था।" अर्थात् अधिकांश बुद्धिजीवी आधुनिक चेतना से यूरोप की मध्ययुगीन चेतना में प्रत्यावर्तन कर रहे हैं।

बुद्धिवादी घोर व्यक्तिवादी होता है। वह वैयक्तिक संकल्प और बौद्धिक चिन्तन से प्राप्त 'सत्ता' की एकान्त प्रतिष्ठा द्वारा विच्छिन्न एकाकी व्यक्ति को सर्वशक्तिमान बनाने का प्रयत्न करता है। अपनी बुद्धि से जिस व्यापक सत्ता का साक्षात् मैं कर रहा हूँ, उसका अन्वेषण और अनुसरण ही पीड़ित जन समाज का एकमात्र मंगलपथ है, ऐसा उसमें विश्वास होता है। इसीलिए उसकी मूल आकांक्षा मसीहा बनने की आकांक्षा होती है—वह देवदूत, जो दिव्य प्रेरणा से जनता को मंगलदान करने के लिए अवतरित हुआ है। वह स्वयं को समाज से विच्छिन्न कर लेता है और इस प्रकार समस्त सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त हो जाता है। 'मुक्ति' उसके होठों में स्पन्दित होने वाला निरन्तर अभिचार मन्त्र है। वह रईसों की क्रिया शून्य विश्रामशीलता की म्रियमाण प्रतिध्वनि होता है। इसीलिए बूर्जुआ के प्रति उसमें अपार

घृणा होती है, किन्तु सर्वहारा के प्रति वह समर्पित नहीं हो पाता। बुर्जुआ समाज की संकीर्णता से मुक्त होने के लिए वह छटपटाता है, किन्तु उसकी सिद्धि में स्वयं को असमर्थ पाता है। पूँजीवाद की स्थिरता के काल में उसकी ये प्रवृत्तियाँ उभरती हैं। समाज व्यवस्था का आसन्न ध्वंस, चाहे वह वास्तविक या मानमान हो, उसके उन्नयन का स्रष्टा होता है, किन्तु कोई व्यवस्था केवल अपने बोझ से नहीं ढह जाती, इसे वह नहीं जानता। अपनी विफलता का अन्तिम निश्चय हो जाने पर वह एक दुःखान्त अभिनय अपनाता है, यह प्रदर्शित करता है कि युग प्रवर्तक की सम्भावनाएँ अपनी आत्मा में समेटे वह एक कृतघ्न युग के लिए शहीद हो रहा है।

अपनी सामाजिक हीनता की भावना उसे आत्म प्रेम के अतिशय पर ले जाती है। उसकी मुक्ति का एकमात्र पथ होता है दलित, किन्तु प्रगतिशील मानवता के साथ तादात्म्य, किन्तु उसकी वह उपेक्षा करता है। उसकी क्रांति का क्षण बहुत पहले व्यतीत हो चुका। वह उन्हें आज भी एकाकी, बहिष्कृत, साधक अन्त प्रेरणा से शून्य, बहिष्कृत की कुण्ठित प्रवृत्तियों और भावनाओं तथा मनोव्याधि और पापानुभूति का शिकार छोड़ गई है। अपने समस्त उपकरणों के साथ यही पापानुभूति उनकी कला में अभिव्यक्त होती है। कोइस्लर, ऑर्वेल, कोनोली, आल्डस हक्सले, ग्राहम ग्रीन, हेनरी मिलर, ज्याँ पाल सार्त्र, मार्सेल प्राउस्ट और टी० एस० इलियट इत्यादि का कृतित्व ऐसा ही है।

दस्तोएवस्की ने रूस के बुद्धिजीवी वर्ग की पाप की समस्या को अंकित किया है। उनका समाज कृतियों में एक दृष्टा से सन्निहित है। 'दि पजेस्ड' क्रान्ति की प्रतिक्रिया में परिणति का दृष्टान्त है। उस समय तक उसकी अन्य परिणति हो भी नहीं सकती जब तक वह 'व्यक्तिगत विद्रोही' के आदर्श का समीपता से अनुगमन करती है और जो आदर्श सदा दस्तोएवस्की के समक्ष उपस्थित रहा। ऐसे विद्रोहियों के लिए यह आवश्यक है कि अपने आदर्श जगत् की सिद्धि के लिए वे एक सत्ता की प्रतिष्ठा करें और यह सत्ता अन्ततः उनसे ऐसी अधीनता की माँग करेगी जो उनके लिए सम्भवतः उस अधीनता से भी अधिक अपमानजनक होगी जिसके विरुद्ध उन्होंने पहले विद्रोह किया था।

"कौन अपने पिता की मृत्यु नहीं चाहता," कारामाजोव की इस पुकार में फ्रायड की ईडिपस ग्रंथि की पूर्वध्वनि सुनाई पड़ती है। किन्तु इस पौराणिक कथा का उपयोग दस्तोएवस्की 'निहिलिज्म' के एक राजनीतिक दृष्टान्त के रूप में करते हैं। सामाजिक उत्तरदायित्व से विच्छिन्नता व्यक्ति को सामाजिक न्याय से भी विच्छिन्न कर देती है। सत्ता का इसीलिए नाश कि वह सत्ता है, पितृघात की जाति की विद्यमानता के विरुद्ध अपराध बना देता है।

फ्रायड और स्टिंगलर दोनों ही पापानुभूति की व्याख्या को प्रधान बनाकर चलते हैं, किन्तु फ्रायड का आधार मनोवैज्ञानिक है और स्टिंगलर का सामाजिक। मनोवैज्ञानिक राजनीतिक संघर्ष को व्यक्तिगत पापानुभूति का प्रक्षेप मानते हैं। स्टिंगलर को यह स्वीकार नहीं। दस्तोएवस्की की कृतियों में ईडिपस ग्रंथि और पापानुभूति की उपस्थिति उनके व्यक्तित्व की विकृति के कारण नहीं, किन्तु ये तत्त्व मूल सामाजिक समस्या के दृष्टान्त रूप में आए हैं। इसीलिए दस्तोएवस्की की कृतियों का विशुद्ध मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अपर्याप्त और अनुपयुक्त है। इस निर्णय का एक और भी गम्भीर कारण है, वह यह कि दस्तोएवस्की का साहित्य परम्परा की

एक व्यापक चेतना के माध्यम से प्रतिभासित हुआ है।

दस्तोएवस्की का युग रूस में पूँजीवाद के विकास का युग है। उस युग के विद्यार्थी, जो शीघ्र ही एक व्यवसायी वर्ग में परिणत हो गए, रूसी बुद्धिजीवियों की विचित्र द्विविधा को मूर्तिमान करते हैं। उन्हें ही दस्तोएवस्की ने अपने विश्लेषण की प्रमुख सामग्री बनाया। दस्तोएवस्की की दीक्षा दस वर्ष तक साइबेरिया में कारावास की अवधि में हुई। उनमें आरम्भ से सामाजिक हीनता की भावना तो थी ही, अब उसके साथ उनमें पीड़ित होने की प्रत्याशा और आकांक्षा भी जाग गई। असाधारण संवेदनशीलता ने उनकी कल्पना का पोषण किया। इन दस वर्षों के अनुभव पर आश्रित 'हाउस ऑफ दि डेड' में वे इस निर्णय पर पहुँचे कि "बुद्धिजीवियों द्वारा जनता की रक्षा नहीं होगी, प्रत्युत् जनता ही बुद्धिजीवियों की रक्षा करेगी।" 'क्राइम एण्ड पनिशमेण्ट' के अन्त में यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है। साइबेरिया में निर्वासित रास्कलनिकोव उस सोनिया की प्रेरणा से नव जीवन का सम्भावना का अनुभव करता है जो समाज से अपमानित, दलित और च्युत है। जो दस्तोएवस्की निश्चित रूप से जानते थे वह यह है कि एकाकी रहकर बुद्धिजीवी कुण्ठा और भ्रष्टता के अतिरिक्त और कुछ नहीं पा सकते। जिसका उन्हें धुँधला आभास था वह यह है कि समाज के निम्न वर्ग के मनुष्यों में ही प्राप्त होने वाली अनिर्वचनीय और अज्ञात गुणशीलता के बीज को विकसित करना आवश्यक है। इसके आगे वे नहीं देख सकते थे और उन्हें औद्योगिक श्रमजीवियों में एक वर्ग के रूप में विकसित होते हुए नये गुणों का कोई ज्ञान न था।

दस्तोएवस्की ने बचपन से पुश्किन की प्रत्येक पंक्ति याद की थी। पुश्किन के 'ओनेगिन' में जो द्वन्द्व उपस्थित है वही दस्तोएवस्की के समक्ष भी था। वह द्वन्द्व है—'बौद्धिकता, शंकावाद और नास्तिकता का सामन्तवादी रूस की आदिम धार्मिक दासवृत्ति के विरुद्ध संग्राम। अन्त में जो वस्तु रक्षा करती है, वह है चरित्र बल अथवा रूसी व्यक्तित्व। समस्या का समाधान भी पुश्किन के विचार के अनुकूल है। सामाजिक परिवर्तन में विफलता की अनुभूति तथा धार्मिक समझौते में प्रत्यावर्तन की अनुभूति के साथ यह भावना भी विद्यमान थी कि सामाजिक कर्तृत्व का प्रथम भाग, एक रूसी संस्कृति और सामाजिक चेतना के निर्माण का कार्य सम्पन्न हो चुका है और अब यह आवश्यक है कि यह वरदान जगत् को प्रदान किया जाय। रूस के राष्ट्रीय व्यक्तित्व को श्रुतिप्रचारक बनना था। केवल रूसी आत्मा में यूरोप को अपने द्वन्द्वों का समन्वय प्राप्त होगा। दस्तोएवस्की का महत्त्व यह है कि उनका असाधारण अन्तर्मुख चेतना परम्परा की एक गम्भीर अनुभूति तथा सामाजिक दायित्व की प्रबल भावना के माध्यम से विकीर्ण हुई। इसीलिए वे उन समस्त विकृतियों और रोग लक्षणों को उनकी उपयुक्त सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध कर सके जिन्हें आज हम पराजित बुद्धिजीवी के प्रदर्शनमूलक उपकरण के अतिरिक्त और किसी रूप में नहीं देखते।

सन् १८८० में दस्तोएवस्की 'पैन स्लाविज़्म' के मसीहा बनकर उपस्थित हुए। अन्त में उन्होंने ईसा और रूस में, रूसी ईसा और रूसी ईश्वर में समस्या का हल पा लिया। उनका उद्देश्य रूसी बुद्धिजीवियों की जीवन गति को 'ईसा और रूस' की खोज में सामाजिक और धार्मिक, प्रत्येक प्रकार के चेष्टित हल की स्थिति में अङ्कित करना था। सामाजिक चेतना को उसकी अभावमयी परिणति तक पहुँचाने का कार्य उन्होंने किया, किन्तु वास्तविक हल को व

सुव्यवस्थित न कर सके। दस्तोएवस्की की कृतियों की शक्ति और उनका ऐतिहासिक महत्त्व स्वयं पाप की अभिव्यंजना में, समाज की क्रूरताओं और 'स्वतन्त्र' बुद्धिजीवी के ऐतिहासिक अभावों के प्रदर्शनशील विश्लेषण में सन्निहित है।

दस्तोएवस्की की उपर्युक्त चार समीक्षाएँ स्पष्ट ही एकमत नहीं हैं। फ्रायड और एडलर का विराट् अन्तर तो स्वयं प्रकट है, किन्तु दो मार्क्सवादी समीक्षक भी परस्पर पर्याप्त भिन्नता प्रदर्शित करते हैं। येर्मिलोफ दस्तोएवस्की के कृतित्व को प्रगतिशील और प्रतिगामी, इन दो पूर्णतया पृथक् कठघरों में बाँधकर देखते हैं, किन्तु स्लिगलर उनके सम्पूर्ण अविभाज्य कृतित्व के मूल तत्त्व की व्याख्या में अग्रसर होते हैं। येर्मिलोफ उनमें निम्न मध्य-वर्ग की चेतना प्रतिफलित देखते हैं, किन्तु स्लिगलर बुद्धिजीवी की समस्या को। येर्मिलोफ पूँजीवाद के अभियान की नग्नता करके तत्काल निर्णय पर पहुँच जाते हैं, किन्तु स्लिगलर दस्तोएवस्की की पूर्ववर्ती और परवर्ती परम्परा को भी महत्त्व देते हैं। यही नहीं, स्लिगलर पापानुभूति को केवल विकृति कहकर कृतकार्य नहीं हो जाते, किन्तु उसकी उपयुक्त सामाजिक व्याख्या पर विशेष ध्यान देते हैं। फ्रायड के समान ही स्लिगलर दस्तोएवस्की में अन्तिम विफलता पाते हैं, किन्तु इसके लिए वे उनकी भर्त्सना नहीं करते। दस्तोएवस्की क्या नहीं कर पाए, इसे वे महत्त्व नहीं देते, किन्तु उनकी उपलब्धियों पर ध्यान देते हैं। स्लिगलर एडलर के समान दस्तोएवस्की में मसीहा वृत्ति तो लक्षित करते हैं, किन्तु उसका स्तवन नहीं करते और न मानवता के परम कल्याण के मत का सिद्ध अन्वेषक ही उन्हें मानते हैं।

इस लेख का उद्देश्य उपर्युक्त चारों समीक्षाओं के पक्ष अथवा विपक्ष में कोई अपना मत प्रस्तुत करना नहीं, उन्हें यहाँ वर्तमान युग की दो प्रमुख समीक्षा-पद्धतियों के क्रियाशील रूप को स्पष्ट करने के लिए उपस्थित किया गया है। किन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जो उन्हें देखते ही मन में उपस्थित होती हैं और जो चिन्तन तथा अग्रिम विश्लेषण के योग्य प्रतीत होती हैं। संक्षेप में उन्हें प्रस्तुत करके हम यह लेख समाप्त करेंगे।

बुद्धिवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया नीत्शे और बर्गसाँ के दार्शनिक चिन्तन तथा फ्रांस के प्रतीकवादियों की धारणा में स्पष्ट लक्षित होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि मनोविज्ञान विज्ञान होने के अतिरिक्त एक सीमा तक अपने युग जीवन का प्रवाहसूचक लक्षण भी है। दस्तोएवस्की केवल रूसी साहित्य के उत्थान काल में एक अपवाद नहीं, किन्तु वे आधुनिक युग के ऐसे बहुत से लेखकों के शीर्ष स्थान पर अवस्थित हैं जिनकी कला साधना पापानुभूति पर आश्रित है। इस पापानुभूति की विशुद्धतः मनोवैज्ञानिक व्याख्या तथा विशुद्धतः सामाजिक व्याख्या सम्भव है। इससे यह संकेत मिलता है कि दोनों दृष्टिकोणों में परस्पर अनुकूलता स्थापित करने की सम्भावना और आवश्यकता है, यद्यपि दो नितान्त विपरीत जाति के नियतिवादों में मूलभूत विरोध देखकर यह अभी सम्भव प्रतीत नहीं होता। एकमात्र क्षारगम संकेत जो हमें मिलता है वह यह है कि उन व्यक्तियों की मानसिक प्रक्रिया, जो इतिहास के साथ चल रहे हैं तथा व्यापक जीवन से सम्बन्ध बनाये हुए हैं, उन मनुष्यों से भिन्न होती है जो ऐसा करने में विफल रहे। एक जीवन के प्रति तथाकथित साधारण प्रतिवेदन करता है और द्वितीय तथाकथित प्रवृत्तिमूलक, भावात्मक और विकृत प्रतिवेदन। अतएव विशुद्धतः मनोवैज्ञानिक और विशुद्धतः सामाजिक दृष्टिकोण अपनी कट्टरता में अपूर्ण प्रतीत होते हैं। इन समीक्षा पद्धतियों का सर्वश्रेष्ठ

गुण यह प्रतीत होता है कि जहाँ सामान्य विधियों से व्याख्या सम्भव नहीं दिखाई देती वहाँ वे छिपे हुए अर्थों का उद्घाटन करती प्रतीत होती हैं।

कलात्मक सृजना का अर्थ फ्रायड की दृष्टि में केवल एक विशेष प्रकार की अभिव्यञ्जना अथवा रूपसृष्टि की क्षमता है। इसे वे अविश्लेष्य बताते हैं। रूप जिस वस्तु को छिपाये हुए है उसका उद्घाटन उनकी दृष्टि में समीक्षा का प्रधान कार्य है। मार्क्सवादी समीक्षा में भी वस्तु को प्रमुखता दी जाती है। व्यक्ति और समाज तथा उनके सम्बन्ध की धारणा कृति की वस्तु के निरूपण में महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। यद्यपि दोनों ही दृष्टिकोण व्यापक रूप से समस्त साहित्य को लक्ष्य बनाकर चलते हैं तथापि दोनों में ही अपने अनुकूल विशेष जाति के साहित्य के प्रवर्तन की प्रवृत्ति है। ऐसी समीक्षाओं में अन्ततः हम लेखक की अपेक्षा समीक्षक अथवा उसके सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को अधिक पाते हैं।

वर्तमान युग में 'मूल्य' चाहे अनुपस्थित न हों किन्तु वे अनिश्चित और परिवर्तनशील अवश्य हैं। वे जीवन में एक मूलभूत संघर्ष की सांकेतिक अभिव्यञ्जना करते हैं। प्रत्येक पारिभाषिक शब्द अनेकार्थी है, जैसे 'मुक्ति' का अर्थ फ्रायड और मार्क्स के शब्दकोष में भिन्न होगा। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो उपस्थित होता है वह लेखक की स्वतन्त्रता और उसके उत्तरदायित्व से सम्बद्ध है। यह निश्चित है कि कोई लेखक हमें प्रिय अथवा अप्रिय लगे, इसके पूर्व उसकी व्याख्या आवश्यक है। दस्तोएव्स्की का कृतित्व यह प्रश्न उपस्थित करता है कि क्या विशेष प्रतिभाशाली कलाकार के लिए ऐसे महान् साहित्य की सृष्टि सम्भव है जिसमें समस्त माने हुए मूल्य उच्छिन्न हो गए हैं? क्या विकृतियों से ग्रस्त होकर भी महान् कला की साधना सम्भव है? क्या एक सन्तुलित मन अनिवार्य रूप से महान् साहित्य की सृष्टि में समर्थ है? ऐसी समस्याओं को सुलझाने के प्रयासों में ही समीक्षा का अग्रिम विकास सम्भव है।

मूल्यांकन

प्रकाशचन्द्र गुप्त

जहाज का पंछी

श्री इलाचन्द्र जोशी की उपन्यास कला दो धाराओं में बही है। पहली धारा के उपन्यास मानवीय मनोविकारों की उलझनों से प्रभावित थे। इन उपन्यासों के माध्यम से जोशीजी की इच्छा मनुष्य की अन्तश्चेतना को निखारने की थी, किन्तु 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' के समान उपन्यासों में मनुष्य स्वभाव के बड़े अरुचिकर रूपों का अङ्कन था। दूसरी धारा के उपन्यासों का आरम्भ 'निर्वासित' से होता है, जब जोशीजी ने बाह्य सामाजिक परिस्थितियों की ओर अपना ध्यान मोड़ा। अब तक अनेक उपन्यासों द्वारा जोशीजी अपनी कला की इस धारा को समृद्ध कर चुके हैं और अब यही धारा उनकी कला की मुख्य धारा बन चुकी है। 'मुक्ति-पथ', 'सुबह के भूले', 'जिप्सी' और 'जहाज का पछी' जोशीजी की उपन्यास कला में एक तीव्र, सजग, सामाजिक भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन उपन्यासों में 'जहाज का पछी' विद्रोही भावना से पूर्णत ओत प्रोत है, साथ ही वह जोशीजी की कला की आकर्षक रोचकता और मोहकता का भी निर्वाह करता है। 'जहाज का पछी' कला पक्ष और स्वस्थ, सामाजिक पक्ष, दोनों ही दृष्टियों से एक प्रौढ और परिपक्व कृति है। व्यक्ति मानस की विकृतियों से सामाजिक विकृतियों की दिशा में जोशीजी की प्रगति हिन्दी साहित्य की वर्तमान जागरूकता का एक सबल सकेत है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रेमचन्द और पतजी का प्रगतिशील साहित्यिक आन्दोलन में प्रवेश जितने महत्त्व का था, लगभग उतने ही महत्त्व का 'जहाज का पछी' का प्रकाशन भी है। किस प्रकार पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं में पले वयस्क साहित्यकार नई, स्वस्थ साहित्यिक प्रवृत्तियों को अपनाते हैं, उसका यह सन्देश है।

'जहाज का पछी' कलकता के विशाल जीवन में भटकते हुए एक शिक्षित नवयुवक की कहानी है, जो सगीत, कला, चिन्तन आदि हर दिशा में प्रतिभावान होते हुए भी जीविकोपार्जन का कोई सहारा नहीं पाता। क्रूर सामाजिक परिस्थितियों का वह असहाय शिकार है। समाज के ऊपरी स्तर में सड़कर खोखलापन है, नीचे के वर्ग में ही करुणा और मानवीयता के लक्षण कथा नायक को मिलते हैं। बड़े ही आग्नेय और धधकते शब्दों में जोशीजी ने यह लम्बी कथा कही है। कथा का नायक शब्दों की दृष्टि से आवारा है। अपने जीवन की कहानी वह इस

प्रकार समझाता है—

" मैं कोई विशेष गुणी न होने पर भी पढ़ना लिखना जानता हूँ और पढ़ने लिखने से सम्बन्धित कोई भी काम कर सकता हूँ। पर पहले तो इस तरह के कामों का ही आज बहुत बड़ा अभाव है और जहाँ कहीं ऐसे कामों की गुंजाइश है भी, वहाँ आज के भ्रष्टाचारी युग में अयोग्य व्यक्ति तिकड़मबाजी से अपने को पूर्णतः योग्य सिद्ध करके घुस जाते हैं। योग्य व्यक्ति उस ठेलमठेल में पीछे को ढकेल दिए जाते हैं और दुनिया वालों की नज़र में चोर, गुण्डे, बेईमान और बदमाश सिद्ध होकर दर दर ठोकरें खाते फिरते हैं गली दर गली भटकते रह जाते हैं और एक जेल से दूसरे जेल में आश्रय खोजते रहने के सिवा उनके लिए कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता। उन्हीं युग प्रताड़ित आवारों में से मैं भी एक हूँ, बस केवल इतनी ही मेरी रहस्यमयता है।"[1]

कथा का नायक यह गुमनाम आवारा अनेक बार जीवन आरम्भ करने का प्रयास करता है। वह जहाज के उस पक्षी के समान है, जो फिर फिर जहाज पर उड़कर आ बैठता है—

'जैसे उड़ि जहाज़ को पंछी,
फिरि जहाज़ पै आवै।" (सूरदास)

भूखा और त्रस्त होने के कारण वह पाकेट मार लगता है और हवालात में बन्द कर दिया जाता है। नई रोशनी का न्यायाधीश उसके विरुद्ध झूठी गवाही को पहचानकर उसे मुक्त कर देता है। वह कुछ दिन पहलवानों के एक अड्डे पर रहता है, जहाँ उसे सच्ची संवेदना और सहानुभूति मिलती है। यहाँ करीम चाचा से वह खाना पकाना सीखता है और आगे चलकर सभी मुसीबतों में खाना पकाने की नौकरी पा सकता है। वह एक बड़े पूँजीपति और कांग्रेसी नेता के घर नौकरी करता है, किन्तु उसे खिलाड़ि जानकर वे उसे कम्यूनिस्ट समझते हैं और निकाल देते हैं। फिर वह एक धोबी की लाण्ड्री में नौकरी करता है, फिर एक चकले में प्रधान रसोइए का पद प्राप्त करता है। यहाँ भी पुलिस उसे सताती है और अन्त में वह एक अमीर किन्तु स्नेहशील महिला के यहाँ आश्रय पाता है और सामाजिक पुनर्निर्माण का योजनाओं में वे दोनों लगते हैं।

इस कथानक के इर्द गिर्द कलकत्ता के मानवी महासागर की उत्ताल तरंगें सदा हिलोरें मारती रहती हैं। एक भयानक कोलाहल और कोहराम मानो पाठक का निरंतर पीछा करता रहता है। साँस लेने तक को मानो अवकाश नहीं मिलता। जोशीजी का मानव जीवन का अपूर्व और विराट् अनुभव पाठक को चकित करता रहता है। पार्क और फुटपाथ का जीवन, कॉलेज स्क्वायर की किताबों की दुकानें, हवालात और कचहरी, अस्पताल, अभिजातकुल की रहन सहन, पहलवानों के अड्डे, सिनेमा और पॉकेटमार, धोबियों की सीलन और बदबू भरी कोठरियाँ, वेश्यालय का नारकीय जीवन, असहाय लड़कियों की दयनीय जीवन-कथा और अन्त में एक सम्भ्रान्त कुल-नारी का स्नेह पाश, ये सभी विचित्र जीवन परिस्थितियाँ साकार होकर उपन्यास में बोल उठी हैं।

अनेक पात्र सजीव होकर कथा में मुखरित हुए हैं। दर्जनों की संख्या में वे कथाकार के चतुर्दिक् जीवित होकर डराते हैं—करीम चाचा, मारवाड़ी परिवार के व्यक्ति, प्यारे धोबी, उसकी

[1] पृ० ३७२ ३।

लम्की वेना, फिर वेश्यालय के क्रूर, पाशविक जीवन से भयातुर नारियाँ, श्यामला, सुजाता, जुलेखा, और अन्त में लीला का स्वस्थ निर्मल स्नेह।

स्पष्ट ही 'जहाज का पंछी' का कथानक व्यापक है और इसमें प्रसार अधिक है। लेखक की निर्मम दृष्टि जीवन के अनेक घृणित और कुत्सित व्यापारों पर घूमी है और उनका यथार्थमय अङ्कन उसने किया है। यह उपन्यास आज के भ्रष्ट, पूँजीवादी समाज की नैतिकता पर कठोर मर्म प्रहार करता है और जीवन की स्वस्थ, सघर्षरत प्रवृत्तियों को बल देता है। उन्नत और सचेत कला का ध्येय वह अपने उपन्यास में प्रतिष्ठित करता है। आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' का चित्रण वह इस प्रकार करता है—

"बीसवीं शती के इस उत्तरार्द्धकाल में भी, इसी कलकत्ता शहर के लाखों आदमी इन अस्वाभाविक और अमानुषिक परिस्थितियों में जीवन बिताने को बाध्य हैं। कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि आज के तथाकथित 'फ्री वर्ल्ड' में मनुष्य ने मनुष्य को मनुष्य न रह देने की कसम खा रखी है। स्वयं अपने सम्बन्ध में मुझे सन्देह होने लगता कि मैं मनुष्य नहीं हूँ, बल्कि इन खटमलों, मच्छरों, मोजरों, बिच्छुओं, मकड़ियों, तिलचट्टों और दीमकों की तरह ही मैं भी एक कीट हूँ (बड़ा कीट) जो चारों ओर से मुझे घेरे हुए हैं। पर दुर्भाग्य से उनके 'फ्री वर्ल्ड' में भी मैं 'अनफिट' बैठता हूँ और वे सब मुझे अपना सबसे बड़ा शत्रु समझकर मुझ पर अलग अलग और सम्मिलित रूप से आक्रमण करते रहते हैं। रात रात-भर इन कीटों द्वारा काटा जाता हुआ और यन्त्रणा से छटपटाता हुआ मैं सोचता कि आज की मनुष्यता कीटों द्वारा पराजित और परास्त है। कमरे के भीतर वास्तविक कीट और कमरे के बाहर मानव रूपी कीट आज मनुष्यता का रक्त-शोषण करके उसे दीमकों की तरह चाटकर खोखला बनाने पर तुले हैं।"[1]

इन प्रकार भरी परिस्थितियों के बीच लेखक की दृष्टि प्रकाश की किरणें भी फूटता हुई देखती है और आशा का स्वर उपन्यास में ऊँचा उठा है—

' फिर भी, उस घुप अँधेरे के बीच में भी कभी कभी प्रकाश और आशा की किरणें दिखाई देने लगती हैं। ऐसे क्षणों में मुझे यह विश्वास होने लगता है कि सिर्फ मेरे मन के ऊपर से ही नहीं, सारी मानवीय चेतना के ऊपर से एक दिन कुहासा हटेगा और अन्धकार के बादल फटकर रहेंगे। जीवन की सामूहिक व्यवस्था निश्चय ही बदलेगी और मानव मानव के बीच का व्यवधान हटकर ही रहेगा और तब मेरी जिस रहस्यात्मक चेतना का विकास पथ रुद्ध हो गया है, वह जहाँ रुकी थी वहाँ से आगे बढ़ेगी। वह मरी नहीं, केवल दब गई है और फिर एक दिन वह भी आयगा, जब सिर्फ मेरी ही नहीं सभी की वैयक्तिक चेतना विकसित होकर सामूहिक चेतना के विकास में सहायक होती हुई उसके साथ मिलकर एक पूर्णतया नई चेतना को जन्म देगी।'[2]

इस उपन्यास में जोशीजी की शैली में प्रसार, ओज और कवित्व भर गए हैं। उनका गद्य प्रवहमान और सशक्त है। उसकी उपमाएँ आधुनिक वैज्ञानिक जीवन पर आधारित हैं और उसमें कल्पना का गुण भी पर्याप्त है। उनकी गद्य शैली का एक उदाहरण देखिए—

१ पृ० २१६।

२ पृ० ४४६ ७।

"सूरज पश्चिम में डूबने की तैयारियाँ कर रहा था। पश्चिम में कुछ देर से घिरे हुए गाढ़े काले बादल जलकर एकदम लाल हो गए थे, जैसे कोयलों के आकाशव्यापी गोदाम में आग लग गई हो और सब कोयले सहसा एक साथ दहक उठे हों। उनकी रक्तिम आभा नदी पर पड़कर तेज़ हवा के कारण सौ सौ उछलती हुई तरंगों में प्रतिबिम्बित होकर पिघलती हुई आग की तरह दिखाई दे रही थी।"[1]

जोशीजी कला को जीवन की कठोर वास्तविकता के साथ' सम्बद्ध करना चाहते हैं। 'आकाशी संस्कृति की हवाई उड़ान और फैशन की अस्थायी रंगीनी में' उसे मुक्त करके "जीवन के समुचित सामूहिक विकास में' वे उसे सहायक बनाना चाहते हैं।[2]

लोक जीवन से कला का सम्बन्ध जोड़ना जोशीजी अत्यन्त आवश्यक समझते हैं। वह कहते हैं—'लोकोत्तर आनन्द का सच्चा अधिकारी केवल वही व्यक्ति हो सकता है जो लोक जीवन में डूबकर लोक कल्याण सम्बन्धी अपने कर्तव्यों का पालन पूर्णतया कर चुका हो। आत्मिक अमृत का सच्चा अधिकारी वही हो सकता है जो सामूहिक भौतिक जीवन पर छाये हुए महामरण रोग शोक और दुःख दारिद्र्य के निवारण में युग-चेताओं के हाथ बटा चुका हो। यदि कला को लोक जीवन से छिन्न करके केवल लोकातीत आनन्द की प्राप्ति का ही साधन माना जाय तो नीरो को सबसे बड़ा कलाकार मानना होगा। जब रोम में आग लगी हुई थी तब वह अपनी ऊँची अटारी से सामूहिक अग्नि कला का आनन्दप्रद दृश्य देखता हुआ बाजा बजाने में तन्मय था और 'लोकोत्तर आनन्द' की प्राप्ति कर रहा था।'[3]

'जहाज का पंछी' उन्नत, विद्रोही कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें भारतीय जीवन की कटु वास्तविकताओं का अंकन है, साथ ही जीवन को दिशा देने का भी उत्कट आग्रह है। यह उचित ही है कि सचेत, सामाजिक भावना से परिपूर्ण यह उपन्यास लेखक ने 'विद्रोही कवि निराला को' भेंट किया है।[4]

⁂

रामचन्द्र तिवारी

हिन्दी-साहित्य में राम-कथा का अध्ययन

राम काव्य की समीक्षा के इतिहास में 'रामकथा' ग्रन्थ के प्रकाशन से नवीन अध्याय की सृष्टि हुई है। 'राम कथा' वस्तुतः राम कथा की उत्पत्ति, विकास और विस्तार-सम्बन्धी सभी सम्भव स्रोतों को संगठित करने का स्तुत्य प्रयत्न है। लेखक ने राम से सम्बन्धित सभी इतिवृत्तों को संतुलित एवं क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है। विभिन्न राम कथाओं की परीक्षा के पश्चात् राम कथा के मूल रूप पर विचार किया है। देशी विदेशी, प्राचीन अर्वाचीन साहित्यों में बिखरे

१ पृष्ठ ११४।
२ " ३८३।
३ " ३८४।
४ ले० श्री इलाचन्द्र जोशी, प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बम्बई, इलाहाबाद, पटना।

हुए राम कथा सूत्रों के स्वरूप का उद्‌घाटन किया है। इन सूत्रों की एकरूपता तथा अनेक रूपता पर विचार करते हुए परिवर्तन के कारणों को लक्ष्य किया है। इस प्रकार इस वैज्ञानिक अध्ययन में विद्वान् लेखक का दृष्टिकोण राम कथा सम्बन्धी समस्त सूत्रों के उद्‌गम, विस्तार और विकास तक सीमित है। इसीलिए लेखक ने पन्द्रहवीं शती के बाद के संस्कृत साहित्य तथा आधुनिक आर्य भाषाओं के रामकथा साहित्य के अध्ययन पर अधिक बल नहीं दिया है। लेखक की दृष्टि में यह साहित्य राम कथा साहित्य न होकर राम भक्ति साहित्य है।

'मानस में राम कथा' का दृष्टिकोण तुलसीकृत रामचरित मानस की आध्यात्मिक, व्यावहारिक तथा साहित्यिक महत्ताओं का संक्षिप्त प्रकाशन है। प्रसंगवश प्रारम्भ में राम कथा के उद्‌गम और विकास पर भी विचार किया है। कृति से कृतिकार का अभिन्न सम्बन्ध मान कर लेखक ने कवि की उस मानसिक पृष्ठभूमि का भी गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है जिसने राम भक्ति को वैयक्तिक साधना की संकीर्ण सीमाओं से निकालकर पूर्ण जीवन दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित किया है। अध्ययन को आगे बढ़ाते हुए लेखक रामचरित मानस की कथा के विकास एवं संगठन पर विहगम दृष्टि डालता है। विहगम होते हुए भी यह दृष्टि पर्याप्त सूक्ष्म है। मानस की प्रारम्भिक भूमिका का अपूर्व उठान, कथा विकास की महत्ता, चरित्र चित्रण की कला, तथा कथा सूत्रों की गतिमयता, स्थिरता और विस्तारादि का रहस्य उद्‌घाटन लेखक की विहगम दृष्टि से ही हुआ है। अनेक विधि निषेधों को लेकर चलने वाली तुलसी कृत राम कथा की मानसी स्थिति पर विचार करते हुए लेखक ने उसके उद्‌भव, उद्देश्य तथा स्वरूप सभी को मानसिक सिद्ध किया है। यह राम कथा महेश के मानस में समुद्भूत हुई और जन मानस को शांति देने के लिए मानस के मानसरोवर के समान ही शीतल तथा सुखद सिद्ध हुई। अतएव इसकी संज्ञा 'रामचरितमानस' होनी ही चाहिए। लेखक को मानस के काव्य सौष्ठव ने कम आकर्षित नहीं किया है। इसीलिए उसने अन्तिम परिच्छेद में काव्य सौन्दर्य एवं अर्थ गौरव पर भी महत्वपूर्ण विचार प्रगट किए हैं।

'मानस की रामकथा' का लक्ष्य रामकथा के स्वरूप का गम्भीर, व्यापक एवं विशद अध्ययन प्रस्तुत करना है। इसलिए लेखक ने मानस की रामकथा को लक्ष्य में रखकर राम कथा के समग्र स्वरूपों को पृष्ठभूमि में उपस्थित किया है। ग्रंथ के प्रथम अध्याय में ग्रंथकार का संक्षिप्त किन्तु पूर्ण जीवन वृत्त तथा कृतियों का परिचय प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में रामचरितमानस की कथा का विविध दृष्टियों से अध्ययन किया गया है। लेखक ने मानस के रूपक की व्याख्या की है, उसके प्रबन्ध सौष्ठव पर विचार किया है, उसे केवल महाकाव्य के रूप में ही नहीं, भक्ति काव्य के रूप में भी देखने का सतर्क आग्रह किया है तथा उसमें समन्वित सांस्कृतिक आदर्शों का विस्तृत उल्लेख किया है। मानस की शैली पर विचार करते समय संवाद शैली के स्वरूप निर्वाह, कौशल, महत्ता तथा गाम्भीर्य की ओर भी संकेत किया गया है। राम कथा के अतिरिक्त मानस की कथा में तीन अन्य कथारूपों का समावेश है। लेखक ने इन्हें चरित कथा, हेतु कथा और अन्तरकथा के रूप में उपस्थित किया है। अध्याय समाप्त करते हुए लेखक हमारा ध्यान 'मानस' के दार्शनिक महत्व की ओर भी आकर्षित करना नहीं भूलता।

तीसरे अध्याय में रामकथा के विविध रूपों, रामकथा की उत्पत्ति और विकास तथा

रामकथा की व्यापकता पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। मानस की रामकथा के स्वरूप को पूर्णतया समझने के लिए यह अध्ययन आवश्यक था। इस अध्याय को पूर्ण बनाने में फादर बुल्के की रामकथा से पर्याप्त सहायता ली गई है। इस प्रसंग में लेखक ने फारसी और अरबी रामकथाओं की चर्चा भी की है। बुल्के महोदय ने इस सूत्र की ओर ध्यान नहीं दिया है। कथा सूत्र के विकास की दृष्टि से इनकी महत्ता न होने के कारण ही उनका ध्यान इस ओर नहीं गया, क्योंकि फारसी और अरबी की रामकथाएँ प्रायः संस्कृत ग्रन्थों से अनूदित हैं।

चौथे अध्याय में लेखक ने 'वाल्मीकि रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'प्रसन्नराघव', 'महावीर चरित' और 'हनुमन्नाटक', 'श्रीमद्भागवत', 'पउम चरिउ' आदि अनेक प्रमुख राम काव्यों के साथ मानस के कथा स्वरूप की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है। साथ ही मानस के समसामयिक अन्य राम काव्यों—'रामचन्द्रिका' तथा 'राम लिंगामृत'—के कथा रूपों की तुलना भी मानस के साथ की है। अन्त में तुलसी की अन्य रचनाओं को भी मानस के साथ रखकर देखा है। वस्तुतः यह तुलनात्मक अध्ययन चतुर्वेदी जी के विस्तृत एवं गम्भीर अनुशीलन का प्रतिफल है।

उपसंहार में पूर्व विवेचित समस्त सामग्री की संक्षिप्त चर्चा की गई है।

द्वितीय खण्ड में रामचरितमानस का मूलपाठ, जिसका सीधा सम्बन्ध राम कथा से है, जोड़ दिया गया है। इस मूलपाठ के सम्पादन में लेखक ने 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'रामचरितमानस' (संवत् २००५) तथा डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा सम्पादित 'रामचरितमानस' (सं०२००६) का आधार लिया है। अन्त में शब्दकोश तथा संक्षिप्त कथा प्रसंग देकर ग्रन्थ की उपादेयता बढ़ा दी गई है।

इस प्रकार पिछले तीन वर्षों के भीतर प्रकाशित होने वाले ये ग्रन्थ निश्चय ही राम साहित्य के अध्ययन को बहुत आगे खींच लाते हैं। राम कथा से सम्बन्धित सूत्रों का विश्वकोष बुल्के महोदय की कृति 'राम-कथा' है। निश्चय ही समस्त हिन्दी वाङ्मय में यह अपने ढंग का अकेला अध्ययन है। राम कथा की मानसी स्थिति की संगतिपूर्ण व्याख्या करते हुए 'मानस में रामकथा' के विद्वान लेखक ने भी रामचरितमानस के आध्यात्मिक अध्ययन को एक नई दिशा दी है। प्रत्येक सोपान में निरूपित कथा के आधार पर समानान्तर आध्यात्मिक संकेतों का निर्देश है। चतुर्वेदी जी के अध्ययन में गति, गहनता, गम्भीरता और विस्तार है। 'कृति' को उसकी विस्तृत ऐतिहासिक पीठिका में रखकर देखने का आपका प्रयत्न स्तुत्य है। वस्तुतः यदि चतुर्वेदी जी को हिन्दी-साहित्य में विशुद्ध ऐतिहासिक समीक्षा का जन्मदाता मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। 'कृति' को कृतिकार की दृष्टि से परखने के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सूक्ष्म अध्ययन अपेक्षित है। उसके स्वरूप को समझने के लिए उसी कोटि की अन्य कृतियों से तुलना अनिवार्य है तथा उसकी गहराई को हृदयंगम करने के लिए उससे सम्बन्धित विषय तत्वों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। 'मानस की रामकथा' में ये तीनों विशेषताएँ समन्वित हैं। द्वितीय अध्याय में 'मानस' के विषय-तत्व का गम्भीर विश्लेषण है। तृतीय अध्याय ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा परम्परा उपस्थित करता है और चतुर्थ अध्याय तुलनात्मक समीक्षा। अतएव मानस की रामकथा के स्वरूप का यह प्रथम पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन है।

रामभक्ति का विकास, उसकी मध्ययुगीन स्थिति, अन्य भक्तिस्रोतों से उसकी समता

विषमता तथा युगानुकूल उसके स्वरूप परिवर्तन की ऐतिहासिक व्याख्या अभी प्रस्तुत नहीं हो सकी है। देखना है, राम-साहित्य के उपर्युक्त सुकृतियों में अपनी साधना का श्रम परिहार करने के लिए कौन राम भक्ति-सरिता में स्नान करने के लिए आगे बढ़ता है।[1]

रामलालसिंह

भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा

भारतीय काव्य शास्त्र की मुख्यत छः परम्पराएँ हैं—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य की। विभिन्न आचार्यों के काव्य सम्बन्धी सिद्धान्त प्रायः इन्हीं के अनुसार निर्मित हुए। सामग्री के औचित्यपूर्ण विधान तथा योजना की दृष्टि से यही उचित था कि हिन्दी के विभिन्न आचार्यों की समीक्षा-सामग्री भी उपर्युक्त काव्य परम्पराओं की दृष्टि से नियोजित की जाती। उदाहरणार्थ यदि शुक्लजी की सामग्री रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य मतों के क्रम से नियोजित करके अन्त में काव्य स्वरूप सम्बन्धी सामग्री दी जाती तो सामग्री के नियोजन तथा सम्पादन में अधिक औचित्य आ जाता।

सम्पादक का कहना है कि भारत से लेकर वर्तमान हिन्दी आलोचकों तक के सैद्धान्तिक वक्तव्यों का सकलन इस पुस्तक में है। संस्कृत ही नहीं, वरन् हिन्दी के भी कई प्रसिद्ध समीक्षक उपेक्षित हो गए हैं। जयदेव के 'चन्द्रालोक', अप्पयदीक्षित के 'कुवलयानन्द' तथा भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' एवं 'रस मंजरी', मुकुलभट्ट के 'अभिधावृत्ति' का हिन्दी समीक्षकों पर बहुत प्रभाव पड़ा। अत इन आलोचकों की उपेक्षा उचित नहीं प्रतीत होती। इसी प्रकार रीतिकाल में पद्माकर, रामसिंह तथा सुरति मिश्र की भी उपेक्षा हो गई है। इन आचार्यों ने रीतिकाल में होते हुए भी अपने अपने ग्रन्थों में स्वगृहीत परम्पराओं के विषय में कुछ मौलिक बातें कही हैं, जैसे रामसिंह के 'रस निवास' में मनोविकार तथा भाव का अन्तर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बताया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में हास्य रस के विभिन्न भेद, माया रस की कल्पना, रससिद्धान्त के आधार पर काव्य का वर्गीकरण नवीन ढंग का मिलता है। इसी प्रकार आधुनिक युग में लाला भगवान दीन अलंकार परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य माने जाते हैं। इस संकलन में उनका अभाव खटकता है।

सम्पादक के निवेदन के अनुसार इस पुस्तक का उद्देश्य है भारतीय काव्य शास्त्र की समृद्ध परम्परा का क्रमबद्ध निरूपण। किन्तु पुस्तक में यह कहीं नहीं बताया गया है कि भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा क्यों समृद्ध मानी जाती है? इसकी समृद्धि के कौन कौनसे कारण हैं?

1 राम कथा उद्भव और विकास, ले० डॉ० कामिल बुल्के, प्र० हिन्दी परिषद् इलाहाबाद विश्वविद्यालय। मानस में राम कथा ले० डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र, प्र० बंगीय परिषद्, कलकत्ता। मानस की राम कथा, ले० परशुराम चतुर्वेदी, प्र० किताब महल, प्रयाग।

ग्रंथ का सम्पादन हिंदी काव्य जिज्ञासुओं के लिए किया गया है, अतः संस्कृत आचार्यों के वक्तव्यों का हिंदी अनुवाद पहले और मूल बाद में दिया गया है। इस ग्रंथ में जो संस्कृत आचार्य संकलित किये गए हैं उनमें से कई आचार्यों की कुछ प्रमुख बातें छूट गई हैं, जैसे वामन में गुण विवेचन का अंश छूट गया है। वामन रीति परम्परा के प्रतिनिधि आचार्य हैं। गुण उनकी दृष्टि में रीति के आत्मतत्त्व हैं। अतः वामन का गुण सम्बन्धी वक्तव्य उपेक्षित नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार आनन्दवर्धन का काव्य पुरुष का रूपक उपेक्षित होने योग्य नहीं है। कुन्तक का गुण तथा रीति सम्बन्धी वक्तव्य मौलिक ढंग का है। संकलन में इसका अभाव भी खटकता है।

इस पुस्तक से हिन्दी काव्य जिज्ञासु संस्कृत समीक्षा की विभिन्न परम्पराओं, रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य के अनुसार काव्य के विभिन्न सिद्धान्तों की क्रमागत परिभाषाओं, उनके विविध भेदों, काव्यहेतुओं, प्रयोजनों, काव्य लक्षणों आदि की सामग्री का परिचय एक स्थान पर सर्वाधिक मात्रा में पा सकता है, किन्तु आधुनिक हिन्दी काव्य में उनकी क्या आवश्यकता है, उनसे हमारे रचनात्मक साहित्य को कितनी स्फूर्ति तथा व्यापकता मिल सकती है, उनसे हिन्दी समीक्षा का नवनिर्माण कार्य कितनी दूर तक हो सकता है, साम्प्रत जीवन के मूल्यों के प्रत्यभिज्ञान में उनसे कितना योगदान मिल सकता है, आदि बातों का ज्ञान नहीं होता।

परम्परा के परिचय का अर्थ अतीत का अन्धानुकरण नहीं, वर्तमान को अतीत के मानदण्ड से नापना नहीं, और न अतीत को वर्तमान द्वारा आँकना है, वरन् अतीत के विकसित रूप को जानना है, वर्तमान में उसके स्थान एवं मूल्य को निरूपित करना है जिससे नूतन रचनाओं एवं नवीन जीवन मूल्यों का अतीत की प्रवहमान परम्परा के साथ एक तारतम्य स्थापित हो सके, एकसूत्रता निरूपित हो सके। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक हमारी परम्पराएँ प्राणवान बन नहीं सकतीं। आज भारतीय काव्य शास्त्र की परम्पराओं को प्राणवान बनाने की आवश्यकता है। यह आवश्यकता गतानुगतिकता से सम्पादित नहीं हो सकती। उसमें से नये युग की सार्थकता के स्पन्दन को ढूँढ निकालने में जब हम समर्थ होंगे तब हम उन्हें प्राणवान सिद्ध कर सकेंगे। आशा है डॉ० नगेन्द्र जैसे सुयोग्य आलोचकों का दूसरा चरण भारतीय समीक्षा की परम्पराओं को प्राणवान सिद्ध करने की ओर उठेगा।

इस ग्रंथ में कतिपय छापे की अशुद्धियाँ भी रह गई हैं, जैसे क्रमणिका में सम्बन्ध निर्वाह, चमत्कार पद्धति और रस पद्धति, काव्य में कल्पना आदि पदावलियाँ दो बार आ गई हैं जिनकी एक ही बार आवश्यकता थी। शुक्लजी की निधन तिथि पृष्ठ ६२४ पर सन् १९४० दी हुई है जो अशुद्ध है क्योंकि उनकी निधन तिथि १९४१ है। भारतीय काव्य शास्त्र की परम्परा में निश्चय ही भारतवर्ष की अनेक सहस्र शताब्दियों की संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन का इतिहास निहित है अतएव इसकी सामग्री सञ्चयन का कार्य बहुत ही अध्यवसाय, धैर्य एवं क्षमता की आवश्यकता रखता है। इस गुरुतर कार्य के सम्पादन का जो प्रयास इस ग्रंथ में किया गया है इसके लिए इस ग्रंथ के सम्पादक तथा इसके विभिन्न अंशों के अनुवादक एवं नियोजक हमारे साधुवाद के पात्र हैं।[1]

---

१ ले० डॉ० नगेन्द्र प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

रामरतन भटनागर

आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान

बीसवीं शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मनोविज्ञान के अन्तर्गत मनोविश्लेषण शास्त्र का विकास है। इस नये शास्त्र की उपपत्तियों ने मानव जीवन सम्बन्धी हमारी उस उदात्त धारणा को चुनौती दी है जो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में प्राणी शास्त्र और भौतिक विज्ञान की शोधों में जन्म लेती है और जो मनुष्य को जीवन विकास के मूर्धन्य पर स्थापित करती है। उसने अन्तश्चेतन के गुहागर्त में छिपे हुए मानव के उस पशुत्व पर प्रकाश डाला है, जो समाज संस्कृति द्वारा दुर्दमनीय वासनाओं के दमन में हमारे भरता हुआ जीता है और जरा सी भी असावधानी पाकर हमारे नैतिक निरोधों को चकनाचूर कर डालता है। इसमें सन्देह नहीं कि इस नये शास्त्र ने मानव जीवन की सीमाओं को विस्तृति दी है और मनोविज्ञान को अन्तरस्थ जीवन का पर्याय बना दिया है। आधुनिक साहित्य में मनोविश्लेषण शास्त्र का सबसे अधिक प्रसाद कथा साहित्य को मिला है। एक तरह से मनोवैज्ञानिक उपन्यास के रूप में उपन्यास की एक नई ही कोटि बीसवीं शताब्दी में जन्म लेती है और उपन्यास में गृहीत जीवन का रूप ही नहीं, औपन्यासिक कथा शिल्प भी बदल जाता है।

कथा साहित्य का उपजीव्य मानव जीवन है। जहाँ मानवेतर जीवन को कथा का रूप दिया गया है, वहाँ उस पर मानव जीवन की द्विधाओं, असंगतियों, भावनाओं और प्रक्रियाओं का ही आरोप है। मानव सभ्यता के विकास के आरम्भिक युगों में नाटक और महाकाव्य मानव जीवन की अभिव्यक्ति के लिए चुने गए और उनमें पात्रों के बहिर्द्वन्द्वों, कार्य कलापों एवं नैतिक असंगतियों को अभिव्यक्ति का विषय बनाया गया। यह नहीं कि मनुष्य का आन्तरिक जीवन उनमें है ही नहीं, परन्तु वह अपनी सीमाओं के साथ है। ग्रीक नाटकों की अनेक मनोग्रन्थियों का उद्घाटन फ्रायड ने किया है और उसके आधार पर अपने मनोविश्लेषण शास्त्र को पुष्टि दी है। परन्तु आभ्यन्तर जीवन का सच्चा स्वरूप हमें कथा साहित्य में ही मिलता है। सत्रहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक अथवा फील्डिंग से लेकर दस्तोएवस्की तक कथा साहित्य की प्रगति उपन्यास के आभ्यन्तर प्रयाण की कथा है, परन्तु प्रारम्भ से ही उपन्यास में मनोमयता की प्रधानता रही है। महान् कथाकारों ने अपनी विचक्षण अन्तर्दृष्टि के सहारे जीवन के सूक्ष्म और दुर्गाह्य उतार चढ़ाव देखे हैं और चेतना प्रवाह की अतल गहराइयों का स्पर्श किया है। उन्होंने सम्पूर्ण अविभक्त और अखण्ड जीवन को वाणी दी है। अन्तरंग जीवन को उन्होंने बहिरंगी क्रियाकलापों की भूमिका पर से देखा है। वास्तव में तुर्गनेव (१८१८ १८८३), दस्तोएवस्की (१८२१ १८८१), टालस्टॉय (१८२८-१९१०), प्रॉउस्त (रचनाकाल १९१३ १९२६), जॉर्ज मैरेड, स्टेण्डहल (रचनाकाल, १८३० १८३९) और हेनरी जेम्स (१८४३ १९१६) के उपन्यासों में अज्ञात रूप में मनोवैज्ञानिक स्थितियों एवं तथ्यों की जैसी अन्तर्दृष्टिपूर्ण योजना है, वैसी नवीनतम कथाकारों की कृतियों में नहीं मिलती, यद्यपि उनके पीछे कई दशकों की मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों और वृत्ते तिहासों की शृङ्खला है। गत्यात्मक जीवन के चेतनामूलक प्रवाह को इन कथाकारों ने अत्यन्त निकट से और बारीकी से देखा है। इसीसे हम उन्हें अलौकिक दृष्टि सम्पन्न कहते हैं।

परन्तु १८६५ में फ्राइड द्वारा जिस नवीन प्रयोगात्मक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की नींव पड़ी, वह शीघ्र ही मनोविज्ञों की गोष्ठी से बाहर निकलकर कथाकारों की प्रेरणा बन गया और १९२० के बाद के कथा साहित्य को इन नई उपपत्तियों ने सघन रूप से प्रभावित किया। पहले जहाँ मनोविज्ञान उपन्यासकार का साधन था, वहाँ अब वह साध्य बनता जा रहा है। उपन्यास आन्तरिक जीवन में सिमट गया है और वह आज अन्तर्जगत् के पूर्वापर विच्छिन्न, अवचेतनमूलक, अहेतुक विस्फोट का लीला भवन बन गया है। प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ डॉ० देवराज उपाध्याय के 'आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान' में पिछले २५ वर्षों के हिन्दी कथा-साहित्य को मनोविश्लेषण के चार पाँच प्रमुख 'स्कूलों' की उपपत्तियों द्वारा परखा गया है। ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत पी एच० डी० प्रबन्ध के रूप में प्रकाशित है। आरम्भिक अध्यायों में शोधकर्ता ने मनोविश्लेषण शास्त्र के विभिन्न पुरस्कर्ताओं, विशेषत फ्राइड एडलर युग की मान्यताओं पर प्रकाश डाला है और गेस्टाल्टवाद जैसी उप शाखाओं की भी चर्चा की है। इसी भूमिका पर अगले अध्यायों में प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, यशपाल और कतिपय अन्य कथाकारों के कला यत्नों की परीक्षा की गई है। प्रेमचन्द के साहित्य पर मनोविज्ञान की प्रत्यक्ष छाप नहीं है, परन्तु कला विकास के साथ उनकी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मतर होती गई है और उन्होंने वैयक्तिक एव सामाजिक जीवन की प्रक्रियाओं को विचारक की सूक्ष्मता और कलाकार की सहृदयता से पकड़ा है। वास्तव में प्रेमचन्द उन्नीसवीं शती के महान् कलाकारों के साथ हैं और उनके साहित्य में मनोविज्ञान साधन है, साध्य नहीं। मनुष्य के आन्तरिक जीवन में उन्होंने सैर की है, उसमें कुत्सा और निरोध देखे हैं, परन्तु उनकी कला में खण्ड मानव नहीं, सम्पूर्ण अन्तर्योजित मानव ही उभरा है। मनोविश्लेषण का आग्रह (या दुराग्रह ?) जैनेन्द्र के पदार्पण से शुरू होता है और 'परख' में उसकी पहली मनोवैज्ञानिक अभिव्यञ्जना है। स्वयं प्रेमचन्द ने 'परख' की शैली की प्रशंसा की थी, यद्यपि वे उसके अति आदर्शवादी अन्त से सहमत नहीं थे। जो हो, यह स्पष्ट है कि मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की उपपत्तियों का सोद्देश्य उपयोग जैनेन्द्र से आरम्भ होता है और अज्ञेय तथा इलाचन्द्र में उसका उभार इतना बढ़ जाता है कि कथा प्रवाह एवं चरित्र विकास में बाधा पहुँचती है।

डॉ० देवराज उपाध्याय की यह शोध हिन्दी उपन्यास साहित्य का नवीनतम अध्याय लेकर चलती है और यद्यपि कहीं कहीं मनोवैज्ञानिक आरोपों एवं मनोविश्लेषणीय तथ्यों में पूर्व ग्रह दिखलाई पड़ता है, तथापि यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी सीमाओं को स्वीकार करते हुए ही लेखनी चलाई है और उपन्यास की नई प्रगति को परखने के लिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि देकर उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। ज्ञात रूप से मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण का जहाँ संकेत मिला है, वहाँ वृत्तेतिहासों से तादात्म्य दिखाकर अथवा जाने माने सिद्धान्तों की ओर इंगित कर उन्होंने नई औपन्यासिक कला की मनोमयता और विज्ञान बद्धता की सूचना दी है। इसमें सन्देह नहीं कि इससे खोज की नई दिशाएँ उद्घटित हुई हैं और साथ ही आधुनिक उपन्यास कारों की सीमाएँ भी सामने आई हैं। वे सम्पूर्ण मानव को न लेकर खण्ड मानसिक जीवन को लेकर चलते हैं और उनके हाथ में उपन्यास अपनी 'महाकाव्यता' खोकर गीतात्मक, रहस्यमय और मायाकुल बन गया है। स्पष्ट ही इससे हानि हुई है क्योंकि जीवन की अखण्डता, निरन्तता और ऊर्ध्वमूलकता की ओर से हमारी दृष्टि हट गई है और हम खण्डित, क्षुद्र और निम्नग

व्यथा के रहस्यमय आन्दोलनों के इतिहासकार बनकर रह गए हैं। कहा जाता है कि इससे उपन्यास की रसमूलकता और चरित्रनिष्ठा नष्ट हुई है तो उसे नई सवेद्यता, नई आन्तरिकता और नई सांकेतिकता भी प्राप्त हुई है। परन्तु उस सवेद्यता का क्या मूल्य होगा जो हमें जीवन के प्रति श्रद्धालु, विद्रोही और अनास्थापूर्ण बनायगी और उस आन्तरिकता से हम क्या सिद्ध कर सकेंगे जो अतर्क्य एव असगति पर आधारित होगी? जो हो, स्पष्ट ही परिस्थिति विषम है और इसी विषमता को दृष्टि में रखकर कदाचित् पश्चिम में उपन्यास की मृत्यु की बात चली है।

यूरोप में अनास्था का युग पहले महायुद्ध के बाद आरम्भ हुआ। जिसमें पुरातन सभी मूल्य असिद्ध हो उठे थे। नई पीढ़ी की नैतिक और आध्यात्मिक जीवन में अराजकता का अनुभव हुआ परन्तु न तो उसमें नये मूल्यों के निर्माण की शक्ति थी, न तत्सम्बन्धी धारणा के विकास की। फलस्वरूप सर्जनात्मक चिन्तन और सक्रियता का लोप हो गया। ऐसे समय में फ्राइड एडलर-युङ्ग के आविष्कार तन्त्र बन गए और मानव जीवन को 'केस हिस्टरी' कोष्ठ में ढूँढा जाने लगा। रुग्ण और विकृत मनस् मानदण्ड बन गया, क्योंकि मनोविश्लेषण की नई खोजों का यही आधार था। प्रतीक, स्वप्न, हिस्टीरिया, अन्तर्स्वगत, चेतना प्रवाह, 'फ्लैश-बैक' आदि अभिव्यञ्जना शैलियों को प्रधानता मिली और दुर्बल व्यक्तित्व, ग्रन्थग्रस्त, स्वय पीड़ित, पराक्रान्त मानव के रूप में एक नया नायक उपन्यास को मिला। कथा साहित्य हेमलेटों से भर गया और एक प्रकार से अस्पताल ही मानव जीवन का प्रतिनिधि हो गया। फलस्वरूप जीवन के प्रति हमारी आस्था डिगी और हम स्वय अपने कला के शीश महल में बन्दी हो गए। यौन विकृतियों, रुग्ण मन स्थितियों और अतिभावुक क्षणों पर किसी स्वस्थ जीवन दर्शन का निर्माण असम्भव है। रोगी मानस में पुनर्स्मरण प्रक्रिया द्वारा अवचेतन के उभारने का तन्त्र अस्थायी और असाधारण है और रोगी के स्वस्थ होते ही वह समाप्त हो जाता है। परन्तु उपन्यासकारों ने रोग को ही उपचार मान लिया और नैतिक निरोधों एव चेतन मन की सुदृढ़ धारणाओं और मूल्यगत भावनाओं को एकदम अस्वीकार कर दिया। चेतना प्रवाह पद्धति में चेतन मन की क्रियाओं और हृदय की सुदृढ़ सवेदनाओं का उपयोग नहीं किया जाता और इसका फल यह हुआ है कि रुग्ण प्रतीकों और जड़ जीवनादर्श के स्थान पर हम एक दूसरे प्रकार की और भी जटिल रूढ़िबद्धता के शिकार हुए हैं। चेतन अचेतन, अन्तर्बहि, चिन्तन कर्म के द्वन्द्वों का समाहार आधुनिक कथा साहित्य नहीं कर सका तो उपन्यास की बोधगम्यता और प्रतीकात्मकता शीघ्र ही नष्ट हो जायगी और वह प्रलाप मात्र रह जायगा। इस सदर्भ में डॉक्टर उपाध्याय का यह शोध ग्रन्थ प्रयोक्ता कथाकारों और सुधी पाठकों के लिए चेतावनी भी है।

यह स्मरण रखना होगा कि जीवन का महत्तम मनोविश्लेषण शास्त्रों और मनोवैज्ञानिक उपपत्तियों से बाहर है और उसे किसी भी प्रकार 'वादों' में नहीं बाँधा जा सकेगा। साहित्य में जीवन की आन्तरिकता और विश्रृङ्खलता भी है, परन्तु न तो आन्तरिकता कार्य व्यापार की विरोधिनी है, न विश्रृङ्खलता अराजकता का दूसरा नाम है। कलागत सौष्ठव और बोधमयी सुचारुता के अभाव में आज का उपन्यास ऐसा तिलिस्म बना जा रहा है जिसकी कुञ्जी मनोवैज्ञानिकों के हाथ में है, साहित्यिकों के हाथ में नहीं और जो महान् को क्षुद्र बनाकर ही अपनी सार्थकता प्रकट कर सकता है। निश्चय ही यह परिणति चिन्त्य है। मनोविश्लेषण जहाँ उपन्यासकारों की

अन्तर्दृष्टि को पैनी और सूक्ष्म बनाता है, अन्तर्जगत् की भूलभुलैयों में उतरने के लिए धारणा सूत्र देता है, अथवा जीवन की असंगतियों को संस्कारजन्य बनाकर मन स्वास्थ्य के लौटाने में सहायक होता है, वहाँ तक उसकी उपादेयता में कोई सन्देह नहीं हो सकता। वह उपन्यासकार की अन्तर्दृष्टि का स्थान नहीं ले सकता। मनोविश्लेषण मनुष्य के मन को खण्ड खण्ड कर उसकी परीक्षा करता है, परन्तु इन असम्बन्धित, अनगढ़ मानस खण्डों को अन्तर्योजित कर चेतना प्रवाह की चरित्रमूलक अभिव्यञ्जना उपन्यासकार का काम है। एफ० एल० लुकास ने अपने ग्रंथ 'लिटरेचर एण्ड साइकालोजी' में शेक्सपियर के प्रमुख नाटकों का विश्लेषण करते हुए जो 'रेख' (वृत्त) दिए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ महान् कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा स्वकीय वैभव की सृष्टि करता है, वहाँ मनोविद् के पल्ले वास्तविक जीवन की अनगढ़ ट्रेजी कॉमेडी ही पड़ती है। यह अवश्य है कि मनोशास्त्र के अध्ययन से जीवन के प्रति हमारे अभिजात निरोध नष्ट हो जाते हैं और अन्तमन के क्षुद्रतम, कुत्सापूर्ण, असंतुलित स्पन्दन सत्य के अविभाज्य पहलू बन जाते हैं। परन्तु इस नये मनोज्ञान को हमें प्रत्यक्ष जीवनानुभूति से पुष्ट करना होगा और उसकी अभिव्यक्ति कला औपन्यासिक परम्परा से सीखनी होगी। आज के अतिवादीय दृष्टिकोण से आगे बढ़कर जब हम मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण को चेतन मन की समष्टि से संचालित कर सकेंगे, तभी नई, स्वस्थ और प्रगतिशील औपन्यासिक कला की सृष्टि होगी। उस समय हम पीछे मुड़कर अपने १० ५० के कथा साहित्य में वे अनुकरण, आरोप और असंगतियाँ भी देख सकेंगे जिनका आलोच्य ग्रंथ में संकेत मात्र है।

अन्त में एक बात ग्रंथकार की शैली के सम्बन्ध में भी कहनी है। वैज्ञानिक शोध में तक संगति और विषय निर्वाह का तरतम विकास वाञ्छित है, परन्तु स्थान स्थान पर ग्रंथकार विषय से हटकर काव्य शास्त्र, दर्शन, नीति आदि प्रसंगेतर विषयों को उठा लेता है। इससे जहाँ रोचकता बनी है, वहाँ विवेच्य में हलकापन भी आ गया है। कथाकारों के मनोविज्ञान को विषयान्तर मानकर लेखक ने उसे ग्रंथ में स्थान नहीं दिया है। इससे इस बात का पता नहीं लगता कि नई प्रवृत्तियों के ग्रहण के मूल में कथाकार की सूझ-बूझ ही है अथवा कोई अन्त प्रवृत्ति। परन्तु सम्भवतः यह विषय ही गहन और विवादग्रस्त था। यह निश्चय है कि प्रतिपाद्य विषय और विवेचन की सीमाओं में बँधकर भी यह ग्रंथ नवीन दृष्टि की सूचना देता है और आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष का उद्घाटन करता है। शोधकर्ता इस ग्रंथ के लिए बधाई का पात्र है।

इस ग्रंथ के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नये उपन्यास में उपन्यासकार की अन्तर्दृष्टि का स्थान मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण शास्त्र ने ले लिया है और कहीं प्रक्षेप से, जैसे जैनेन्द्र में, कहीं बलपूर्वक, जैसे अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी में, मनोविश्लेषणीय सिद्धान्तों एवं परिस्थितियों का आरोप है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र में जो अस्पष्ट, रहस्यप्राण और बुद्बुद् के रूप में है, जो धर्म चिन्तन और गांधीवाद के मिश्रण से जटिल हो गया है, वह अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी की रचनाओं में दिन की भाँति स्पष्ट है। परन्तु इलाचन्द्र जोशी का साहित्य नये ज्ञान को औपन्यासिक कला से मण्डित नहीं कर सका है। वह उनके शास्त्रीय अध्ययन से बोझिल है। मनोविज्ञान का सबसे सुन्दर उपयोग अज्ञेय के 'शेखर' और 'नदी के द्वीप' उपन्यासों में मिलता है। यद्यपि अन्य कलाकारों में भी सुन्दर प्रकीर्णक मिल सकेंगे

परन्तु इन दो रचनाओं में मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण जीवन की विराट् भूमि और अन्तर्मन की सूक्ष्मतम संवेदनाओं को लेकर साधक हो उठा है। इन दो रचनाओं को हम परिनिष्ठित साहित्य के समकक्ष उपस्थित कर सकते हैं। ग्रन्थ में अनेक अन्य रचनाओं के साथ इन दोनों ग्रन्थों का भी सुविस्तृत विवरण है। प्रकार बराबर पीछे मुड़ मुड़कर प्रेमचन्द और प्रसाद के साहित्य की ओर देखता है और इससे नई गतिविधियों को ऐतिहासिक परिपार्श्व मिल जाता है। कहीं कहीं आरोप स्पष्ट है, जैसे 'दादा कामरेड', 'दिव्या' और 'चढ़ती धूप' में 'वार मर्चर' के मनोविज्ञान का आरोप। परन्तु इन उपन्यासों पर शोलोखोव आदि जिन रूसी उपन्यासकारों की छाप है उनमें इस प्रकार की जीवन स्थितियाँ उभरी हैं और इन ग्रन्थों पर रूसी साहित्य के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकेगा। इनके लिए हमारे उपन्यासकार मनोविदों के उतने आभारी नहीं हैं जितने महान् साहित्यकारों के। परन्तु कथा साहित्य में मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों की स्थापना के उत्साह में इस प्रकार के आरोपों से बचना कुछ कठिन भी था, फिर भी ऐसी असंगतियाँ कम हैं और विचारणीय रचना के रहते हुए भी डॉ० देवराज उपाध्याय का यह खोज ग्रन्थ आधुनिक समीक्षा में एक नया अध्याय जोड़ता है।[1]

❂

कमलाकान्त पाठक

पर आँखें नहीं भरीं

नई कविता के सुधी और सधे कवियों में डॉक्टर शिवमंगल सिंह 'सुमन' का स्थान निश्चित प्राय है। वे यौवन की ऊष्मा के कवि बनकर हिन्दी में आए। उन्होंने प्रेम गीतों का ही स्वर संधान नहीं किया, वरन् जागृति और प्रगति का ताना बाना भी रचा। कुछ समय के लिए वे अञ्चलजी की भाँति प्रगतिवादी कवि भी रहे। उन पर कदाचित् भारतीय परम्परा का ऐसा आधिपत्य था कि वे पूर्णतः सामाजिक यथार्थवादी अथवा ऐतिहासिक भौतिकवादी कवि न हो सके। निश्चय ही वे समाजवादी प्रभावों के कारण अपने कवि के युग द्रष्टारूप को परिष्कृति दे सके हैं, पर उन्हें उद्बोधक भी बनना पड़ा है। उन्होंने जीवन के सम्बन्ध में अपना विचार, मन्तव्य अथवा दर्शन प्रकट किया है और मैं कहूँगा कि वह राष्ट्रीय चेतना तथा सांस्कृतिक परम्परा का स्वत्वाधिकार है, विदेशी अथवा विजातीय वस्तु नहीं। सुमनजी को वर्तमान युग, उसकी परिस्थितियाँ तथा समस्याएँ उद्बुद्ध करती रही हैं और इसी कारण उनका काव्य कभी असामाजिक नहीं हुआ। उनकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी है।

सुमनजी अकुण्ठित व्यक्तिवादी कवि हैं, अतएव वे अपने सामाजिक परिवेश के प्रति अनुत्तरदायी नहीं हैं। उन्होंने 'पर आँखें नहीं भरीं' में अहम् अथवा वैयक्तिक सुख दुःख का प्रकटीकरण ही नहीं किया। वे व्यक्ति के प्यार को जीवन का विस्तार देते हैं, जीवन को आशा को आदर्शों

1 ले०, डॉ० देवराज उपाध्याय, प्रकाशक, साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद।

के विश्वास से साधते हैं तथा गति के उत्साह का स्नेह सम्बल से शृंगार करते हैं। उनका प्रेम प्रौढ़ हो चला है और जीवन लालसा उसी अनुपात में बढ़ गई है। वे विशुद्ध रूप से प्रगति अथवा प्रयोग की भूमिका में नहीं हैं। सार्थकता अथवा मूल्य की अड़चनें भी उन्हें नहीं व्यापीं। यथार्थवादियों की उपदेशात्मकता, अन्तश्चेतनावादियों की प्रतीक पद्धति तथा जनवादियों की आञ्चलिक या ग्राम्यशैली उन्हें छू भर गई है। कहीं कहीं तालियों की चिन्ता भी कविताओं के गठन और वचन भंगिमाओं के चयन में झलक उठती है, क्योंकि 'युग की कसौटी पर चढ़ी है आज मेरी साधना'। अकुण्ठित व्यक्तिवादी का आत्म परिचय यह है—

मैं अमर पथिक, परिवर्तन का विश्वासी,
जीवन मेरा अधिकार, अमरता दासी।

पर आँखें नहीं भरीं' मुक्तक गीति संग्रह है। सभी रचनाएँ आत्माभिव्यञ्जक नहीं हैं, पर सर्वत्र कवि का जीवन दर्शन सुस्पष्ट है। आग्रह, निवेदन और उपदेश के साथ साथ विषय वस्तु और विवरण भी गीति काव्य के उपादान बनाये गए हैं। गीतिकार ने प्रेम और जीवन के रहस्य तथा सौन्दर्य की कला सौन्दर्य का मूल तत्त्व समझा है। उसकी काव्यानुभूति जीवन के सत्य का उद्घाटन करने में सचेष्ट रही है। उसने प्रकृति के सौन्दर्य चित्र अंकित किए हैं तथा राष्ट्रपिता को भी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की हैं। उसकी वाणी में असंयम और अस्पष्टता, संस्कारहीन रसिकता और सामाजिक कुत्सा तथा सौन्दर्यापकर्ष और विशेषज्ञता नहीं आने पाई है। पाण्डित्य का अनावश्यक बोझ उनके काव्य पर नहीं है। मेरा मन्तव्य यह नहीं है कि सुमनजी का गीत सौष्ठव अप्रतिम है। उनमें सौन्दर्य संवेदन, शब्द संगीत, अर्थ ध्वनि, चित्रात्मकता, उदात्त कल्पना अथवा प्रगल्भ भावुकता सम्बन्धी अनेक अभाव भी हैं। मेरा अभिप्राय यह है कि नई गीति रचना के क्षेत्र में उनका कार्य अगौरवपूर्ण नहीं है।

प्रस्तुत गीति संग्रह में चवालीस रचनाएँ हैं। कुछ रचनाएँ ऐसी हैं, जिन्हें कवि ने नाम दिया है—'पर आँखें भरीं भरीं'। आँखें भर आना मुहावरा आँखों के अश्रुपूर्ण होने का अर्थ द्योतक है। गांधीजी के सम्बन्ध में कवि की रचनाएँ शोक व्यञ्जक होने के कारण आँसू भरी आँखों के अनुभाव को सार्थकता प्रदान करती हैं। 'पर आँखें नहीं भरीं' शीर्षक के अन्तर्गत अड़तीस रचनाएँ हैं और यह वाक्यांश नितान्त भिन्न भाव का बोध कराता है। यहाँ 'आँखें नहीं भरीं' से आँख भर न देख पाने का अर्थ ग्रहण किया गया है। इस प्रकार कवि ने प्रचलित मुहावरे को नई अर्थ दीप्ति दी है। आँखें आँसू भरी नहीं हैं, यह कहना गलत है। यहाँ कवि अतृप्ति को लक्षित कर रहा है। यह अतृप्ति क्या है? यह अञ्चलजी की आकुल तृष्णा और गरजती अतृप्ति नहीं है। यह बच्चनजी की कुण्ठित लालसा और निराशा भरी प्यास भी नहीं है। सुमन की आसक्ति स्थूल शरीरी अथवा मांसल नहीं है, वह सूक्ष्म, अशरीरी अथवा वायवी भी नहीं है। वह लौकिक है, किन्तु मानसिक भी, यथा— एक बूँद भी किन्तु कि जिसकी तृष्णा नहीं मरी। कवि का प्रेम रहस्य इन पंक्तियों में सुस्पष्ट है—

चलन की साधना संसार में सस्ता नहीं होती,
मधुर मुस्कान की कीमत चुकाते आँख के मोती।
न निसक आदि में है योग अथवा अन्त में बाकी,
तुम्हारे स्नेह की दो बूँद जीने को बहुत काफ़ी।

उसका प्रेमी शालीन है, वह समझता है कि

दूर हूँ जितना, तुम्हारे पास उतना ही।

वह जीवन की सतत गतिशीलता को जागरूक मनुष्य का मुख्य लक्ष्य समझता है। यह गतिशीलता वर्ग संघर्ष के ऐतिहासिक तथ्य की व्याख्या या विवेचना नहीं करती, वरन जीवनोत्थान का महान् लक्ष्य स्थिर करती है। उदाहरणार्थ कवि की गर्वोक्ति द्रष्टव्य है—

मैं स्वयं प्रकाश बना चलता आगे आगे,
भूले भटको, तुम अपना पथ पाओ,
पीछे पीछे आने वाले ओ अनुरागी,
मेरे चरणों के चिह्न मिटाते आओ,
जिससे न अमरता की दुलना तुमको बाँधे,
मिट्टी की जयजयकार मनाते जाओ,
मेरी ज्वाला से परिचित हो पाए हो तो,
तुम भी अपना आकुल अन्तर सुलगाओ।
जब जब जीवन की ज्योति, मन्द पड़ती दीखे—
संघर्षों के वह्नि तल से टकराओ!

और गांधीजी की हत्या के सम्बन्ध में उसका मत है कि यह मानवता को पशुता की सबसे बड़ी चुनौती है। गांधीजी को उसने मानवादर्श का प्रतीक माना है। उसकी एतद्विषयक उक्ति है कि—

यह वध है पुण्य प्रसू धरती की परम पुनीता सीता का,
यह वध युग युग के काल पुरुष का, वासुदेव का, गीता का।
अब भटको तम में सदियों तक दीपक की ज्वाला रूठ गई,
ओ धर्म धुरीणो होश करो, अब धुरी धर्म की टूट गई।

अनेक स्थलों पर सुमनजी सूक्ति रचना करने में प्रवृत्त हुए। यह भी उतना ही बड़ा खतरा है, जितना कि उपदेशात्मकता। उन्होंने 'साँसों का हिसाब', 'कलाकार के प्रति' आदि रचनाओं में रूखे उपदेश दिए हैं। उन्होंने प्रकृति के कतिपय सौन्दर्य चित्र अंकित किए हैं, जिनमें अनेक प्रकार की काव्य पद्धतियों का सत्कार हुआ है, यथा 'चैतापूँजी', 'फागुन में सावन', 'आज रात भर बरसे बादल' आदि। 'आज की साँझ सलौनी बड़ी मन भावनी री' में सवैया की पुरानी गीति छटा प्रदर्शित की गई है। उन्होंने 'कितनी बार अपनपो छूटा' जैसे दैनिक व्यवहार के प्रातिक प्रयोग किए हैं तथा 'मृत्तिका का दीप' आदि रूढ़ काव्य प्रतीकों का व्यवहार भी। कहीं 'चाँदनी छाई, किसीकी याद आई' जैसा भावोद्दीपन है, तो कहीं प्राकृतिक उपमानों का नया विधान, यथा—

काँस सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक,
बाढ़ सा उमड़ा हृदयगत प्यार।

इस संग्रह की रचनाएँ दीर्घकाल व्यापी जान पड़ती हैं, पर गीति रचना सर्वत्र सुघरता लिये हुए है। गीति शिल्प अनेक रूपात्मक है और छन्द योजना वैविध्यपूर्ण, पर अभिव्यक्ति में अस्पष्टता और शिथिलता प्रायः नहीं आने पाई। 'टूटी डोर' में मुक्त छन्द

की यथार्थवादी चित्रण शैली का आग्रह प्रत्यक्ष है। संक्षेप में, 'पर आँखें नहीं भरीं' पढ़कर आँखें भर आना कठिन है और अनुभूति बनी रहना कष्ट साध्य, पर इसे सुन्दर काव्य की संज्ञा दी जानी चाहिए। अनास्था और पस्ती के वातावरण में आस्था, उत्साह और उल्लास भरी यह कृति निःसंदेह आकर्षक ज्ञात होगी।[1]

६

कमलाकान्त पाठक

पद्मावत—मूल और संजीवनी व्याख्या

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल की नई पुस्तक 'पद्मावत और मूल संजीवनी व्याख्या' पाण्डित्यपूर्ण और परिश्रमसाध्य रचना है। इसमें लेखक ने जायसीकृत पद्मावत की कोरी टीका ही नहीं लिखी, उसने मध्ययुगीन भारतीय साहित्य के व्यापक अध्ययन के आधार पर मूल ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्दों के अभिप्रेत अर्थों की छानबीन करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसका कथन है कि "पद्मावत की इस टीका में हमारा प्रथम और अन्तिम कर्तव्य जायसी के शब्दों और अर्थों का स्पष्टीकरण ही रहा है।" इस दृष्टि से यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अग्रवालजी ने जायसी की उपलब्ध सभी व्याख्याओं और टीकाओं से कहीं अधिक सफलता प्राप्त की है। उन्होंने शब्द के यथार्थ अनुवाद की वैज्ञानिक परिपाटी का आयास साध्य अनुसरण किया है। व्याख्याकार ने भारतीय साहित्य को दृष्टिपथ में रखा है, किन्तु वह विदेशी काव्य परम्परा, सूफी मत और सिद्धान्त, मध्येशिया के सौन्दर्य संस्कार और काव्यात्मक प्रतीक आदि स्पष्ट न कर सका। यह उसका क्षेत्र ही नहीं था। उदाहरणार्थ ४१ १७ का यह दोहार्थ लीजिए—

चारि बसेरें सौं चढ़ै, सत सौं चढ़ै जो पार।

इसका यह अर्थ किया गया है—'उस पर चार पड़ाव देकर चढ़ना चाहिए। जो सत्य से चढ़ेगा, वह पार पहुँच जायगा।' ये चार विश्राम स्थल क्या हैं? ये सूफी साधक की चार अवस्थाएँ हैं—शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत, जो स्पष्ट नहीं की गई।

माँग-वर्णन की यह अर्द्धाली लीजिए—

खाँडे धार रुहिर जनु भरा। करवत लै बेनी पर धरा। १०० ९

अर्थ हुआ—'या खाँडे की धार रक्त से भरी है, या किसी ने करवत लेकर वेणी पर रख दिया है।' इस वस्तूत्प्रेक्षा में फारसी काव्य के सौन्दर्य संस्कार सर्वथा स्पष्ट हैं। यह सौन्दर्य दृष्टि अभारतीय है। पर अग्रवालजी का समस्त प्रयास जायसी को भारतीय संस्कृति और काव्य परम्परा का कवि सिद्ध करने में प्रयुक्त हुआ है। खेद निवेदन यह है कि प्रेम की पीर के पराग्भी कवि जायसी को उनके पूरे परिवेश में न देखने के कारण व्याख्याकार की गृहीत प्रणाली और काव्य दृष्टि एकांगी हो गई है। यदि वह शुक्लजी की इस स्थापना को विस्मृत न करता कि इन उदार हृदय मुसलमान कवियों ने भारतीय जीवन में इस्लामी तत्त्वज्ञान की प्राण प्रतिष्ठा की है, तो वह जायसी के काव्य में केवल भारतीय तत्त्व चिन्तन, काव्य परम्परा, सामाजिक जीवन आदि का ही विश्लेषण न करता। वस्तुतः सामाजिक भूमिका पर जायसी समन्वयशील कवि सिद्ध होंगे। वे

१ ले० डॉ० शिवमंगलसिंह 'सुमन', प्र० राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

इस्लाम, उसके तत्त्व ज्ञान और फारसी काव्य से पृथक नहीं किये जा सकते। अग्रवालजी की विद्वत्ता संजीवनी व्याख्या में पद पद पर प्रकट होती है, किन्तु मैं आग्रह करूँगा कि जायसी को केवल अवधी भाषा और स्थानिक जीवन का ही कवि प्रमाणित नहीं किया जा सकता। शुक्लजी से लेकर अग्रवालजी तक सभी 'कौनु पानि जेहि पौनु न मिला' का अर्थ 'कौनसा पानी है, जिसमें हवा नहीं मिली' करते हैं, पर इसका प्रतीकार्थ क्या है और कोकिला को सम्बोधित करने से उसकी क्या संगति है, यह अस्पष्ट ही है। क्या कोकिला प्राण, जल, रक्त और पवन श्वास के प्रतीक नहीं हैं? यह केवल शंका है, मान्यता नहीं।

जायसी की साहित्यिक प्रतिष्ठा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की काव्य मर्मज्ञता और अध्यवसाय का सुफल है। उन्होंने न केवल पाठ शोधन किया, वरन् जायसी की अप्रतिम काव्य समीक्षा भी उपस्थित की। उनके पश्चात् अनेक छोटे बड़े काम हुए। डॉक्टर माताप्रसाद ने जायसी की रचनाओं का वैज्ञानिक पद्धति से सुसंपादित पाठ उपस्थित किया। जायसी के पाठ की स्थिरीकरण समस्या एक सीमा तक हल हो गई। उधर डॉक्टर वासुदेवशरण ने कुछ नई हस्तलिखित पोथियों का पता लगाया। उन्होंने डॉक्टर माताप्रसाद द्वारा स्थिर किये गए पाठ का प्राय उपयोग किया, पर अनेक स्थलों पर उन्हें नई प्रतियों का पाठ युक्तियुक्त प्रतीत हुआ अथवा प्रामाणिक ज्ञात हुआ। वे नये पाठ का सर्वांशत उपयोग न कर सके, क्योंकि माताप्रसादजी से भिन्न पाठ की आवश्यकता तभी प्रकट हुई, जब अर्थ की गुत्थियाँ सुलभ न सकीं। व्याख्याकार का लक्ष्य भी पाठ शोधन नहीं था। पाठानुसंधान का कार्य और आगे बढ़ाया जा सकता है। मनेर शरीफ, बिहार शरीफ, और रामपुर राज्य के पुस्तकालयों में पद्मावत की हस्तलिखित पोथियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें प्रथम दो फारसी लिपि में और अन्तिम अरबी लिपि में है। इन प्रतियों का समुचित उपयोग न माताप्रसादजी कर सके हैं और न अग्रवालजी। ज्यों ज्यों ऐसी पुरानी प्रतियाँ प्रकाश में आती जायँगी, त्यों-त्यों पाठ के स्थिरीकरण का काम और विकसित हो सकेगा। स्पष्टत अग्रवालजी ने डॉक्टर माताप्रसाद के जायसी विषयक कार्य की उपादेयता बढ़ा दी है। उन्होंने शुक्लजी से खण्डशीर्षक लिये हैं और माताप्रसादजी से पाठ सरणी। माताप्रसादजी की नई शोध 'मदरी बादसी' का पोथी शीर्ष (Title) उनके मत से 'काहरी नामा' हो सकता है।

अग्रवालजी ने पद्मावत के पाठ के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया है कि कवि की मृत्यु के पश्चात् क्लिष्ट भाषा और गूढ़ अर्थों के कारण लोगों को परेशानी होने लगी और पाठ के सरलीकरण की प्रवृत्ति क्रियाशील हो उठी। प्रस्तुत काव्य की सरल और क्लिष्ट ऐसी दो प्रकार की पाठ परम्पराएँ मिलती हैं। क्लिष्ट पाठ मूल पाठ के समीप है और वह माताप्रसादजी के द्वारा स्वीकृत है। सरल पाठ की परम्परा शुक्लजी के संस्करण में चरितार्थ होती है। अतएव व्याख्याकार ने क्लिष्ट पाठ को प्रामाणिक माना है और कतिपय स्थलों पर माताप्रसादजी से भिन्न पाठ भी स्वीकार किया है, यथा 'चित्रसम' के स्थान पर 'चतुरसम', 'अगवै' के स्थान पर 'दगवै', 'खड़गी' के स्थान पर 'खदगी' इत्यादि। इस प्रकार अग्रवालजी ने जायसी के मूल पाठ तक पहुँचने का सुनिश्चित उद्योग किया है। जायसी के सम्बन्ध में जितना भी कार्य हुआ है, वह उनके सम्मुख रहा है और उसे आगे बढ़ाने में वे कृतकार्य हुए हैं। शुक्लजी प्रवर्तक कार्य (Pioneering work) कर गए हैं और उसे विकसित करना विद्वानों का उत्तराधिकार है। पर

आज भी उनकी समीक्षा पश्चात्पद नहीं हुई और उनकी टिप्पणियाँ अग्राह्य अथवा भ्रामक सिद्ध न की जा सकीं।

पाठान्तरों का मुख्य कारण अर्थ की उलझन के कारण क्लिष्ट पाठ को सरल बनाना तो है ही, कुछ अन्य कारण भी हैं। अवधेतर प्रान्तों में प्रचार, लिपिकारों का प्रमाद, फ़ारसी लिपि का दोष, अन्य मतावलम्बियों द्वारा सत्कार, कतिपय साहित्यिक और आध्यात्मिक प्रसिद्धियों और मान्यताओं का लोप, इत्यादि ऐसे ही कारण हैं। अग्रवालजी ने इनमें से एक इस कारण का भी निर्देश किया है कि दोहा छन्द के पहले और तीसरे चरण में अथवा कहीं केवल तीसरे चरण में सोलह मात्राएँ रखने की अवधी काव्य में विशिष्ट परम्परा थी। सरल पाठ में सर्वत्र तेरह मात्राएँ कर दी गईं, जैसे 'सेवा करहिं नखत औ तराईं' (१०० ६) को 'सेवा करहिं नखत सब' बना दिया गया।

पाठ की समस्या सुलझने पर अर्थ की गुत्थियाँ भी खुलने लगती हैं। शिरेफ़, लक्ष्मीधर, मुंशीराम प्रभृति विद्वानों के अनुवादों में अर्थ की अनेक भ्रान्तियाँ रह गई थीं। जायसी के मूल पाठ का पर्याप्त निश्चय हो जाने पर अर्थ सम्बन्धी भ्रान्तियों की सम्भावनाएँ या भी कम हो जाती हैं और अग्रवालजी जायसी के मर्मज्ञ ही नहीं, मध्ययुगीन साहित्य की अन्तर्वर्ती सांस्कृतिक धारा के विशेषज्ञ हैं, अतएव उन्हें जायसी के अभीष्ट अर्थ तक पहुँच जाने में, विविध सन्दर्भ में प्रयुक्त अनेक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने में, विशिष्ट कृतकार्यता सुलभ हुई है, यथा—चौदीसा—स० कपिशीर्षक, हँथौडा—स० हस्तपाटक हाथ का कड़ा, मसवासी—एक मास उपवास करने वाला, सलौनी—सोने को साफ़ करने की प्रक्रिया का मसाला, रावन—स० रमणीय, रनवारी—स० रत्नमालिका रत्न परीक्षा की शलाकाएँ, तबल देइ डगा डुग्गी बजाकर डग भरते बढ़ा रहा हूँ, नाइत—स० नाइत्त सामुद्रिक व्यापारी, इत्यादि। कदाचित् ग्रामीण अवधी का पूर्वी रूप अग्रवालजी की मातृभाषा भी है। स्वयम् उन्हें अर्थ परिशिष्ट में अपनी कतिपय व्याख्याओं को अथवा शब्दानुवादों को संशोधित करने की आवश्यकता अनुभव हुई है। अतः यह सम्भावित है कि कई व्याख्याओं के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद हो तथा कतिपय नये संशोधनों की अनिवार्यता प्रमाणित हो जाय, पर इतना निश्चय है कि यह पद्मावत का अपने ढंग का अपूर्व व्याख्यात्मक अध्ययन है। 'भइ दुखार लीन्ह बनबासू' आदि का अर्थ उन्हें पूर्ण स्पष्ट नहीं है। उन्होंने प्रस्तुत अर्थ और मुद्रालंकार की सहायता से अप्रस्तुत अर्थ तो स्पष्ट किया ही है, पर नागमती पद्य में अर्थ के दो विकल्प रखे हैं। मैं समझता हूँ कि नागमती पद्य का प्रथम विकल्पार्थ ही यथार्थ अनुवाद है, शेष सम्भावनाएँ हैं।

अग्रवालजी की व्याख्या परक मौलिक सूझ का एक उदाहरण उपस्थित करना अप्रासंगिक न होगा। शुक्लजी के इस पाठ का 'मुहम्मद खेल प्रेम कर गहिर कठिन चौगान' का अर्थ शिरेफ़ के अनुसार इस प्रकार है—'मुहम्मद प्रेम का खेल चौगान की भाँति गहरा और कठिन है।' माताप्रसादजी का पाठ है—'मुहम्मद खेल प्रेम कर घरी कठिन चौगान।' व्याख्याकार ने न शुक्लजी का 'गहिर' पाठ, न माताप्रसाद जी का 'घरी' पाठ स्वीकार किया, क्योंकि फ़ारसी लिपि में 'घरी' और 'खरी' एक समान लिखे जाते हैं, बल्कि 'घरी' पाठ स्थिर किया। 'आइने अकबरी' के अनुसार चौगान के खेल में एक एक घड़ी खेलने के बाद निशाना बदल जाते हैं। अतएव नया अर्थ हुआ—'मुहम्मद खेल प्रेम से

होता है, बैर से तो युद्ध किया जाता है, चौगान के खेल को एक घड़ी भी कठिन है।' इस प्रसंग का चौगान परक, शृंगार परक और युद्ध परक, तीन प्रकार का अर्थ किया गया है। मैं कहूँगा कि बिहारी की रत्नाकरी टीका की भाँति पद्मावत के अध्येताओं को प्रस्तुत व्याख्या भी क्लासिक परिपक्व प्रतीत होगी। रत्नाकरजी साहित्यिक सन्दर्भ में व्याख्या करते हैं और अग्रवालजी तत्कालीन साहित्य और समाज के सन्दर्भ में। रत्नाकरजी की तलस्पर्शिता भावक की गहनता लिये हुए है और अग्रवालजी की तलस्पर्शिता पाण्डित्य का विस्तार। रत्नाकरजी काव्य रीतियों के कोविद हैं और अग्रवालजी भारतीय संस्कृति शास्त्र (Indology) के आचार्य। इन दो महत्त्वपूर्ण व्याख्याओं का यह अन्तर भी द्रष्टव्य है।

प्रस्तुत व्याख्या में साहित्यिक अध्ययन की प्रणाली नहीं अपनाई गई। जायसी की काव्य प्रवृत्तियों अथवा विशेषताओं का उद्घाटन भी नहीं किया गया। अग्रवालजी ने मध्य-युगीन भारत की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक पद्धति से और प्रचुर शास्त्र ज्ञान की सहायता से पद्मावत का शब्दानुसन्धान किया है। 'अष्टाध्यायी' और 'हर्षचरित' के उनके सांस्कृतिक अध्ययनों से अनुसन्धान की नई दिशाएँ प्रशस्त हुई हैं। उन्होंने 'पद्मावत' का सांस्कृतिक अध्ययन तो नहीं किया, पर वे इसी दृष्टिकोण से उसका अर्थ सौष्ठव अवश्य प्रकट कर सके हैं। साथ साथ पाठ-शोधन का पुनरावर्तन भी हो गया। उन्होंने जायसी को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से प्रभावित प्रबुद्ध कवि समझा है और टिप्पणियों में अपने विशाल ज्ञान का परिचय दिया है। उन्होंने पद्मावत विषयक समस्त साहित्य का आलोडन किया है और यह निश्चित है कि वे एतद्विषयक सन्दिग्धता का बहुत कुछ निवारण कर सके हैं।

कतिपय स्थलों पर अर्थ की खींचतान भी की गई है, जिनमें कुछ स्थलों पर पाठ-दोष सम्भव है, पर सर्वत्र यही बात शक्य नहीं है। उदाहरणार्थ अग्रवालजी को गोपालचन्द्रजी आदि की प्रतियों में ४७४-८६ दोहे का नया पाठ मिल गया और उसमें अर्थ-संगति भी है—

> बेनी कारी पहुप लै निकसी जमुना आइ।
> पूजा नन्द अनन्द सौं सेंदुर सीस चढ़ाइ॥

इसमें यमुना और कृष्ण के विवाह की लोक-कथा का संकेत और कालिय दमन की प्रसंग कल्पना तो है ही, पद्मावती का वह सौभाग्य और सौन्दर्य भी वर्णित है, जो शकुन विचार से राज्य सम्पत्ति का प्रदाता है। "जेहि की रिसि मरिए रस जीजै। सो रस तजि रिसि कबहुँ न कीजै।"—अर्द्धाली का अर्थ मैथिलीशरणजी के सुझाव पर परिशिष्ट में शुद्ध किया गया है। "घालि कसौटी दीजिए, कनक कचोरी भीख।" का अर्थ मेरी दृष्टि में खींचतान के बाद भी अस्पष्ट रह गया है। 'घालि' का अर्थ फेंककर नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध 'कनक कचोरी' से है, 'रतन' से नहीं। इसका अर्थ कसकर या चढ़ाकर है। स्वर्ण कसौटी पर कस लिया जाय और तब उसमें रत्न जड़ा जाय। स्वर्ण रूप पद्मावती को प्रेम कसौटी पर कसकर रत्न रूप रत्नसेन को सौंप दो। अर्थ द्वारा भाव स्पष्ट न होने का एक उदाहरण देखिए—"भौंहैं धनुक धनुक पै हारे। नैनन्ह साधि बान जनु मारे।" (२६८ २) इसका अर्थ किया गया है—"भौंहें धनुष सी थीं, पर काम का धनुष भी उनसे हार गया। वे मानो नेत्ररूपी बाणों का सधान करके चला रही थीं।" यथार्थ भावार्थ यह है कि पद्मावती की भौंहें धनुषाकार या धनुष रूप थीं, अर्थात् वक्रिम थीं। पर उनका बांकपन काम के धनुष के टेढ़ेपन को परास्त कर रहा था। वे

पुष्प शायक से अधिक ममान्तक थीं। नेत्रों को साधकर, डोरी खींचकर, वे मानो अपांगों या चितवन के बाणों का आघात करती थीं। आशय यह है कि भौंहों और नेत्रों का सम्मिलित सौन्दर्य धनुष को चढ़ाना है, जो कटाक्ष रूप बाणों की वर्षा करता है। दृष्टि प्रहार निश्चय ही काम प्रहार का अपेक्षा अधिक आघातकारी था। रूपक, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा और यमक की इस संसृष्टि का मूल सौन्दर्य अनुद्घाटित रह गया। ऐसे कई उदाहरण और दिये जा सकते हैं।

डॉक्टर वासुदेवशरण ने अपने संजीवनी भाष्य का एक सुविस्तृत प्राक्कथन उपस्थित किया है। इसमें उनकी गवेषक शक्ति का पूरा पूरा परिचय मिल जाता है। वे जायसी की चित्रण कला पर विशेष रूप से मुग्ध हैं, साथ ही वे अपने प्रिय कवि को पूर्ण रूप से भारतीय जीवन का कवि समझते हैं। जायसी भारतीय जीवन में इस्लाम की चेतना लेकर प्रविष्ट हुए थे, अतएव उन्हें विशुद्ध राष्ट्रीय कवि, जैसे तुलसीदास, नहीं कहा जा सकता। कबीर की भाँति वे क्रान्तिकारी नहीं थे, पर उन्होंने वही कार्य प्रेमभाव और मेलजोल के व्यवहार से सम्पादित किया था। जायसी की अन्य विशेषताएँ, जैसे प्रेम की विदग्ध व्यञ्जना, मार्मिक स्थलों की योजना, उदात्त ऐतिहासिक कथावस्तु, भाषा की विलक्षण शक्ति, जीवन के गम्भीर सर्वांगीण अनुभव, सशक्त दार्शनिक चिन्तन इत्यादि, उन्हें आकर्षित करता हैं। पर व्याख्याकार ने इनका संकेत-भर दिया, विवेचन नहीं किया, क्योंकि उसका कार्य भाष्य लिखना था, आलोचना करना नहीं।

अग्रवालजी ने पद्मावत की उपलब्ध प्राचीन प्रतियों का विवरण देते हुए अपने पाठान्तरों तथा नये अर्थों का प्राचीन पाठों और अर्थों के समकक्ष तुलनात्मक निरूपण किया है। उन्होंने अवधी भाषा के साहित्य की एक सुदीर्घ सूची दी है, जिसमें १३७० ई० से १६१७ ई० तक के अवधी साहित्य का उल्लेख हुआ है। जायसी के ग्रन्थों तथा जीवनी का निर्देश करते हुए उनकी गुरु परम्परा का परिचय दिया गया है। 'पद्मावत का अध्यात्म पक्ष' प्राक्कथन का विशिष्ट अंश है। इसमें जायसी के प्रतीकों का प्राचीन साधना मार्ग की पृष्ठभूमि में विशद विवेचन किया गया है। यह अंश हमारे ज्ञान को नया प्रकाश देता है, पर यह मान लेना कि सर्वत्र जायसी का यही अभिप्रेत था, जो अग्रवालजी ने स्थिर किया है, युक्तियुगत न होगा।

वे यह सिद्ध करते हैं कि पद्मावत काव्य में प्रेम के दो आध्यात्मिक प्रतीक हैं, उनमें 'भारतीय सौन्दर्य और माधुर्य था, पर किञ्चित् विदेशी थे, यह विस्मृत हो गया है। साधक पर नायिका भाव का आरोप भारतीय रहस्यवाद की वस्तु है और नायकत्व का आरोप फारसी काव्य की वस्तु। योग मार्ग के सूर्य और चन्द्र के प्रतीकों को क्या गंगा-यमुना अथवा इड़ा पिंगला का नामान्तर ही समझा जायगा? यदि यही माना जाय और नायक नायिका के प्रतीक रूप में उनका अर्थ विकास स्वीकृत किया जाय तो कोई हानि न होगी, पर उस स्थिति में सुषुम्ना द्वारा प्राण-तत्त्व का सिद्धि-लाभ करना क्या संगति न खो बैठेगा?

शशिभूषणदास गुप्त ने सहजयानियों के 'सोन' का सम्बन्ध 'सुवर्ण' और 'शून्य' दोनों से सिद्ध करने की चेष्टा की है। रूप के टूट जाने से सुवर्ण बारहबानी होता है दूसरा और अरूप के कारण शून्य की उपलब्धि होती है। यह श्लेष पुष्ट रूपक काव्यात्मक तो है, पर क्या यही जायसी का अभिप्रेतार्थ है? सहजयानियों और हठयोगियों के काव्य प्रतीकों में अन्तर भी है। यह हठयोग का आग्रह न होकर सहजयान का प्रभाव है, मान लेना कदाचित् विश्वसनीय न हो। दासगुप्त का मत भी कितना निर्भ्रान्त है, नहीं कहा जा सकता।

चौसर का खेल और पान का मुँह में रख जाना, ये दो और युगनद्ध भाव के प्रतीक स्पष्ट किये गए हैं। इनके द्वारा यह प्रमाणित करने का उद्योग हुआ है कि सहजयानी सिद्धों और नाथप थी योगियों की परम्परा के सम्पर्क में आकर जायसी ने अपने काव्य प्रतीकों का जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव किया था। यह सम्भावना तो है ही कि जायसी ने अपने रहस्य प्रतीक तत्कालीन लोक प्रसिद्धि और काव्य परम्परा से गृहीत किये होंगे। पर अपने ज्ञान के सहारे वे कतिपय प्राचीन प्रतीकों को भी चुन सके होंगे तथा विदेशी प्रतीकों के प्रति उन्होंने सर्वांशत निषेध वृत्ति न रखी होगी। यह कहा गया है कि वेदान्त के अनुसार सूर्य हृदय का और चन्द्र मन का प्रतीक है। इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि जायसी ने एक ही प्रतीक का अनेक अर्थों में प्रयोग किया है। यह स्थिति किसी लोकप्रिय और श्रेष्ठ कवि के गौरव के अनुकूल नहीं है।

"सहजयान के साधक भी विषय प्रधान प्रेम की कल्पनाओं को स्वीकार करके केवल उसकी तीव्र अनुभूति और साक्षात् मिलन की उत्कट इच्छा को स्वीकार करते थे, तुच्छ विषय भोग को नहीं। यही स्थिति प्रेम मार्ग की थी।" यह तुलना निश्चय ही ग्राह्य है, पर आगे चलकर इसीको जायसी के प्रेम काव्य का उपकरण भी मान लेना उचित नहीं है। यह मत प्रकट किया गया है कि जायसी ने सहजयान और नाथपंथ "दोनों की विशेषताओं को स्वीकार करके अपने काव्य में स्थान दिया।" में प्रभाव को अस्वीकार नहीं करता, पर प्रेम काव्य के विदेशी स्वरूप को समझे बिना यह निर्णय कैसे किया जा सकेगा कि उसमें किस मत, सम्प्रदाय या पंथ का कितना मेल हुआ और कितना प्रभाव पड़ा? यह दृष्टि एकांगी है और व्यापक दृष्टि के अभाव में निर्णय सदैव अधूरा होता है। अग्रवालजी इसे महाकाव्य कहते हैं, शुक्लजी की भाँति मसनवी शैली का प्रेमाख्यानक प्रबन्ध नहीं। यह अग्रवालजी की कार्य सीमा का प्रत्यक्ष संकेत भी है।

परिशिष्ट में व्याख्याकार ने कतिपय नये ग्रन्थ रखे हैं और राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी की जनश्रुति पर आधारित सुन्दर आख्यायिका 'जगदेव की कहानी' जोड़ दी है। इसी प्रकार पद्मावत की कतिपय अन्य प्रासंगिक वार्ताएँ भी संकलित हो सकती हैं। ग्रन्थ में वर्णित शस्त्रास्त्रों वाद्यों, अवधूत और सैनिक के वेष की वस्तुओं, हाथी घोड़ा के साज सामानों तथा शतरंज के नक्शे के चित्र दिये गए हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ खोजपूर्ण है और ऐतिहासिक पद्धति के अध्ययन का परिणाम।

अग्रवालजी ने पद्मावत की व्याख्या द्वारा वे सम्भावनाएँ अनावृत की हैं, जो जायसी के अध्ययन को काव्य, भाषा, परम्परा, संस्कृति और अध्यात्म तत्त्व कई क्षेत्रों में संवर्द्धित कर सकती हैं। पद्मावत के पाठ का पुनर्सम्पादन और स्थिरीकरण, जायसी की भाषा के व्याकरण का वैज्ञानिक अध्ययन, जायसी के पूर्ववर्ती और परवर्ती प्रेममार्गी अवधी साहित्य का सम्पादन प्रकाशन, जायसी की शब्दावली के साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन, इत्यादि द्वारा मूल शब्दों के रूप और अर्थ का निश्चित परिज्ञान होगा और उस स्थिति में जायसी की व्याख्या के सम्बन्ध में इत्थमित्थं कहा जा सकेगा। स्वयं व्याख्याकार अवधी साहित्य का सम्पादन, जायसी का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन तथा अवधी के शब्द रूपों की तुलनात्मक समीक्षा के कार्य को अग्रसर किये जाने का प्रस्ताव करता है। मुझे विश्वास है कि वह 'हर्षचरित' की भाँति 'पद्मावत' का सांस्कृतिक अध्ययन भी उपस्थित करेगा। उनका प्रस्तुत कार्य व्याख्या साहित्य की सीमा रेखा को विकसित

कर सका है और मैं समझता हूँ कि उसने जायसी के काव्यानुशासन विषयक अनेक रुद्ध कपाट उन्मुक्त कर दिए हैं।[1]

डॉ० भगीरथ मिश्र

हिन्दी-अलङ्कार-साहित्य

'हिन्दी अलंकार साहित्य' डॉक्टर ओमप्रकाश की पी-एच० डी० थीसिस का विकसित और परिष्कृत रूप है। प्रस्तुत पुस्तक में अलंकार साहित्य के स्वरूप विकास का ऐतिहासिक क्रम से विवेचन किया गया है। समस्त ग्रन्थ चार प्रसंगों, एक परिशिष्ट और सहायक ग्रन्थ सूची में विभाजित है। प्रथम प्रसंग में संस्कृत के अलंकार साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का विश्लेषण और विवेचन किया गया है। इन ग्रन्थों के परिचयात्मक विश्लेषण के साथ इनके रचयिता आचार्यों की अलंकार सम्बन्धी धारणाओं का स्पष्टीकरण भी किया गया है। यह कहा जा सकता है कि लेखक ने संस्कृत अलंकार शास्त्र की समस्या और स्वरूप का यथार्थ और प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अलंकार सम्बन्धी धारणा में किस प्रकार विकास हुआ और प्रारम्भ में समस्त काव्य शोभा और रमणीयता, जो अलंकार में समाविष्ट थी, किस प्रकार आगे चलकर काव्य के अन्य अंगों में देखी गई और अलंकार केवल शोभा की अतिशयिता के उपकरण मात्र रह गए, आदि विवेचन महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रसंग में केवल दो बातों की ओर ध्यान और जाता है जो इस शीर्षक के ग्रन्थ में दी जानी आवश्यक थीं—प्रथम संस्कृत अलंकार-साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ तथा विशेषताएँ और द्वितीय अलंकार सम्बन्धी समस्त उपलब्ध ग्रन्थों का परिचय अथवा नामों की सूची। लेखक के कुछ विवेचनों में मतभेद की गुञ्जाइश भी है, जैसे भोज के ग्रन्थों के सम्बन्ध में।

द्वितीय प्रसंग 'हिन्दी अलंकार साहित्य' पर प्रकाश डालता है। इसमें परिचय के भीतर समस्त 'हिन्दी अलंकार साहित्य' का महत्त्वपूर्ण पर्यवेक्षण किया गया है। इसके साथ इसमें विशेषताओं और प्रवृत्तियों का उल्लेख एवं वर्गीकरण का भी प्रयत्न है। यह समस्त अध्ययन बड़े काम का है और लेखक की अधिकारपूर्वक बात कहने की प्रौढ़ता का परिचायक है। परन्तु वर्गीकरण का प्रयत्न अपूर्ण है। अलंकार साहित्य के परिचय के साथ यदि संस्कृत और हिन्दी के आचार्यों द्वारा किये गए वर्गीकरण सम्बन्धी प्रयत्न का परिचय और नवीन ढंग से वर्गीकरण देने का प्रयास किया जाता तो लेखक का कार्य बड़ा ही अभिनन्दनीय होता।

हिन्दी आलंकारिकों का अध्ययन भी अपनी निजी विशेषता रखता है और लेखक ने इस अध्ययन में आलंकारिक आचार्य के गौरव के अनुसार विवेचन विस्तार से या संक्षेप में किया है। सन्तोष की बात है कि पुस्तक में अलंकार क्षेत्र के कुछ आचार्यों की देन का महत्त्वपूर्ण मूल्यांकन और विवेचन है जैसे केशवदास और भिखारीदास का। परन्तु समस्त आचार्यों के साथ न्याय नहीं किया गया, जैसे देव, सोमनाथ, दूलह आदि। देव के सम्बन्ध में कुछ स्थलों पर लेखक के पदार्थ और व्याख्या में भी मतभेद है, जैसी उनकी पंक्ति 'जब लगि

१ ले० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल प्रकाशक साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी।

लगि बरसत नहीं, हरिजस रस आनन्द' के 'जस=समान, सदोन्द' कहा गया है। यह अर्थ सभी को मान्य नहीं हो सकता। देव के 'भावविलास' ग्रंथ के विवेचन के प्रसंग में एक स्थान पर लेखक ने लिखा है—

"किशोर देवदत्त ने इस कथन पर विश्वास कर लिया और हर्ष की तरंग में 'भाव विलास' की रचना कर डाली, मानो कोई तेज़ विद्यार्थी अपने क्लास नोट्स को फिर से लिख कर अपने नाम से आलोचनात्मक पुस्तक छपवा रहा हो" यहाँ पर लेखक का संकेत देव का 'भाव विलास' में 'कविप्रिया' से भावापहरण की ओर है, परन्तु इस तरह के लक्षण साम्य बहुतों में मिलेंगे। देव की प्रौढ़ता और मौलिकता इतनी हलकी नहीं कि फूँक से उड़ाई जा सके। उनके विचारों के सम्बन्ध में भी लेखक का उसी प्रकार का दृष्टिकोण अपेक्षित था जैसा कि केशव के सम्बन्ध में पृष्ठ ७७ पर। उसके निम्नांकित शब्दों में व्यक्त हुआ है—"केशव ने नवीन अलंकारों की उद्भावना की है, कुछ के नाम बदले हैं—केवल तमाशे के लिए नहीं, उनका अध्ययन, गाम्भीर्य सापेक्ष है।"

इसी प्रकार आचार्य देव के सम्बन्ध में लेखक के इस प्रकार के कथन भी विचारणीय हैं, जैसे "परन्तु देवकवि का आचार्यत्व उनके कवित्व से भी शिथिल है। जितनी उलझन उनमें है उतनी किसी दूसरे में शायद नहीं। वे एक कृति में भी अपनी विचारधारा का निर्विरोध निर्वाह नहीं कर पाए कारण यह प्रतीत होता है कि उनकी कोई विचारधारा नहीं—जैसा कहीं कुछ देखा उसको कुछ बदलकर चलता किया।" इस कथन में न केवल देव के आचार्यत्व पर आक्षेप है, वरन् उनके कवित्व पर भी। कवित्व के सम्बन्ध में तो लेखक को 'देव और बिहारी' फिर से देखना चाहिए। आचार्यत्व के सम्बन्ध में इतना कह देना यहाँ पर्याप्त है कि देव मौलिक विचारकों में से हैं और अनेक स्थलों पर उनके कथनों की व्याख्या 'वार्तिक' के रूप में आवश्यक है। कवित्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत ग्रंथ के भूमिका लेखक डॉ॰ नगेन्द्र का भी सम्भवतः लेखक से मतैक्य न होगा। फिर भी कहना पड़ता है कि लेखक ने साहसपूर्वक अपने विश्वास को स्पष्टतया प्रकट किया है।

'मध्ययुगीन अलंकार साहित्य' के प्रसंग में यदि भगवानदीन और कन्हैयालाल पोद्दार को लिया गया था, तो 'रसाल' के 'अलंकार पीयूष' और मिश्रबन्धु के 'साहित्य पारिजात' को भी लेना आवश्यक था। इनके न लेने का कोई औचित्य लेखक ने नहीं दिया है। यहाँ भी यह कहा जा सकता है कि 'अलंकार साहित्य' के अध्ययन में एक पूर्ण अलंकार ग्रंथों की सूची तो देनी आवश्यक थी ही, यदि उसका परिचय न दिया जाता तो न सही।

उपर्युक्त बातों के होते हुए भी यह एक तथ्य है कि लेखक ने अनेक ग्रंथों के अध्ययन में काफी श्रम किया है। उसका अध्ययन विशेष रूप से संस्कृत अलंकार ग्रंथों और कतिपय हिन्दी ग्रंथों के प्रसंग में उनकी सूक्ष्म विवेचन शक्ति का परिचायक है। अलंकार एवं काव्य सम्बन्धी धारणा के अध्ययन में लेखक द्वारा दी गई परिशिष्ट की सामग्री उपादेय है, जिसमें संस्कृत और हिन्दी के लेखकों के अलंकार सम्बन्धी विचार संकलित करके एकत्र रख दिये गए हैं। समग्र रूप से यह अध्ययन उपयोगी है। काव्य शास्त्र के अन्य अंगों के भी इसी प्रकार के और पूर्ण अध्ययन अपेक्षित हैं।[1]

---

[1] ले॰ डॉ॰ ओमप्रकाश, प्रकाशक, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली।

डॉ० सत्येन्द्र

लोक-साहित्य का अध्ययन

हिन्दी में लोक-साहित्य पर अब अच्छी चर्चाएँ होने लगी हैं। भारतीय विश्वविद्यालयों में भी यह विषय बी० ए० तथा एम० ए० में स्थान पाने लगा है। इस विषय के पाठक और विद्यार्थी बार बार यह जानना चाहते हैं कि लोक साहित्य क्या है? उसका क्षेत्र और स्वरूप क्या है? क्या उसे पढ़ने की आवश्यकता है, अथवा उसका महत्त्व क्या है? उसमें क्या क्या होता है? उसे कैसे प्राप्त किया जाय? उसे कैसे समझा जाय? आदि। भारतेतर देशों में लोक साहित्य के सम्बन्ध में सरकारों द्वारा विभाग खुले हुए हैं। वहाँ बड़ी बड़ी वैज्ञानिक संस्थाएँ हैं जो विश्व भर के लोक-साहित्य की सामग्री के संग्रह और अध्ययन का विधिवत् कार्य कर रहा हैं। विश्व विद्यालयों में इस विषय के अध्ययन अध्यापन का विशेष प्रबन्ध है। वहाँ इस विषय पर उच्च से उच्च कोटि की रचनाएँ मिल जाती हैं, जिनमें पाण्डित्य और गवेषणा का परिणाम भरा होता है। लेखक ने इसी कमी को पूरा करने के लिए ही 'भारतीय लोक साहित्य' की रचना की है।

इसमें पहला अध्याय 'लोक' की व्याख्या देता है। वेदों से लेकर बौद्ध युग तक 'लोक' के कुछ प्रयोगों की ओर संकेत करके 'लोक' के प्राचीन अर्थ को समझाने की चेष्टा की है। आर्यों के आगमन से 'लोक' शब्द के एक अन्य अर्थ की उद्भावना लेखक ने मानी है। क्या यह आवश्यक है कि ऐसे सांस्कृतिक शाब्दिक भेदों को समझाने के लिए आर्यों के भारत में आगमन की बात का उल्लेख किया ही जाय? दूसरा अर्थ 'वेदेतर' वेद से इतर, वेद से भिन्न तो ठीक प्रतीत होता है, पर वेदेतर का वेद विरोधी होना आवश्यक नहीं। साहित्य और शास्त्र की साक्षी भी यही सिद्ध करती है कि हर अवस्था में 'लोक' शब्द 'वेद' का विरोधी नहीं, केवल 'वेदेतर' ही होता है। अपनी व्याख्या के साथ लेखक यदि 'लोक' विषयक समस्त अर्थों और प्रसंगों का भी उल्लेख कर देता तो व्याख्या में पूर्णता आ जाती। लेखक ने लोक को 'वेदेतर संस्कृति' के संकुचित अर्थ से ऊपर उठाकर 'साधारणजनसमाज' का पर्यायवाची बना दिया है। इस प्रकार लेखक ने 'लोक' को बहुत व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया है। लोक की जो व्याख्या डॉक्टर वासुदेवशरण से लेकर दी गई है, वह व्याख्या न होकर ... है, उसमें 'लोक' के रूप को समझने में सहायता नहीं मिलती। इस पुस्तक में 'लोक साहित्य' की परिभाषा अवश्य ही स्पष्ट होनी चाहिए थी, पर लेखक ने लिखा है—

'आधुनिक साहित्य की नवीन प्रवृत्तियों में लोक' का प्रयोग गीत, वार्ता, कथा संगीत साहित्य आदि से युक्त होकर साधारण जन समाज जिसमें पूर्व संचित परम्पराएँ भावनाएँ विश्वास और आदर्श सुरक्षित हैं तथा जिसमें भाषा और साहित्यगत सामग्री ही नहीं अपितु अनेक विषयों के अनगढ़ किन्तु ठोस रत्न छिपे हैं, के अर्थ में होता है।"

इसमें लेखक ने क्या कहना चाहा है ठीक ठीक विदित नहीं होता। कुछ तो वाक्य सदोष हो गया है। दूसरे साधारण जनसमान की व्याख्या ने उसे असाधारण बना दिया है। किन्तु आगे स्पष्ट करते हुए 'लोक' को जैसे 'किसान' से विद्ध कर दिया है— भारतीय किसान भारतीय 'लोक' का महाप्राण है। उसका जीवन लोक का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता आ रहा है। अतएव वही लोक-साहित्य की आधारशिला है ।" वेद और वेदेतर से ऊपर

उठकर 'बहु व्याहितो वा अय बहुशो लोक' तक पहुँचकर नई विसान का अवतार धारण कर खड़ा हो गया है। यहाँ लेखक ने 'फोक' और 'लोक' की समस्या खड़ी कर दी है। लोक को फोक के अनुरूप मानते हुए उसमें 'युग सस्कारों के कारण' फोक से कहीं अधिक विशाल स्तर को स्पर्श करने की क्षमता मानी है।

इस प्रकार लेखक ने यह चेष्टा की है कि 'लोक' के अर्थ तक पहुँचा जाय। यहाँ आवश्यकता थी कि 'लोक साहित्य' में लोक शब्द के विशिष्ट अर्थ की व्याख्या की जाय। वेवेतर मात्र का अर्थ उसमें नहीं, क्योंकि कालिदास, माघवी आदि की रचनाएँ लोक साहित्य के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकतीं। लेखक ने 'लोक और जन' के भेद को समझने की अच्छी चेष्टा नहीं की। वस्तुत 'जन' को यह राजनीतिक अर्थ प्रगतिवाद की परम्परा ने नहीं प्रदान किया, अपने रूढ़ प्रयोग के कारण 'जन' ने प्राचीन काल से ही राजनीतिक पृष्ठभूमि संयुक्त समाज का अर्थ ग्रहण कर लिया था। ऐसे 'जन' के लिए अथवा जन की भावना से लिखा हुआ साहित्य भी लोक साहित्य के अन्तर्गत नहीं आ सकता।

दूसरा अध्याय 'लोकवार्ता एवं लोक साहित्य' पर विचार करने के लिए है। सबसे पहले 'लोकवार्ता' शब्द के प्रयोग की समस्या पर विचार किया गया है। 'फोकलोर' के लिए मराठी, हिन्दी तथा बगला में जितने भी शब्दों का सुझाव अब तक हुआ है उनको लेखक ने एक स्थान पर जुटा दिया है। यहाँ डॉ० सुनीतिकुमार जी का शब्द उद्धृत करने में भूल हो गई है। डॉ० चाटुर्ज्या ने जो शब्द दिया है वह 'लोक-यान' है। यह शब्द बौद्ध धर्म की हीनयान, महायान तथा वज्रयान की परम्परा में बनाया गया है—'यान' का अर्थ इन शब्दों में कुछ विशिष्ट है। 'यान' के पाँच अर्थ तो होते ही हैं। 'वाहन' तथा 'जाना' या 'चलना' के साथ यान का अर्थ (राजनीति में) आक्रमण, जुलूस तथा यात्रा भी होता है। किन्तु जिस परम्परा से डॉ० चाटुर्ज्या ने यह यान शब्द चुना है, वह विशेषार्थक है। उसके साथ एक धार्मिक भावना भी बँधी है। वह शास्त्र सिद्धान्त बद्ध रूप में प्रस्तुत होता है। प्रचलन उसका धर्म नहीं। फोकलोर या तो वह सामग्री है जो फोक के पास विद्यमान है, या उस सामग्री का विज्ञान है। वज्रयान कहता है वज्रयानी बनो, पर फाकलोर यह नहीं कहता कि 'लोकयानी' बनो। इस कारण लोकयान शब्द ठीक प्रतीत नहीं होता।

श्री परमार ने ठीक ही कहा है कि 'लोकवार्ता' शब्द हिन्दी में क्रमशः अपना स्थान निर्धारित कर चुका है।[1] नवीन शब्दों के सुझाव और आग्रह से लोकवार्ता के प्रति जमी हुई आस्था कम नहीं हो सकती', किन्तु इतना ही नहीं, समस्त युक्तियों और तर्कों के बाद भी 'लोकवार्ता' शब्द 'फोकलोर' के यथार्थ अर्थ को प्रकट करता है। लोर का अर्थ वस्तुत किसी विषय के परम्परागत (ट्रेडीशनल) सम्पूर्ण ज्ञान समूह का है। हिन्दी में वार्ता के कई प्रयोग मिलते हैं। 'कथावारता', 'चौरासी वैष्णवों की वारता', 'घरू वारता'। इस वारता शब्द का अर्थ जनश्रुति अथवा किंवदन्ती भी है, बात भी है और विषय भी। अब यह शब्द उस समस्त अभिव्यक्ति के पर्याय का काम दे सकता है, जो अभिव्यक्ति शब्दों में होती है, अथवा शाब्दिक अभिव्यक्ति में जिस अन्य अभिव्यक्ति का विषय या प्रसग गर्भित रहता है। इस दृष्टि से यह 'लोक वार्ता' शब्द सर्वथैव समीचीन प्रतीत होता है।

1 पृ० १२।

लेखक ने इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है कि लोकवार्ता एक शास्त्र है, और वह गति शील विज्ञान है। इसी अध्याय में लोकवार्ता के विस्तार और उसमें लोक साहित्य के स्थान का भी विवेचन किया गया है। यह अत्यन्त संक्षेप में किया गया है और तद्विषयक विद्वानों के उद्धरणों द्वारा ही बहुधा किया गया है।

तीसरा अध्याय लोक साहित्य संकलन की परम्परा पर प्रकाश डालता है। संक्षेप में लेखक ने लोक-साहित्य संकलन की परम्परा का इतिहास दिया है। हिन्दी जनपद सम्बन्धी तथा अहिन्दी जनपद सम्बन्धी प्रकाशित ग्रन्थों का उल्लेख अपूर्ण है। आगे पृष्ठ ३४ पर जिन नार्मन ब्राउन के अनुमान से ३००० लोक कथाओं के प्रकाशित होने की बात लिखी गई है, उन ब्राउन महोदय ने ३००० अनुमान से नहीं, गिनकर और पढ़कर वह गिनती लिखी थी, साथ ही उन्होंने सन् १९१० के निकट तक के समस्त भारतीय लोकवार्ता साहित्य और उसके संकलनकर्ताओं तथा विचारकों की सूची भी दी थी। इसमें ब्राउन महोदय ने १३२ व्यक्तियों को सूचीबद्ध किया और उनकी रचनाओं की भी उन रचनाओं के विषय में शताब्दी विषय पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ भी दीं। नार्मन ब्राउन का यह परिश्रम अत्यन्त प्रशंसनीय है, इससे अधिक पूर्ण उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। किंतु यह सूची भारतेतर भाषाओं की मुख्यतः अंग्रेजी की पुस्तकों और निबन्धों की है। भारतीय भाषाओं में किये गए प्रयत्नों का इसमें उल्लेख नहीं। 'भारतीय लोक साहित्य' में विविध भारतीय भाषाओं के कार्यों और प्रकाशनों का भी विवरण दिया गया है।

इस अध्याय में कुछ तथ्यविषयक भूलें रह गई हैं। लेखक ने हिन्दी में 'लोक साहित्य' के द्वितीय उत्थान का आरम्भ १९४२ से माना है, और 'ब्रज साहित्य मण्डल को इसी उत्थान का परिणाम माना है।'[1] ब्रज साहित्य मण्डल की स्थापना सन् १९४० में हो चुकी थी। सन् १९४२ का आन्दोलन इस मण्डल के कारण हुआ था। रामनारायण उपाध्याय की पुस्तक का नाम 'नीमाड़ी लोकगीत' है, 'नीमाड़ी ग्राम गीत' नहीं। लोक-कथाओं के सम्बन्ध में यह कथन है— इस दृष्टि से हिन्दी में सबसे ईमानदार प्रयास प० शिवसहाय चतुर्वेदी का है। उन्होंने बुन्देलखण्ड की लोक कथाओं का संग्रह तैयार किया, जिसमें स्थान और वातावरण के साथ लोक कथाओं की 'स्पिरिट' नष्ट न होने दी।" इसी सम्बन्ध में इन्हीं चतुर्वेदीजी के कहानी संग्रह 'पाषाण-नगरी' की भूमिका में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पृ० ख' पर जो लिखा है उसकी ओर ध्यान आकर्षित करना उचित होगा। वे लिखते हैं—

"ब्रज की लोक कहानियों का एक मूल्यवान संग्रह जैसी सुनी वैसी टोपी शैली से ब्रज बोली में ही प्रकाशित किया था। उसमें कहानियों का अपना चोज़ पदे पदे देखने को मिलता है। दूसरे साँचे में पड़कर लोक कहानी बहुत कुछ अपना रस खो देती है।" अतः 'ब्रज की लोक कहानियाँ' नाम की ऐसी वैज्ञानिक और महत्त्वपूर्ण पुस्तक का उल्लेख भी यहाँ होना चाहिए था। यह कहानी-संग्रह श्री शिवपूजन सहायजी के प्रथम संकलन के समकालीन है। वस्तुतः यह अध्याय काफी सूचनापूर्ण है और परिश्रम से तैयार किया गया है।

चौथे अध्याय का शीर्षक है 'अपौरुषेय वाङ्मय'। इसमें मराठी लेखिका कमला बाई देशपाण्डे के निबन्ध के आधार पर स्त्री वाङ्मय पर विचार किया गया है। स्त्रियों के गीतों के वर्गीकरण के साथ उनके काल निर्णय की समस्या पर भी विचार प्रकट किया गया है। भारत के

[1] पृष्ठ २९ ३०।

किसी भी जनपद के किसी भी 'लोकगीत' का काल निर्णय केवल 'स्फुट गीत' और उसकी सामग्री तथा शैली से नहीं हो सकता। पहले तो इसके लिए आवश्यक है कि जिस क्षेत्र के गीत पर विचार किया जा रहा है, उस क्षेत्र के समस्त गीतों का संग्रह सामने हो, फिर उस विशिष्ट गीत के जितने भी रूप उस क्षेत्र में तथा समस्त भारतीय जनपदों में मिलते हैं वे भी प्रस्तुत हों, फिर वैसे विषय का कोई ऐतिहासिक अथवा साहित्यिक उल्लेख कहीं मिलता हो तो वह भी खोज लिया गया हो—इतनी सामग्री हाथ में हो तभी 'काल निर्णय' की ओर बढ़ा जा सकता है।

अपौरुषेय वाङ्मय के साथ पौरुषेय वाङ्मय की भी आवश्यकता प्रतीत होती है।

पाँचवाँ अध्याय 'लोकगीत क्या है ?' शीर्षक से है। इसमें लोकगीत की व्याख्या और उसके प्रकारों पर विचार किया गया है। अध्याय में कितने ही विद्वानों के मतों का उल्लेख लेखक ने किया है। इन लोकगीतों के कुछ प्रमुख लक्षण भी गिनाये गए हैं। अध्याय रोचक है, यद्यपि वैज्ञानिक नहीं बन पड़ा। लोकगीतों के जन्म का मूल क्या है—वह वैयक्तिक है या सामाजिक, उसका विकासक्रम क्या रहा है, इन गीतों के निर्माण में 'व्यक्ति' का योगदान क्या होता है—इन बातों पर भी संक्षेप में प्रकाश डालने की आवश्यकता थी।

छठे अध्याय में ग्रामगीत, लोकगीत, जनगीत के प्रयोगों का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उनमें विद्यमान भ्रम को दूर करने की चेष्टा की है। यह चेष्टा सामयिक और उपयोगी है। सातवाँ अध्याय गीत, संगीत और नृत्य तीनों को 'लोक मानस की त्रिधाभिव्यक्ति' मानकर इनका परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट करता है। इन अभिव्यक्तियों का 'लोक मानस' से जो सम्बन्ध है, उसे भी स्पष्ट किया जाता तो उपयोगिता और बढ़ जाती। आठवाँ अध्याय 'लोकगीतों में राग-वैचित्र्य' पर प्रकाश डालता है। यह अध्याय लोकगीतों में राग वैचित्र्य की चर्चा का दिग्दर्शक है। लेखक ने हर्बर्ट रीड के चित्रकला विषयक अभिमत का उल्लेख करके रागों के विवेचन को वैज्ञानिक स्तर पर लाने की प्रशंसनीय चेष्टा की है। विविध जनपदीय क्षेत्रों के ग्राम साहित्य में जो विशेष राग के प्रति विशेष आकर्षण मिलता है उसे भी लेखक ने सोदाहरण स्पष्ट कर दिया है। निश्चय ही ऐसे विवरण प्रस्तुत साहित्य के आधार पर ही दिये जा सकते हैं, अतः जिन जनपदों का साहित्य उपलब्ध नहीं था उनका उल्लेख नहीं हो सका, जैसे ब्रज का धानी और कड़रेखी राग का उल्लेख नहीं किया जा सका। अन्य प्रदेश भी छूट गए हैं।

नवें अध्याय का शीर्षक है 'लोक गीतों में नई चेतना'। शीर्षक से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसमें लोकगीतों के उस रूप की चर्चा होगी जो नये युग के तकाजे से प्रस्तुत हुए हैं। कुछ मार्मिक गीतों के उद्धरणों से नई चेतना के उस स्वरूप को, जो लोकगीतों में उभरा है, रोचक ढंग से इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

दसवें अध्याय में 'पवाडा' महाराष्ट्र का प्रसिद्ध लोक काव्य चर्चा का विषय है। आरम्भ में 'पवाडा' की विविध व्युत्पत्तियों की चर्चा है, फिर महाराष्ट्री 'पवाड़े' पर कुछ प्रकाश डाला गया है। ग्यारहवें अध्याय से अठारहवें तक लोक साहित्य, विशेषतः लोकगीतों में मिलने वाले विशेष विषयों की चर्चा है—बारहमासी, सती प्रथा, नारी पर विचार तीन अध्यायों में, नर्मदा उपत्यका के गीत, भीलों के विवाह के गीत, कंजरों के गीत आगे के तीन अध्यायों में, तब मालवा का एक प्रसिद्ध गीत 'बाला बऊ'—इस प्रकार १७वें अध्याय तक विशिष्ट विषयों अथवा विशिष्ट प्रकार और क्षेत्र के गीतों का परिचय दिया गया है। १८वें अध्याय में हम

सम्बद्ध लोक कथा की परिभाषा और परिचय दिया गया है। १६वें में 'लोक नाट्य' शीर्षक के अन्तर्गत नाटकों के लौकिक मूल पर प्रकाश डालते हुए आन्ध्र, महाराष्ट्र, गुजरात, बगाल, राजस्थान, ब्रज, मालवा आदि के लोक नृत्य और लोक रगमच के स्वरूपों पर प्रकाश डाला गया है। बीसवाँ अध्याय लोकोक्ति साहित्य पर है, २१वां 'प्रहेलिका-साहित्य' पर। दोनों ही अत्यन्त सक्षिप्त और परिचयात्मक हैं। २२वाँ अध्याय महत्त्वपूर्ण है। इसमें लोकवार्ता शास्त्र सम्बन्धी प्रकाशित सामग्री एक स्थान पर मिल जाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने इस छोटी सी पुस्तक द्वारा 'गागर में सागर' भरने की चेष्टा की है। इसमें 'लोक साहित्य' के विविध अगों का परिचय ही नहीं दिया उसे शास्त्रीय स्तर पर पहुँचाने की भी चेष्टा की है, और भारतीय लोक-साहित्य की प्रमुख विशेषताओं को भी उभारकर दिखाने का प्रयत्न किया है। लेखक का मन गीतों की ओर विशेष आकर्षित रहा है, फलत अधिकाश अध्याय गीतों से ही सम्बन्धित हैं। वस्तुत इन्हें अध्याय नहीं कह सकते, लेखक ने कहा भी नहीं। ये तो निबन्ध हैं जो भिन्न भिन्न विषयों पर सुविधानुसार लिखे गए हैं। अत विविधता तो भरपूर है पर परिपूर्णता उतनी नहीं। कहानियों पर भी प्रथम एक परिचयात्मक निबन्ध होता तो बहुत अच्छा रहता। पुस्तक का उद्देश्य सम्भवत भारतीय लोक साहित्य का परिचय देना ही रहा है। उसमें लेखक सफल हुआ है, वस्तुत उसने रोचक होने की भी पर्याप्त चेष्टा की है। इस पुस्तक का अवश्य ही स्वागत होगा। यह इस समय की आवश्यकता की पूर्ति करती है।[1]

डॉ० शम्भूनाथसिंह

'साहित्य वार्ता' और 'आलोचना के सिद्धान्त'

हिन्दी में इस समय समीक्षात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन सबसे अधिक हो रहा है। इस आधिक्य का कारण चाहे जो भी हो, किन्तु उसका परिणाम हिन्दी साहित्य की उन्नति की दृष्टि से बहुत शुभ नहीं दिखाई पड रहा है। आलोचना के नाम पर आज दिन जो ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं उनमें से अधिकतर ऐसी अधकचरी और अशुद्ध सामग्री प्रस्तुत करते हैं[2] जिससे साहित्य के विद्वानों को तो कोई लाभ हो ही नहीं सकता, उल्टे साहित्य के नये विद्यार्थियों की अत्यधिक हानि हो रही है।

मेरे इस कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि हिन्दी में इस समय अच्छी समीक्षात्मक पुस्तकें बिलकुल नहीं प्रकाशित हो रही हैं। वर्ष में दो चार अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित हो जाती हैं। ऐसी कोई विचारोत्तेजक और ज्ञानवर्द्धक पुस्तक जब हाथ लग जाती है तो उसे पढकर जितना हर्ष होता है उतना ही दु ख किसी जाने माने

१ लेखक श्याम परमार, प्रकाशक सरये द्र।

२ 'साहित्य वार्ता'—ले० श्री गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश', प्रकाशक, भारती साहित्य मन्दिर दिल्ली।

विद्वान् को ऐसी पुस्तकों का पढ़कर होता है, जो केवल पैसा कमाने की दृष्टि से संकलित सामग्री और अधूरे ज्ञान के आधार पर लिखी गई होती है या जिसमें देशी विदेशी साहित्य शास्त्रियों के मतों को बिना पचाये उगल दिया गया रहता है। लेखक के 'बड़े नाम' से प्रभावित होकर किसी पुस्तक को पढ़ने पर जब उस श्रम का यथोचित लाभ नहीं प्राप्त होता तो काफी झुँझलाहट होती है और समीक्षा-साहित्य के भविष्य के विषय में बहुत निराशा होने लगती है। इन दोनों प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करने वाले दो समीक्षात्मक ग्रन्थ सम्प्रति मेरे सम्मुख हैं—पहला श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का 'साहित्य वार्ता' और दूसरा ब्योहार राजेन्द्रसिंह का 'आलोचना के सिद्धान्त'[1]। इन दोनों ही ग्रन्थों के लेखक हिन्दी के पुराने और प्रख्यात साहित्यिक हैं। किन्तु इनमें से प्रथम लेखक के ग्रन्थ को पढ़कर जितनी आशा बँधती है, द्वितीय लेखक के ग्रन्थ को पढ़कर उतनी ही निराशा भी होती है।

'साहित्य वार्ता' में 'गिरीश' जी के समय समय पर लिखे २६ निबन्ध संकलित हैं। इनमें से तीन व्यक्तिव्यञ्जक या रचनात्मक निबन्ध हैं और एक परिचयात्मक निबन्ध है, जिसमें लेखक ने अपने अप्रकाशित महाकाव्य 'तारक वध' का आलोचनात्मक ढंग से विज्ञापन किया है। व्यक्तिव्यञ्जक निबन्धों में व्यंग की प्रधानता है। आज साहित्य के क्षेत्र में अवसरवादी, यश लोलुप और सिद्धान्तहीन व्यक्तियों की ही पूजा हो रही है, सच्चे साहित्य साधक प्रायः ऐसे नेता साहित्यिकों के राजनीतिक दाँवपेंच के शिकार होते रहते हैं। 'साहित्य-वार्ता' और 'आनन्द वर्द्धिनी समिति' में इसी प्रवृत्ति पर चोट की गई है। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में आज अनगिनत 'सच्चिदानन्द शर्मा' हैं जिनमें से यहाँ एक शर्माजी का ही शील निरूपण किया है। अभी अन्य कई प्रकार के 'शर्मा' लोग भी हैं जिनकी ओर यदि गिरीशजी का ध्यान जाय तो साहित्य का परम उपकार होगा। ये दोनों निबन्ध तो साहित्य से सम्बन्धित होने के कारण इस निबन्ध संग्रह में खप जाते हैं, किन्तु 'किराये का मकान' शीर्षक निबन्ध का मेल संग्रह के अन्य निबन्धों से नहीं बैठ पाता। 'तारक-वध' सम्बन्धी निबन्ध तो इसमें व्यर्थ ही रखा गया, क्योंकि जब तक वह काव्य प्रकाशित नहीं हो जाता, तब तक कवि के तत्सम्बन्धी वक्तव्य का विज्ञापन के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं हो सकता। आलोचना तो उसे कहा नहीं जा सकता, क्योंकि कवि स्वयं अपनी कृति की समीक्षा तटस्थ होकर शायद नहीं लिख सकता।

शेष २२ निबन्धों में से कुछ में साहित्यिक और सांस्कृतिक विचारों तथा सिद्धान्तों का विश्लेषण किया गया है और कुछ व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में आते हैं। 'मेरी साहित्यिक मान्यताएँ' शीर्षक निबन्ध में सूत्र रूप में लेखक के साहित्यिक सिद्धान्तों का समावेश हो गया है। इस निबन्ध में लेखक ने प्रगतिवाद में अपनी आस्था प्रकट की है। किन्तु प्रगतिवाद की उसने जो परिभाषा दी है वह उसका अपना आविष्कार है, क्योंकि प्रगतिवाद का आधार मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन है जिसे अपूर्ण मानकर वह उसे अद्वैतवादी आध्यात्मिक दर्शन से संयुक्त करना चाहता है। इस आध्यात्मिक प्रगतिवाद के जोश में वह यहाँ तक कह देता है कि "अभाव के रहस्य में मनुष्य का प्रवेश करना उसका सबसे बड़ा पराक्रम है। रहस्योन्मुखता जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार है।" इस तरह 'साहित्य वार्ता' का लेखक एक ही साथ दो

१ 'आलोचना के सिद्धान्त', ले० ब्योहार राजेन्द्रसिंह, प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली।

विरोधी दर्शना—द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और अद्वैतमूलक रहस्यवाद—में विश्वास करता है। पर क्या गिरीशजी जैसे सुधी और चिन्तक लेखक को यह बताने की आवश्यकता है कि दर्शन तक का विषय है जिसमें असगति और तर्कहीनता के लिए कोई स्थान नहीं होता। इस असगति पूर्ण और अन्तर्विरोधी मान्यता का कारण एक ओर तो लेखक का अपना सास्कृतिक परम्परा और हिन्दू सस्कारों के प्रति उत्कट प्रेम है और दूसरी ओर उसका मानववादी हृदय तथा कुछ-कुछ प्रगतिवादी कहलाने का लोभ है।

किन्तु लेखक अपनी मान्यता के अन्तर्विरोध से सम्भवत शीघ्र ही अवगत हो गया है, इसीलिए उसने सग्रह के दूसरे निब ध 'प्रगतिवाद' में प्रगतिवादी विचारधारा की सीमाओं पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है और यह घोषणा की है कि 'प्रगतिवाद ने व्यक्ति की सत्ता ही मिटा दी है व्यक्ति की स्वत त्रता पर लगने वाले प्रतिब धों के प्रति अपना विरोधी स्वर ऊँचा करना साहित्य का धर्म है। अपने इस धर्म का पालन करके साहित्य मानव की वैयक्तिक और सामाजिक प्रगति में सामञ्जस्य उपस्थित करता चलता है।' इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक व्यक्ति और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण उन्नति या विकास की प्रक्रिया को ही प्रगतिवाद मानता है और उस प्रक्रिया के पीछे काम करने वाले दार्शनिक, आर्थिक या राजनीतिक सिद्धान्तों को वह महत्त्व नहीं देता, अर्थात् यदि पूँजीवाद द्वारा आज इस प्रकार का विकास सम्भव है तो वह उसे भी प्रगतिशील शासन पद्धति मानेगा, और यदि समाजवादी शासन तन्त्र व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अपहरण करते हैं तो वह उसे अप्रगतिशील कहेगा। पूँजीवाद और समाजवाद में निहित सिद्धान्तों और सम्भावनाओं की परीक्षा करके यह सिद्ध करने की आवश्यकता वह नहीं समझता कि इनमें से वास्तविक रूप से प्रगतिशील कौन है जिसे अपनाकर व्यक्ति और समाज की सामञ्जस्यपूर्ण प्रगति हो सकेगी। इससे स्पष्ट है कि लेखक का दृष्टिकोण सैद्धान्तिक नहीं बल्कि फलान्वेषी है, दार्शनिक नहीं बल्कि उपयोगितावादी है। यदि ऐसी बात है तो गिरीशजी इस प्रगतिवाद के झमेले में व्यर्थ ही पड़े। उन्हें तो टालस्टाय और महात्मा गांधी के 'उपयोगितावाद' का सहारा लेना चाहिए था, क्योंकि उन्होंने अनेक निब धों में अपने को गांधीवादी कहा है। फिर उनके उपर्युक्त कथन से यह भी ज्ञात होता है कि वे प्रगतिवाद की स्थिति किसी राजनीतिक या दार्शनिक मतवाद में न मानकर साहित्य में मानते हैं और उसे साहित्य के धर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। क्या यह एकाङ्गी दृष्टिकोण नहीं है? साहित्य का धर्म प्रगति है या मानव के सौन्दर्य बोध की परितृप्ति? प्रगति और सौन्दर्य भावना के समन्वित रूप का ही अभिधान साहित्य है, इस सत्य की ओर उनकी दृष्टि नहीं जा सकी है। वे मार्क्सवादी प्रगतिवाद को अर्धसत्य या अस्पष्ट सत्य मानते हैं और एक भारतीय प्रगतिवाद की कल्पना करके कहते हैं कि 'मैं भारतीय प्रगतिवाद को अधिक रचनात्मक, अधिक शक्तिपूर्ण, अधिक सजीवन प्रद और पूर्णसत्य के अधिक निकट मानता हूँ। उनके अनुसार भारतीय प्रगतिवाद वह है 'जिसमें समस्त पक्षों, समस्त वादों का समन्वय विद्यमान है।' वे इसी प्रगतिवाद को साहित्य में प्रतिफलित देखना चाहते हैं। प्रश्न यह उठता है कि कोई ऐसा भारतीय प्रगतिवाद है भी और यदि है तो उसका सैद्धान्तिक स्वरूप और उसकी उपलब्धियाँ क्या हैं? मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस भारतीय प्रगतिवाद के आविष्कर्ता स्वय गिरीशजी हैं। अत उन्हें अपने इस नये 'वाद' की विस्तृत और सप्रमाण व्याख्या तथा प्रचार करना चाहिए। तभी उसके सम्बन्ध में व्यापक विचार विमर्श सम्भव हो सकेगा।

इस संग्रह का एक अन्य निबन्ध है 'विश्व संस्कृति बनाम भारतीय संस्कृति', जो समस्त प्रगतिवादी विचारों के बाह्य आवरण को दूर करके लेखक को उसके वास्तविक रूप में उपस्थित करता है। गिरीशजी द्विवेदी युग या पुनरुत्थान-युग के लेखक हैं, अतः आज के क्रान्तिकारी युग में भी वे अपने पूर्व संस्कारों और पुनरुत्थानवादी विचारों को छोड़ नहीं सके हैं। इसी कारण वे संस्कृति को देश काल के भेद के अनुरूप निरन्तर प्रगतिशील और परिवर्तनशील मानते हुए भी भारतीय संस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ संस्कृति घोषित करते हैं और साहसपूर्वक यह कहते हैं "भारतीय संस्कृति के स्वरूप पर हम विचार करेंगे तो वह इसी विश्व संस्कृति के साथ मेल खाती हुई दिखाई पड़ेगी, उक्त विश्व संस्कृति और भारतीय संस्कृति को हम एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न कह सकते हैं।" इस कथन में 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' की साम्राज्यवादी अथवा संकीर्ण राष्ट्रवादी भावना निहित है जो हिन्दू पुनरुत्थानवाद की प्रवृत्ति का द्योतक है। सम्भवतः लेखक ने संस्कृति का अर्थ भी अच्छी तरह नहीं समझा है, क्योंकि निबन्ध के प्रारम्भ में वह संस्कृति की परिभाषा बताते हुए कहता है कि "मनुष्य की वैयक्तिक और सामाजिक साधना के परिणाम जिन कलात्मक माध्यमों द्वारा व्यक्त होकर स्थूल पदार्थ से इसे मुक्त रूप में उपस्थित करते हैं उनकी समष्टि को संस्कृति कहते हैं।" इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति कलात्मक माध्यमों की समष्टि है, अतः धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थनीति आदि का उसमें कोई स्थान नहीं है। किन्तु पूरे निबन्ध में लेखक ने दर्शन, धर्म, आचार, राजनीति आदि के सम्बन्ध में ही विचार किया है और कलात्मक माध्यमों की कहीं चर्चा भी नहीं की है। वस्तुतः संस्कृति मनुष्य की सर्वोत्तम जीवन साधनाओं की निरन्तर विकासमान परिणति है, जो धर्म, दर्शन, कला, शासन, विज्ञान आदि के स्थूल रूपों में अपने को अभिव्यक्त करती चलती है, अर्थात् वह स्थूल जीवन विधियों के मूल में निहित सूक्ष्म जीवन दृष्टि है। यदि विश्व मानव को एक होना है तो उसे जीवन दृष्टि के देशगत और कालगत विशेषताओं तथा उपाधियों का मोह त्यागकर समान भूमि पर समान रूप में उपस्थित होना होगा। तभी विश्व संस्कृति का उदय होगा और उस समय पाश्चात्य और पौर्वात्य, भारतीय और यूनानी, प्राचीन और नवीन के भेद तिरोहित हो चुके रहेंगे। क्या गिरीश जी की 'भारतीय संस्कृति' भी कभी इस स्थिति को प्राप्त कर सकी है या कर सकेगी ?

संग्रह के अन्य निबन्धों में हिन्दी साहित्य के विभिन्न रूपों, प्रवृत्तियों और लेखकों तथा उनकी कृतियों का मूल्यांकन किया गया है। इनमें से कुछ निबन्ध तो निस्सन्देह बहुत ही सन्तुलित और विचारणीय हैं, किन्तु कुछ में लेखक के पूर्वाग्रह या वैयक्तिक रुचि के कारण तटस्थ और वस्तुगत मूल्यांकन नहीं हो सका है। सन्तुलित निबन्धों में 'श्री सुमित्रानन्दन पन्त', 'श्री हरिऔध' और 'यदि मैं कामायनी लिखता' सर्वश्रेष्ठ हैं। 'श्री हरिऔध' शीर्षक निबन्ध में लेखक ने हरिऔधजी के समस्त साहित्य का बहुत निष्पक्ष और नये ढंग से आकलन किया है। लेखक का यह कथन सर्वथा उचित है कि "भारतेन्दु के समय से लेकर द्विवेदीजी के समय तक जितने भी कवि प्रकाश में आए उनमें हरिऔधजी की प्रतिभा ही सबसे अधिक प्रगतिशील, प्रखर और रचनात्मक थी।" इस निबन्ध में हरिऔध की प्रगतिशील, रूढि विद्रोही और प्रयोगशील प्रवृत्ति की सप्रमाण व्याख्या की गई है। लेखक ने हरिऔध की विशेषताओं का ही नहीं, उनके दोषों का भी सम्यक् विवेचन किया है, जो उसकी तटस्थ आलोचनात्मक दृष्टि का परिचायक है। इसी प्रकार 'श्री सुमित्रानन्दन पन्त' शीर्षक निबन्ध में भी पन्तजी के साहि

त्यिक यक्तित्व और विचारधारा के विकास-क्रम का बहुत ही वैज्ञानिक तथा सतुलित रूप में विश्लेषण किया गया है, यद्यपि उसका पहला अनुच्छेद बहुत विवादास्पद है। उसमें लेखक की स्थापना यह है कि "हिन्दी साहित्य अधिकाश में प्रतिक्रियाओं के अधीन होकर अपना विकास पाता रहा है।' प्राय यही विचार इस सग्रह के एक अन्य निब ध 'हि दी काव्य की प्रतिक्रियाएँ और प्रवृत्तियाँ' में भी व्यक्त किये गए हैं। किन्तु श्रेष्ठ साहित्य प्रतिक्रिया-जन्य नहीं होता। यदि हि दी का अधिकाश साहित्य प्रतिक्रिया जय है तो वह श्रेष्ठ नहीं हो सकता। पर कौन तटस्थ आलोचक इसे मानने को तैयार होगा ? साहित्य की मूल प्रेरणा प्रतिक्रियात्मक नहीं, सजनात्मक होती है, जो युगीन परिवेश और सास्कृतिक परम्परा की देन होती है। इस भूमिका भाग के अतिरिक्त निब ध के अन्य अशों में भी कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ लेखक से सहमत होना कठिन है। लेखक ने पन्तजी की गद्यात्मक, नीरस और उपदेशात्मक कविताओं की ओर ध्यान देकर 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' की सभी कविताओं को 'काव्यसुलभ' 'सरलता से युक्त' और 'मनोहर' घोषित किया है। साथ ही उसने प त के मानवतावादी स्वरूप के समर्थन के जोश में उनके विचारगत अन्तर्विरोधों का भी उल्लेख नहीं किया है।

'यदि मैं कामायनी लिखता' शीर्षक निबन्ध भी पर्याप्त विचारपूर्ण और कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक ने 'कामायनी' की अन्यतम विशेषताओं का उल्लेख करते हुए उसके महाकाव्यत्व और नायक-तत्त्व के सम्बन्ध में कुछ दोष भी ढूँढे हैं। उनकी आपत्तियाँ प्रमुखत तीन हैं—(१) मानव जीवन की समस्या के सम्बन्ध में कामायनी का उपचार मूलत वैयक्तिक है। (२) उसमें जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं है। (३) नायक तत्त्व समन्वित श्रद्धा अपनी शक्तिहीन दया और सहानुभूति के कारण पारिवारिक सीमा के भीतर ही सकुचित रह गई है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि 'कामायनी' नये ढग का प्रतीकात्मक और प्रगीतात्मक महाकाव्य है, अत उसकी परीक्षा पुराने मानदण्डों से नहीं होनी चाहिए। 'कामायनी' का धरातल वैयक्तिक नहीं, सामाजिक है, क्योंकि उसका लक्ष्य मानव जाति को अशान्ति, दु ख और वैषम्य से मुक्त दिलाना और चारित्रिक विकास के माध्यम से नवीन मानव समाज की रचना करना है। श्रद्धा महाकाव्य की नायिका ही है, नायक नहीं, अत उसका काय नायक की फल प्राप्ति में अधिकाधिक योग देना है। इड़ा उपनायिका है। इन दोनों का चरित्र एक-दूसरे का पूरक है, क्योंकि श्रद्धा आत्मिक शक्ति का प्रतीक है और इड़ा भौतिक या सामाजिक शक्ति का। इन दोनों शक्तियों की अभिव्यक्ति हृदय और बुद्धि के माध्यम से होती है। अत यदि प्रसादजी श्रद्धा से आधुनिकयुगीन क्रान्तिकारी नेत्रियों की तरह सारस्वत प्रदेश की प्रजा का नेतृत्व कराते तो उनकी रूपक योजना ही नष्ट हो जाती। श्रद्धा की करुणा शक्तिहीन नहीं है। क्या गिरीशजी आत्मिक शक्ति को शक्ति नहीं मानते ? तब तो उनकी भारतीय सस्कृति की इमारत ही ढह जायगी।

शेष निब धों में 'गुप्तजी का साकेत', 'आधुनिक हिन्दी काव्य का विद्रोही स्वर', 'मध्ययुगीन हि दी काव्य में राधाकृष्ण', 'अज्ञेयजी का नदी के द्वीप' तथा 'हि दी उपन्यास में सृजनात्मक सहरण' उतने महत्त्वपूर्ण न होते हुए भी विचारपूर्ण तथा व्यावहारिक समीक्षा के गुणों से युक्त हैं। 'गुप्तजी का साकेत' में लेखक ने 'साकेत' की अति सक्षिप्त किन्तु निष्पक्ष आलोचना की है। 'आधुनिक हिन्दी काव्य का विद्रोही स्वर' में हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पन्त, निराला

और दिनकर के काव्य के रूढ़िविरोधी तत्वों और क्रान्तिदर्शी विचारों की संक्षिप्त विवेचना की गई है। 'मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में राधाकृष्ण' बहुत ही चिन्तनपूर्ण तथा विचारोत्तेजक निबन्ध है। उसमें राधाकृष्ण की माधुर्य भाव से की जाने वाली उपासना के मूल में निहित आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्वों तथा कृष्ण, राधा, गोप, गोपी आदि के रूप में व्यक्त उनके प्रतीकों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'हिन्दी उपन्यास में सृजनात्मक महत्त्व' में लेखक ने हिन्दी-उपन्यास के विकास क्रम का संकेत करते हुए उसके यथार्थवादी स्वरूप का विश्लेषण किया है और यथार्थवाद के संहारात्मक पक्ष से अधिक उसके निर्माणात्मक पक्ष पर जोर दिया है। उसके अनुसार प्रगतिवादी या मनोविश्लेषण शास्त्रीय यथार्थवादी उपन्यासों में मनुष्य की पाशविक वृत्तियों के संहार और मानवीय गुणों के विकास की प्रवृत्ति उतनी नहीं मिलती। लेखक के इस कथन से सम्भवतः बहुत से लोग न सहमत हों।

संग्रह के अन्य निबन्ध सामान्य हैं। उनमें से कुछ—'हमारे रचनाकार और आलोचक', 'विवेचना की आवश्यकता', 'उर्दू देश भाषा की ही एक शैली' आदि—या तो भाषण हैं या भाषण वाली व्यास शैली में लिखे गए हैं। अतः उनमें आलोचनात्मक उत्कृष्टता, गम्भीरता तथा समाहार-शक्ति का अभाव है। कुछ निबन्ध ऐसे हैं जिनकी व्याख्यात्मकता टीका भाष्य की पद्धति के निकट पहुँच गई है, जैसे 'निराला का तुलसीदास' और 'आचार्य शुक्ल का काव्य सिद्धान्त'। 'इन्दुमती', और 'दिनकरजी का कुरुक्षेत्र' पत्र पत्रिकाओं के लिए लिखी गई पुस्तक समीक्षा प्रतीत होते हैं। शेष निबन्धों में भी पत्रकारिता के गुण ही अधिक दिखाई पड़ते हैं। किन्तु कुल मिलाकर इस निबन्ध संग्रह को उत्तम कोटि का समीक्षात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है, क्योंकि इसमें लेखक का गहन चिन्तन, निर्भीक निर्णय वृत्ति और सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति का परिचय सर्वत्र मिलता है।

दूसरी पुस्तक 'आलोचना के सिद्धान्त' को पढ़कर घोर निराशा हुई। हिन्दी में साहित्य शास्त्र के सामान्य ज्ञान के लिए बाबू श्यामसुन्दरदास कृत 'साहित्यालोचन', बाबू गुलाबराय कृत 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'साहित्य का साथी' आदि पुस्तकें बहुत ही उपयोगी और सुन्दर हैं। यदि कोई लेखक उनके बाद साहित्य शास्त्र पर नया ग्रन्थ लिखता है तो उसे उक्त ग्रन्थों से अधिक सामग्री और नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहिए अथवा साहित्य शास्त्र के अलग अलग अंगों पर विशेष और गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत करना चाहिए। तभी उसकी पुस्तक की कोई उपयोगिता हो सकती है। हाँ, विद्यार्थियों के उपयोग के लिए सस्ते 'नोटस' लिखकर पैसा कमाना हो तो दूसरी बात है। यह बात भी समझ में नहीं आती कि एक ही प्रकाशक एक विषय पर एक ही सामग्री से युक्त कई कई पुस्तकें क्यों प्रकाशित करता है। आत्माराम एण्ड सन्स के यहाँ से साहित्य शास्त्र पर श्री गुलाबराय की तीन पुस्तकें 'काव्य के रूप', 'सिद्धान्त और अध्ययन' और 'साहित्य समीक्षा' तथा चौथी सुमन और मल्लिक की पुस्तक 'साहित्य विवेचन' पहले ही से प्रकाशित हो चुकी थीं। फिर उसी विषय की यह पाँचवीं पुस्तक, जो उक्त पुस्तकों से किसी भी अर्थ में अच्छी नहीं कही जा सकती, प्रकाशित करने की क्या आवश्यकता थी? इस पुस्तक में कोई भी ऐसी विशेषता नहीं दिखाई पड़ती जो गम्भीर पाठकों का ध्यान आकर्षित करे अथवा जो लेखक को सुलझा आलोचक तो दूर, गम्भीर अध्येता भी सिद्ध कर सके। 'आलोचना के सिद्धान्त' दो भागों में विभक्त हैं—प्रथम भाग में नौ अध्यायों में भारतीय और पाश्चात्य साहित्य शास्त्र के विविध मत मतान्तरों का

परिचय दिया गया है, दूसरे भाग में आलोचना के विकास के सम्बन्ध में बारह अध्यायों में विचार किया गया है। प्रश्न उठता है कि यदि पुस्तक का नाम 'आलोचना के सिद्धान्त' रखा गया है तो उसमें आलोचना के विकास का इतिहास देकर उसका कलेवर बढ़ाने का क्या प्रयोजन है? क्या इस प्रकार भ्रामक नाम देकर पाठकों को धोखा देना उचित है? किंतु पूरी पुस्तक पढ़ जाने पर बात स्पष्ट हो जाती है कि इस ग्रन्थ में न तो आलोचना के सिद्धान्तों का ही सम्यक् विवेचन हुआ है, न आलोचना का विकास ही पूर्ण रूप में दिखाया गया है। उदाहरणार्थ प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में, जिसका शीर्षक है 'आलोचना के दृष्टिकोण', प्रारम्भ के कई पृष्ठों में शास्त्र और साहित्य तथा गद्य और पद्य का अन्तर तथा गद्य के विकास का इतिहास दिया गया है, फिर साहित्य के उद्देश्य या प्रयोजन अथवा उसकी उत्पत्ति के कारणों से सम्बन्धित कुछ मतों का बहुत ही सामान्य परिचय दिया गया है और बीच-बीच में साहित्य की प्रवृत्तियों में परिवर्तन, कला और कलाकार, यथार्थवाद तथा समीक्षा की तुलनात्मक प्रणाली के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। इस तरह इस अध्याय का इसके शीर्षक से कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इसमें साहित्य के मूल उत्स, विकास, उसका उद्देश्य, साहित्य के प्रकार तथा आलोचना सम्बन्धी कुछ सिद्धान्तों का विचित्र घालमेल दिखाई पड़ता है। 'भारतीय आलोचना शास्त्र' शीर्षक दूसरे अध्याय में केवल साढ़े तीन पृष्ठों में रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदायों का विश्लेषण कर दिया गया है, जिससे पाठक के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ सकता। इससे भी विचित्र तीसरा अध्याय है, जिसमें काव्य के स्वरूप, कारण, उद्देश्य और आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्तों को दो-दो, चार-चार पंक्तियों में कह दिया गया है। फिर प्रथम अध्याय में ही क्या ये बातें नहीं समाविष्ट हो सकती थीं? चतुर्थ अध्याय का शीर्षक तो है 'काव्य के भेद', किन्तु उसमें काव्य की कोटियों तथा शब्द शक्तियों का अत्यन्त अधूरा परिचय दिया गया है। इसी प्रकार प्रथम भाग के सभी अध्याय नितान्त अव्यवस्थित, योजनारहित, अपूर्ण और अपक्व सामग्री से भरे हुए हैं।

दूसरे भाग का शीर्षक है 'आलोचना का विकास', किन्तु इसे पढ़कर यही लगा कि इसका शीर्षक होना चाहिए 'पाश्चात्य कला समीक्षा का विकास', पर पाश्चात्य कला समीक्षा का भी इसमें क्रमिक, व्यवस्थित और पूर्ण परिचय नहीं दिया गया है। प्रारम्भ के सात अध्यायों में अफलातून, अरस्तू, एडिसन, लेसिंग और कांट के साहित्य कला सम्बन्धी विचारों की उद्धरणी उपस्थित की गई है। इस तरह ये अध्याय मुख्यतः साहित्य से नहीं, सौन्दर्यशास्त्र से सम्बन्धित हैं। यदि समीक्षा शास्त्र का अंग सौन्दर्यशास्त्र मान भी लिया जाय तो भी उस क्षेत्र के लिए उपयुक्त लेखकों के नाम पर्याप्त नहीं हैं, क्योंकि आधुनिक युग के सौन्दर्यशास्त्रियों—ग्रोस, ह्यूम, टालस्टाय, क्लाइव बेल, मारिस, पार्किन, क्रोचे, फ्रायड, जार्ज सन्तायाना, आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट रीड, काडवेल आदि—के मतों का इसमें कहीं उल्लेख भी नहीं किया गया है। आधुनिकयुगीन साहित्य समीक्षा के सिद्धान्तों तथा उसके विकास का परिचय देने की तो इसमें कोई आवश्यकता ही नहीं समझी गई है। पूरी पुस्तक के प्रायः तीन चौथाई भाग में लेखक ने दूसरों के मतों और विचारों का ही विवरण और उद्धरण दिया है, अतः समीक्षा-सम्बन्धी उसकी निजी मान्यताओं और विचारसरणि का कुछ पता नहीं चलता। हिन्दी-साहित्य-समीक्षा की उपलब्धियों की ओर भी लेखक ने दृष्टि डालने की आवश्यकता नहीं समझी है। लेखक को हिन्दी

समीक्षा का कितना ज्ञान है यह इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि भूमिका में हिन्दी समीक्षकों का नाम गिनाते हुए उसने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० जगन्नाथ शर्मा, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रो० विनयमोहन शर्मा आदि सिद्ध आलोचकों का नामोल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा है। पुस्तक प्रूफ की अशुद्धियों से भरी हुई है। जहाँ नलिन विलोचन शर्मा ललित विलोचन, अभिनव गुप्त अभिनव गुप्त और रुद्रट रूपट हो गए हों, वहाँ प्राण का पुराण, गुणों का गुण, दुर्लभे लोके का दुर्लभे लोक, कारणम् का करणम्, असम्बद्ध का असम्भव, इलियड का इलियट, वस्तु का वस्तू हो कोई बड़ी बात नहीं है। पता नहीं वह शुभ दिन कब आयेगा जबकि हिन्दी के प्रकाशक अपने प्रकाशनों का स्तर अंग्रेजी के प्रकाशकों के समान ऊँचा उठा सकेंगे।

⊙

रामपूजन तिवारी

हिन्दी-साहित्य पर सूफीमत का प्रभाव

प्रस्तुत पुस्तक में सूफीमत को दृष्टि में रखकर हिन्दी साहित्य का अध्ययन किया गया है। विद्वान् लेखक के मत से हिन्दी साहित्य पर सूफीमत का व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा है। लेखक ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि सूफीमत से केवल निर्गुणिया सन्त कबीर आदि ही प्रभावित नहीं हुए, बल्कि सगुणोपासक और विशेष रूप से कृष्णभक्त मीरा, सूर आदि भी प्रभावित हुए हैं। लेखक के मत से कृष्णाश्रयी शाखा में रहस्य तथा मधुर भावना का प्रवेश सूफीमत के कारण ही हुआ। छायावादी और रहस्यवादी आधुनिक कविता भी इसके प्रभाव से अछूती नहीं रही।

चूँकि सूफीमत को दृष्टि में रखकर यह अध्ययन प्रस्तुत किया गया है इसलिए लेखक ने सूफीमत पर प्रथम पाँच अध्यायों में विस्तार से प्रकाश डाला है। बाद के अध्यायों में हिन्दी सूफी काव्य के विश्लेषण द्वारा कई परिणाम निकाले गए हैं।

सूफीमत का अध्ययन अपने आपमें उलझा हुआ है, अतएव मतभेद की गुंजायश उसमें प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। सूफीमत के अध्ययन करने वालों को पद पद पर इन मतभेदों का परिचय मिलता है, इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में प्रकट किये गए विचारों तथा अन्य तथ्यों और परिणामों से हर समय सहमत नहीं होना कुछ अस्वाभाविक नहीं होगा।

'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'सोफिया' से बतलाई गई है और इसी व्युत्पत्ति को लेखक ने स्वीकार किया है ''क्योंकि सूफी लोग अनुभवसिद्ध ज्ञान को ही महत्त्व देते हैं। साफिया, सूफी और स्वभास (संस्कृत) शब्दों में बड़ा सामञ्जस्य भी है।''[1] सोफिया, में 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में जितनी भी बातें हैं उनमें दो बातों का ध्यान रखा गया है—एक तो यह कि इस शब्द से सूफियों के वर्ग विशेष, उनके आचार विचार, उनकी मान्यता और विश्वास का आभास मिले और दूसरे भाषा की दृष्टि से 'सूफी' शब्द से उनका

1 पृ० 1।

साम्य हो। इसीलिए 'अहल अल सुफ्फा', 'सफ्फा अ वल', 'सोफिस्ता', 'सूफ़', 'सोफिया' आदि शब्दों से इसकी व्युत्पत्ति करने की कोशिश की गई है। लेकिन भाषाशास्त्री भाषा की दृष्टि से 'सूफ़' से ही 'सूफ़ी' शब्द का बनना मानते हैं। उनका कहना है कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से 'सुफ्फा', 'सफ्फा', 'सोफिस्ता' अथवा 'सोफिया' शब्द से 'सूफ़ी' शब्द नहीं बन सकता। अतएव उनकी दृष्टि में 'सूफ़' शब्द से ही इसका बनना मानना उचित है। अधिकांश लोग इसी व्युत्पत्ति को स्वीकार करते हैं।

'सूफ़' शब्द का अर्थ 'ऊन' है। उपयुक्त मत की पुष्टि के लिए अन्य और तर्क उपस्थित किये जाते हैं। नोल्दके (सन् १८६४ ई०) ने दिखलाया है कि इस्लाम के आविर्भाव के बाद का प्रथम दो शताब्दियों में मोटे ऊनी वस्त्रों का प्रचलन साधारण जनता में भी था, लेकिन विशेष रूप से इसका व्यवहार फकीरों का जीवन बिताने वाले लोगों में ही था। ऊनी चोगे का व्यवहार उस समय के साधक करते थे और एकान्त जीवन बिताया करते थे। बहुत लोगों का कहना है कि ईसाई सन्तों से सूफ़ी साधकों में इस प्रकार के चोगे का व्यवहार आया। इसका प्रमाण मिलता है कि सन् ७१६ ई० में उजले ऊन के चोगे का व्यवहार विदेशी माना गया है और हसन अल बसरी के एक शिष्य फरकद सबख़ी को इसके लिए बुरा भला कहा गया है।

इसी प्रकार से सूफ़ियों के 'फ़ना' के सिद्धान्त के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। 'फ़ना' के सिद्धान्त को बहुतों ने बौद्धों के 'निर्वाण' के सिद्धान्त जैसा माना है और बहुतों को ऐसा मानने में संकोच है। निकोल्सन दोनों में समानता नहीं स्वीकार करते। निकोल्सन का कहना है कि सूफ़ियों की भावाभिगम्यता का उल्लास, जबकि वह परमात्मा के सौन्दर्य के ध्यान में लगा हुआ रहता है, अर्हत की नीरस बौद्धिक स्थिरता के प्रतिकूल है। 'सूफ़ीमत और हिन्दी-साहित्य' के लेखक की दृष्टि में "बौद्धों का निर्वाण यद्यपि फ़ना के अनुरूप सा ही है तथापि हम फ़ना को निर्वाण से एकरूपता नहीं दे सकते। निर्वाण केवल निषेधात्मक ही है, अर्थात् निजत्व का समाप्ति पर वासनाहीन समरूपता में निर्वाण है, जबकि दैवी सौन्दर्य के सहजानन्दी ध्यान में निजत्व का पूर्ण अवसान ही फ़ना है।"[1] इस प्रकार से लेखक ने 'निर्वाण' को 'निषेधात्मक' माना है, जिसमें 'निजत्व' नहीं रह जाता, केवल 'वासनाहीन समरूपता' रह जाती है। यही निकोल्सन की 'नीरस बौद्धिक स्थिरता' है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि बौद्धों के 'निर्वाण' का रूप कालक्रम से परिवर्तित होता रहा है, वह केवल 'नीरस' या 'निषेधात्मक' ही नहीं रहा है। उसके क्रमिक विकास के इतिहास पर अगर दृष्टि डालें तो हम पाएँगे कि बौद्ध धर्म की ऐसी भी बहुत सी शाखाएँ थीं जिनकी भक्ति इस निषेधात्मक और नीरस निर्वाण के प्रति नहीं थी। बहुतों ने बुद्ध को शाश्वत और अलौकिक माना तथा इस विचारधारा ने इतनी दृढ़ता से जोर पकड़ा कि हठयोगियों से प्रभावित होकर इसमें बुद्ध को पूर्ण ब्रह्म माना जाने लगा। समन्तभद्र तथा वैरोचन के रूप में बुद्ध की पूजा होने लगी। इसके अलावा यह भी देखने को मिलता है कि बहुत सी शाखाओं ने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि तर्क द्वारा परम सत्ता को समझा जा सकता है। उन्होंने नानात्व को प्रपंच कहा और रहस्य वादियों के सहज ज्ञान से उसे गम्य माना। इस प्रकार यह समझा जा सकता है कि बौद्ध धर्म में भी निर्वाण केवलमात्र नीरस और निषेधात्मक ही नहीं रह गया, बल्कि वह रहस्यवादी प्रवृत्ति

1 पृ० २६।

से भी प्रभावित हुआ और सबसे मजेदार बात यह है कि ये विश्वास महायानियों के हैं और महायान शाखा का पूरा प्रभाव फारस के पूर्वी अञ्चला पर था। अतएव अगर यह कहा जाय कि सूफियों के 'फना' और 'बका' के सिद्धान्त बौद्धों की उस शाखा से प्रभावित हैं जिसने रहस्य पर जोर दिया, तो कोई अयुक्ति नहीं होगी।

लेखक के इस मत से भी सहमत होना कठिन है कि "वास्तव में ईश्वर का सिंहासनारूढ़ होना और निर्णय के दिन अन्तिम रसूल के नेतृत्व में सबको प्रतिफल मिलना सूफियों को मान्य नहीं।"[1] जामी, मौलाना रूमी, अत्तार आदि सूफी साधक और कवियों के ग्रंथों में सर्वत्र 'आशा' और निर्णय के दिन की चर्चा है। वैसे सूफी 'अन्तिम रसूल के नेतृत्व' को आवश्यक नहीं मानते। अत्तार के 'मन्तिकुत्तैर' में 'सिमुर्ग' की कल्पना सिंहासनारूढ़ ईश्वर की है जिसे प्राप्त करने के लिए तीस पक्षी (साधक) पहुँचते हैं। इस प्रकार से और बहुत सी इसी प्रकार की अन्य बातों में मतभेद की पूरी गुञ्जायश है।

लेखक ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के छायावाद एवं रहस्यवाद को सूफी मत से प्रभावित होना बतलाया है। "आज छायावादी एवं रहस्यवादी कवि सर्वत्र उसी व्यापक ब्रह्म की छटा को छिटकी हुई देखता है। सूफी भी यही कहते हैं कि सबमें उसीका जलवा है।"[2] भारतीय विचारधारा एवं साहित्य से परिचित कोई भी इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होगा कि रहस्यवादी प्रवृत्ति का जन्मदाता भारतवर्ष ही है। इसे प्रायः विदेशी विद्वान् स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ अधिक कुछ कहना अभिप्रेत नहीं। जहाँ तक छायावादी और रहस्यवादी कवियों के सूफीमत से प्रभावित होने का प्रश्न है, सूफीमत के सीधे पड़ने वाले प्रभाव को ढूँढना कठिन है। आधुनिक हिन्दी काव्य नाना विचारधाराओं से प्रभावित है। उनमें सूफीमत भी हो सकता है। लेकिन लेखक ने महादेवी वर्मा की बहुत सी पंक्तियों को उद्धृत कर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि वे सूफी साहित्य से प्रभावित हैं। एक जगह लेखक ने कहा है, " महादेवीजी उस असीम को किसी एक स्थान पर सीमित हुआ नहीं पातीं और न संसार को मिथ्या ही मानती हैं, वरन् सूफियों की भाँति उसे विश्व में प्रकाशरूप प्रदर्शित हुआ ही मानती हैं। उन्हें इस विश्वात्मा का निश्चय तो है, परन्तु वह क्या है, कौन है, इसका पता नहीं।"[3] यहाँ पर लेखक ने एक प्रकार से उपनिषदों से प्रभावित विचारधारा को एकदम भुला दिया है। दूसरी बात यह है कि सूफी भी संसार को मिथ्या मानते हैं। तीसरे, सूफी साधक के मन में यह कभी नहीं रहता कि 'वह क्या है', कौन है।' ऐसा सोचना वह गुनाह मानता है या अपनी साधना की असफलता मानता है और फिर दृढ़ विश्वास के साथ अपनी साधना में रत होता है। 'सूफी मार्ग' की एक दो मंजिलों तक वह निश्चय अनिश्चय के बीच भटकता है, लेकिन अपने इस 'अनिश्चय' के लिए उसे पश्चाताप होता है। वह मुर्शिद की शरण लेता है, परमात्मा से प्रार्थना करता है कि जिसमें ऐसा न हो। महादेवी की उन पंक्तियों में सूफी साधक की दृष्टि नहीं है। अतएव लेखक के इस कथन की

---

१ पृ० ११।
२ " २१२।
३ " २१३।

कि इस छायावाद और रहस्यवाद में स्पष्ट ही हम सूफ़ी भावना को देखते हैं"[1] स्वीकार कर लेना कठिन है।

न केवल आधुनिक हिन्दी काव्य में ही ऐसा कोई प्रभाव परिलक्षित होता है बल्कि मध्य युगीन भक्ति काव्य में भी सूफ़ीमत के प्रभाव को स्वीकार करने में संकोच हो सकता है। अगर मधुर रस की भक्ति को सूफ़ियों से प्रभावित होना मान लें तो दक्षिण के आलवारों में इस प्रकार की भक्ति कहाँ से आई? जयदेव के 'गीतगोविन्द' में यह मधुर रस की सरस भक्ति कहाँ से आई? चैतन्य महाप्रभु ने इस प्रकार की भक्ति (मधुर रस की भक्ति) को कहाँ से पाया? तत्कालीन बंगला, आसामी, उड़िया, मराठी और गुजराती साहित्य में यह भक्ति कहाँ से आई? सूफ़ीमत के प्रभाव से ऐसा मानना अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। ऐसी हालत में मीरा आदि की 'मधुर रस की भक्ति' का कारण अन्यत्र ढूँढना समीचीन होगा।

इन मतभेदों के बावजूद भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि लेखक ने सूफ़ीमत की छान बीन की है और साहसपूर्वक अपने विषय का प्रतिपादन किया है। लेखक ने इस दिशा में काम करने वाले साहित्य के विद्यार्थियों को काफी सोचने विचारने के लिए सामग्री जुटा दी है।

अन्त में कुछ ऐसे वाक्यों के प्रयोग का निर्देश आवश्यक प्रतीत होता है जो सुचिन्तित नहीं हैं, वैसे इस प्रकार के ग्रन्थों से इस बात की अपेक्षा की जाती है कि उनमें प्रकट किये गए विचार सुचिन्तित और स्पष्ट हों। नमूने के तौर पर निम्नलिखित वाक्यों की परीक्षा की जा सकती है—

"यद्यपि शंकराचार्य ने अद्वैत का प्रतिपादन किया था, तथापि शिव की महत्ता को योगियों ने अंगीकृत किया।'[2]

'शिव का शिवत्व तो ध्वस्त सा दीख पड़ता है।'[3]

"वास्तव में यहाँ कुरान का अल्लाह ही ईश्वर बन गया है, जिसकी प्राप्ति में पौराणिक देवताओं का भी हाथ है।'[4]

"इस्लामी भावना से अद्वैत अब अपना रूप निखार रहा था, परन्तु इसमें प्रेम की मादक लहर ने अभिन्नता होते हुए भी ईश्वर को प्रियतम का रूप दे दिया था और साधना को मधुर बना दिया था[5]।"[6]

---

१ पृ० २२१।
२ " ८६।
३ " ८६।
४ " ६०।
५ " ३८।
६ लेखक, डॉ० विमल कुमार जैन प्रकाशक, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली।

दत्तात्रेय पाण्डेय

भागवत सम्प्रदाय

भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में वैष्णव दर्शन का विशिष्ट स्थान है। हिन्दी में इस दर्शन से सम्बन्ध रखने वाले एक दो ग्रन्थ इधर अवश्य प्रकाशित हुए हैं, परन्तु इन पुस्तकों में इस दर्शन का साङ्गोपाङ्ग विवेचन नहीं पाया जाता। प्रस्तुत आलोच्य ग्रन्थ प० बलदेव उपाध्याय की कृति है, जिनसे हिन्दी के दार्शनिक पाठक सम्भवत अपरिचित नहीं हैं। दर्शन के क्षेत्र में उपाध्यायजी के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। 'भारतीय दर्शन' के ऊपर आपको सम्मेलन द्वारा मगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका है। इसी प्रकार 'बौद्धदर्शन' भी इन्हीं मल डालमिया पुरस्कार से पुरस्कृत है।

'भागवत सम्प्रदाय' नामक प्रस्तुत पुस्तक मे उपाध्यायजी ने वैष्णव धर्म के उद्गम और विकास की गाथा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया है। उत्तरी तथा दक्षिणी भारत के विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का विवेचन करके बृहत्तर भारत में इस धर्म के व्यापक प्रभाव का वर्णन किया गया है। वैष्णव साधना की मीमासा प्रस्तुत करके विद्वान् लेखक ने इस पुस्तक की महत्ता को और भी अधिक बढ़ा दिया है। इस ग्रन्थ की विषयसूची से ही इसकी व्यापकता का पता चल सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में बारह अध्याय हैं, जिसमें पहला अध्याय 'वैष्णव धर्म की महत्ता' के सम्बन्ध में है। इसमें वैष्णव धर्म के उन तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया गया है, जिनके कारण इसको इतनी महानता प्राप्त हुई है। विद्वान् लेखक ने बृहत्तर भारत—जावा, चम्पा, श्याम, कम्बोज और बालिद्वीप—में वैष्णव धर्म की विजय गाथा का बड़ा सुन्दर तथा प्रामाणिक वर्णन उपस्थित किया है। इस धर्म का प्रभाव भारतीय भाषाओं के साहित्य—विशेषकर तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम, मराठा और हिन्दी—पर कितना अधिक पड़ा है इसका विवेचन गम्भीरता के साथ किया गया है।

दूसरे अध्याय में वेदों में विष्णु का क्या स्वरूप है, इसका वर्णन है। इस अध्याय में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि भक्ति का उद्गम किस प्रकार हुआ, संहिता काल म भक्ति का क्या स्वरूप था और ब्राह्मण युग में किस प्रकार विष्णु के विभिन्न अवतारों की अवतारणा की गई।

तीसरे अध्याय में वैष्णव धर्म की प्राचीनता का ऐतिहासिक क्रम से वर्णन प्रस्तुत किया गया है। कुछ विद्वान् इस धर्म को बहुत प्राचीन नहीं मानते, परन्तु वर्तमान लेखक ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि यह धर्म बहुत प्राचीन है। बेसनगर के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि २०० ईसा पूर्व में ही इस धर्म का इतना व्यापक प्रभाव था कि हेलियोडोरस नामक विदेशी यवनदूत ने इस धर्म को स्वीकार कर 'भागवत' की उपाधि धारण की थी और अपनी उत्कट विष्णु भक्ति के फलस्वरूप वहाँ गरुड़ स्तम्भ का निर्माण किया था। इसी अध्याय में पाँचरात्र साहित्य की बड़ी गम्भीर मीमांसा की गई है।

चौथा अध्याय 'पुराणों में विष्णु' है। विभिन्न पुराणों—जैसे ब्रह्मवैवर्त, विष्णु पुराण तथा पद्म पुराण—में विष्णु किस रूप में पूजित हैं, इसका वर्णन है। भागवत पुराण का वैष्णवों में बड़ा समादर है। यह उनका उपजीव्य ग्रन्थ है। भागवत का साध्यतत्त्व और साधनतत्त्व

इन दोनों का विशद विवेचन इसका मुख्य विषय है।

पाँचवाँ अध्याय दक्षिण के वैष्णव सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखता है। दक्षिण के सम्प्रदायों के विषय में उत्तर भारत के लोगों को जानकारी प्रायः बहुत कम है। विद्वान् लेखक ने आलवारों तथा विभिन्न आचार्यों के सिद्धान्त और साधना पद्धति का रोचक विवरण दिया है।

रामानुज सम्प्रदाय का वर्णन छठे अध्याय का विषय है। पहले उत्तरी भारत में भक्ति आन्दोलन का वर्णन करके तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक पृष्ठभूमि का उल्लेख किया गया है। इसके पश्चात् स्वामी राघवानन्द और स्वामी रामानन्द के सिद्धान्त तथा साधना को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने रामानन्द की शिष्य परम्परा का विवेचन करते हुए हिन्दी साहित्य में इसके प्रभाव के ऊपर प्रचुर प्रकाश डाला है।

सातवें आठवें और नवें अध्यायों में क्रमशः निम्बार्क सम्प्रदाय, श्री वल्लभ सम्प्रदाय तथा राधावल्लभाय सम्प्रदायों का वर्णन है। प्रत्येक सम्प्रदाय के विवेचन में उसकी ऐतिहासिक समीक्षा, सिद्धान्त निरूपण और साधना पद्धति के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है। वल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत अष्टछाप के कवियों के कृतित्व तथा व्यक्तित्व का उल्लेख हुआ है और यह दिखलाने का लेखक ने प्रयास किया है कि इस मत का प्रभाव हिन्दी साहित्य के ऊपर कितना गहरा पड़ा है।

पूर्वी भारत में भक्ति आन्दोलन (दसवाँ अध्याय) का वर्णन करते हुए बंगाल, उड़ीसा और आसाम में प्रचलित तत्कालीन विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का रोचक वर्णन दिया गया है। मध्ययुग में केवल महाप्रभु चैतन्य देव ने ही उत्तरी भारत में भक्तिरस की सरिता नहीं बहाई, बल्कि आसाम के शंकरदेव और माधवदेव ने भी अपनी पियूषवर्षी वाणी से जनता को आप्लावित किया था। उड़ीसा में उत्पन्न 'पंचसखा धर्म' से सम्भवतः बहुत कम लोगों का परिचय है, जो इस अध्याय में उपलब्ध है।

महाराष्ट्र का वैष्णव पन्थ (ग्यारहवाँ अध्याय) नामक परिच्छेद में इस प्रदेश में पल्लवित चार विशिष्ट सम्प्रदायों का प्रामाणिक विवेचन पाठकों के सामने प्रस्तुत है। ये सम्प्रदाय हैं—महानुभाव पन्थ, वारकरी पन्थ, रामदासी पन्थ और हरिदासी पन्थ। इनमें वारकरी पन्थ बड़ा प्रसिद्ध है जिसके उदय और अभ्युदय में ज्ञानदेव, नामदेव और तुकाराम का हाथ रहा है।

बारहवाँ तथा अन्तिम अध्याय वैष्णव साधना से सम्बन्ध रखता है। वैष्णव धर्म की विशिष्टता, इसके विभिन्न मतों में साम्य और वैषम्य, पंचधा भक्ति, रस साधना और उपासना तत्त्व इस अध्याय के विवेच्य विषय हैं। इस परिच्छेद को प्रस्तुत ग्रन्थ का सारभूत अंश समझना चाहिए, जिसमें वैष्णवों की रहस्यमय साधना पद्धति का एक पहुँचे हुए साधक द्वारा अनुभूतिमय विवेचन किया गया है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ को यदि वैष्णव धर्म का विश्वकोश कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। विवेच्य पुस्तक लेखक की चिरन्तन साधना और अध्ययन का फल है, जिसमें वैष्णव धर्म के उद्गम तथा विकास की गाथा सीधे सादे शब्दों में कही गई है। गत पृष्ठ में पुस्तक के विभिन्न अध्यायों का जो वर्णन दिया गया है उसीसे इसके विषय की व्यापकता का पता चल सकता है।

यदि इस पुस्तक में वैष्णवधर्म के ऐतिहासिक विकास का इतिहास किसी एक ही स्थान में उपलब्ध होता तो पाठकों का बड़ा उपकार होता। परन्तु यह सामग्री अनेक अध्यायों में बिखरी

पड़ी है। इसी प्रकार पुस्तक के अध्यायों की व्यवस्था (Arrangement) में भी सुधार की गुञ्जाइश है। कहीं कहीं निर्दिष्ट ग्रंथों का नाम ठीक नहीं है, जैसे पृ० ६६२ पर भण्डारकर की पुस्तक का नाम और पृ० ६६५ पर डॉ० एस० दास गुप्त के ग्रंथ का शीर्षक अशुद्ध है। आशा है अगले संस्करण में इसका निवारण हो जायगा। भारतीय दर्शन के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक नितान्त पठनीय है। ऐसा विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ प्रस्तुत करने के लिए पाठक धन्यवाद का पात्र है।[1]

डॉ० राजबली पाण्डेय

भारतीय संस्कृति

लेखक की योजना सम्पूर्ण ग्रंथ को आठ खण्डों में पूरा करने की है। उसीका प्रथम खण्ड 'वैदिक धारा' है। इस ग्रंथ में विशद प्रस्तावना के साथ दो खण्ड और ग्यारह परिच्छेद हैं। प्रस्तावना में लेखक ने भारतीय संस्कृति के वर्तमान विवेचकों और इतिहासकारों को तीन वर्गों में बाँटा है—(१) संकीर्ण साम्प्रदायिक, (२) पूर्वाग्रही तथा राजनीतिदुष्ट दृष्टि वाला पाश्चात्य लेखक समूह तथा (३) लोक जीवन से उदासीन, शास्त्रीय, किन्तु एकदेशीय दृष्टि रखने वाला शुद्ध पण्डितवर्ग। उन्होंने इनसे भिन्न एक चौथे वर्ग की प्रस्तावना की है, जिसको वे वैज्ञानिक कहते हैं। यही उनकी अपनी विचार पद्धति है और उनका लक्ष्य है, "एक समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति के आधार पर हमारे भारतीय राष्ट्र की दृढ़ता और पुष्टि प्राप्त कराना।"

वास्तव में किसी ग्रंथ के प्रणयन में दो बातें अत्यन्त महत्त्व की हैं—एक तो चिन्तन पद्धति और दूसरी ग्रंथ प्रणयन का लक्ष्य अथवा उद्देश्य। शुद्ध बुद्धि, अनुभव और विवेक के ऊपर आधारित चिन्तन पद्धति ही स्वस्थ हो सकती है। विवेक की आवश्यकता ग्रंथ के उपादानों के चयन तथा निर्वाचन और उसके अंग विशेष के बलाबल के निर्धारण में होती है। पूर्वाग्रह और रागद्वेष से रहित चिन्तन पद्धति ही शुद्ध वैज्ञानिक पद्धति है। इसी प्रकार किसी ग्रंथ के प्रणयन का उद्देश्य केवल तथ्यों का संग्रह, वर्गीकरण और विश्लेषण तथा उनके द्वारा सूचना अथवा उत्तेजना प्रदान करना हो सकता है। इसके विपरीत दूसरा उद्देश्य तथ्यों को प्रवहमान और विकासशील सन्दर्भ में रखकर मनुष्य के समवेत जीवन का संस्कार और उत्थान करना हो सकता है। रम्य साहित्य के निर्माण तथा सोद्देश्य जीवन के विकास के लिए दूसरे प्रकार का लक्ष्य ही वाञ्छनीय है। प्रस्तुत ग्रंथ के विद्वान् लेखक ने दूसरे प्रकार का लक्ष्य अपने सामने रखा है।

भूमिका खण्ड के प्रथम परिच्छेद में भारतीय संस्कृति के आधारों का विवेचन करते हुए उसकी समन्वयमूलक दृष्टि पर बल दिया गया है और इसके प्रमाण में वर्तमान पौराणिक निगमागम धर्म का उल्लेख किया गया है।[2] यह नितान्त समीचीन है, परन्तु जिन

१ ले०, प० बलदेव उपाध्याय, प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

२ पृ० ८।

ऐतिहासिक तथ्यों पर भारतीय समन्वय आंका गया है वे मान्य नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, 'निगम' का मौलिक अभिप्राय लेखक ने वैदिक परम्परा से लिया है और 'आगम' का अर्थ प्राग्वैदिक वैदिकेतर सांस्कृतिक परम्परा से। वेदों से पूर्व कोई आगमिक परम्परा थी, इसका कोई प्रमाण नहीं दिया गया है, सम्भवतः इसके लिए कोई प्रमाण है भी नहीं। भारतीय साहित्य में 'निगम' का अर्थ 'अनुभव पर आधारित अपरोक्ष ज्ञान' और 'आगम' का अर्थ 'तर्क पर आधारित बुद्धिगम्य ज्ञान' किया गया है। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध किसी काल विशेष या जाति विशेष से नहीं है। इतिहास में यह सम्भव नहीं कि कोई जाति शुद्ध निगमवादी और कोई शुद्ध आगमवादी हो। हाँ एक ही जाति की दो चिन्तन पद्धतियाँ या दो सम्प्रदाय हो सकते हैं, जिनमें मतभेद और समन्वय दोनों सम्भव हैं। इसी प्रकार असुरों को देवों (आर्यों) से बिलकुल भिन्न समझना भारतीय इतिहास के साथ अन्याय करना है, जबकि वैदिक ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि असुर और देव दोनों ही प्रजापति की सन्तान थे, यद्यपि आपस में उनका संघर्ष भी था। यही बात रुद्र शिव की कल्पना के बारे में भी कही जा सकती है। रुद्रपूर्व शिव की कल्पना एक कल्पनामात्र है, इसका कोई साहित्यिक अथवा ठोस प्रमाण नहीं। किसी देवता के स्वरूप निरूपण और पूजा पद्धति में परिवर्तन केवल विभिन्न जातियों के सम्पर्क से ही होता है, आन्तरिक, स्वगत अथवा सजातीय भेद और विकास से नहीं, यह एक पूर्वाग्रह मात्र है। 'ऋषि' और 'मुनि' को मूलतः दो विरोधी जातियों और संस्कृतियों का प्रतिनिधि मानना भी अनैतिहासिक तथा तर्कशून्य है। वास्तव में ये साधना के मार्ग थे, जातीय प्रभेद नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि आर्यों ने दूसरी जातियों से कुछ सीखा ही नहीं और आर्य संस्कृति ने दूसरी संस्कृतियों से समन्वय नहीं किया। किन्तु यह प्रक्रिया आर्यावर्त में आर्यपूर्व नहीं, बल्कि परवर्ती काल में आर्यों के प्रसार, सम्पर्क, संघर्ष और समझौते के कारण आर्येतर जातीय भूमियों में और वहाँ से प्रत्यावर्तन और सम्पर्क के कारण आर्यावर्त में भी घटित हुई।

इसी खण्ड के दूसरे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण के तत्त्वों में उसकी प्रगतिशीलता, प्रवाहप्रवाहिता, अपने सम्पूर्ण इतिहास में ममत्वभावना और अखिल भारतीय भावना का बहुत ही विशद विवेचन किया गया है। वास्तव में भारतीय संस्कृति की जीवन शक्ति के ये ही स्रोत हैं। तीसरे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति का वैज्ञानिक विचार पद्धति का निरूपण किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि यत्र तत्र साम्प्रदायिक आग्रह और संकीर्णता होते हुए भी भारतीय चिन्तन की मुख्य दिशा वैज्ञानिक और उदार रही है। चौथे परिच्छेद में भारतीय संस्कृति की विचारधारा का लक्ष्य प्रस्तुत किया गया है। साम्प्रदायिक और संकीर्ण भावना को छोड़कर किस प्रकार एक समन्वित और सन्तुलित जीवन तथा संस्कृति का विकास इस देश में हो सकता है, इस पर लेखक के सुन्दर और महत्त्वपूर्ण सुझाव हैं, यथा विभिन्न सम्प्रदायों के उत्कृष्ट साहित्य का अध्ययन, विभिन्न सम्प्रदायों के महापुरुषों का आदर, साम्प्रदायिक पारिभाषिकता का त्याग आदि। इन परिच्छेदों में लेखक के लम्बे अध्ययन और अनुभव का सारांश परिस्फुटित है।

दूसरे खण्ड में भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा का वर्णन और विवेचन है। इसके पंचम परिच्छेद में वैदिक साहित्य की रूपरेखा दी गई है। छठे में वैदिक धारा की दार्शनिक भूमिका है। यह परिच्छेद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें वैदिक देवतावाद, देवताओं का स्वरूप,

होता का स्वरूप, वैदिक जीवन की दृष्टि और चरम लक्ष्य तथा वैदिक दार्शनिक दृष्टि का महत्त्व आदि विषयों का स्पष्टीकरण है। इसमें यह बताया गया है कि किस प्रकार आशावादी तथा आनन्दपरक वैदिक दर्शन परवर्ती दुःखवाद और मोक्षकाङ्क्षी दर्शन से भिन्न है। वैदिक धारा में ऐतिहासिक कारणों से कैसे परिवर्तन हुए, इसका विवेचन सातवें परिच्छेद में है। इसमें वैदिक जीवन के उल्लासमय प्रादुर्भाव, संघटन और विजगडन (खण्डन) के क्रम का सप्रमाण उल्लेख है। आठवें परिच्छेद में वैदिक उदात्त भावनाओं का निर्देशन है। यहाँ पर लेखक ने वैदिक अध्ययन की पाश्चात्य और भारतीय दृष्टि के भेद को स्पष्ट किया है। पाश्चात्य ढंग का वैज्ञानिक अध्ययन कोरा यान्त्रिक और हृदयहीन है। भारतीय के लिए वेद का महत्त्व उसके जीवन और दर्शन को समझने के लिए है, केवल उत्सुकता की शान्ति के लिए नहीं। वेदों ने ऋत, सत्य, धर्म, शौच, आशा, आनन्द, भद्रता, आत्मविश्वास आदि महान् तत्वों का उद्घाटन और विकास किया। अगले परिच्छेदों में वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि, वैदिक धारा की देन तथा वैदिक धारा के ह्रास का पाण्डित्यपूर्ण पर्यवेक्षण है। परिशिष्टों में (१) वैदिक धारा का अमृत स्रोत, (२) वैदिक सूक्ति मञ्जरी, (३) ब्राह्मणीय सूक्ति मञ्जरी, (४) व्रत से आत्मशुद्धि तथा (५) ब्रह्मचर्य आदि विषयों का सङ्कलन है।

जीवन अथवा संस्कृति के विकास में दो तत्त्व काम करते हैं—(१) स्थिति और (२) प्रगति। स्थिति के अन्तर्गत व्यवस्था, स्थिरता तथा संरक्षण सम्मिलित हैं, प्रगति में नई परिस्थितियों और प्रभावों के सम्पर्क में व्यावहारिकता का समावेश है। जब तक दोनों समानान्तर चलते हैं तब तक विकास सुचारु रूप से होता है। यदि स्थिति रुद्ध हो गई और प्रगति इससे असम्बद्ध, तो संस्कृति या तो जड़ अथवा विशृङ्खलित हो जाती है। भारतीय संस्कृति के इतिहास में यह प्रक्रिया कैसे चलती रही है, इसका पर्यवेक्षण सफलता के साथ इस ग्रन्थ में हुआ है।

अध्ययन की दृष्टि और उद्देश्य तथा साहित्य, धर्म एवं दर्शन के विचार से प्रस्तुत ग्रन्थ विचारोत्तेजक तथा उच्च स्तर का है और पाठकों को प्रेरणा प्रदान करने वाला है। इसके लिए लेखक साधुवाद के पात्र हैं। किन्तु इस ग्रन्थ में कतिपय अभाव खटकते हैं। संस्कृति के अन्तर्गत सामाजिक संस्थाओं और राजनीतिक विचारों का भी क्रमबद्ध तथा समुचित समावेश होना चाहिए, साथ ही साहित्यिक और कलात्मक मूल्यों का भी पर्याप्त विवेचन। शैली और विषय मंथन की दृष्टि से पुनरावृत्तियाँ बहुत अधिक हैं और तथ्यों का संग्रह अपेक्षाकृत कम। परन्तु यह होते हुए भी प्रस्तुत रचना महत्त्वपूर्ण है और आशा है कि पाठकों तथा विज्ञों द्वारा इसका समुचित आदर होगा।[1]

---

[1] ले०, डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री, प्र०, समाज विज्ञान परिषद्, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

राजबली पाण्डेय

भगवान् बुद्ध

हिंदी भाषा में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की 'बुद्धचर्या' के पश्चात् यह दूसरी पुस्तक है, जो मूल स्रोतों के आधार पर प्रामाणिक रूप से श्राइ हो। यह पुस्तक मूलतः मराठी में लिखी गई थी, उसीका श्री श्रीपाद जोशी द्वारा हिन्दी में यह सफल अनुवाद है। प्रारम्भ में श्री काका साहेब कालेलकर द्वारा लिखित 'भक्त पण्डित धर्मानन्द कोसम्बी' का संक्षिप्त जीवन वृत्त भी है। इस ग्रंथ का प्रणयन ऐसे विद्वान् की लेखनी से हुआ है जिन्होंने न केवल आजीवन बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया, अपितु बौद्ध धर्म और दर्शन को अपने जीवन में उतारने का भी प्रयास किया।

सम्पूर्ण ग्रंथ भूमिका के अतिरिक्त बारह अध्यायों और चार परिशिष्टों में विभाजित है। भूमिका और प्रथम तीन अध्याय प्रायः प्रास्ताविक हैं। भूमिका में प्रारम्भिक पालि साहित्य का परिचय और भगवान् बुद्ध के इतिवृत्त के स्रोतों का विवरण है। प्रथम अध्याय 'आर्यों की जय' है। इसमें लेखक ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि आर्यों के आगमन के पूर्व ब्राह्मण पुरोहितों की अध्यक्षता में दास संस्कृति थी, जिसका आर्यों ने इन्द्र की अध्यक्षता में विध्वंस किया। 'दास' का अर्थ उन्होंने 'दाता'[१] स्वीकार किया है। उनके विचार में दास संस्कृति के मुख्य अंग अहिंसा और योग थे, जो पराजय के बाद भी बचे रहे और जो अपनी ऋषि मुनि परम्परा द्वारा जैन, बौद्ध आदि यतिमार्गी धर्मों के उदय के कारण बने। दूसरे अध्याय में 'समकालीन राजनीतिक परिस्थिति' का वर्णन है। इसमें सोलह महाजनपदों, आठ प्रसिद्ध राजकुलों, शाक्य कुल के स्वतंत्र अस्तित्व की अपेक्षाकृत अवगणना तथा गणराज्यों के विनाश के कारणों का वर्णन तथा विवेचन है और गणराज्यों के बीच बौद्ध धर्म का कैसे विकास हुआ, इसका संकेत है। समकालीन धार्मिक परिस्थिति का विश्लेषण तीसरे अध्याय में किया गया है। इसमें यह बतलाया गया है कि इस प्रकार का विचार भ्रामक है कि वेदों से उपनिषद् और उपनिषद् से सुधारणा के साथ बौद्ध धर्म का उदय हुआ, वास्तव में बौद्ध धर्म के प्रादुर्भाव के पहले कई ऋषि मुनि और श्रमणों के वेदेतर संघ स्थापित थे, जिनमें बौद्ध धर्म के कतिपय सिद्धान्तों और परम्पराओं के मूल विद्यमान थे, इन्हीं से बौद्ध धर्म की उत्पत्ति हुई। चौथे अध्याय में गौतम बोधिसत्व के जन्म, बाल्यावस्था, विवाह, पुत्रोत्पत्ति, वैराग्य और गृहत्याग का उल्लेख है। पाँचवें अध्याय में श्रमण, तपश्चर्या और तत्वबोधि (सम्बोधि) प्राप्ति की कथा दी हुई है। छठे में श्रावक संघ अथवा बौद्ध संघ की स्थापना के उद्देश्य, विकास, कार्यक्रम और विनय का निरूपण किया गया है। सातवें अध्याय में बुद्ध के समकालीन आत्मवाद, अक्रियवाद, नियतिवाद, उच्छेदवाद, अन्योन्यवाद, विक्षेपवाद, चातुर्याम संवरवाद आदि अनेक वादों से बौद्ध धर्म का भेद और वैशिष्ट्य बतलाया गया है। आठवें अध्याय में बौद्ध धर्म के ऊपर नास्तिकता के आरोप, उसके क्रान्तिकारी दर्शन, अनासक्ति योग तथा ब्राह्मणों के कर्मयोग से उसके अन्तर का स्पष्टीकरण हुआ है। नवें अध्याय में पौराणिक बुद्ध, यज्ञ की निःसारता, यज्ञों का नया अर्थ, यज्ञों के रूपक आदि की नई

१ पृ० २०।

व्याख्या की गई है। पूरा दसवाँ अध्याय जाति भेद के उद्गम, बौद्ध धर्म में जाति भेद के निषेध, उसकी सीमा आदि का वर्णन करता है। ग्यारहवाँ अध्याय मांसाहार के ऊपर है। इसमें यह स्वीकार किया गया है कि बौद्ध और कभी कभी जैन भिक्षु भी मांसाहार करते थे, फिर भी उन्होंने गोमांसाहार के विरुद्ध आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया, तुलना में ब्राह्मण अधिक मांसाहारी थे, जिनका गोमांस खाना पीछे छूटा। बारहवें अध्याय में बुद्ध की दिनचर्या और निर्वाण का वर्णन है। परिशिष्टों में 'महापरिनिब्बानसुत्त' के खण्ड, वज्जियों की अभ्युन्नति के सात नियम, अशोक का भाब्रू शिलालेख और उसमें निर्दिष्ट सूत्र तथा सन्दर्भ विवरण का समावेश है।

इस ग्रन्थ में जिन विषयों की चर्चा की गई है उनके आधार के लिए यथासम्भव ऐतिहासिक तथ्यों का प्रमाण लिया गया है और उनके परीक्षण तथा विश्लेषण के पश्चात् उनको स्वीकार किया गया है। परन्तु यह बात जितनी बौद्ध साहित्य तथा धर्म के सम्बन्ध में सत्य है उतनी अन्य साहित्य तथा धर्म के सम्बन्ध में नहीं। उदाहरणार्थ 'आर्यों की दया' वाले अध्याय में वैदिक तथा पौराणिक वाङ्मय की परीक्षा किये बिना यह मान लिया गया है कि आर्य बेबिलोनिया या सुमेरिया के आसपास से आये और ब्राह्मण दासों के पुरोहित थे जिनको हराकर यज्ञ प्रधान धर्म की स्थापना उन्होंने (आर्यों ने) की, फिर ब्राह्मणों ने आर्यों का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया। वेदों के अधिकांश मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मण थे, इस तथ्य की ओर से बिल्कुल आँखें मूँद ली गई हैं। उन्होंने 'दास' का अर्थ 'दाता'[1] कल्पित कर लिया है, जबकि उसका स्वीकृत अर्थ है 'मुझे दो, ऐसा कहने वाला'। साथ में यह भी मान लिया गया है कि आर्य अथवा वैदिक सभ्यता में अहिंसा, योग और परिव्रजन के कोई तत्त्व नहीं हैं, इसलिए जैन और बौद्ध धर्म आर्येतर तत्त्वों से प्रादुर्भूत हुए, जबकि इन धर्मों की सुरक्षित परम्पराओं में इनके प्रवर्तक, प्रवर्तकों के पूर्वज और अनुयायियों के बहुसंख्यक लोग आर्य अथवा वैदिक परम्परा के थे और अपने धर्म तथा सिद्धान्तों को आर्य धर्म और आर्य सत्य मानते थे। इस प्रकार के निष्कर्षों में पूर्वाग्रह अधिक है और तथ्य बहुत कम। यही बात बौद्ध धर्म के कर्मयोग और गीता के कर्मयोग की तुलना करते समय भी की गई है। गीता के 'यज्ञ' के व्यापक और लाक्षणिक अर्थ छोड़कर बार बार उसके कर्मकाण्डीय अर्थ पर ही जोर दिया गया है। गीता के समत्व, स्थितप्रज्ञता और निष्काम लोक संग्रह का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है।

ग्रन्थ संघटन की दृष्टि से ऐसा लगता है कि छठे अध्याय के बाद की सामग्री अलग अलग स्वतन्त्र रूप से लिखी गई थी, जो पीछे एकत्र कर दी गई है। परन्तु उसमें सेन्द्रिय एकता नहीं आई है। भगवान बुद्ध के उपदेशों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का क्रमिक तथा शास्त्रीय विवेचन सारे ग्रन्थ में कहीं भी नहीं मिलता। जाति भेद और मांसाहार पर अलग अलग अध्याय देने का महत्त्व समझ में नहीं आता। जाति भेद और वर्ण भेद का स्पष्ट अन्तर ग्रन्थ में नहीं है। जाति अथवा वर्ण अच्छे हों या बुरे, किन्तु जैन और बौद्ध धर्म के सामने ये मुख्य समस्याएँ नहीं थीं। भगवान् बुद्ध ने इन संस्थाओं का विरोध नहीं किया, अपितु उनकी दूसरी परिभाषा और लक्षण दिये। अशोक के समय तक बौद्ध धर्म में वर्ण विद्वेष नहीं पाया जाता। अशोक ने अपने धर्मलेखों में ब्राह्मण और श्रमण को समान आदर दिया है। पीछे साम्प्रदायिक कारणों से वर्ण की निन्दा प्रारम्भ हुई। परन्तु इसका परिणाम उलटा ही हुआ। अपने वर्ण अथवा जाति के प्रति

1 पृ० २०।

साम्प्रदायिकता एवं पक्षपात बढ़ गया, परवर्ती बौद्ध धर्म में वर्ण का नाश नहीं हुआ, किन्तु चार वर्णों की गणना में प्रथम ब्राह्मण के बदले क्षत्रिय आ गए और ललित विस्तार में तो यहाँ तक कहा गया कि बुद्ध का जन्म केवल क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ण में ही हो सकता है, जबकि वर्ण भेद मानने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों में ईश्वर का अवतार मत्स्य, कच्छप, वाराह, सिंह (नृसिंह), वामन (अर्द्ध पुरुष), परशुराम (ब्राह्मण), राम (क्षत्रिय), कृष्ण (क्षत्रिय), बुद्ध (क्षत्रिय) आदि सभी जीवधारियों में हो सकता है जैन धर्म के अनुसार तीर्थंकर का जन्म केवल क्षत्रिय कुल में हो सकता है। महावीर ब्राह्मणी के गर्भ से निकालकर क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में डाले गए। जहाँ तक यतिधर्म और संन्यास का प्रश्न है, जन्म और वर्ण का उनमें कोई महत्त्व भारतीय धर्म में नहीं माना गया था। यदि कुछ था भी तो बहुत गौण। भगवान् बुद्ध ने विशेष परिस्थितियों में मांस हार की छूट दी थी, आज्ञा नहीं। उसकी वैधता पर बल देकर उनके मूल सिद्धान्त अहिंसा, करुणा, मैत्री आदि की ही अवहेलना करना है।

ग्रन्थ प्रणयन में लेखक की दृष्टि वैज्ञानिक और तटस्थ न होकर साम्प्रदायिक अधिक है और समाज के विकास में द्वन्द्व प्रारम्भिक ही नहीं, अन्तिम मान लिया गया है। अत भारतीय अन्य सम्प्रदायों के साथ बौद्ध धर्म की सजातीय समानता पर बल न देकर उनसे भेद और वैशिष्ट्य पर ही अधिक जोर दिया गया है। वास्तव में बौद्ध धर्म भारतीय धर्म था। कर्मकाण्ड और देववाद अथवा वेदवाद के विरोध में भी वह औपनिषदिक और भक्तिवादी परम्परा का ही अनुसरण कर रहा था। भगवान् बुद्ध का मार्ग मध्यम मार्ग अथवा समन्वय का मार्ग था, विभज्यवाद अथवा उच्छेदवाद उनको स्वीकार नहीं था, इसका विचार इस ग्रन्थ में नहीं हुआ है। दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा और विरोध पर सत्य और धर्म का भवन खड़ा नहीं किया जा सकता। इससे निन्दा और विरोध का ही वातावरण उत्पन्न होगा, शान्ति और सुख का नहीं। ग्रन्थ में यदि योगी और वैचारिक उदारता से काम लिया गया होता तो इसका मूल्य बहुत बढ़ जाता, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि लेखक की दृष्टि पैनी और शैली विचारोत्तेजक है। पाठक को विचारने के लिए इसमें प्रचुर सामग्री है।[1]

---

१ ले० धर्मानन्द कोसम्बी प्रकाशक, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, बम्बई इलाहाबाद, पटना।

सूचना

आलोचना का आगामी अंक

नाटक विशेषांक

इस समय प्रेस में है, और इसका प्रकाशन जनवरी, १६५७ में अवश्य हो जायगा।

—प्रबन्ध विभाग,
आलोचना,
८, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

श्री देवराज, मैनेजिंग डाइरेक्टर, राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड, बम्बई के लिए
श्री गोपीनाथ सेठ द्वारा नवीन प्रेस, दिल्ली में मुद्रित।

श्री नन्ददुलारे वाजपेयी

त्रैमासिक आलोचना

वर्ष ५ अंक ४ | पूर्णांक २० | अक्तूबर, १९५६

वार्षिक मूल्य १२) | इस अंक का ३)

अनुक्रम

सम्पादकीय

'नई कविता'

पत्रिका के इस अंक में नई हिन्दी कविता पर दो समीक्षाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। दोनों समीक्षकों ने नई कविता शब्द से उस विशेष प्रकार की रचना का अर्थ लिया है जो इन दिनों बहुतायत से पत्र पत्रिकाओं में छपा करती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि हिंदी की नई कविता वर्तमान समय में इस विशेष शैली या प्रकार तक सीमित है। हिन्दी के अधिकांश प्रौढ़ और गण्यमान्य कवि अब भी भिन्न प्रकार की रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनकी अपनी गरिमा और महत्त्व है। यह कहना भी अनुचित न होगा कि हमारी नई कविता का प्रतिनिधि और प्राजल रूप वही है, जो उन प्रौढ़ कवियों द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। न तो मात्रा में और न वैशिष्ट्य में इन प्रशस्त रचनाओं की समता नये प्रयोगों और अभ्यासों द्वारा की जा रही है। पर विशेष तबके के कवि एक विशेष लहजे की रचनाएँ तैयार कर रहे हैं और इसे ही वे नई कविता का नाम देने लगे हैं। इस नई सृष्टि में भाव या विचार अथवा शैली और शिल्प की दृष्टि से ऐसी विशिष्टता नहीं लाई जा सकी है कि हम उसे हिन्दी कविता के विकास का आगामी चरण कह सकें। इस प्रकार की रचना भविष्य के प्रति कोई बड़ी आशा भी नहीं बँधाती। ऐसी स्थिति में हिन्दी-कविता की स्वस्थ और प्राजल परम्परा को छोड़कर इस अटपटी शैली की रचना को नई कविता का नाम देना भ्रामक और असमीचीन होगा।

हिंदी से भिन्न अन्य भारतीय भाषाओं में जो काव्य रचनाएँ हो रही हैं, उन्हें देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन भाषाओं के नये कवि नई भावभूमियों का स्पर्श कर रहे हैं। उनकी काव्य शैली आवश्यक नवीनता भी अपने साथ लाई है। परन्तु हिंदी की भाँति अन्य भाषाओं में क्रमागत काव्य पद्धति से इतना बड़ा विलगाव नहीं दिखाई देता। उनका काव्य क्रमागत काव्य को नया विस्तार और नई प्राण शक्ति देता है, किन्तु हिंदी की यह नई रचना अपने नयेपन में एक अचम्भा उत्पन्न करती है। हिंदी की प्रौढ़ काव्यधारा से नये प्रयोगियों की रचना इतनी भिन्न हो

गई है कि दोनों में किसी प्रकार का तारतम्य देख पाना भी कठिन हो गया है। कदाचित् यही कारण है कि इस प्रकार की कविता हिन्दी के सामान्य पाठक के काम की नहीं रही। उसका क्षेत्र एक विशेष तबके तक सीमित हो गया है। यदि नवीनता के नाम पर प्रतिदिन सीमित और संकीर्ण क्षेत्र की वस्तु बन जाना ही नई कविता की गतिविधि है तो यह सपूर्ण हिन्दी जगत् के लिए विचार करने की बात है। हम इस नई शैली की रचना को नई कविता के छद्म नाम से नहीं पुकार सकते, क्योंकि हिन्दी की नई कविता इस छोटे घेरे में घिरी हुई नहीं है। साथ ही हमें इस छद्म नाम वाली नई कविता की सपूर्ण परीक्षा करनी होगी ताकि उसकी असलियत का उचित ज्ञान हो सके।

हमें यह देखकर कम आश्चर्य नहीं होता कि नई कविता के हिमायती छन्द के विरोधी हैं और लय के पक्षपाती। जिन नये कवियों की कोई रचना किसी छन्द को अपनाकर चलती है, उनके प्रति नये सम्प्रदाय के कर्णधार सशंक रहते हैं और अवसर आते ही उन्हें चेतावनी देते हैं। यदि चेतावनी मिलने के साथ ही कवि ने छन्दों का रास्ता न छोड़ा तो उसे सम्प्रदाय से बाहर किये जाने का खतरा उठाना पड़ता है। यदि हम पिछले कुछ वर्षों में प्रकाशित होने वाला प्रयोगवादी समीक्षाओं को पढ़ें तो देखेंगे कि प्रयोगवादी कविता के लिए छन्दों का वर्जन एक आवश्यक तथ्य बन गया है। छन्द के स्थान पर लय का स्वच्छ प्रयोगवादी विचारक अवश्य करते हैं, परन्तु छन्द का बहिष्कार करके लय की उपयोगिता बताना एक विचित्र अन्तर्विरोध का परिणाम है। काव्य के लिए छन्द के बहिष्कार की ऐसी पाबन्दी कविता के इतिहास में शायद ही कभी लगी हो। जिन कवियों के कानों को छन्दों का संगीत वर्जित है वे लय की संगति कहाँ तक समझ और पा सकेंगे। यही कारण है कि काव्य में लय की अधिक चर्चा करने वाले अज्ञेय जैसे रचनाकार भी हिन्दी काव्य के संगीतात्मक और लयात्मक पक्ष से अनवगत ही रह गए हैं। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'भारतीय कविता, १९५३' नामक सद्य प्रकाशित पुस्तक में उनकी एक कविता का कुछ अंश इस प्रकार है—

> यह दीप अकेला स्नेह भरा,
> है गर्व भरा मदमाता, पर
> इसको भी पंक्ति को दे दो।
>
> यह प्रकृति स्वयम्भू, ब्रह्म अयुत
> इसको भी शक्ति को दे दो।
>
> जिज्ञासु प्रबुद्ध सदा श्रद्धामय,
> इसको भक्ति का दे दो।

हिन्दी का साधारण पाठक भी इन पंक्तियों की लयहीनता बिना प्रयत्न के ही बता सकेगा, परख की आवश्यकता भी न होगी।

पूछा जा सकता है कि नई कविता के ये पुरस्कर्ता काव्य के सहज संगीत और लय की पहचान क्यों नहीं रखते, उत्तर यह है कि ये काव्याभ्यासी अपनी विलक्षण मनोवृत्ति और मान्यता के जाल में फँसकर कविता के इस सर्वसम्मत अंग से वंचित हो गए हैं। इन लेखकों ने हिन्दी काव्य की अपनी लय पद्धति का भी उचित अनुशीलन नहीं किया है और प्रायः अंग्रेजी कविता के लय स्वरूप को हिन्दी में अनुदित कर रहे हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पश्चिमी संगीत और भारतीय संगीत, पश्चिमी काव्य और भारतीय काव्य में जितना और जो कुछ स्वाभाविक अन्तर है हिन्दी और अंग्रेजी भाषा में लय पद्धतियों में भी उतनी ही

भिन्नता है। इस प्रकार की कविता की अगाढ लयों का एक तीसरा और कदाचित् मूल कारण यह है कि नये रचनाकार काव्य की सहज और अन्तरंग प्रेरणाओं से संचालित नहीं हैं। वे अधिकांश में श्रमसाध्य और गढे हुए कवि हैं जिन्होंने कवि कर्म का बाना ग्रहण किया है।

जब से इस नये प्रकार की कविता का प्रारम्भ हुआ, तब से इस शैली के कवि स्वयं समीक्षक बन गए हैं और अपनी कविता का मर्म आप ही बतलाया करते हैं। स्थिति यहाँ तक आ पहुँची है कि इन कविताओं का मर्म और मूल्य प्रकट करने के लिए इन कवियों को अपना ही सहारा रह गया है, कदाचित् औरों को इन सृष्टियों से कोई रुचि या सरोकार नहीं रहा। यह न केवल चिंता की बात है, शंका और भय की भी वस्तु है। वह भी क्या काव्य है जिसका पारायण और आस्वादन करने के लिए हर घड़ी व्याख्याओं की आवश्यकता पड़े। और व्याख्याता भी वही जो स्वयं रचयिता हैं। हिंदी पाठकों का विशाल समाज क्या इस स्थिति से संतुष्ट या प्रकृतिस्थ हो सकता है? समस्या यह है कि हम कविता को अधिक महत्त्व दें, या उसकी व्याख्या को? किसी युग के काव्य के लिए क्या यह कम दुर्भाग्य की बात है कि बिना विस्तृत व्याख्याओं और वक्तव्यों के उसका पारायण ही न किया जा सके। नई कविता के इस पराव लम्बन का अर्थ यही है कि यह प्रकृत धारा से टूटकर अलग हो गई है, सहज भावगम्यता का आदर्श खो बैठी है और अपनी भाव सम्पत्ति को बौद्धिक आवरणों से आच्छादित कर दुरूह बन गई है।

कुछ समय पूर्व इस नई कविता के सम्बन्ध में चर्चा करने पर एक पक्षग्राही युवक ने कहा था कि इस कविता में बुद्धिरस की प्रमुखता मानी चाहिए। साहित्य के नवरसों के अतिरिक्त यदि कुछ लोग वात्सल्य, सख्य और माधुर्य आदि रसों की कल्पना कर सकते हैं तो बुद्धिरस को स्वीकृति क्यों नहीं दी जा सकती? प्रश्नकर्त्ता को इतना तो ज्ञात ही था कि काव्य की प्रक्रिया भावमूलक ही होती है। प्रतिभाशाली कवि आवश्यक बौद्धिक और दार्शनिक तथ्यों का अपनी भावमयी रचना में समाहार किया करते हैं। शायद ही कोई कृति हो जिसमें बौद्धिक चेतना का प्रवेश नहीं हो पाया। अतिशय भावना अथवा कल्पनावादी भी यह मानते हैं कि सहज वृत्तियों का उदात्तीकरण मानव संस्कृति के विकास के साथ साथ होता है। कोई राष्ट्र या जाति अपनी मूल या आदिम वृत्तियों को सँजोये बैठी नहीं रहती। कविता में जातीय जीवन का बौद्धिक विकास भी प्रतिबिम्बित होता है, पर बुद्धिरस तो एक अनोखा पदार्थ है। काव्य के इतिहास में यह शब्द इसके पूर्व कदाचित् कभी नहीं आया। यहाँ इसका निषेध करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इस पर गम्भीरता पूर्वक आस्था रखने वालों की संख्या नगण्य है।

तथाकथित नई कविता में इसी बुद्धिरस का बाहुल्य है, इसीलिए कविता की यह नई धारा साहित्यिकों के लिए अटपटी और अग्राह्य बनी हुई है। काव्य में साधारणीकरण के प्रश्न पर मत देते हुए श्री अज्ञेय एक स्थान पर कहते हैं, "उसे (कवि को) अभी कुछ कहना है जिसे वह महत्त्वपूर्ण मानता है। इसलिए वह उसे उनके लिए कहता है जो उसे समझें, जिन्हें वह समझा सके साधारणीकरण को उसने छोड़ नहीं दिया है पर वह जितनों तक पहुँच सके उन तक पहुँचता रहकर और आगे जाना चाहता है, उनको

छोड़कर नहीं।" इस अभिमत में लेखक भाव और भाषा दोनों ही क्षेत्रों में एक सार्वजनिक अग्राह्यता की आशंका करता है। लेखक की समझ में कवि के भाव और उसकी भाषा सहज प्रेष्य या सार्वजनीन नहीं हो रहे। वह उन्हें क्रमशः प्रेष्य और बोधगम्य बनाने की आशा रखता है। उसका यह भी संकेत है कि नई पीढ़ियों के कवि नई भाव चेतना का आविर्भाव करते हैं और इस निमित्त नई भाषा का माध्यम ग्रहण करते हैं। इस समस्त निरूपण में यह कहीं नहीं कहा गया कि काव्य या साहित्य में यह नवीनता अपना लक्ष्य आप ही है या इसकी कोई वस्तुगत या सामाजिक स्थिति या सत्ता भी है। युगचेतना के निर्माता कवियों को इतनी लम्बी सफाई नहीं देना पड़ती। समाज के सामने उनका अदम्य काव्य रहता है, उनकी अक्षुण्ण अनुभूति रहती है और उनकी मर्मस्पर्शिनी अभिनव भाषा रहती है। इन त्रिविध सम्पत्तियों से सम्पन्न कवि को साधारणीकरण की हिचकिचाहट भरी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती।

नई कही जाने वाली इस कविता की भाव सम्पत्ति पर भी एक दृष्टि डालनी चाहिए। वह कौनसी नवीनता है जिसके साधारणीकरण में इतना सन्देह और अविश्वास है? निश्चय ही साधारणीकरण में विलम्ब या असामर्थ्य वे ही कृतियाँ उत्पन्न करती हैं जिनकी भावधारा असामाजिक है, लोकरुचि अथवा लोक की आशा आकांक्षा के प्रतिकूल है, इतनी निजी या वैयक्तिक है कि समाज उसकी उपेक्षा करता है अथवा ऐसी उलझी हुई और रहस्यमय है कि उस तक पाठक की पहुँच नहीं हो पाती। नई काव्य उपज का अनुशीलन करने पर इनमें से एक या अनेक विशेषताएँ अवश्य दिखाई दे जाती हैं। अनेक रचनाएँ क्षणिक विनोद अथवा भोंडे व्यंग्य की सृष्टि के आगे नहीं जातीं। उन पर किसी प्रकार की सम्मति देना साहित्यिक कार्य नहीं है। आगे चलने पर ऐसी रचनाओं से साबका पड़ता है जिनमें अर्थ परम्परा टूट टूट जाती है और पूरी रचना पढ़ लेने पर किसी भाव स्थिति का बोध नहीं होता। ऐसी रचनाएँ अन्तर्मन से अधिक सम्बन्ध रखती हैं, अतएव जब तक पाठक का अन्तर्मन और उसकी प्रणाली उसी साँचे में नहीं ढल जाती, जिसमें रचयिता की ढली है, तब तक वह रचना उसकी समझ के बाहर ही रहेगी। स्थिति यह नहीं है कि कवि अपने भाव-बाहुल्य में इतना प्रगल्भ है कि पाठक को उसकी सम्पूर्ण अभिज्ञता कुछ विलम्ब से होती है, बल्कि वहाँ तो भावधारा की विरलता ही आड़े आती है। वहाँ भावना अन्तर्मन की उसाँस भर है। इस प्रकार की रचनाएँ पश्चिम से हिन्दी में आ रही हैं। इनमें अन्तश्चेतन की प्रतिक्रिया बिना किसी प्रकार का चेतन सूत्र पकड़े व्यक्त होती है। ये रचनाएँ सामाजिक और व्यावहारिक तथ्यों से नितान्त असंपृक्त रहती हैं और कवि के निगूढ़ मन की छाया प्रतिभासित करती हैं। ऐसी कविताएँ हिन्दी में किसी नैसर्गिक प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं कही जा सकतीं। यह निहायत विदेशी कलम है और हिन्दी के लिए बहुत कुछ बेमानी है। तीसरे प्रकार की कुछ रचनाएँ कवि को समाज अथवा राज्य द्वारा त्रस्त होने की सूचना देती हैं। सामाजिक व्यवस्था और राष्ट्रीय दायित्व का इन रचनाओं में व्यंग्य हुआ करता है। युग-जीवन के प्रति विरक्ति इन रचनाओं का प्रधान स्वर है। प्रतिक्रिया में कुछ कवि समाज और राज्य को घोर अपराधी ठहराकर अपने लिए अथवा अपने जैसे अन्यों के लिए हर

प्रकार की छूट चाहते हैं—नैतिक, वैचारिक और क्रिया सम्बन्धी। एक कृत्रिम विषाद की आड़ में यह छूट माँगी जाती है। जिस प्रकार वह विषाद निजी और अयथास्थान है उसी प्रकार यह छूट भी अनधिकृत है। कहते हैं कि ऐसी रचनाओं में मध्यवर्ग और विशेषतः उसके बुद्धिजीवी अंश का अवसाद और किंकर्त्तव्यता चित्रित हुई है। किन्तु किसी भी राष्ट्रीय और सांस्कृतिक स्तर पर इन रचनाओं का समाधान नहीं किया जाता।

और भी रंगतें इस नई कविता में हैं, परन्तु जिस मूल वस्तु की उपेक्षा और अवहेलना सर्वत्र की गई है वह है जीवन सम्बन्धी रचनात्मक दृष्टि, कर्मण्यता और क्रियाशीलता। वैयक्तिक या वर्गगत प्रतिक्रियाओं में भी वास्तविकता होती है या हो सकती है, पर उस वास्तविकता का अवलम्ब लेकर राष्ट्रीय स्तर का काव्य उत्पन्न नहीं होता। नई कविता व्यक्ति और वर्ग की प्रतिनिधि होती जा रही है। सामूहिकता और सार्वजनीनता उसके उपादान नहीं रह गए हैं। यहाँ हमें अज्ञेयजी के साधारणीकरण वाले अभिमत की ओर फिर से दृष्टि निक्षेप करना पड़ता है, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। साधारणीकरण के मूल में सामाजिक और सामूहिक संवेदना ही होती है। लम्बी-चौड़ी भूल भुलैया में भटकने के बाद अन्त में इस तथ्य पर आना ही पड़ेगा कि काव्य की सार्थकता वैयक्तिक सुख-दुःख की भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिक सुख दुःख की भूमि में पहुँचने में है। यह प्रश्न अन्ततः कवि के व्यक्तित्व का है। वह अपने निजी परिवेश और प्रवृत्तियों से परिचालित होकर अपने व्यक्तित्व को सीमित कर बैठा है, अथवा परिवेश से ऊपर उठकर राष्ट्रीय और मानवीय धरातल पर आ सका है। व्यक्तित्व की इस परिधि का अतिक्रमण करने पर ही सृष्टि सम्भव है और श्रेष्ठ काव्य कभी अवसादमूलक नहीं हो सकती।

पिछले कुछ समय से नई कविता के समर्थन में एक नया तर्क दिया जाने लगा है, वह यह कि नवीन कविता वादों के आग्रह को छोड़ कर मानवीय स्तर पर आ रही है। कुछ समर्थकों ने इसे काव्य में नये मानवतावाद का नाम दिया है। यह तथ्य की अपेक्षा सूझ अधिक है। पाश्चात्य साहित्य में मानवतावाद और मानववाद के अर्थ को द्योतन करने वाले दो शब्द प्रचलित हैं। मानववाद का पर्याय ह्यूमैनीटेरियनिज्म है और ह्यूमैनिज्म को मानववाद कहते हैं। मानववाद के अन्तर्गत शेक्सपियर, मॉनटेन, इब्सन आदि परिगणित होते हैं, जिन्होंने मनुष्य की सम्पूर्ण वृत्तियों का—उसकी सम्पूर्ण शक्ति और दुर्बलता का—निस्संग चित्रण किया है। मानवतावादी लेखक अधिक भावुक और आदर्श प्रेमी होते हैं। टाल्सटाय को मानवतावादी लेखक कहा जाता है, क्योंकि उसने अपनी अपार सहानुभूति से पददलित मानव की अशेष निहित शक्तियों और सम्भावनाओं का आलेख किया है। प्रश्न यह है कि प्रयोगवादी काव्य में मानववादी अथवा मानवतावादी दृष्टिकोण कहाँ है और किस प्रकार है? क्या इन रचनाओं में मनुष्य के सुख दुःख की, उसके मिलन-वियोग, हर्ष-विषाद की सन्तुलित धारणा है या वह एकांगी रूप से व्यक्ति और वर्ग की सीमित आकांक्षाओं और स्थितियों का विज्ञापन है? अब तक जो अधिकांश रचनाएँ हम पढ़ सके हैं, उनमें हमें यह सन्तुलित मानववाद कहीं नहीं दीखता। उसके बदले झूठी विभीषिका में पड़े हुए रोते और कराहते हुए बाबुओं की क्षुद्र अभि

लाषाएँ, क्षुद्र चिन्तनाएँ अधिक परिलक्षित होती हैं, अथवा फिर ऐकान्तिक इच्छापूर्तियों और तृष्णाओं का बाहुल्य है। क्या यही मानवतावाद की झाँकी है, यही टाल्सटॉय की प्रतिच्छवि है? हम देखते हैं कि ये लेखक टाल्सटॉय के जीवन दर्शन से भिन्न—बहुत भिन्न—जीवन दर्शन के हिमायती हैं। अभी अभी एक कविता संग्रह की भूमिका में हमने पढ़ा कि नये लेखक और नये कवि 'क्षण' के महत्त्व को सर्वोपरि मानते हैं। हम नहीं कह सकते कि यह वक्तव्य नई कविता को देखते हुए कहाँ तक ठीक है। यदि इसका अर्थ यह है कि क्षण के अतिरिक्त और कुछ भी सत या सार्थक नहीं है, अतएव आये हुए क्षण का सम्पूर्ण सुखात्मक उपभोग कर लेना है, तो इस क्षणवाद को मानवतावाद का नितान्त विरोधी और विपरीत दर्शन मानना पड़ेगा। मानवतावाद त्याग और आस्था की भूमि पर सस्थित है, क्षणवाद के टहरने की व्यक्तिगत विलास की भूमि है।

नई कविता के वादरहित स्वरूप पर बल देते हुए एक अन्य समीक्षक ने एक दूसरे अनोखे तर्क का सहारा लिया है। वे कहते हैं कि हिन्दी के पिछले काव्य युगों में नायक के आधार पर काव्य के लक्ष्य विशेष की सूचना मिलती थी और वे नायक एक विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों वाले व्यक्तित्व को प्रतिफलित करते थे। उदाहरण के लिए छायावादी काव्य में नायक की रूपरेखा एक विशेष प्रकार की होती थी, जिससे इस काव्य की प्रवृत्ति या भाव दिशा का परिचय मिलता था। 'कामायनी' के मनु अथवा निराला के 'तुलसीदास' ऐसे ही व्यक्तित्व हैं। इसी प्रकार प्रगतिवादी काव्य के नायक भी अपनी विशिष्टता लेकर आये हैं। इस प्रकार की किसी एकदेशीय विशेषता का आग्रह नई कविता के नायक नहीं करते। यह भी कहा गया है कि नायक का अस्तित्व ही नई कविता से विलीन होता जा रहा है। पता नहीं इस कथन के पक्ष में कौनसे प्रमाण हैं। देखा यह जाता है कि नई कविता में या तो कवि का अहम् प्रमुख व्यक्तित्व ही व्यक्ति होता है अथवा फिर ऐसे व्यक्तित्व और वातावरण की सृष्टि की जाती है जिसमें नायक और उसकी परिस्थितियाँ अन्धकारमयी दिखाई पड़ें। श्री धर्मवीर भारती का नया नाटक 'अन्धा युग', जो कई दृष्टियों से एक सफल कृति है, इसी अनास्था को अभिव्यक्त करता है। तीसरे प्रकार की कृतियाँ वे हैं जो किसी भाव दृष्टि या चरित्र-रेखा का निर्माण करती ही नहीं। ऐसी रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से असफल ही कही जायेंगी, क्योंकि उनमें किसी प्रकार की स्पष्ट ग्राहकता आती ही नहीं। हम नहीं कह सकते कि समीक्षक ने किन नवीन कृतियों का आधार लेकर नायकहीनता अथवा निस्सगता की बात कही है। यह भी स्पष्ट नहीं है कि नायकहीनता से काव्य के मानवीय दृष्टिकोण का बोध कैसे और किस प्रकार होता है? अधिक सम्भव है कि कविता की निःशक्तता ही नायकहीनता का हेतु हो। जिसे कुछ कहना है वह किसी न किसी चरित्र को आधार बनाकर चलेगा ही।

वर्तमान समय में साहित्यिक और काव्यात्मक मूल्यों की अभिज्ञता घटती चली जा रही है। जिन युगों में उत्तम साहित्य की सृष्टि नहीं होती, कदाचित् उन्हीं युगों में साहित्यिक मूल्य भी अज्ञेय रहा करते हैं। पश्चिम की चटकीली पुस्तकों और चचल प्रतिमानों ने हमारे बीच अव्यवस्था उत्पन्न करने में और भी सहायता दी है। वहाँ अनेक नामों के साथ अनेक प्रसिद्धियाँ लगी हुई हैं। अनेक

गुणों की अनेकविध प्रशंसा की गई है। किन्तु समाहित रूप में साहित्यिक आकलन की कमी वहाँ भी दूर नहीं हुई। नये नये वादों के स्रष्टा और संचालक अपने सम्प्रदायों में पूजित हैं। किन्तु सम्पूर्ण साहित्य जगत् सम्प्रदायों की चर्चा से अनुशासित नहीं हो सकता। सार्वजनिक मूल्यों और मानों का निरूपण और स्थिरीकरण होना ही चाहिए। किसी एक विशेषता या आविष्कार को लेकर चाहे जितनी दुहाई दी जाय, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक भूमिका पर उसकी परख भी करनी होगी। सम्भव है नई कविता की बहुत सी उपलब्धियाँ अनुल्लिखित और अनङ्कित रह गई हों। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि नई कविता की विवेचना बहुत अधिक अतिरंजित भी होती जा रही है। पश्चिम में जिस प्रकार विविध साहित्यिक सम्प्रदायों के बीच आत्म विज्ञापन की प्रथा है उसकी आवृत्ति हम हिन्दी के क्षेत्र में भी कर रहे हैं। किन्तु पश्चिम में राष्ट्रीय भूमिका पर समग्र विवेचन की जो प्रणाली अपनाई गई है उसे हम अब तक नहीं अपना सके। समय बदलता है, समय के साथ स्थितियाँ और रुचियाँ बदलती हैं, साहित्य की पद्धति बदलती है, परन्तु इस अनवरत परिवर्तन में साहित्य के मूलभूत उपादानों और उपकरणों को भुला देना बुद्धिमानी नहीं है। साहित्यिक समीक्षा की सार्थकता इस बात में है कि वह स्थिति और गति, व्ययशील और अव्यय, के चिरकालीन वैषम्यों में अपने को खो नहीं देती, बल्कि निश्चिन्त और निर्विकल्प रूप में अपने आपको निरन्तर प्राप्त करती रहती है।

ऊपर के संक्षिप्त वक्तव्य से हिन्दी की नई शैली की रचना का जो रूप हमारे सामने आता है, उससे हम इसके भविष्य पर कुछ भी कह सकने की स्थिति में नहीं हैं। हम यह मानते हैं कि छायावाद की काव्यधारा अपने ऐतिहासिक उन्मेष में जो मूल्यवान भेंट साहित्य को दे गई है, उसके पश्चात् नये काव्य की सुस्पष्ट रूपरेखा बनने में समय लगेगा। हम यह नहीं कहना चाहते कि हिन्दी में उस पुरानी शैली की आवृत्ति ही होती रहे। नवीनता काव्य का प्राथमिक उपादान है और पिष्टपेषण उसका अन्तिम अभिशाप। छायावाद की शिष्ट और अलङ्कृत पदावली तथा उसकी विमोहक कल्पना छवियों की प्रतिक्रिया होनी ही थी, परन्तु कोई भी प्रतिक्रिया अपने आप में साहित्यिक मूल्य नहीं रखती। हम नवीन निर्माण, नये शिल्प, नई वस्तु योजना और नई समयोचित जीवन दृष्टि की भी चाह है। इन तत्वों के समन्वित योग से जो नई काव्य प्रतिमा बनेगी उसका स्वागत भी सभी सुधी जन करेंगे। अतिशय भावात्मकता के स्थान पर अतिशय बौद्धिकता स्वभावतः उसका स्थानापन्न बनना चाहती है, संगीत के मोहक स्वरों के पश्चात् कर्कशता का भी एक आकर्षण हो सकता है, हिन्दी काव्य की कल्पना प्रवण आध्यात्मिकता के पश्चात् एक नये मांसल प्रकृतिवाद की पुकार भी अनहोनी नहीं है। दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि महायुद्ध के पश्चात् हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ भी बड़े वेग से बदली हैं, विशेषकर बुद्धिजीवी वर्ग के जीवन में आपात परिवर्तन आया है। किन्तु इस समस्त परिवर्तन और स्थित्यन्तर के बीच हम अपना सन्तुलन नहीं खो सकते। हिन्दी कविता आज अपनी आरोपप्रियता और व्यंग्यमयता में उस सन्तुलन को खोती जा रही है, जो राष्ट्र की सबसे मूल्यवान धरोहर है। नये समय में लेखकों और कवियों का दायित्व बहुत बड़ा है, पर वे समझते हैं कि उन पर किसी ने कोई अप्रत्याशित विपत्ति

दा दी है। वे अपने को समाज या राज्य से आहत मानते हैं। उनकी कविता का मुख्य स्वर पीड़ा का द्योतन करता है, इसी पीड़ा की अगली प्रतिक्रिया आत्मपीड़ा में परिणत होती है और तब कविता में शृंगारिक भावना की शारीरिकता जोर पकड़ती है और कवियों को बहुत कुछ आत्मजीवी और असामाजिक बना देती है। हिन्दी की नई कविता में यथार्थवाद के नाम पर इन्हीं भावनाओं और प्रवृत्तियों की प्रमुखता हो रही है। किन्तु भावना की ऐकान्तिक शून्यता में पग रखते हुए कवियों को विशाल सामाजिक जीवन और उसके घात प्रतिघातों से मुँह नहीं मोड़ लेना है। नई कविता के उन्नायक यदि हिन्दी काव्य की मघर्षशील राष्ट्रीय परम्परा को कुछ भी मूल्य या महत्त्व देते हों तो उन्हें अपने रचना क्षणों में अधिक संयम, शालीनता और दायित्व का परिचय देना ही होगा।

डॉ० भगीरथ मिश्र

साहित्यिक सौष्ठव और सामाजिक तत्त्व

साहित्य और समाज का अटूट और अगाध सम्बन्ध है। समाज की जीवन धारा में साहित्य का कमलवत विकास होता है, समाज के तक का परिणाम साहित्य का नवनीत है, समाज के शरीर का मुख साहित्य है। वह समाज की धरती पर उगने वाले जीवन का फूल है। समाज के सुख दुःखों की गंगा-यमुना की धाराओं के संगम पर साहित्य त्रिवेणी और तीर्थराज है। साहित्य सुगन्ध है, साहित्य मधुरिमा है। वह रूप, सौन्दर्य और प्रगति के प्रभाव का साकार चित्र है। वह समाज की बुद्धि का परिणाम और अनुभव एवं अनुभूति का सार है। साहित्य समाज की चिरस्थायी सृष्टि है। व्यक्ति उत्पन्न होते और समाप्त होते हैं, पर साहित्य उत्पन्न होने पर चिरकाल तक स्थिर रहता है, वरन् यह कहा जा सकता है कि उच्च साहित्य तो अमर ही है। साहित्य इस प्रकार समाज की अमर सृष्टि है। उसमें चित्रित जीवन का रूप शाश्वत है। आज हमारे बीच राम, रावण, बुद्ध, ईसा, हलियड, रुस्तम, दुष्यन्त, सीता, शकुन्तला आदि नहीं, परन्तु साहित्य के साथ वे आज भी जीवित हैं। इतना ही नहीं, जो समाज में कभी नहीं थे, वे भी साहित्य में उत्पन्न हुए और अमर हैं। इस प्रकार साहित्य, समाज की सृष्टि होता हुआ भी, अपने निजी समाज की सृष्टि करता है। अतः साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है।

समाज की धरती से उखड़ जाने पर या समाज से विच्छिन्न हो जाने पर साहित्य की स्थिति हवाई है। जब तक एक क्षीण डोरा भी समाज से साहित्य की पतंग को बाँधे रहता है, तब तक वह दूर दूर तक उड़ता हुआ भी प्रगतिशील, व्यवस्थित एवं सुचालित है, परन्तु यह सामाजिक सूत्र कट जाने पर वह कटी पतंग के समान दिग्भ्रमित होकर व्यर्थ उड़ता है। समाज की प्रबुद्ध चेतना, जो साहित्यकार में निष्ठ रहती है, साहित्यिक सृजन की परिचालिका है, जिसके बिना न उसे समाज की धरती ही मिलती है और न कल्पना का आकाश ही।

साहित्य की सार्थकता तभी है जबकि वह जीवन के प्रति एक अटूट आस्था और प्रबल उत्साह भर दे। जीवन के विविध पक्षों का सौन्दर्य इतने प्रेरक रूप में वह हमारे सामने प्रस्तुत करे कि उसकी विकृतियों को हम दूर करके उसे सुघर बनाने की तत्परता प्राप्त करें। विकृतियाँ

इस रूप में और इस अनुपात में न आएँ कि उसके सौंदर्य को ढक लें, रूप को बोझिल बना दें और हमारे मन में एक निराशा और निरुत्साह भर जाय। अगति और शिथिलता की सड़ाँद से हम ऐसे ओत प्रोत हो जायँ कि विकृति के साथ समझौता कर लें। जहाँ साहित्य इस प्रकार की स्थिति में पड़ जाता है वहाँ उसमें असामाजिक तत्त्व प्रधान हो जाते हैं और सामाजिक तत्त्व क्षीण हो जाते हैं। ऐसी दशा में न केवल साहित्य ह्रासोन्मुख होता है, वरन् समाज भी पतन को प्राप्त करता है।

साहित्यकार के तेजस्वी व्यक्तित्व का तेज साहित्य में सदैव द्योतित रहना चाहिए। जहाँ पर साहित्यकार तेजस्वी न होकर स्वयं विकारग्रस्त और रुग्ण रूप में आता है, वहाँ हम उसके साथ सहानुभूति भले ही रखें परन्तु उससे कुछ प्रेरणा प्राप्त नहीं करते। ऐसा भी होता है कि उसके विकार का संक्रमण दूसरों पर भी हो जाय। अतः अत्यधिक रोना साहित्य में असामाजिक है।

यहाँ पर प्रश्न यह उठता है कि यदि साहित्यकार की निजी अनुभूति दुःखमयी हो और परिस्थितियाँ भी विषाद और निराशा-ग्रस्त, ऐसी दशा में उसकी प्रतिभा उसके निजी अनुभवों को प्रकाशित करेगी, तो क्या ये समस्त दुःखात्मक अनुभव के प्रकाशन असामाजिक होंगे? इस प्रसंग में उत्तर यही दिया जा सकता है कि यह बात साहित्यकार की निजी प्रवृत्ति एवं सामाजिक भावना दोनों ही पर निर्भर करती है। साहित्य एक सामाजिक अर्थात् समाज के हेतु की गई सृष्टि है, अतः उसमें अपनी वैयक्तिक दुःखानुभूति को सामाजिक धरातल पर, सामाजिक सम्वेदना के रूप में प्रकट करना अधिक उत्कृष्ट है। इस प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदास और प्रेमचन्द का नाम लिया जा सकता है। इन दोनों के समान दुःख और निराशापूर्ण परिस्थितियाँ और किसी की क्या होंगी या हो सकती हैं? फिर भी, इनके साहित्यों में सामाजिक तत्त्व इतने उदात्त और शुभ्र रूप में प्रतिफलित हुए हैं कि इनकी रचनाएँ हमारे लिए आदर्श का काम करती हैं।

दूसरी शंका यहाँ पर एक और यह उठ सकती है कि व्यक्ति समाज का अवयव है। व्यक्ति ही मिलकर समाज बनाते हैं, तब वैयक्तिक अनुभूतियों का, चाहे वे दुःखात्मक हों या सुखात्मक, साहित्य में प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है। अतः वैयक्तिक निराशा, समाज के भीतर निराशों के प्रति संवेदना जगाने वाली होती है और इस प्रकार सामाजिक संस्कार अधिक संवेदनापूर्ण बनते हैं, तब उनको साहित्य में क्यों स्थान न मिलना चाहिए? बात हमारे सामने यही है कि हमें आगे बढ़ने की प्रेरणा तथा जीवन में प्रवेश करने का उत्साह यदि साहित्य से मिलता है, तो वह साहित्य का रूप अभिनन्दनीय है। यदि निराशा या दुःखों के चित्रण ऐसे हैं कि वे हमें पीड़ितों या दुःखितों के लिए कुछ करने और सोचने के लिए बाध्य करते हैं, तो वे सामाजिक उद्देश्य को ही सिद्ध करते हैं। परन्तु यदि वे हमें स्वयं ही निराश और अकर्मण्य बनाते हैं, तो वे वाञ्छनीय नहीं हैं। यह प्रभाव साहित्यकार के दुःखानुभूति के चित्रण में व्याप्त दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। देखना हमें यही है कि निराशा और विकृति का चित्रण हमें उसे दूर करने की कोई प्रेरणा देता है या उसके साथ समझौता करके हमारे आत्म विकास के स्थान पर आत्म संकोच का प्रेरक बन बैठता है। यदि वह आत्म विकास की प्रेरणा देता है, तो वह उन्नत है अन्यथा संकीर्ण।

इस प्रकार साहित्य की कसौटी प्रधानतया सामाजिक है। वैयक्तिक आनन्द को देता हुआ

भी साहित्य या काव्य का रूप सामाजिक होता है, क्योंकि वह एक साथ ही एक व्यक्ति को नहीं, वरन्, समाज के अनेक व्यक्तियों को उसी प्रकार की अनुभूति प्रदान करता है। सामाजिक अनुभूति और चेतना की पूर्णतया अवहेलना करके साहित्य सामान्यतया नहीं पनप पाता। केवल एक स्थिति इस प्रसग में सम्भव है, जिसमें समाज पूर्णतया पतनो मुख और विकृत हो तथा साहित्यकार एक प्रबुद्ध चेतना का व्यक्ति। ऐसी दशा में वह समाज में व्याप्त भावना के विपरीत उदात्त चेतना का प्रवर्तन करता है और समाज की भत्सना के कशा प्रहार से विकार, आडम्बर और प्रमाद को निकालकर स्फूर्ति एव उदात्त चेतना प्रदान करता है। कबीर आदि का कार्य इसी प्रकार का है।

साहित्य सृजन की प्रेरणा भी सामाजिक भावना के अनुकूल होती है, प्रतिकूल नहीं। अधिकतर विद्वानों द्वारा सृजनात्मक प्रेरणा के जो कारण माने गए हैं वे हैं, अभाव आत्म प्रकाशन, सौन्दर्य प्रेम, कामना पूर्ति और आनन्द। यदि हम विचारकर देखें तो इनमें भी सामाजिक सम्बन्ध देखा जा सकता है। साथ ही साहित्यकार जब इनमें से किसी तथ्य से प्रेरित होकर लिखता है, तब वह समाज की भावना का प्रतिनिधित्व भी करता है। अभाव की दशा में वह अपनी अथवा समाज की स्थिति में किन्हीं बातों का अभाव देखता है जो उसकी कल्पना में स्थित आदर्श समाज के भीतर होनी चाहिए। अतएव वह अपनी प्रतिभा द्वारा साहित्यिक सृष्टि करता है, जिसमें उस अभाव की पूर्ति है। इसका एक पक्ष तो वैयक्तिक सतोष है, परन्तु दूसरा पक्ष सामाजिक है। उस अभाव को समाज के बहुत से लोग अनुभव करते हैं, अत उसकी इस काल्पनिक पूर्ति में उन्हें भी सतोष मिलता है, यह सामाजिक मनोविज्ञान की बात है। पूर्ति न भी करे तब भी अभाव का यथार्थ चित्र साहित्य में आने पर, उसे पूर्ण करने की एक प्रबल भावना हमारे हृदयों में जगती है और यदि कवि या साहित्यकार ने उस दिशा में मार्ग प्रदर्शन कर दिया, तो हम अपने बीच उस आदर्श को उतारने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्ध स्पष्ट है।

आत्म प्रकाशन या आत्माभिव्यक्ति, साहित्य सृजन की मूल प्रेरणा मानी गई है। साहित्यकार का आत्म, लोकमानस में प्रतिष्ठा प्राप्त होता है। उसकी आत्माभिव्यक्ति जैसे समाज के अनेक व्यक्तियों की निजी आत्माभिव्यक्ति होती है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास की 'विनय पत्रिका' या मीरा की पदावली, आत्माभिव्यक्ति होते हुए भी अनेक व्यक्तियों के मन को भाती है। यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि क्या विकारपूर्ण आत्माभिव्यक्ति का भी लोकानुभव इसी प्रकार विकारी हृदयों में नहीं होगा? मैं कहता हूँ कि अवश्य होगा। साहित्य एक प्रबल और सक्रामक अभिव्यक्ति है और उसका गहरा सामाजिक प्रभाव है, अत साहित्यकार को यही बात ध्यान में रखते हुए विकृत भावनाओं को ऐसा प्रकाशन न देना चाहिए कि समाज उन्हें अपनाने लगे। विकार का विकार रूप में ही चित्रण करना चाहिए।

सौन्दर्य प्रेम साहित्यकार की उज्ज्वल प्रेरणा है और इसका बहुत बडा सामाजिक महत्त्व है। रूप गुण के सौन्दर्य के प्रति साहित्यकार सबसे अधिक सवेदनशील होता है। अत वह इनके सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रभावों को चित्रित करने में आनन्द का अनुभव करता है। साहित्य के भीतर आकर ये रूप गुण के चित्र स्थायी हो जाते हैं और समाज के सौन्दर्य बोध को प्रकृष्ट करते हैं। यद्यपि उसके द्वारा गृहीत प्रभाव व्यक्ति सौन्दर्य के होते हैं, पर वे साहित्य में निर्वैय-

यह भावना मानवता के तत्त्व का ही चरम विकास है। इसमें व्यक्ति समाजमय है। यहाँ व्यष्टि समष्टि का भेद समाप्त हो जाता है। साहित्य का यही प्रतिपाद्य है। इसे प्रकट कर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। यह मानवता और विश्वबन्धुत्व का भाव साहित्य में हृदय को हृदय से जोड़ता है। यह भाव हमारे हृदय का विस्तार है।

साहित्य के उत्थान का तीसरा तत्त्व है निर्मल चरित्रों का चित्रण। साहित्य का सामाजिक पक्ष प्रबन्ध कार्यों में ही निखरता है, जिनमें कथानक द्वारा कुछ चरित्रों का स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष होता है। यह एक साहित्य का ससार है। साहित्यकार को प्रेरणा देने वाले निर्मल चरित्र रोचक अथवा प्रभावशाली व्यक्तित्व होते हैं। चरित्र चित्रण के प्रसग में आदर्श और यथार्थ का प्रसग उठाना अनावश्यक है। बड़े से बड़ा साहित्यकार यथार्थ की पृष्ठभूमि में ही किसी आदर्श चरित्र का उद्घाटन करता है। ऐसा आदर्शवाद वाञ्छनीय नहीं, जो यथार्थ की अवहेलना करे या उसकी हत्या ही कर दे। लोकानुभव यह भी है कि सज्जनों के सत्कार्य का सुपरिणाम भी मिलता है, और यह भी है कि सज्जनता के दुष्परिणाम प्राप्त होते हैं। सत्य और यथार्थ यही है कि इस प्रकार के परिणाम वास्तविक एव स्वाभाविक पृष्ठभूमियों पर दिखाए जायें। प्रेमचन्द का 'गोदान' यथार्थवादी उपन्यास है, परन्तु उसका पात्र होरी एक आदर्श चरित्र है जो सत्य और सत्यता तथा मर्यादा पर अपना सब कुछ स्वाहा कर देता है। समाज में उसे अपने पुण्य का फल नहीं मिला। पर ऐसे चरित्र हमारे हृदय में घर कर जाते हैं, वह अपने निर्मल चरित्र के कारण ही तो। यह निर्मल या उदार चरित्र एक क्षेत्रीय भूमि पर है। देशव्यापी या विश्व व्यापी भूमि पर जो चरित्र अपने सद्गुणों को प्रकट करता है, वह निश्चय ही राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि के समान होता है। अत हमें देखना यह है कि जिस चरित्र का चित्रण हुआ है, वह सच्ची वास्तविक भूमि पर कितना विकसित हुआ है। यथार्थ का तात्पर्य यह नहीं माना जा सकता कि दुष्टों, दुर्जनों, छलियों और कपटी लोगों का ही चित्रण किया जाय, क्योंकि समाज में सज्जन व्यक्ति भी बहुत बड़ी सख्या में रहते हैं और यह भी जीवन का वास्तविक यथार्थ है।

चारित्र चित्रण में उदात्त गुणों का उद्घाटन सामाजिक उत्थान का प्रेरक होता है। उससे हमारे मन में उच्चता, चरित्र में दृढता और हृदय में उत्साह प्राप्त होता है। अत सामाजिक हित के लिए त्यागी, उदार, तेजस्वी, अन्याय का विरोध करने वाले तथा जिनमें समाज के नेतृत्व के गुण हों, ऐसे व्यक्तियों के चरित्र पर विशेष प्रकाश डाला जाना चाहिए। उनके सभी कार्यों का पुरस्कार ही मिले यह उचित नहीं। आपत्ति, कठिनाइ, विरोध, सभी उनके जीवन में आने चाहिए। इस प्रकार के चित्रणों से साहित्य उत्कृष्ट होता है और उच्च गुणों की समाज में प्रतिष्ठा होती है। ऐसे चरित्रों के साथ दुष्ट, कपटी, क्रूर पात्रों का भी चित्रण होना आवश्यक है। महाकाव्य में नायक के चरित्र को उदात्त गुणों से ओत प्रोत माना गया है। उसके सामाजिक सत् प्रभाव की प्रतिष्ठा के हेतु 'क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुण कीर्तनम्' अर्थात् दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशसा का भी विधान है। परन्तु यह सब चित्रण विश्वसनीय और स्वाभाविक होना चाहिए, भोंडा और हास्यास्पद नहीं। यह दूसरा पक्ष कला से सम्बन्ध रखता है।

सत्य के प्रसग में ही यह कहा जा चुका है कि साहित्य सत्य को अपने समग्र रूप में प्रस्तुत करता है, वरन् उसके सुन्दर रूप का उद्घाटन करता है। सौन्दर्य का चित्रण ही साहित्य

को इतना मोहक और रमणीय बनाता है। अतः साहित्यकार जीवन के विशाल अगाध खारे समुद्र में हाहाकार, गर्जन तर्जन के बीच भी रत्नों को प्रकाशित करता है। यह सौंदर्य चित्रण रूप का भी होता है और गुण का भी। साहित्य ने जो रूप और सौंदर्य की सृष्टि की है, आज हम और हमारा समाज उसी से सौंदर्यवान् हैं। साहित्य का सौंदर्य त्रिरूप है—रूप का सौंदर्य, गुण का सौंदर्य और अभिव्यक्ति का सौंदर्य। रूपात्मक सौंदर्य सृष्टि हमारे हृदय को कोमल और सुकुमार बनाती है तथा रूप को हम कोमलता एवं मृदुता के साथ देखने का संस्कार प्राप्त करते हैं। उसके प्रति कोमलता का भाव हमारे हृदय में जाग्रत होता है। सौंदर्य की सहज प्रक्रिया यह है कि हम उसे सुरक्षित रखना चाहते हैं और विकृत एवं नष्ट होने से बचाना चाहते हैं। यह हमारे हृदय को कोमल और दृष्टि को सूक्ष्म तथा कल्पना को प्रसन्न बनाता है। ये रूप चित्र हमारे मन की धरोहर होते हैं। हम उन्हें सजोकर रखना चाहते हैं। पैर की ललाई और गति का गतिमय रूप चित्र देखिए—

पग पग मग अगमन परति, चरन अरुन द्युति झूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे, दुपहरिया से फूलि॥

इसी प्रकार मतिराम का एक रूप चित्र है—

कुन्दन को रंग फीको लगै, झलकै असि अंगन चारु गुराई।
आखिन में अलसानि चितौनि में मंजु विलासन की मधुराई।
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निकसै सी निकाई॥

अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं। रूप का प्रभाव तो हमारे हृदय पर पड़ता ही है। गुण का सौंदर्य रूप-सौंदर्य को पुष्ट करता है और हृदय पर प्रभाव डालता है। हम इस सौंदर्य से युक्त व्यक्ति के प्रति स्नेह, प्रेम, सम्मान, श्रद्धा आदि के भावों से ओत प्रोत हो जाते हैं और इस प्रकार हमारे सद्गुणों के संस्कार बनते हैं। अतः यह सौंदर्य चित्रण साहित्य का सामाजिक तत्त्व है, जिसका जितना ही विकास हो उतना ही अच्छा।

अभिव्यक्तिगत सौन्दर्य उपर्युक्त विषय से नहीं, वरन् उसके प्रकाशन की कला से सम्बन्ध रखता है। साहित्य अभिव्यक्ति पर सबसे अधिक निर्भर है। अभिव्यक्ति ही तो साहित्य का असली रूप है। अभिव्यक्ति-सौंदर्य के बिना तो उत्तम से उत्तम विषय भी प्रभावहीन है। अभिव्यक्ति भी एक सामाजिक तत्त्व है। इसके द्वारा ही व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध है, व्यक्ति व्यक्ति का सम्बन्ध है। यदि अभिव्यक्ति नहीं, तो हम अपने सुंदर से सुंदर भाव से भी किसीको प्रभावित नहीं कर सकते। अभिव्यक्ति सौंदर्य ही अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के रूप में प्रकट होता है। अभिव्यक्ति चाहे जितनी सुंदर और उत्कृष्ट हो, है साधन ही। अभिव्यक्ति को ही साध्य समझ लेने से साहित्य का उत्थान रुक जाता है। जब वह साधन है, तब उत्कृष्टता और सौंदर्य के साथ उस पर सवेद्यता का गुण भी उसमें होना चाहिए, अर्थात् दूसरे व्यक्ति उसमें कही हुई बात को भली भाँति सम्पूर्ण प्रभाव के साथ ग्रहण कर सकें यह आवश्यक है। इस प्रकार सरलता और सुगमता उसका प्रधान गुण है। गोस्वामी तुलसीदास के काव्य का आदर्श प्रकट करने वाली पंक्तियाँ इसी प्रकार की मान्यता प्रकट करती हैं। वे कहते हैं—

सरल कवित कीरति विमल, सुनि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करैं बखान॥

इस प्रकार सरलता, अभिव्यक्ति की विशेषता और विमल कीर्ति वर्ण्य विषय की विशेषता तुलसीदास के आदर्श के अनुसार ठहरती हैं। लोकहित तो समस्त साहित्यिक कृतियों का उद्देश्य होना ही चाहिए। यह गोस्वामीजी का निश्चित मत है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

साहित्य रमणीय वाङ्मय है। कालिदास की उक्ति 'क्षणे क्षणे य नवतामुपैति, तदेव रूप रमणीयतायाः' के अनुसार रमणीयता का स्वरूप नित्यनवता का है। जो सदैव नव्य हो, वही साहित्य है। इस नव्यता के लिए साहित्यकार भव्य कल्पना का प्रयोग करता है। कल्पना वस्तु, तथ्य या घटना के मनोरम चित्र प्रस्तुत करती है और इन चित्रों में ही नवता और रमणीयता का निवास है। अतः भव्य कल्पना भी साहित्य का एक तत्त्व है, जो उसे श्रोता या पाठक के लिए ग्राह्य बनाता है। भव्य कल्पना द्वारा प्रस्तुत वस्तु, तथ्य आदि हमारे मानस में घर कर लेते हैं, जैसे—

उमगि हिये ते आयो प्रेम को प्रवाह, ताते लाज गिरी परी तरवर तीर को।—मतिराम

× × ×

लोग मेरे नीर में सावन समझ कर डूबते हैं।
डबडबाती आँख के मोती चुराकर गा रहा हूँ।
लोग मेरे दीप को सूरज समझकर जागते हैं।
मैं सभी के स्नेह में बाती डुबोकर गा रहा हूँ।—वीरेन्द्र मिश्र

× × ×

विद्युत की इस चकाचौंध में देख दीप की लौ रोती है।
अरी हृदय का थाम महल के लिए झोंपड़ी बलि होती है।

× × ×

छिलके उठते जा रहे, नया अंकुर मुख दिखलाने को है,।
यह जीर्ण तनोवा सिमट रहा आकाश नया ग्रान को है।

यह भव्य कल्पना साहित्य के उत्थान के लिए अपेक्षित है। इस भव्य कल्पना के साथ साथ दूसरी वस्तु जो समाज को प्रभावित करती है और हमारे मर्म पर प्रहार करती है, वह है भावुक व्यंग्य। बौद्धिक व्यंग्य में तो प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है और हम थोड़ी देर के लिए प्रेरित होकर रह जाते हैं, परन्तु भावुक व्यंग्यों की मार रह रहकर कसकती रहती है। हमारे लोकगीत इन भावुक व्यंग्यों से भरे पड़े हैं, जिनमें प्रकृति की संक्षिप्त पृष्ठभूमि में बड़े मार्मिक चित्र हमारे सामने आते हैं और उनमें सामाजिक विषमता, दुर्व्यवहार, गरीबी, अनैतिकता, कलह आदि व्यंग्य से प्रकट रहती हैं। यह भावुक व्यंग्य, जो लोकगीतों की निधि है, यदि कविता में हमारे कविगण उतार सकें तो वास्तव में आज के काव्य में मार्मिकता स्वतः आ सकती है। कुछ कवि लोकगीतों के उन्नयनशील तत्त्वों को अपनी रचनाओं में उतार भी रहे हैं। ये दो बातें अभिव्यक्ति सौंदर्य से सम्बन्धित थीं।

एक और सामाजिक तत्त्व का उल्लेख करके हम यह वक्तव्य समाप्त करते हैं। यह है लोकानुभव या लोकनीति का तत्त्व। संस्कृत काव्य की अनेक सूक्तियाँ सूत्र मन्त्रवत प्रचलित हैं।

घाघ की कहावतें हमारे ग्राम समाज के घर घर में घर कर बैठी हैं। तुलसीदास, कबीरदास आदि की सूक्तियाँ जन जिह्वा पर नाचती रहती हैं। इन सूक्तियों में लोकानुभव व्यक्त हुआ है। ये लोक नीति का काम करती हैं। ये कवि के जीवनानुभव का निचोड़ हैं। ये हमारा मार्ग प्रशस्त करती हैं और विविध प्रकार के अनुभव से हमें लाभान्वित कराती हैं। अतः साहित्य में लोकानुभव और लोकनीति का भी प्रकाशन होना चाहिए। ये सूक्तियाँ उपदेशात्मक, व्यंग्यात्मक होती हुई भी सरस हैं, जैसे—

> चाह गई चिन्ता मिटी मनुआ बेपरवाह।
> जाको कछू न चाहिए सोई साहसाह॥
> पात पात को सींचिबो, बरी बरी को लोन।
> तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहके कहु कोन॥
> तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन।
> अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहैं कौन॥
> तुलसी तृण जलकूल का, निरबल निपट निकाज।
> कै राखै कै सग चलै, बाँह गहे की लाज॥

तीसरे दोहे में जो व्यंग्य मार्मिक व्यंग्य है कि वह मर्मस्पर्शी प्रभाव डालता है। ये लोकानुभव कवि के अनुभव के रूप में अभिव्यक्ति पाकर साहित्य के जगमगाते रत्न बन जाते हैं। ये सूक्ति मुक्तावलियाँ किसी भी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि साहित्य के उत्थान के लिए प्रेरक उसका सामाजिक दृष्टिकोण है और उसके सहायक सामाजिक तत्त्व हैं, सत्य, मानवता, निर्मल चरित, सौन्दर्य, भव्य कल्पना, भावुक व्यंग्य और लोकानुभव की अभिव्यक्ति। भावुक व्यंग्य और निर्मल चरित्र चित्रण के भीतर रस का समावेश स्वतः हो जाता है। इन सामाजिक तत्त्वों से युक्त होकर साहित्य उत्थान को प्राप्त करता है। ऐसा साहित्य समाज का भी उत्थान करता है। इस प्रकार के साहित्य सृजन के लिए साहित्यकार को साधना, तपस्या और अनुभव अर्जन करने की अपेक्षा होती है। यह साहित्य समाज में समभाव का प्रसार करता है। इसी प्रकार के साहित्य की तुलना देव-मंदिर से करते हुए हमारे एक कवि ने कहा है—

> जय देव मंदिर देहली,
> समभाव से जिस पर चली।
> नृप हेम मुद्रा और रंक वराटिका।
> मुनि सत्य सौरभ की कली,
> कवि कल्पना जिसमें खिली।
> फूले फले साहित्य की यह वाटिका।

कवि के स्वरों में स्वर मिलाकर हम भी इस साहित्य की वाटिका के फूलने फलने की कामना करते हैं।

प्रा० विष्णुप्रसाद र० त्रिवेदी

रस, सौन्दर्य और आनन्द

साहित्य के सभी प्रकार—गीतिकाव्य हो या प्रबन्धकाव्य, कहानी हो अथवा उपन्यास—सभी में अभीष्ट रूप में जीवन के उपादान प्राप्त हैं। जीवन को हम एक निश्चित समयावधि में ही देख सकते हैं, इसलिए उसमें हम सम्पूर्ण आकृति, स्वरूप या केन्द्र का पता नहीं पा सकते। स्वरूप तो हम संवेदना से, बुद्धि से, दृष्टि से और कल्पना से रचते हैं। जीवन को प्रवाहरूप कहने का तात्पर्य इतना ही है कि इसमें प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष गति है, किन्तु इस गति की दिशा या सार्थकता स्पष्टतया ज्ञात नहीं होती। जीवन एक असीम सागर है जो सहस्र उप सागरों को और छोटे बड़े नालों को तथा अनेक नदियों को अपने अन्दर समाहित करने वाला महासागर है। उसमें अपार लहरें, ज्वार और झाग तथा ऊपर दृश्यमान गति के अतिरिक्त अनेक अदृश्य प्रवाह हैं। केवल हमारी दृष्टि या प्रतिभा ही इसमें रूप का दर्शन कर सकती है।

हमारे दृष्टिबिन्दु से सतत गतिशील काल में फैले हुए जीवन को रूप (Design) या आकार मिलता है। संस्कार, शिक्षा और कल्पना की सिद्धि से युक्त सर्जक बुद्धि या प्रज्ञा से जीवन में अर्थ और रूप (रूप का अर्थ है सहेतुकता, सार्थकता) देखता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि एक विशेष दृष्टिबिन्दु से की गई कल्पना अयथार्थ है, ऐसा रूप स्थापित कर सकने की क्षमता, सम्भावना इस अनन्त जीवन में विद्यमान है, ऐसा माना जाना चाहिए। एक सापेक्ष आकृति, विशेष दृष्टिकोण से देखा हुआ रहस्य, समग्र जीवन का प्रतिनिधित्व भी कर सकता है। अन्यथा ऐसे दर्शनों में सच और झूठ का हमारी कसौटी अपर्याप्त है। फूलकुसुमित बबूल काँटों से युक्त होता हुआ भी सुन्दर है। सायंकालीन सुषमा में उसे देखकर कवि नर्मद (गुजराती का एक सुप्रसिद्ध कवि) आनन्द में विभोर हो गया था। प्रात या सायंकाल इसका छायाचित्र कभी-कभी मनोरम बन जाता है। इस रमणीयता को यथार्थ क्यों नहीं कहा जा सकता? फिर भी इसके द्वारा वृक्ष का पूर्णता का ज्ञान होना भी सम्भव नहीं है। मानव-जीवन का प्रश्न भी ऐसा ही विकट और जटिल है।

जीवन की सार्थकता को अनायास रूप दे देने वाले प्रसंग व्यक्ति के जीवन में बार बार आते हैं। किसी स्थान से या मित्र से दीर्घकाल के लिए बिछुड़ते हों, तो वह क्षण भूतकाल की कुछ बातों को आकृति देने वाला साधन बन जाता है। स्मृति में बद्धमूल बने हुए संस्कार जागृत होते हैं, अपनी तीव्रता के अनुसार वे प्रभावपूर्ण होते हैं। इन संस्कारों के प्रकाश और छाया के मिश्रण से किसी रूप की आकृति मन में बन जाती है। इस प्रक्रिया का स्वाभाविक अन्त मिलन, विरह या मृत्यु ही है और इस अन्त को रहस्यमय बनाने वाली, अनिवार्य बनाने वाली, समझाने वाली अथवा एक प्रश्नचिह्न होकर भी सार्थक करने वाली घटनाओं को कल्पना अनुभव

में से चुन लेती है। तात्पर्य यह है कि वास्तविक जीवन में भी विशेष प्रसंगों पर पात्र, परिस्थितियों के घात प्रतिघात से मन मे विशेष आकृति उपस्थित हो जाती है।

सर्जक ऐसी वास्तविक घटनाओं की प्रतीक्षा के लिए बैठा नहीं रहता। उसकी जीवनदृष्टि या तो निश्चित होती है और ऐसा होने पर अपने अनुकूल जीवन-सामग्री को वह ले लेता है, अथवा उसे ऐसा मोड़ दे देता है। निश्चित जीवनदृष्टि के अभाव में बुद्धि उदार होने पर भी कभी कभी किसी रहस्य को सूचित करने वाली प्रथम परम्परा दिखाई पड जाती है। वास्तविक जीवन में नियामक तत्त्वबिन्दु अनायास ही प्राप्त हो जाता है। सर्जक के पास जीवन सामग्री अज्ञात अथवा पूर्णत रूपविहीन आकृति में विद्यमान है। दीवार पर की लकीरों में अथवा भूमि पर पड़े हुए पानी में से जिस प्रकार गौतमबुद्ध, नटराज या अजन्ता की अप्सराओं की आकृति दिखाई देती है, उसी प्रकार जीवन के उपादानों में कुछ प्रकार प्रतीत होते हैं। फिर जैसे कोई निठल्ला कलारसिक उन रेखाओं को दृढ कर देता है, उसी प्रकार साहित्यसर्जक अपनी कल्पना के अनुसार रूपयोजना निश्चित कर देता है। जीवन से प्राप्त उपादानों के तात्पर्य की कल्पना में सर्जक का मन वैज्ञानिक की भाँति काम करता है। परन्तु वैज्ञानिक वस्तु तथ्य को बदल नहीं सकता, उसे विशेष स्वरूप देने के लिए काट छाँट नहीं कर सकता, इतना ही नहीं, अपितु कोई बात कल्पना के अज्ञात भी बाधक हो जाय तो अपनी ऊहा (Hypothe is) या कल्पना ही बदलनी पडती है। इसमें कोई दूसरा उपाय है ही नहीं। साहित्यकार अधिक स्वत त्र है। जिसकी केवलमात्र झाँकी ही मिली है, ऐसे अन्त या तात्पर्य को भी निश्चित मानकर तदनुकूल जीवन का स्वरूप गढ लेता है। तात्पर्य ही उसका प्रयोजन है और वह तात्पर्य सहज ही प्रकट हो सके, ऐसे अंश उसे इष्ट होते हैं तथा उन्हीं को वह अंगीकार करता है। अत प्रत्येक घटक मे सप्रयोजनता रहती है। सर्जन व्यापार म इसका अर्थ यह हुआ कि आकृति की प्रत्येक कल्पना में सर्जक की बुद्धि अव्यवस्थित और सार्थकताविहीन जीवन उपादान में से अर्थ और रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न करती है। उस रहस्य या अर्थ को निश्चित करके तदनुकूल पूर्वोक्त उपादान को व्यवस्थित करती है, परिष्कृत करती है, आवश्यकतानुसार परिवर्तित भी करती है। इस प्रकार उसकी चेतना में समग्र विभावना या कल्पना उपस्थित हो जाती है, जो शब्दों में मूर्त होने का प्रयत्न करती है, अर्थात् कल्पना के पूर्व और कल्पना के अभिव्यक्त होने तक इस व्यापार में आरम्भ से अन्त तक और अन्त से आरम्भ तक क्रिया प्रतिक्रिया चलती ही रहती है।

अन्त उपादान की अनुनेयता (Flexibility) और रूपक्षमता के कारण सर्जक की जीवनदृष्टि साहित्यिक रचना विधान में एक नियामक तत्त्व बन जाती है। जिसकी दृष्टि संस्कारमुक्त है, जो आँख कान खोलकर रहस्य को ढूँढने के लिए विचरता है, वह विशेष तटस्थ साहित्यकार हो सकता है। उसके सर्जन का हेतु केवल सौंदर्य हो और तात्पर्य या रहस्य केवल उसी के अधीन रहे, ऐसे लेखक की भिन्न भिन्न कृतियों मे प्राप्त जीवन दर्शन कहीं पर सगत और कहीं पर असगत प्रतीत होता है। किसी वाद के अनुयायी या निश्चित जीवनदृष्टि वाले सर्जक में ऐसा नहीं होगा। साहित्य का सौष्ठव और औचित्य तथा रसतत्त्व की रक्षा करते हुए भी वह ऐसे रूपविधान की रचना करेगा, जिसमें अभीष्ट विचारों की पूर्ण अथवा आंशिक सुसगत अभिव्यक्ति प्राप्त होगी। पूँजीवादी, समाजवादी या सर्वोदयवादी, नियतिवादी, मांगल्यदर्शी, अनिष्टदर्शी या

अन्य किसी निश्चित विचारसरणी का अनुयायी अपनी अभीष्ट योजना अनुमोदन करने वाला रूपविधान ही बहुधा प्रस्तुत करता है। वह कुशल कलाकार नहीं होगा तो उसकी कृति में कृत्रिमता आ जायगी, उसका प्रतिपादन शिथिल और अविश्वसनीय होगा। महान् लेखकों ने भी जब ऐसे निश्चित विचारों का वरण करके स्वाभाविकता और सौन्दर्य का त्याग किया है, तो फिर मध्यम सर्जक का, अभीष्ट विचारों का कला द्वारा प्रतिपादन करते हुए, कृत्रिम बन जाना असम्भव नहीं।

चाहे उपन्यास हो, नाटक हो या कहानी—ऐसी कृतियों में प्रारम्भ, मध्य और अन्त तक, कथाप्रवाह की विविध सम्भावनाओं में से लेखक अपनी कल्पना के अनुसार किसी एक को चुन लेता है। प्रारम्भ अथवा मध्य की घटना में अनेक प्रकार के अन्तों की सम्भावना निहित है। लेखक इनमें से एक अन्त को चुन लेता है। किसी वाद का प्रचारक या प्रस्थापक होने पर वह उसे सचेष्ट रूप से चुनता है, अ यथा सस्कार, परम्परा या लोकरुचि के अनुसार अन्तों का चुनाव अपने आप हो जाता है। महाभारतकार ने सुयोग्य चुनाव कर लिया है, कालिदास ने शाप और शाप के निवारण की योजना का चुनाव कर लिया है। कथावस्तु को इसी रूप में रखते हुए भी यूरोपीय कलाकारों ने शायद इस अन्त को बदल दिया होता। 'सरस्वतीचन्द्र' (एक गुजराती उपन्यास) की कथा की भूमिका बदले बिना यदि स्वातन्त्र्यवादी कोई लेखक कुमुद और कुसुम की कथा का अ त भि न प्रकार का बना देता। कुशल कथाकार इसमें परिणाम की स्वाभाविकता दिखा सकता था। परन्तु मौलिक ग्रन्थ के अन्त और इस अन्त के सम्बन्ध में कला सौन्दर्य की दृष्टि से श्रेष्ठता का प्रश्न बना ही रहेगा। जहाँ तक कथा की भूमिका एक ही प्रश्न को प्रस्तुत करती है, वहाँ तक दो भिन्न दृष्टि वाले सर्जक भी उसे एक समान रख सकते हैं। भिन्न भिन्न कथाओं में मुख्य प्रश्न भिन्न भिन्न स्थान पर आ सकता है। किसी में अन्त के समीप हो सकता है, तो किसी में लगभग बीच में। यह सच है कि छोटी कहानियों में प्रारम्भ और अन्त के समीप होने से उनमें परिवर्तन की सम्भावना कम है, किन्तु असम्भव नहीं है। खण्डकाव्यों में तथा गीतिकाव्यों में भी वही भूमिका रखकर अन्त की भिन्नता सम्भव है। मणिशंकर भट्ट ने अपनी कुछ कविताओं का अन्त परिवर्तित करके उसकी मूल संवेदना को ही बदल दिया है। रामनारायण भाई को 'वैशाखनो बपोर' (वैशाख का मध्याह्न) में मानवता के पुरस्कार के स्थान पर नियति की क्रूरता दिखानी होती, तो मजदूरों की मण्डली ने भी भूखे पिता पुत्र का तिरस्कार किया होता—मजदूर लोग पिता पुत्र के साथ अपना खाना बाँटकर खा लेते हैं, यह अन्त अनिवार्य नहीं है, परन्तु असम्भव भी नहीं है। सभ्य समुदाय में से भी रोटी देने वाले की सम्भावना थी, कि तु कवि को यह सम्भावना इष्ट नहीं और न काव्य प्रयोजन के लिए अनुकूल।

यह चर्चा कृति के सौष्ठव और रसतत्त्व के चिन्तन के सम्बन्ध में समीचीन है। कृति छोटी हो या बड़ी, कहानी हो या उपन्यास, उसका उपादान सगुम्फित और रूपविधान सुनिश्चित होना चाहिए। परिस्थिति, पात्र, घटनाओं तथा कथोपकथन में जितनी ही सुसम्बद्धता हो उतना ही उसको रूप सौष्ठव प्राप्त होता है। सम्पूर्ण योजना अन्त के साथ जितनी अपरिहार्य रहेगी उतनी ही उसकी कलात्मकता की सफलता विशिष्ट मानी जायगी। हो सकता है कि कोई कृति किसी विशेष दृष्टि का, अथवा शृंगार आदि किसी रस का प्रतीक बन जाय।

सामग्री के नियोजन पर ही रस के स्वरूप तथा आनन्द की सूक्ष्मता का आधार रहता है। कृति का प्रारम्भ प्रणय से हो और अन्त भी प्रणय सुख में हो तो उस कृति का प्रधान रस शृंगार होगा, परन्तु कृति का अन्त करुण होने पर प्रारम्भिक शृंगार केवल उसका पोषक होगा और कृति की भावना करुण रस की ही होगी। सर्वत्र के पूर्वापर अंश सप्रयोजनता के साथ कार्य कारण की शृंखला में आबद्ध हैं। इस परम्परा में कार्य का प्रभाव कारण पर नहीं पड़ता, परन्तु रसास्वादन में वैसी बात नहीं है। अन्त सम्पूर्ण कृति को उठा सकता है, या बिगाड़ भी सकता है, सम्पूर्ण कृति के रसतत्त्व को सार्थक अथवा निरर्थक बना सकता है। कभी मन अन्त जानने की उत्सुकता में व्यग्र हो करुण को विलीनकर हास्य या इष्ट की निष्पत्ति करता है, किसी उलझन को अनुकूल बनाने की इच्छा रखते हुए भी उसका अन्त अतिशय करुण बन जाता है और यह अन्त समस्त सौन्दर्य तथा रस में व्याप्त हो जाता है। परन्तु यह ज्ञान सम्पूर्ण कृति का आनन्द लेने के बाद ही सम्भव हो सकता है। सम्पूर्ण भावों का और सभी सुखद संवेदनों का आकलन होकर कृति के हृदयंगम करने से अन्त में तल्लीन करने वाली किसी विशिष्ट अवस्था का साक्षात् अनुभव होता है। यही तो रसबोध है। यह सच है कि कला द्वारा लोकप्रसिद्ध वस्तु ली जाने पर रस की विशिष्टता के आस्वाद की अनुकूलता मन को पहले से ही प्राप्त रहती है, परन्तु जहाँ हम निष्पत्ति के कारणों की क्रमबद्धता का विचार कर रहे हों वहाँ यह बात समीचीन नहीं है।

इस विषय में भारतीय संगीत के रागों के आस्वादन और साहित्य कृति के आस्वादन में बड़ा भेद है। राग के प्रारम्भ होते ही आप उसे पहचानकर उसकी लीला में प्रकट होने वाले भावों की कल्पना कर सकते हैं, अथवा उस भाव का आस्वादन आप पहले से ही ले सकते हैं। काव्य में यह सम्भव नहीं है और इस हद तक तो सम्भव ही नहीं है। भारतीय रागों में भी रस निष्पत्ति की अपेक्षा चेतना की आह्लादक वृत्तियों का ही अनुभव किया जाता है। चित्त का विकास या उत्कर्ष, चित्त की प्रसन्नता, चित्त की आर्द्रता—अर्थात् ओजस, प्रसाद या माधुर्य जैसे गुणानुभवों—का साक्षी हो सकता है। ये सब मन की ऐसी साधारण अवस्थाएँ हैं कि उन्हें रस का नाम नहीं दिया जा सकता। किसी राग की पीठिका में कोई पंक्ति मीरा या सूरदास की हो और उसकी पुनरावृत्ति में अपनी कल्पना को भाव से मिलाकर रसानुभव करें तो यह एक अलग बात है। इसमें भी इतना तो स्पष्ट ही है कि 'मेरे रघुवीर' के आवर्तन की अपेक्षा 'सुनी मैं हरि आवन की आवाज' के आवर्तन में रसोत्पादक भूमिका अधिक मात्रा में है। रागों में प्रयुक्त गीत पंक्ति का इस दृष्टि से विचार होना चाहिए। कला के आस्वादन में तटस्थ मन सब द्वारों को खुला रखकर अनेक संस्कारों को अन्दर बहने देता है, हृदय की विशालता एक कला के आस्वादन में दूसरी कलाओं का भी आस्वादन करती है। गीतिकाव्य में संगीत का और संगीत में गीतिकाव्य का अनुभव होना एक सामान्य तथ्य है। जो कलाभावक काव्य के विषय में यह मानते हैं कि उनका कर्त्तव्य तो किसी विशिष्ट रमणीय स्थिति में चित्त को पहुँचा देना है, शेष कार्य चित्त ही अपनी स्मृति और संस्कार से कर लेगा, उनकी यही गलती है। ऐसे काव्यों में वस्तुतः संगीत का तत्त्व काव्य के तत्त्व में मिल जाता है। काव्य में शब्द और अर्थ का सहितत्व समान रूप से दृढ़ है। शब्द के बिना अर्थ का आश्रय नहीं, वैविध्य नहीं, विशिष्टता या निश्चितता नहीं है। शब्द की गति के बिना अर्थ की गति नहीं, उसका नियमन नहीं,

आकार नहीं है। इसलिए काव्य को 'शब्दार्थों' से पहचानते हैं। यदि शब्द और अर्थ में तारतम्य करना ही हो तो काव्य को अर्थ की कला कहेंगे, शब्द की, लय की या मौखिक ध्वनि की नहीं।

इस प्रकार सृजन और आस्वादन व्यापार की परीक्षा करें तो साहित्य के मुख्य प्रयोजन आनन्द के विषय में भी विचार उत्पन्न होते हैं। यह सच है कि आह्लाद और आनन्द का कोई उत्कृष्ट स्वरूप साहित्य-परामर्श में अनुभव किया जाता है, परन्तु किस साहित्य में और कहाँ होता है इसकी जाँच की जानी चाहिए। किसी भी कृति के आस्वादन के सम्पूर्ण स्वरूप का विचार करें तो भी उसके विशिष्ट तत्त्व कहीं से तो आते ही हैं और उस विशिष्ट तत्त्व का आधार कवि का लक्ष्य तथा उसकी उपलब्धि पर आश्रित है। 'मध्य रात्रि में कोयल' काव्य का आनन्द तत्त्व, 'सुदामा चरित' का आनन्दतत्त्व, 'शाकुन्तल' और 'ऑथेलो' का आनन्दतत्त्व क्या एक ही है? एक ही मात्रा का है? इस आनन्द का मूल कर्ता के अभीष्ट और सिद्ध किये हुए अन्त में है, वस्तु के निरूपण में है, विषय को दिये गए झुकाव में है।

रमणीयता या सामान्य अर्थ में सौन्दर्य (रमणीयता में भव्य और रौद्ररम्य (Sublime), सुन्दर (Beautiful) और चारु (Pretty, graceful) का समावेश होना चाहिए) और भिन्न भिन्न तत्त्व के रूप में रस की स्वीकृति होनी चाहिए। रस आस्वाद रूप है, काव्य के प्रवाह के साथ यह आस्वाद कम या अधिक आह्लादक हो सकता है परन्तु रस में क्रम है, यह कृति के साथ काल में ही प्रवृत्त होता है। रस का सम्पूर्ण कृति के साथ सम्बन्ध होते हुए भी उसमें कृति के अवयवों के साथ रहने वाला एक विशिष्ट क्रम है। इस क्रम के प्रत्येक बिन्दु पर उससे पहले होने वाले कृति अनुभवों के संस्कार एकत्र होते हैं और इस प्रकार रसानुभव में संस्कारों का विशिष्ट वहन चलता रहता है। किन्तु रमणीयता या सौन्दर्य में क्रम नहीं है। कृति का सौन्दर्य कृति के अवगाहन के अन्त में होने वाला तत्काल अनुभूति है, इसमें कालक्रम नहीं है, काल का मर्यादा या अवधि भी नहीं है। उपर्युक्त कथन के अनुसार सौन्दर्यबोध कृति का समग्र अनुशीलन है, मन को तल्लीन करने वाली विशिष्ट अवस्था है, जिसमें कृति-सम्बन्धी सब-सवेदनों का अन्विति होती है। सौन्दर्यबोध एक अखण्ड, क्रमहीन, सम्पूर्ण समन्वित अवस्था है। रमणीयता रसतत्त्व को पचाकर उत्पन्न होने वाला स्थिति है।

'याऽत्र' तस्यान्वयात् काव्य कमनीयत्वमश्नुते।

रमणीयता एक विशेष व्यापक तत्त्व है और रस के बिना भी इसकी स्थिति सम्भव है। रमणीयता के लिए रस के आश्रय की अनिवार्यता नहीं है। रस के होने पर वह उसका घटक या विशिष्ट तत्त्व हो सकता है, परन्तु रस का अभाव होने पर भी वहाँ रमणीयता सम्भव है। ऐसा समझ लेने पर छोटे छोटे मुक्तकों में, जिनमें वस्तुतः कोई रसतत्त्व नहीं है, हम रस ढूँढने का मिथ्या प्रयास नहीं करेंगे। उसकी चारुता से ही प्रसन्नता अनुभव करेंगे। यह कहना कठिन है कि सौन्दर्य में किस तत्त्व या तत्त्वों के साथ हमारी चेतना का अनुसन्धान होता है। इसमें रसबोध भी हो सकता है जो बहुधा होता ही है। इसमें वातावरण की विशिष्टता और सघनता भी हो सकती है। इसमें रेखाओं का ललित लीला या रंग की आभा सुयोजित भी हो सकती है। आचार्य कुन्तक के कथन के अनुसार इसमें छोटे-बड़े वाक्यों का, समुदायों का, शोभा और आकर्षण में परस्पर स्पर्धा करने वाला संयोजन किसी स्थापत्यकृति की भाँति

भी हो सकता है। अर्थात् प्रकृति में लालित्य, चारुता, सौन्दर्य और मन्यता की विविध तथा अनर्गल सम्पत्ति भरी हुई है। ऐसी ही विविध, अनर्गल और नियमों के बन्धन से रहित सम्पत्ति रमणीयता की भी है। इतना स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन सबमें चेतना की किसी सूक्ष्म अवस्था तथा बाह्य पदार्थ (यहाँ कलाकृति से तात्पर्य है) के तत्त्वों का योग होता है। यह अवस्था अन्तर की ओर प्रकट हुई अथवा न थी और बाह्य पदार्थ के सम्पर्क से उत्पन्न हुई, या किसी रूप विशेष की थी और अन्य रूप में प्रकट हुई, इसका पता लगाना रसनिष्पत्ति के सदृश ही एक गूढ़ प्रश्न है।

अन्य कलाओं से साहित्य की प्रमुख भिन्नता यह है कि साहित्य में मानव व्यवहार की सामग्री का प्रवेश रहता है। मनुष्य की भिन्न भिन्न प्रकार की वृत्ति और अच्छे-बुरे कार्य उपादान के रूप में आते हैं। पात्र की वृत्ति अच्छी बुरी, पात्र अच्छे बुरे, कार्य अच्छे-बुरे, इन सबका विवेक विचार साहित्य में अपरिहार्य है और लगभग उसी भाँति अपरिहार्य है जिस प्रकार स्वर की कोमलता या रूक्षता का विचार संगीत में, अथवा पत्थर की जाति का विचार स्थापत्य में अनिवार्य है। कभी कभी साहित्य शुद्धाशुद्ध, शुभाशुभ कार्यों और वृत्तियों का संयोजन है और ऐसे संयोजनों में से कोई जीवन रहस्य स्फुरित हो जाता है या उत्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार आकाश के रंग, नीति विचार से निरपेक्ष चित्त में उतर आते हैं और उसे देखकर हम आह्लादित होते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार साहित्य की सीमा में आए चित्रों का नहीं होता। प्रजा की भावना या परम्परा में यास नीति के स्फुट या अस्फुट विचार व्यावहारिक कार्यों के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित हैं और इन्हीं संस्कारों से युक्त जीवन व्यवहार साहित्य में कला स्वरूप को धारण करता है। साहित्य के सौन्दर्यबोध में स्फुट या अस्फुट रूप से जीवन के मूल्य प्रविष्ट होते हैं, प्रविष्ट हुए बिना रह ही नहीं सकते और जिस भाँति वे जीवन मूल्य स्फुरित होते हैं उस पर भी इसके मूल्य का आधार रहता है। यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि जीवन मूल्य का अर्थ किसी समाज विशेष या काल-विशेष के पारस्परिक मूल्य ही नहीं हैं, पारस्परिक मूल्य से सर्वथा भिन्न या विरुद्ध मूल्य भी हो सकते हैं, और जीवन के मूल्य सौन्दर्य के घटक तत्त्वों के रूप में तथा सौन्दर्यरूप में उपस्थित होने चाहिए।

उच्चजीवन की कतिपय भावनाएँ सार्वजनीन हैं। प्रेम, मैत्री, समभाव, करुणा, दया, क्षमा, विनम्रता, आर्जव, धृति, सत्यकामना, सत्यनिष्ठा, कर्त्तव्यबुद्धि, अनासक्ति, समत्व, त्याग, इनमें से किसी एक का या अनेक का असाधारण दर्शन—कथनमात्र नहीं, उसका साक्षात्कार और प्रतिमान—हृदय के लिए अत्यन्त आह्लादक होता है।

अब हम विचारें कि साहित्य का स्वरूप, जीवनमूल्यों के स्फुरण और आह्लाद की उत्पादकता किस प्रकार एक साथ प्रथित हो सकते हैं। 'शाकुन्तल' के प्रथम अंक में मुग्धा यौवना के दर्शन से तथा सखियों के परिहास से सामाजिकों का मन अत्यधिक आकर्षित होता है और राजा के रीति रस्मों से परिचित पुरुष कुछ प्राकृत आकर्षण को प्राप्त करता है। इस अंक के दर्शन में आनन्द प्राप्ति होती है, किन्तु इसकी समग्र नाटक के सौन्दर्य विमर्श के आनन्द के साथ समरूपता नहीं दिखाई जा सकती। कोई नाटककार शकुन्तला के प्रत्याख्यान में ही नाटक का अन्त दिखावे, अथवा दोनों पक्षों से त्यक्ता शकुन्तला आत्महत्या करे, और तत्पश्चात् दुष्यन्त को पूर्व स्मरण हो, ऐसे संविधान की रचना करे, तो नाटक के रस में तो परिवर्तन

होगा ही, साथ ही मेरे मतानुसार उसके आनन्द तत्त्व में भी परिवर्तन आ जायगा। इस आनन्द में ग्लानि या व्यथा का मिश्रण होगा। मनुष्य मनुष्य रूप में दृढ़ और पराक्रमी होता है या केवल नियति की ही जय होती है, इस पर भी आनन्द के स्वरूप का आधार रहता है और कदाचित् यह आनन्द परलोकि का न भी हो। नाटककार प्रहसन या फारस लिखता है तो इसमें आकर्षण होता है, आनन्द भी होता है और कदाचित् दृप का उद्रेक भी होता है। नाटककार पूर्वोक्त शाकुन्तल के विषय में एक गूढ़ प्रश्न या जीवन वैषम्य को मूर्त करे तो उसमें भी सामाजिकों का चैतन्य विशालता और गुप्ता का अनुभव करके नये ज्ञान के बारे में—चाहे वह केवल प्रश्नरूप ज्ञान हो—विस्मित होता है, परन्तु उलझन में पड़कर, कलाकार के सुझाव से, जीवन के किसी अन्तिम या सनातन मूल्य की स्फुरणा से सच्चे स्वरूप में छूटने का अनुभव करने में ही वास्तविक आनन्दमय विश्रान्ति है। शाकुन्तल जैसी कृति में कारुण्यसमार्जित प्रणय दर्शन के आह्लाद के तत्त्व शुद्ध होते हुए सूक्ष्म होकर स्थिर मुग्धरूप में अनुभव किये जाते हैं। चेतना असाधारण चेतनमयता, व्यापकता और विश्वमैत्री का दर्शन कराती है, यही उत्कृष्ट आनन्दानुभव का रहस्य है। विश्व योजना में आध्यात्मिक ऋत के दर्शन से उसे परितोष होता है। करुण कृति में भी आर्द्रता के संवेग से व्यक्तिगत रागद्वेष और अन्य मानसिक रुकावटें दूर हो जाती हैं तथा आत्मशुद्धि के आनन्द का अनुभव होता है। उदारता, वीरत्व, त्याग, आत्मभोग आदि के साक्षात्कार में जीवन के अप्रत्यक्ष मूल्यों में श्रद्धा प्रकट होकर उदात्त जीवन की कृतार्थता की सूक्ष्म तृप्ति उपलब्ध होती है। अपूर्व संवेदना के उदय का विस्मय और प्रेमतत्त्व का विस्तार, अर्थात् प्रकाश, प्रीति और माधुर्य, उत्तम आनन्द के आधार हैं। कोलाहल, व्यग्रता, विह्वलता, आतुरता, आवेग आदि के बाद की शान्ति, प्रसन्नता, मुग्ता, मैत्री, प्रीति, भक्ति जैसे जीवन तत्त्वों का समावेश करता हुआ सूक्ष्म और मानों स्थिर आनन्द प्रशिष्ट कृति के समग्र सौन्दर्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान है। इसे पहचानना, इसका प्रत्यभिज्ञान करना, इसके लिए आतुर रहना और इसकी प्रतिपत्ति होने पर सहृदयों से निवेदन करना ही विवेचक का कार्य है।

●

१ चुन्नीलाल गांधी, विद्याभवन, सूरत को अगस्त १९५६ की बुलेटिन में प्रकाशित गुजराती लेख का अनुवाद अनुवादक प्रा० ए० एम० दसाई, एम० टी० बी० कॉलेज, सूरत।

अनन्त

आदर्श और यथार्थ : हिन्दी कथाकार

मनुष्य समाज में व्याप्त विकृतियों का निराकरण आदर्शवाद के अनुसार उन्हें जानकर दूर करना नहीं है, वरन् उन विकृतियों से परे ऐसे काल्पनिक रूप को सामने रखना है, जिससे व्यक्ति को आध्यात्मिक तुष्टि मिले, अर्थात् आदर्शवादी यह मानते हैं कि भौतिक जगत् में उद्भूत कठिनाइयाँ या पीड़ाएँ किन्हीं अलौकिक शक्तियों या जगत् से सम्बन्ध रखती हैं। वे सदा इस दु:खमय संसार और 'वर्त्तमान' से भागते हैं, क्योंकि उन्हें इससे विलग एक सुखी संसार की आशा रहती है। यह जीवन ही दु:ख का मूल है और उससे मुक्ति पाने का उपाय इस जीवन जगत् से दूर दूसरे जगत् की अवस्थिति को स्वीकार कर उसके ध्यान में मन को रमा देना है। व्यक्ति और समाज की पीड़ा का कारण किसी परा शक्ति में मान लेने से भौतिक जीवन को गौण मान लेना स्वाभाविक है। कोरे आदर्शवादियों ने सदा यही किया, इसी कारण मनुष्य के सम्मुख 'दिव्य' का रूप बड़ी तड़क भड़क के साथ रखा करने पर भी वे उसकी पीड़ाओं को नहीं कम कर सके।

जीवन भौतिक तत्त्वों के द्वन्द्व के कारण सम्भव है। मनुष्य जहाँ एक ओर प्रकृति से जन्म पाता है वहाँ वह उसके स्वरूप में परिवर्त्तन भी करता है। इस कारण भौतिक जगत् से असन्तुष्टि का अर्थ है जीवन के आधार को मानने से इन्कार करना। व्यक्ति के जीवन में उपस्थित 'क्यों' या 'क्या' का उत्तर इसी भौतिक जीवन से पाया जा सकता है। किन परिस्थितियों में मनुष्य किस तरह का व्यवहार करता है, एक ही परिस्थिति में रहने वाले व्यक्ति क्यों एक ही ढंग से विचार नहीं करते तथा यदि समाज का ढाँचा बदलता जाय तो मनुष्य की क्रियाओं और विचार शक्ति में किस प्रकार का परिवर्तन होगा, ये सारी बातें मनुष्य के अन्तःकरण और बाहरी उपकरणों के उन पर प्रभाव का ढंग जान लेने पर ही अज्ञात से ज्ञात हो सकती हैं। पश्चिम में भौतिक जीवन के महत्त्व को पूरी स्वीकृति मिलने के कारण इन समस्याओं पर अधिक विस्तार से विचार होता रहा। इसी भौतिकता की स्वीकृति के बाद ही मनुष्य ने साहित्य में केवल 'दिव्य' का गुण गान न करके स्वयं की पीड़ा की व्याख्या प्रारम्भ की। आज वह अनुभव करता है कि समाज की प्रणाली में भरे दोषों को विनष्ट करने का मार्ग समाज से अलग दूसरे पारलौकिक समाज की कल्पना में तल्लीन होना नहीं है, वरन् समाज की प्रणाली का ही आमूल परिवर्त्तन है।

कथा साहित्य में यथार्थवाद का मूल खोजने के लिए हमें बोकेचियो (Boccacio १३१३-७५) के 'डीकैमरॉ' (Decameron) तक जाना पड़ेगा। वही पहला कथाकार था, जिसने समाज की समस्याओं को व्यंग्यात्मक रीति से चित्रित किया। उसके व्यंग्य और

यथार्थ से घबराकर कुछ देशों के नैतिकतावादी उसकी कथाओं में 'कुत्सा' घोषित कर उसकी कृतियों को अवैध कराने का यत्न कर रहे हैं। वोरेन्चियो के तात्कालिक यथार्थवाद और वर्तमान यथार्थवाद के बीच कितनी ही खाइयाँ बन गई हैं। अँग्रेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ लिगुई और कज़ामियाँ का तो यहाँ तक कहना है कि 'तर्कपूर्ण ढंग से कला को अभिव्यक्त कर सकने वाला हर प्रयत्न किसी न किसी यथार्थवादी स्वरूप से ही सम्बन्धित होता है।'

साहित्य में यथार्थ के दो रूप मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्तों के पश्चात् प्रचलित हुए। इन दोनों सिद्धान्तों ने जिस भाँति मनुष्य समाज की पिछली मान्यताओं को गलत साबित किया, उसी प्रकार साहित्य के कोरे आदर्शवादी रूप को भी धक्का दिया। मार्क्स ने इतिहास के वर्ग द्वन्द्व को सिद्ध किया। उन्होंने इस वर्ग युद्ध के परे के मार्ग का ओर भी संकेत किया था, यानी उन्होंने वर्ग-युद्ध को कोई चिरन्तन नियम नहीं माना था। वास्तव में उस द्वन्द्व को वे समाप्त करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त प्रकृति या सौर मण्डल के कार्य और प्रभावों का कारण भी उन्होंने समझने का यत्न किया और अन्त में भौतिकवाद को ठीक मार्ग माना। एक ओर जहाँ उन्होंने समाज के वर्ग युद्ध को समाप्त करने की बात कही, वहीं व्यक्ति का विकास अबाध रीति से हो सके इसके प्रति भी सचेत रहे, किन्तु उनके सिद्धान्तों को कम्युनिस्ट सरकारों के बनने के बाद गलत ढंग से मान लिया गया। फल यह हुआ कि व्यक्ति को नहीं, महत्त्व राज्य को दिया जाने लगा और राज्य ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को काफी क्षति पहुँचाई। राज्य का शक्तिवान होना जरूरी है, किन्तु ऐसा नहीं कि व्यक्ति का विकास रुक जाय। मार्क्स के दर्शन को अधूरा ही समझने के कारण कम्युनिस्ट साहित्य शास्त्र आगे चलकर राजनीति से अपना सम्बन्ध ज्यादा रखने लगा, किन्तु यह निर्विवाद है कि समाज के दुःख दर्द को और दलित की पीड़ा को समझने में मार्क्सीय दर्शन ने अभूतपूर्व योग दिया।

फ्रायड ने मनुष्य जीवन के कुछ ऐसे सत्य प्रमाणों सहित बताये कि नैतिकता की दुहाई देकर समाज-सुधार में विश्वास करने वाले लेखक उन्हें तरह तरह की गालियों से विभूषित करने लगे। पहले फ्रायड की किताबों को जलाया गया, उन्हें अवैध और अनैतिक ठहराया गया, किन्तु धीरे धीरे उनकी सत्यता का रहस्य जानने पर गलती मानी गई। मानी किसने नहीं— यान्त्रिक मार्क्सवादियों या कुत्सित समाज शास्त्रियों ने। उन्होंने समझा कि फ्रायड 'पशुवाद' के प्रचारक हैं, किन्तु फ्रायड ने सिद्ध कर दिया कि ऊपर से चाहे जितनी सफेदपोशी आदमी ने कर ली हो, वह अन्दर ही अन्दर घुट घुटकर जी रहा है और उसका कारण है उसकी कामनाओं की अतृप्ति। व्यक्ति की तुष्टि के लिए 'काम' की तुष्टि ही एकमात्र मार्ग है। यहाँ तक तो ठीक था, किन्तु जब उन्होंने समाज को भी व्यक्ति के विकास में बाधा माना तो उनका दृष्टिकोण एकांगी हो गया। समाज स्वयं व्यक्ति के विकास को हानि नहीं पहुँचाता, वरन् समाज की व्यवस्था पहुँचाती है। जरूरत समाज से विद्रोह की नहीं, बल्कि समाज की मौजूदा प्रणाली से है। फ्रायड ने इसे अस्वीकार किया, इसी कारण उनके शिष्यों तक ने उनसे मत वैभिन्न्य प्रकट किया। किन्तु मनुष्य की मनःस्थिति को समझने में उन्होंने महान् योग दिया, उसके उपचेतन को खोलने का यत्न कर मनुज की पीड़ा का कारण बतलाया। साहित्यकारों ने भी जहाँ फ्रायड के सत्य को अपनाया, वहीं उनकी कमजोरी से भी वे न बच सके और इसीलिए समाज और व्यक्ति का सन्तुलित सम्बन्ध स्थापित करने के बदले व्यक्ति के अवचेतन को टटोलना ही अनेक साहित्यकारों

का धन्धा हो गया।

प्रेमचन्द किसी 'वाद' में नहीं बँधे। उन्होंने जन के दुःख दर्द की अनगिन कहानियाँ कहकर मनुष्य में अपनी अपार आस्था प्रकट की थी। 'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' तक वे आदर्शवाद को अपना मार्ग मानते थे, वैसे इन उपन्यासों में भी युग सत्य का जो चित्रण हुआ है वह यथार्थवादी है। हां, वे ज़ोला या मोपासाँ की तरह सत्य को नहीं देख सकते थे, क्योंकि वह उनका रास्ता ही नहीं था। इससे कला और यथार्थ दोनों को क्षति पहुँची है, किन्तु मनुष्य के देवत्व में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए यही मार्ग भी है। 'कफ़न' और 'बड़े घर की बेटी' जैसी कहानियाँ जीवन के सत्य को चीख चीखकर कहती हैं, लेकिन वे यह भी बतलाती हैं कि उनका लेखक केवल सत्य को ही नहीं देखता, यदि उस सत्य से मनुष्य को क्षति होती है तो वह उनसे आगे की बात भी सोचता है और वह है मनुष्य की महानता। 'मन्त्र' और 'सुजान भगत' इसके प्रमाण हैं। 'गोदान' के पात्र भी केवल आदर्शों के लिए नहीं जीते, वे मनुष्य की अच्छाई-बुराई को अपने में समोकर जी रहे हैं।

प्रसादजी का क्षेत्र दूसरा था, किन्तु 'कंकाल' और 'तितली' में उन्होंने अपनी जनता का साथ दिया था, यहाँ तक कि अपने ऐतिहासिक पात्रों के मुख से अपने युग के जीवन में सुधार और देश प्रेम का भाव व्यक्त कर उन्होंने अपने भीतर की छटपटाहट को ही प्रकट किया। गुलेरीजी की कहानी *'उसने कहा था' कला की दृष्टि से ही नहीं जीवन सत्य की दृष्टि* से भी सदा स्मरण की जायगी। प्यार, त्याग और शौर्य जैसी वृत्तियों को लहना के चरित्र में पिरोकर कहानीकार ने एक अमर पात्र की रचना की थी।

प्रेमचन्द के समय तक उनका व्यक्तित्व समूचे कथा साहित्य पर इस प्रकार छाया हुआ था कि अनेक अन्य श्रेणियों के कथाकारों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित नहीं हो सका था। नग्न यथार्थवाद के समर्थक उग्र, चतुरसेन, सर्वदानन्द वर्मा और ऋषभचरण जैन उनके समय से ही लिख रहे हैं। नग्न यथार्थवादियों ने जो कुछ लिखा वह समाज में व्याप्त घृणित यथार्थ का पूरा या सही चित्र नहीं बन सका था (सचाई उससे कहीं ज्यादा थी), पर उनकी 'नग्नता' के प्रति उतनी ही प्रीति साहित्यिक सीमा को लाँघ गई थी। अब भी उग्र और चतुरसेन लिख रहे हैं और 'जीजी जी' में उग्र अपनी पूर्व परम्परा से कुछ हटे प्रतीत होते हैं। *चतुरसेन ने* अपने पास 'वतमान' से 'वस्तु' को खोज सकने का झंझट छोड़कर *इतिहास या पौराणिकता* की ओर रुख कर लिया है। *'वैशाली की नगर वधू'* और *'वय रक्षाम'* जैसे भारी भरकम उपन्यास लिखकर उन्होंने इतिहास की 'प्रामाणिक' घटनाओं को कलाबद्ध करने के प्रयत्न में अनेक कल्पित और श्रुत घटनाओं से ही उन्हें भर दिया है।

जैनेन्द्र का मार्ग अलग था। उन्होंने पारिवारिक जीवन में व्यक्ति की मन स्थिति को समझने का यत्न किया। उनका एक आदर्श भी रहा जो अद्वैतवाद और गाँधीवाद को मिलाकर खड़ा किया गया था। नारी के जीवन की पीड़ा को निखारने का आरम्भ जैनेन्द्र ने ही किया और वह ढंग प्रेमचन्द से भिन्न था। प्रेमचन्द की पद्धति समाज शास्त्रीय थी, जैनेन्द्र की भावनामयी। उन पर रवि बाबू के पात्रों का प्रभाव भी पड़ा, किन्तु एक तो इस कारण कि उनकी भाषा सरल दीखने पर भी वक्र रेखाओं की भाँति घूम गई थी, दूसरे गाँधीवादी प्रभाव से भी उनके पात्रों में वह शक्ति नहीं आई जो रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में थी। जीवन के प्रति

अनास्था भी जैनेन्द्र में कहीं कहीं मिलती है।

जैनेन्द्र के व्यक्तिवाद को अज्ञेय ने ठीक मार्ग माना है। वे समाज के बन्धन को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे पश्चिम के दार्शनिकों, विशेषकर फ्रायड और अन्य मनोविश्लेषणवादियों तथा बर्ट्रेंड रसेल से प्रभावित हैं, जिनका खयाल है कि समाज का बन्धन व्यक्ति के विकास को रोकता है। उनके लिए समाज-व्यवस्था से व्यक्ति के नैतिक स्तर या व्यक्तित्व का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'शेखर एक जीवनी' तक तो गनीमत थी कि वे दुःख दर्द को मिटाने के लिए, वैयक्तिक विद्रोह ही सही, चाहते थे, पर 'नदी के द्वीप' में समाज को बिल्कुल अलग करके व्यक्ति का असली 'विकास' दिखाया गया है। कुछ कहानियों में अवश्य, विशेषकर 'जयदोल' और 'शरणार्थी' में, समाज से रिश्ता कायम रखा गया है, किन्तु अधिकतर वे शून्य (Vaccum) में ही अपनी कला की पैंतरेबाज़ी दिखाते रहे हैं। बिना समाज गठन को परिपार्श्व में रखे व्यक्ति को समझ सकने का दम भरना मात्र अहम् है। अज्ञेय इसके शिकार हैं।

इलाचन्द्र भी फ्रायडियन दृष्टिकोण को उचित मानते हैं, किन्तु उन्होंने अपने को एक बाड़े में बन्द नहीं कर लिया है और यही कारण है कि जहाँ 'काम' को समस्या के रूप में मान कर उन्होंने उसका विश्लेषण किया वहीं वे जन जीवन के प्रति भी आँख मूँदकर नहीं रह सके। वे देखते हैं कि समाज में बड़ी पीडा है, पर उससे निस्तार पाने का मार्ग क्या है यह वे नहीं कहते। शायद वे सोचते हैं कि यह पीडा तो चिरन्तन है। यह लगभग उसी तरह का विचार है जैसे मायावादी कहते हैं कि यह तो भगवान् की लीला है, मनुष्य इस जंजाल से नहीं छूट सकता। यदि वस्तुस्थिति को उसके असली रूप में चित्रित कर देना ही सब कुछ मान लिया जाय तो 'जहाज का पंछी' एक महान् कृति है, किन्तु यही कलाकार का अन्तिम दायित्व नहीं है। मार्ग की ओर संकेत जरूरी है। हाँ मार्ग का प्रच्छन्न होना और भी जरूरी है। पर अगर मार्ग की ओर संकेत न हो तो 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' के लेखक भगवतीचरण वर्मा की भाँति उसे कोई मार्ग दीखेगा ही नहीं। भगवती बाबू एक कुशल शिल्पी हैं, किन्तु जहाँ तक वस्तुस्थिति या मन स्थिति का विश्लेषण कर मौन हो जाने का प्रश्न है वे जोशीजी के ही समान हैं। भगवती बाबू ने 'चित्रलेखा' में कहा—पाप और पुण्य कुछ नहीं है, 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में वे बोले—जितने भी रास्ते हैं सभी बेकार हैं, और 'आखिरी दाँव' में सिनेमा जगत् का नक्शा खींचकर मौन साध लिया गया है। प्रश्न यह नहीं है कि ये लेखक क्यों तडक भडक के साथ क्रान्ति की आवाज क्यों नहीं उठाते, पर इतना ज़रूर है कि वे पाठक को कोई सन्देश क्यों नहीं दे पाते।

'विदा' और 'विजया' के यशस्वी लेखक प्रतापनारायण श्रीवास्तव भी समय के साथ नहीं बढ सके। उन्होंने पूर्व जन्म और आत्मवाद को ही अपनी उपन्यास कला का साध्य माना। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द काल के लेखकों और उसके बाद के कथाकारों में भी वे ही ये जिन्होंने हिन्दू इसाई हृदयों को प्रेम सूत्र में बाँधने की ओर ध्यान दिया था। 'विसर्जन' उनकी पहले की मान्यताओं में कोई फर्क नहीं डालता।

समाज या व्यक्ति के यथार्थ को दृष्टि में रखकर कुछ लेखकों की कृतियों का मूल्यांकन सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्होंने इतिहास से अपने कथानक चुनकर उनमें नये आदर्शों को खड़ा किया है।, ऐसे लेखकों में वृन्दावनलाल वर्मा का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वर्माजी की कलम ने पिछले दो सौ वर्षों के बुन्देलखण्ड को नवीन और जीवन्त रूप देकर अमर कर दिया

है। उनकी लक्ष्मीबाई, कचनार, विन्नी, लाली, हेमवती और कुमुद बुन्देलखण्ड की धरती की उपज होती हुई भी भारतीय संस्कृति के गौरव की प्रतीक हैं। इतिहास के प्रति उनका जो दृष्टिकोण है उससे सहमत होना कठिन है, किंतु उनके पात्रों में जीवन के प्रति जो आस्था और उनके व्यक्तित्व में प्रकृति के बीच में जीने के कारण जो आकर्षण है वह हिंदी के लिए ही नहीं समूचे भारतीय साहित्य के लिए आदर्श की चीज है। हजारीप्रसाद की 'बाणभट्ट की आत्म कथा' उनकी विद्वता और बहुज्ञता को तो प्रकट करती ही है, काफी सीमा तक बाणभट्ट के युग का चित्र भी बड़ा सफलता से पेश करती है। द्विवेदीजी यदि भारतीय संस्कृति की महानता को सकारते हैं तो उसकी दुर्बलताओं से भी इनकार नहीं करते।

इन लेखकों के अतिरिक्त समाज के सुख दुःख को अपने साहित्य का माध्यम बनाने वाले लेखक मार्क्सवादी वर्ग में उठे। उन्होंने सामाजिक प्रणाली की विद्रूतावस्था को पहचानकर उसके बदले एक नई व्यवस्था की कामना प्रकट की। व्यक्ति को समाज से अलग काटकर देखने की गलती भी उनसे नहीं हुई और अध्यात्मवाद तथा रहस्यवाद को भी वे नहीं अपना सके। इसका फल यह हुआ कि भौतिक जीवन को अधिक निकट से देखने के कारण उन्होंने मनुष्य से प्यार किया, उसको पशु नहीं माना, न ही इसके लिए बहुत चिन्तित हुए कि 'व्यक्ति का हक' मारा जा रहा है। जन साधारण की विपत्ति और पीड़ा को, जिसे प्रेमचन्द ने असाधारण ढंग से व्यक्त किया था, इन्होंने और भी निखारा तथा युग के दर्द से भी अपना सम्बन्ध बनाए रखा। मार्क्सवादियों की इस देन को स्वीकार करना ही होगा।

मार्क्सवाद से प्रभावित लेखकों ने जन समाज के संकटों के प्रति तो ध्यान दिया, पर उन्होंने मौजूदा समाज के बदले उन्होंने जो आदर्श रखा वह रूस का था। सभी ने ऐसा नहीं किया, पर अधिकांश इसी पद्धति पर सोचते रहे कि रूसी समाज ही एकमात्र नियति है। ऐसा सोचने के कारण अपनी संस्कृति के स्वस्थ तत्वों को भी अनदेखा करना लाजिमी था। प्रत्येक देश या समाज अपनी प्राचीन संस्कृति से नाता तोड़कर कभी जीवित नहीं रह सकता, वर्तमान और अतीत का एकसूत्रीय गठन उतना ही आवश्यक है जितना वर्तमान और भविष्य का। दूसरी गलती मार्क्सवादियों ने यौन सम्बन्धी विषय में की। यहाँ तक तो उचित था कि परम्परागत विकृत यौन धारणा पर प्रहार करते, झूठी नैतिकता का पर्दा उठा देते, धार्मिकता और सफेदपोशी की आड़ में होने वाले कदाचार के प्रति जन में घृणा उपजाते, किन्तु यह और भी जरूरी था कि उन सब घृणित आचारों के स्थान पर एक नई स्वस्थ यौन भावना और सम्बन्धों का रूप खड़ा करते, जो वे पूरी सफलता से नहीं कर सके। मार्क्सीय दर्शन से प्रभावित लेखकों ने मध्यवर्ग को भी सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखा। जरूरत मध्यवर्गीय घुटन और बनावटी जिन्दगी से संवेदना प्रकट करने की नहीं है, पर मध्य वर्ग ही समाज के बुद्धिजीवियों का सबसे बड़ा खजाना है, जरूरत यह सत्य भुला देने की भी नहीं है।

सबसे पहले राहुल सांकृत्यायन ने ही मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कहानी और उपन्यास लिखे। 'वोल्गा से गंगा' के प्रकाशन पर कई आलोचक तो बेतरह घबरा गए थे कि आर्यों के इस पवित्र देश में इस तरह की परम्परा विरुद्ध पुस्तकों की क्या जरूरत? इस ग्रन्थ में राहुल ने बड़ी कुशलता से मनुष्य के इतिहास को कहानियों में लिखने का प्रयास किया था। कहानी इतिहास नहीं हो सकती, कल्पना का समावेश उसमें अवश्य रहेगा, 'वोल्गा से गंगा' में भी यही

था। पर भगवतशरण उपाध्याय इसलिए नाराज हो गए कि उसमें 'साहित्य नहीं था और इतिहास भी सर्वथा गलत था' और रामविलास इसलिए कि उसमें ब्राह्मणों के प्रति रिआयत नहीं की गई थी। उसके बाद ही रामविलास ने राहुल के विरुद्ध सम्प्रदायवादी होने का गलत आरोप लगाया था। 'सिंह सेनापति', 'जय यौधेय' उनके दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास हैं। पर यह एक सत्य है कि कला की दृष्टि से राहुल बहुत ऊँचे नहीं उठ पाते।

मार्क्सवादी साहित्य शास्त्र की गहराइयों में पैठकर समाज और व्यक्ति के प्रश्नों का हल खोजने में यशपाल एक समर्थ कलाकार हैं। उनके साहित्य को पढ़ने पर हमारे दिमाग में मार्क्स या मार्क्सवाद नहीं आते, आता है अपने इस देश की दरिद्रता का चित्र, घुटन और गलाजत। समाज के यथार्थ को प्रेमचंद के बाद यशपाल और रांगेय राघव से अधिक समझने में अन्य कोई समर्थ नहीं हुआ। व्यंग्य और विद्रूप करने में यशपाल समूचे साहित्य में बेजोड़ हैं। 'पिंजरे की उड़ान' से 'उत्तमी की मां' तक कहानियों का ऐसा स्रोत है जो हमारे पराधीन और स्वाधीन भारत की उथल पुथल को सामने रखता है। 'मंगला', 'हलाल का टुकड़ा', 'दूसरी मुराद के लिए' जैसी कहानियों का यथार्थ पाठक को भीतर ही भीतर कचोटकर रख देगा। पर 'मनुष्य के रूप' और 'देशद्रोही' न अपने अपने युग का चित्र उपस्थित करते हैं, न हमें अनाचार से लड़ने की प्रेरणा देते हैं। यशपाल प्रकृतवादियों से भी बहुत प्रभावित हैं। उन्होंने सेक्स के प्रति वही दृष्टिकोण रखा है जो फ्रेंच प्रकृतवादियों का था। अपनी कहानियों में तो उन्होंने समाज और व्यक्ति की समस्याओं को बड़ी पैनी दृष्टि से देखा, किन्तु उपन्यासों में वे यौन सम्बन्धों की विकृतियों का चित्रण करते करते-उसमें रस लेने लगे।

रांगेय राघव ने भरसक अपने को यशपाल की इस कमजोरी से बचाया। उनका 'घरौंदे' शिल्प की दृष्टि से हिन्दी के लिए नई चीज थी। भाषा और शैली के नयेपन ने पाठकों को मोह लिया था। रहमान के चरित्र में कमरे में बैठकर क्रांति की बात सोचने वाला पर व्यंग्य होने से एक मार्क्सवादी आलोचक नाराज हो गए, पर वह एक सत्य था, इसलिए सारे विरोधों के बावजूद उन्होंने जनता के जीवन को अपने साहित्य में सदा ही उतारा। 'विषाद मठ' में बंगाल की आकुल मानवता की छटपटाहट का एक भयंकर सत्य उन्होंने उपस्थित किया। स्वाधीनता के बाद लिखा गया 'हुजूर' लघु उपन्यास होने पर भी अधिक-से अधिक समाज की यथार्थता को समोने का सफल प्रयत्न था। हिन्दी में तो नहीं ही, शायद भारतीय साहित्य में भी इतने कम में इतना अधिक कह सकने वाला कोई उपन्यास नहीं लिखा गया। वर्ग द्वंद्व के चित्र के कारण बौखलाए अहिंसा और समझौतावाद की दृष्टि से इतिहास को देखने वाले लोगों ने 'मुर्दों का टीला' उपन्यास का महत्त्व भरसक कम करने का नारा लगाया पर, सच्चाई यह है कि आर्य और द्राविड़ संस्कृतियों के मिलन को दिखलाने का बड़ा ही कुशल प्रयास इसमें था। इतना सब होते हुए भी रांगेय राघव ने अभी किसी ऐसे चरित्र का निर्माण नहीं किया जो सर्वयुगीन महत्त्व का हो।

नागार्जुन के उपन्यासों में स्थानीय रंग (Local clour) अधिक मिलता है, इसीलिए उनके पात्रों में ग्रामीण जीवन की उदासी और सुकून, प्रीति और डाह के जो दृश्य दिखलाई पड़ते हैं वे यथार्थता के इतने निकट होते हैं कि हम उन्हें पढ़ते समय उनके व्यक्तित्व में अपनी तस्वीर देखते हैं। पर यह स्थानीय तत्त्व हार्डी के उपन्यासों से भिन्न है। हार्डी ने कुछ पात्रों को लेकर यह दिखलाना चाहा कि नियति के नियम में बँधा जीवन अन्त में पीड़ा का कोष ही है, नागार्जुन

पीड़ा को, नियति को भी मनुष्य के जीवन से ऊपर नहीं मानते, उनका ध्यान पीड़ा को देख सकने पर भी उसके कारण व्यवस्था पर सदा रहता है। मिथिला की ग्रामीण जनता के दुःख और पीर को नागार्जुन से अधिक शायद ही कोई जनता हो। नगर के जीवन का ज्ञान उनको कम है। इसके विपरीत यशपाल और रांगेय राघव का शहरी ज़िन्दगी का अध्ययन बहुत गहरा है।

मन्मथनाथ की कहानियाँ ही उनको यथार्थवादी सिद्ध करती हैं। वे एक ओर तो व्यक्ति को यवसा की उपज मानती हुई उसके भीतरी भावों—प्रेम, इर्षा—को भी कला के माध्यम से समझने का यत्न करता हैं, दूसरी ओर उनमें विद्रूप और तीखापन भी मिला होता है। इस दृष्टि से 'शिवादानी का अन्त' एक श्रेष्ठ रचना है।

'अश्क' से रामविलास बहुत नाराज़ रहते हैं और शिवदान अति प्रसन्न। 'गिरती दीवारें' को भी रामविलास कोई महत्व देने को तैयार नहीं, जबकि यह उपन्यास पंजाब के मध्यवर्गीय जीवन को काफी निकट से देखता है। कम्यूनिस्ट दर्शन के अनुसार मध्यवर्ग प्रतिक्रियावादी है, इस कारण रामविलास इस वर्ग के जीवन के बारे में कुछ भी सुनना बरदाश्त नहीं कर सकते, पर यह भी एक सत्य है कि बावजूद अपनी कमजोरियों के मध्य वर्ग समाज की बौद्धिक शक्ति है। लेकिन 'अश्क' गोर्की भी नहीं है, जैसा कि शिवदान का कहना है। गोर्की ने यदि अपने युग यथार्थ को पहचाना था तो वह जीवन के यथार्थ को भी अधिक जानने थे। 'अश्क' की 'बड़ी बड़ी आँखें' तो व्यथा और संगीत के क्रिया कलापों से ही बखान कर रह जाती है। फिर 'नदी के द्वीप' की असामाजिकता से अश्क क्यों नाराज़ हैं?

'मया का घासला' में पहाड़ी ने भी पहाड़ी जीवन के दर्द को व्यक्त किया था। वे यदि मार्क्स से प्रभावित हैं तो फ्रायड से और अधिक। 'हिरन की आँखें' की कहानियाँ इसका प्रमाण हैं। उनके पास शिल्प की भी कमी है।

विष्णु प्रभाकर की दो कहानियाँ 'धरती अब भी घूम रही है' और 'नचिकेता' उनकी कहानी कला के विकास की ओर स्पष्ट संकेत हैं। गांधीवाद से प्रभावित प्रभाकरजी के सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। नौकरशाही पर जैसा व्यंग्य 'धरती अब भी घूम रही है' में है वैसा इधर कई वर्षों से हिन्दी कहानी में नहीं देखा गया था। 'नचिकेता' बाल मनोविज्ञान और जीवन सत्य का ऐसा घुला मिला रूप है जो हमारे अन्तरमन को झकझोर देता है। सरल, सीधी भाषा में इतना तनाव 'कथादमेवद' हिन्दी कहानीकारों में नहीं मिलता। अमृतराय की भाषा भी ललित विषयों से प्रेम रखने वाले कवि की भाँति सरस है, किन्तु 'बीज' में ऐसा लगता है जैसे भाषा की सरसता का लेखक ने अधिक ध्यान रखा है, समाज सत्य की ओर कम। व्यक्ति के जीवन को घेरकर उसका गला घोंटने वाली समस्याओं की ओर ध्यान खींचा था कृष्ण नन्दन सिन्हा ने। उनके 'हरदम आग' में शहरी ज़िन्दगी की छटपटाहट साफ़ तौर से नज़र आती है।

निर्गुण ने मनुष्य की उदात्त वृत्तियों को अपने पात्रों के माध्यम से मुखरित कर ऐसे आदर्श की सृष्टि की कि मनुष्य में हमारा विश्वास बढ़े। 'सावुन' कहानी का प्यार, भाभी और देवर का निश्छल सम्बन्ध इतना प्रभावशाली है कि पाठक पढ़कर सोचता है—अर्थ संकट के चक्र में पड़ने पर भी जीवन कितना आनन्दमय है! पर निर्गुण में कहीं कहीं अन्धविश्वासों के प्रति भी आसक्ति दिखलाई पड़ती है। 'खिरमसादलिंट' में गाँव का दुख दर्द कहने पर

भी 'निर्गुण' की तरह मन्त्रों के बल पर खराब गले के तुरन्त ठीक हो जाने जैसे उदाहरण नहीं मिलते। यहाँ तक तो ठीक है कि शिवप्रसाद रेखाचित्र बनाते चलते हैं, पर इन रेखाचित्रों का 'लक्ष्य' क्या है यह साफ नहीं हो पाता। कला का लक्ष्य पूरी तरह से स्पष्ट नहीं होना चाहिए, मानता हूँ, किन्तु इतना तो होना ही चाहिए कि पाठक उसे खोजकर पा ले। इस दृष्टि से देखने पर कमल जोशी भी शिवप्रसाद जैसे ही हैं। जोशीजी व्यक्ति के भीतर देख पाते हैं, उसकी बेचैनियों को भी बड़ी कुशलता से व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु वे व्यक्ति से उसकी वर्तमान स्थिति के बाद भी कुछ चाहते हैं यह स्पष्ट नहीं है। इसी कारण उनकी कहानियों को पढ़ने के बाद कुछ साफ तरह से नज़र नहीं आता, यदि आता है तो उस एक प्रश्नचिह्न? राजेन्द्र यादव की बात समझ में आती है, यानी अगर वे व्यंग्य के माध्यम से ही कहते हैं तो भी 'लक्ष्य' ऐसा प्रच्छन्न नहीं रहता कि वह कहीं मिले ही न। उनके साथ कठिनाई यह है कि अभी वे यह नहीं निश्चय कर पाए हैं कि प्रगतिवाद या प्रयोगवाद में कौन सही रास्ता है और यदि ये दोनों ही नहीं हैं तो क्या है? वैसे लेखक के यथार्थवादी दृष्टिकोण से वे प्रभावित हैं।

हाल के ही कथाकारों में रेणु और कृष्णा सोबती के नाम सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। रेणु का 'मैला आँचल' प्रेमचन्द के उपन्यासों के बाद हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ यथार्थवादी उपन्यास है। एक ग्राम को केन्द्र बनाकर लेखक ने समूचे भारतीय जीवन के पिछले तीन दशकों की उथल-पुथल को जिस भाषा में लिखा है वह भारतीय साहित्य में अपना अलग स्थान रखता है। बिलकुल गाँव की भाषा, गाँव के ही पात्र और ग्रामीण जीवन में धीमे धीमे होने वाले परिवर्तनों को रेणु ने एक कुशल शिल्पी की भाँति खड़ा किया है। लेखक की दृष्टि केवल वस्तुस्थिति को देखकर नहीं रह गई है, वह आस्था की ओर भी देखती है और यही कारण है कि डॉक्टर का चरित्र अन्त तक पहुँचकर मानवीय तेज और त्याग का असाधारण पुञ्ज लगता है। उपन्यास के अन्त पर कलात्मक त्रुटि या कोरे आदर्शवाद का दोष लगाया जा सकता है, पर यह निर्विवाद है कि 'मैला आँचल' हिन्दी कथा साहित्य के इतिहास में एक कीर्ति-स्तम्भ की भाँति सदा रहेगा जैसे कि 'गोदान' है, 'शेखर' है, 'चित्रलेखा' और 'जहाज का पंछी' है। सोबती का क्षेत्र रेणु से तनिक भिन्न है। परिवार, उसका दुख दर्द, विछोह, व्यक्ति की छटपटाहट को सोबती खूब जानती हैं। उनकी कहानियों की टीस हमें हार्डी और शरत् की याद दिलाती है। सोबती के लिए पीड़ा ही जीवन का सत्य है। उस सत्य की तीव्र अनुभूति और कुशल अभिव्यक्ति देकर लेखिका पाठक के अन्तरमन को गीला कर सकती है। खिंचाव साधारणतया कहानियों में शक्ति नहीं हो पाता, किन्तु सोबती में वह है।

समाज सत्य और यथार्थ को कथा साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्ति देने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण लेखकों में अमृतलाल नागर, बेनीपुरी, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा, मोहन राकेश, कमलेश्वर, ओंप्रकाश और कृष्णदास आदि हैं।

प्रयोगवादियों का अपना अलग अस्तित्व है। उन्होंने एक दूसरा ही मार्ग बनाया है और उसको सही सिद्ध करने के लिए उनका प्रगतिवादियों से वैचारिक द्वन्द्व जारी है। इसी लिए प्रगतिवादियों ने इन्हें बहुत गाली दी। कारण यह था कि इनमें ऐसे अनेक लेखक थे जो 'कम्यूनिज़्म' का विरोध करते थे। विरोध काफ़ी हद तक ठीक था, यह मौजूदा पूर्वी यूरोप और सोवियत के संघर्ष से स्पष्ट हो गया है। प्रयोगवादियों ने भाषा, भाव और कला के क्षेत्र में जो एक

रखता (stereotypedness) हो गई थी उसे नष्ट कर नवजीवन दिया, इसे न मानने का अर्थ है युद्धकालीन और युद्धोत्तर हिन्दी साहित्य के सबसे बड़े सत्य से इन्कार करना। यहाँ तक ठीक है कि इन्होंने कम्यूनिज़्म का विरोध किया, क्योंकि किसी भी सिद्धान्त का विरोध करना गलत नहीं है, किंतु उसके स्थान पर 'क्या होना चाहिए' यह न बता सकना ही गलत है। प्रयोगवादियों से यह गलती हुई। इस कम्यूनिज़्म विरोध के स्वरूप ने धीरे धीरे टनल टी का रूप ग्रहण कर लिया, इस तरह से जिस चीज के लिए कम्यूनिस्ट लेखकों से इनका विरोध आरम्भ हुआ था कि लेखक को पार्टीज़न (partisan) नहीं होना चाहिए (और जो ठीक भी था) वही चीज इन्होंने अपना ली। इसी कारण भाषा, शिल्प और भावों को इकट्ठा कर जुकन के बाद इनके यहाँ जिस चीज की कमी पड़ गई वह थी 'वस्तु', यानी इन सब चीजों के माध्यम से क्या कहा जाय? जिस तरह कम्यूनिस्ट लेखकों के आदर्श गोर्की, शोलोकोफ, नेरूदा और नाज़िम हिक़मत थे, उसी तरह इनके लिए आदर्श यूरोप से ही लिये गए, जैसे कामू, लारेन्स, प्रूस्त, ऑरवेल आदि।

धर्मवीर भारती के पास कवि का हृदय है, भाषा भी है, पर एक तो इसलिए कि मार्क्सवाद का विरोध करना वे अपना कर्तव्य मानते हैं, दूसरे मध्यवर्ग के अतिरिक्त वे अन्य किसी से अपना सम्बन्ध नहीं रखते, उनके यहाँ कमी हुई यथार्थ की। 'पृथ्वी और स्वर्ग' की कहानियों में जिस अजाने देश के पात्रों को गढ़ने जैसा प्रयास था, आगे चलकर उन्हीं का विकास हुआ। उनके पात्रों का व्यक्तित्व अवश्य तो इसी जगत् का लगता है पर अधिकांशतः वे हमारे बीच में नहीं लगते। जैसे बादल से कभी कभी बड़े मनहर चित्र बन जाते हैं पर इनमें स्थायित्व नहीं होता उसी तरह भारती के पात्र हैं। वे मध्यवर्ग के सुख दु:ख को हमारे सामने रखना चाहते हैं, पर उसका भी चित्र अपनी समस्त पीड़ाओं सहित, जो हमें अपनी शक्ति से सोचने को मजबूर करे, कम ही दे पाते हैं। इसके लिए भाग है अत्यधिक रोमानियत या भावुकता से निस्तार पाना।

डॉ० देवराज ने भारी भरकम उपन्यास 'पथ की खोज' लिखकर अपना भीतरी उथल पुथल को ज़ाहिर किया था। तीसरे भाग के अन्त तक अंतिम बात नहीं कही जा सकती, पर भाषा की नीरसता और प्रभाव डाल सकने की अक्षमता में 'पथ की खोज' बेजोड़ है। उन्होंने इसमें यत्न किया है कि वे निष्पक्ष होकर परिस्थितियों या सिद्धांतों को देखें, लेकिन 'प्रजा सोशलिस्टों' के सिद्धान्तों में उनका विश्वास छिपता नहीं। 'भीतर बाहर' छोटा है इसलिए सफल है, क्योंकि कुछेक चरित्रों को लेकर लेखक एक वातावरण को सजीव कर देता है। भाभी के पागल होने पर मध्यवित्त समाज की सतपीड़ा पाठक को झकझोरकर जैसे कहती हो यह यथार्थ है, इस यथार्थ से मुँह चुराना असम्भव है, और सचमुच देवराज का यह लघु उपन्यास उनके मध्यवर्गीय जीवन के अध्ययन को प्रकट करता है।

प्रभाकर माचवे अपने उपन्यासों में मनोविश्लेषण की आड़ में अपनी बहुज्ञता का दिखाने या समझाने में सफल अवश्य होते हैं, पर कथानक दब जाता है और प्रश्न या समस्याएँ भी, जिन्हें लेखक उठाना चाहता है, नहीं उठ पातीं। 'परन्तु' और 'साँचा' कुछ जोड़े हुए कतरनों का समूह लगते हैं। मात्र प्रयोग कर सकने की लालसा कला और मनोविश्लेषण दोनों को कितनी घात पहुँचाती है, यह माचवेजी के उपन्यासों से स्पष्ट है। 'द्वाभा' इसका प्रमाण है।

इस दल से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण लेखकों में लक्ष्मीनारायणलाल, गिरधर गोपाल

और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना हैं। सर्वेश्वरदयाल लगभग उसी धारा के उदीयमान लेखक हैं, जिनके कि ऑरवेल और कोयस्लर, अर्थात् जिनका एकमेव ध्येय कम्यूनिस्टों को जनता की नज़र में गिराना है। 'सोया हुआ जल' बस इतना ही करता है। गिरधर गोपाल का 'चाँदनी के खण्डहर' -वायस की परम्परा में आता है। ओंकार शरद का सम्बन्ध इस दल से टूट चुका है।

प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, किन्तु प्रयोगवादी दल से कोई सम्बन्ध न रखने वाला उपन्यास शिवसागर मिश्र का 'बहती गंगा' है। लगभग पिछले दो सौ वर्षों की घटनाएँ और जीवन को गंगा की लहरों के माध्यम से कहलाकर लेखक कुछ अमर पात्रों और मानवीय त्याग शौर्य का रूप पेश करता है। बीसवीं सदी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, जैसे सत्याग्रह, अनशन और पश्चात् नगर की कारस्तानियों के प्रति लेखक का मौन अनुभव की कमी के कारण ही है। भूमिका में 'विश्व साहित्य में विशिष्ट देन' का दावा भी उतना ही भ्रामक है जितना 'पथ की खोज' में प्रूस्त से तुलना। उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' किसी 'वाद' से अपना सम्बन्ध न रखते हुए भी बम्बई के निकट के बरसोवा निवासियों का जैसा चित्र उपस्थित करता है, वह 'मैला आँचल' के घोर यथार्थ की भाँति ही प्राणवान् हैं, अन्तर केवल इतना है कि उसमें रेणु-जैसा व्यंग्य या विद्रूप नहीं है।

हिन्दी कथा साहित्य पर एक दृष्टि डालने से इतना स्पष्ट है कि यहाँ ईमानदार लेखकों की कमी नहीं है। व्यक्ति के अन्तरमन में चक्कर लगा सकना ही काफी नहीं है, अपने से परे की पीड़ा और निरन्तर होने वाले अन्याय के प्रति सचेत रहना और भी ज़रूरी है। कलाकार का काम यथार्थ से मुँह मोड़ना नहीं है, पर वह राजनीतिक सम्प्रदायों के लिए पर्चे तैयार करने वाला कारकुन भी नहीं है। वह कदाचार से लड़ता है, जीवन में आस्था दिलाता है और मनुष्य के 'मनुष्यत्व' को उभारता है। जब समाज जीवन में विचार और आदर्श विरुद्ध होकर उसकी गति रोक देते हैं तो कलाकार नये आदर्श, नये मानों को स्थापित करता है। साहित्य या कला में यथार्थ का अर्थ निरुद्देश्य होकर जो है उसी का स्वरूप खड़ा करना होता तो वह अधिक मुश्किल काम नहीं था। मुश्किल काम है नये मार्ग की ओर सकेत कर सकना। जो लेखक वस्तुस्थिति में प्रवेश कर समस्याओं को देख सकने के साथ ही सड़े गले तत्त्वों के स्थान पर स्वस्थ जीवन के निर्माण में सहायक तत्त्वों को समझ सकता है वही यथार्थ और आदर्श में समुचित सम्बन्ध स्थापित करता है। आने वाले युग की जनता उसे ही याद रखेगी।

अनन्त चतुर्वेदी

भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास

हिन्दी उपन्यास में सामाजिकता का आग्रह प्रेमचन्द की रचनाओं से आरम्भ होता है। यह सच है कि प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यास सामाजिक परिवेश से प्रभावित होते हैं और उनकी कथावस्तु सामाजिक समस्याओं एवं समाधानों को इंगित करती है, परन्तु उनमें सामाजिक चिन्तन की न वह व्यापकता मिलती है, न सामाजिक समस्याओं के प्रति वह गहरी अनुभूति, जो प्रेमचन्द की विशेषताएँ हैं। प्रेमचन्द की सामाजिक अन्तर्दृष्टि अपूर्व थी और उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संघर्षों, अन्तर्विरोधों और व्यंग्यों को अपने उपन्यासों के माध्यम से मुखरित किया है। 'सेवासदन' से 'गोदान' तक हम भारतीय नगर और ग्राम की एक अत्यन्त विशाल चित्रपटी से परिचित होते हैं और इन रचनाओं के सैकड़ों चरित्रों के माध्यम से समाज के विभिन्न वर्ग और उनकी समस्याएँ हमारे सम्मुख आ जाती हैं। किन्तु प्रेमचन्द के सामाजिक चिन्तन की भी अपनी सीमाएँ हैं। वह अधिकतर सामूहिक या समूहगत दृष्टि से बँधा हुआ है और मानव के चिरन्तन प्रश्नों से उसका सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाया है। उसमें तथ्यवादिता की प्रधानता है और कभी कभी ऐसा लगता है कि जिस जीवन का चित्रण प्रेमचन्द कर रहे हैं वह मात्र सतही बनकर रह गया है। इसका कारण केवल इतना ही है कि गहरी अन्तर्दृष्टि के होते हुए भी उनकी चित्रपटी इतनी विशाल है कि वह सब पर अपना समान ध्यान रखकर चलना चाहते हैं। दूसरे, कविता और कल्पना का वह स्पर्श जिस औपन्यासिक सामाजिक चिन्तन को सप्राण बनाता है, वह प्रेमचन्द में अत्यन्त सीमित रूप में है। सन् १६२८ के लगभग इस स्थिति की प्रतिक्रिया हिन्दी उपन्यास में परिलक्षित होती है और तटस्थ चित्रण का स्थान औपन्यासिक व्यंग्य तथा काल्पनिक चित्रण को प्राप्त हो जाता है। फलस्वरूप आम व्यक्ति में बल आता है और उपन्यासकार सामाजिक तथ्य को चिरन्तन समस्याओं के साथ गूँथने लगते हैं। और ये चिरन्तन समस्याएँ होती हैं कि वास्तव में समाज को किस दृष्टिकोण से देखना चाहिए, वास्तव में समाज में पाप और पुण्य की क्या व्याख्या हो, प्रेम और विवाह का क्या स्वरूप हो, और समाज में व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य क्या माना जाना चाहिए, आदि। ये समस्याएँ अलग अलग रूपों में उठती हैं और लेखक तटस्थ दर्शक की स्थिति से ऊपर उठकर इन पर अपना ठोस निर्णय देता है। नैतिकता और आदर्श के तत्त्व उसके इन निर्णयों में बाधक नहीं होते और इसीलिए चित्रण के क्षेत्र में संयम का स्थान अतिवादिता को मिलता है। प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यासों में सामाजिक चिन्तन की एक नई ही धारा उभरने लगती है और जीवन का सत्य कला का सत्य बनकर सामने आता है। 'निराला' और भगवतीचरण वर्मा के सामाजिक उपन्यास इसी भाव के विकास की सूचना देते हैं। उनमें कवि दृष्टि की प्रधानता है और भावना का उन्मुक्त विलास

है। प्रेमचन्द के सामाजिक चिंतन से उनके सामाजिक चिंतन की प्रकृति ही भिन्न है। उसमें उतना निर्व्यापी प्रसार भले ही न हो, उतना क्रान्तिदर्शिता भी नहीं है—परन्तु एक नया बौद्धिक आधार अवश्य है। उनकी वैचारिकता भी प्रेमचन्द के उपन्यासों की वैचारिकता से अधिक पुष्ट है। प्रेमचन्द का साहित्य चित्रणमूलक कहा जा सकता है और इन उपन्यासकारों की रचनाएँ समस्यामूलक एवं तर्कसमन्वित। उनमें मध्यवित्त समाज की द्वन्द्वात्मक स्थिति अधिक स्पष्ट रूप से उभरी है।

भगवतीचरण वर्मा हिन्दी के ख्यातिप्राप्त कवि, कहानीकार और उपन्यासकार हैं। उपन्यास क्षेत्र में उनका आगमन 'पतन' के साथ हुआ, किन्तु उनकी प्रसिद्धि 'चित्रलेखा' के प्रकाशन और उसके सफल फिल्मीकरण से हुई। ये दोनों ही उपन्यास उस युग की प्रवृत्तियों से विभिन्न रूप में थे—विशेषकर 'चित्रलेखा' एक नवीन ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण लेकर आई थी, इसलिए वर्माजी का उपन्यास क्षेत्र में स्वागत और मान हुआ। 'तीन वर्ष', 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' और 'आखिरी दाव' उनके अन्य उपन्यास हैं जो विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखे गए हैं।

'तीन वर्ष'

विवाह और प्रेम दोनों में क्या सम्बन्ध है यह प्रश्न बहुत ही उलझा हुआ है और इसकी यह उलझन ही इसको भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के सामने विभिन्न रूप में रखता है। क्या विवाह के लिए प्रेम आवश्यक है, अथवा प्रेम का अन्त विवाह में ही होना चाहिए? हर व्यक्ति इस सम्बन्ध में अपनी अलग राय दे सकता है और हो सकता है कि उसकी राय उसके ढंग से सही हो। 'तीन वर्ष' की मूलाधार समस्या यही है।

'तीन वर्ष' का नायक रमेश प्रभा से व प्रभा रमेश से प्रेम करती है। दोनों सुन्दर हैं, दोनों युवक हैं, परस्पर प्रेम होना आश्चर्यजनक नहीं। आदर्शवादी रमेश प्रेम का अन्तिम परिणाम विवाह मानता है, यद्यपि उसका अधिक समझदार और दुनिया को परखे हुआ मित्र अजीत जानता है कि निर्धन रमेश व विलास में पली ऐश्वर्य की अभ्यस्त प्रभा के मध्य विवाह सम्बन्ध असम्भव है। प्रभा स्वीकार करती है कि रमेश से उसे प्यार है, किन्तु विवाह के लिए वह राजी नहीं। उसके अनुसार प्रेम का सम्बन्ध वासना भोग से है, यौवन की उन्मुक्त लालसा से है, विवाह का सम्बन्ध है जीवन यापन अर्थात् धन की सुविधाजनक स्थिति से। रमेश की सामर्थ्य इतनी नहीं कि वह प्रभा की आवश्यकताओं को, जो काफी बढ़ी हुई हैं, पूरी कर सके। अतः विवाह का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

दुनिया से भागा हुआ, शराब की बेहोशी में अपने गम को गलत करने में सचेष्ट रमेश का अनायास सरोज से परिचय होता है और दुनिया को चाँदी से तोलने वाली 'हृदयहीन' वेश्या निरुद्देश्य जीवन को ढकेलने वाले इस लापरवाह नवयुवक की ओर आकर्षित हो जाती है। उस वेश्या के यहाँ, जहाँ प्रेम का मूल्य अर्थ की सीमा से नापा जाता है, रमेश सच्चा प्रेम पाता है। मदहोशी के आलम के साथ जीवन की कोमल अनुभूति का उसके जीवन में समन्वय हो जाता है। किन्तु उस समय तक वह प्रेम को परखने की शक्ति ही खो चुका था, अतएव वह पत्थर हृदय व्यक्ति सच्चे प्रेम की उपेक्षा कर पतन के मार्ग की ओर, पशुता की ओर बढ़ता जाता है, दुनिया और स्वयं से बेखबर। सरोज के त्याग से उसका जमा हुआ हृदय पिघलता है किन्तु होश

में आकर देखता है कि उसने सरोज को खो दिया है, उसकी अपनी निष्ठुरता से हत्या कर दी है। इसे हत्या ही कहना उचित होगा। उस समय प्रथम बार उसे ज्ञात होता है कि प्रेम में केवल पाना ही पाना नहीं है, त्याग भी होता है, कुछ देना भी होता है। प्रेम का परम उत्कृष्ट त्याग है। सरोज का त्याग उसके मोह के नशे को तोड़ देता है और वह लाखों की सम्पत्ति का स्वामी बनकर, किन्तु हृदय की निधि लुटा निर्धन बन, उठने के लिए फिर संसार में आ जाता है, क्योंकि सरोज ने मरते समय उठने का आग्रह जो किया था। लखपती रमेश से विवाह करने में प्रभा को अब कोई आपत्ति नहीं है, वरन् वह उसके लिए उत्सुक है, किन्तु सरोज को खोकर रमेश सीख गया है कि विवाह आत्माओं का सम्बन्ध है और उस दृष्टि से उसका सरोज से वास्तव में विवाह हो चुका है।

तब अन्त में प्रश्न उठता है कि प्रेम क्या है? क्या प्रभा का लेन देन, शारीरिक विलास का नाम प्रेम है, अथवा सरोज का मौन त्याग? लेखक का मत है कि विवाह का धार्मिक सम्बन्ध प्रेम है। किन्तु लेखक का यह कथन भी बहुत अस्पष्ट सा है। वस्तुतः "प्रेम की परिभाषा करना असम्भव है। हम प्रेम को समझ सकते हैं, उसको अनुभव कर सकते हैं, पर उसकी परिभाषा करना हमारी शक्ति के बाहर है।" प्रेम के दो रूप—एक तो जो प्रभा का आदर्श है और दूसरे की साधना सरोज में दिखाई देती है—सामने आते हैं। दोनों रूप विभिन्न हैं। कौनसा रूप सत्य है इसका अनुभव रमेश द्वारा कराया गया है। 'चित्रलेखा' के लेखक ने 'तीन वर्ष' में उठाई गई समस्या को उसी ढंग से हल करने के लिए इस बार केवल *एक ही पात्र चुना, अतएव उत्तर भी अब की बार अधिक स्पष्ट मिल गया है।*

सरोज रमेश से प्रेम करती है व उसके लिए जीवन का बलिदान भी करती है, किन्तु उसके निःस्वार्थ प्रेम की—ऐसे प्रेम की जो धन के बंधन से मुक्त है—सच्ची परीक्षा उस समय होती जबकि सरोज निर्धनता को स्वीकार कर, अभाव की चपेटों को बरदाश्त करते हुए भी रमेश से बिना शिकायत किये हुए अपने प्रेम में अडिग रहती। प्रेम की महत्ता उसी समय प्रकट होती जबकि ऐश्वर्य में पली सरोज अभावों से भी विचलित न होती। बहुत से मनुष्य प्राण दे सकते हैं, किन्तु अभावों को बरदाश्त नहीं कर सकते। सरोज के पक्ष में यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसके सामने ऐश्वर्य को त्यागकर निर्धनता को अपनाने का प्रश्न ही नहीं आया जैसा कि प्रभा के सामने आया था, अतः उसको प्रेम प्रदर्शित करने का पूरा अवसर ही नहीं दिया गया। जहाँ अवसर मिला है उसका निश्छल प्रेम सागर के समान अथाह व गम्भीर ही दिखाई देता है। रमेश के सभी अत्याचारों, क्रूर व्यवहारों व अपमानों के बाद भी वह शिकायत भरी उफ तक नहीं निकालती।

रमेश व सरोज का विवाह सम्भव था। वह वेश्या की पुत्री थी तो क्या? जबकि यह सम्भव है कि एक बिलकुल देहाती किस्म का युवक, जिसकी चोटी से चोटी बाहर की हवा खाने को स्वतन्त्र है, कुछ ही महीनों के छोटे से अरसे में एक बड़े वकील की पाश्चात्य फैशन में पली नवयुवती को आकर्षित कर सकता है, जबकि यह भी सम्भव है कि वेश्याएँ किसी व्यक्ति में दार्शनिकता की बू पाकर विचित्र भाव से देखें और शीघ्र ही यह भाव एक निःस्वार्थ व निश्छल प्रेम का रूप धारण कर सकता है, जबकि यह भी सम्भव है कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने पहले शायद शरबत, सोडा भी न चखा हो, अनायास ही पक्का शराबी बन बैठता है और 'नीट' ह्विस्की

के गिलास के गिलास उँडेलकर भी होश कायम रखकर पुराने शराबियों को चकित कर सकना है (शराब पीना अपने हाथ में है, किन्तु उसके बाद होश न खोना नहीं), तब बहुत कुछ सम्भव है। उस हालत में वेश्या के साथ विवाह सम्बन्ध भी सम्भव हो सकता है (कम से कम इससे वह समाज में एक आदर्श उपस्थित करने की प्रेरणा दे सकता था)। किन्तु अच्छा हुआ कि उपन्यासकार इस आदर्श को प्रस्तुत करने के चक्कर में न पड़कर अपने रास्ते पर सीधा ही बढ़ता गया है। 'प्रेम क्या है ?' यही समस्या लेकर वह बढ़ा है और उसी के हल में उसे हम प्रयत्नशील पाते हैं।

'तीन वर्ष' के पात्र

वर्माजी के इस उपन्यास में नायक रमेशसहित कुल चार पात्र हैं—रमेश, अजित, सरोज तथा प्रभा। गौण पात्र भी बहुत अधिक नहीं हैं, गिने गिनाए हैं। इस प्रकार दो प्रमुख पुरुष हैं व दो नारी। ये पात्र दो विभिन्न दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करते हैं। रमेश व सरोज आदर्शवादी पात्र हैं और प्रेम के आत्मिक पक्ष को स्वीकार करते हैं। अजित और प्रभा प्रेम को यथार्थवादी (भौतिकवादी) दृष्टिकोण से देखते हैं। इस प्रकार एक पुरुष व एक नारी पात्र एक दृष्टिकोण—आदर्शवादी दृष्टिकोण—के पोषक हैं तो दूसरे दृष्टिकोण—यथार्थवादी दृष्टिकोण—को लेकर आगे बढ़ने के लिए भी एक पुरुष व एक नारी दिखाई पड़ते हैं।

रमेश प्रेम के आत्मिक पक्ष में आस्था रखता है। वह प्रेम को अनादि, अनन्त, मनुष्य का प्राण और जीवन मानता है। यह आदर्शवादी नवयुवक प्रेम का अन्त विवाह में स्वीकार करते हुए आशा करता है कि उसकी प्रेमिका प्रभा उससे प्रेम करने के नाते बिना हिचकिचाहट के जीवन संगिनी बनना स्वीकार कर लेगी। आशा को ठोकर लगती है और अपनी आस्था को बिना खोए ही रमेश अपने जीवन को बदलना चाहता है, पुराने जीवन को भुला देना चाहता है। इस प्रयास में वह विक्षिप्त सा हो जाता है और लापरवाही के साथ पतन की ओर बढ़ता जाता है। किन्तु न वह पुराने जीवन को ही खो पाता है और न पुरानी आस्था को ही। यही कारण है कि वह जीवन की नई आस्था ले नये सिरे से प्रारम्भ नहीं कर पाता और जीवन यों ही अस्त व्यस्त चलता रहता है, उस समय तक जबकि उसको एक दूसरी ठोकर द्वारा, सरोज के त्याग द्वारा, होश नहीं आ जाता।

प्रेम के आत्मिक पक्ष पर पूर्ण आस्था सरोज के हृदय में भी मिलती है। वह वेश्या है, शरीर एवं रूप का सौदा करती है। पैसे का उसके लिए विशेष अर्थ नहीं, चाँदी के टुकड़ों की कीमत इतनी ही है कि उससे शरीर खरीदा जा सकता है। वह एक ऐसे समाज का अंग है जो घृणित माना जाता है, जिस पर किसीको सहानुभूति नहीं, जहाँ सौदा चाँदी के टुकड़ों पर होता है। वह उस समाज में ढकेल दी गई है जहाँ सम्बन्ध क्षणिक होते हैं। सच्चे प्रेम, सहानुभूति भरे दो शब्दों और ऐसे सम्बन्ध कि जिनमें चाँदी के टुकड़ों का दखल न हो और जो स्थायी हों—वह तरसती रहती है। जीवन में प्रथम बार एक व्यक्ति ऐसा आता है जो उसके रूप और यौवन को चाँदी के बल पर नहीं खरीदना चाहता, जिसको उसके रूप की ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं। वह झुक जाती है, उसे पहली बार सच्ची मानवता का, पीड़ित मानवता का, परिचय मिला है। हृदय की पीड़ा एक पीड़ित हृदय के सम्पर्क में आकर पिघलने लगती

है और पहली बार सरोज मानवता के गुणों से अपने हृदय को छलकता हुआ पाती है। पैसे की उसे परवाह नहीं, उसके पास आवश्यकता से अधिक धन है। उसको तो सच्चे प्रेम की चाह है और वह उस प्रेम की स्निग्ध किरण से रमेश के हृदय को प्रकाशित या अपनी पूर्ण निधि सहित उस पर न्यौछावर हो गई। सरोज को प्रेम के अलावा और कुछ नहीं चाहिए। प्रेम का आत्मिक पक्ष मात्र ही उसे पर्याप्त है। शारीरिक प्रेम तो एक ऐसी वस्तु है कि वह चाहे जहाँ से प्राप्त की जा सकती है। उसने तो अनमोल रत्न पा लिया और उस रत्न को वह प्राण देकर भी रखने में सचेष्ट है।

अजित यथार्थवादी है। उसने दुनिया देखी है। भौतिक सुखों का उसने पूरा उपयोग किया है और वह जानता है कि भौतिक सुखों को महत्त्व देने वाले व्यक्ति की किस अवसर पर क्या प्रतिक्रिया होगी। अजित के पास पैसा है और उसने उसके बल पर सब तरह का आनन्द लूटा है। उसके लिए उनमें कोई नवीनता नहीं और न उस वर्ग के प्रति कोई आकर्षण है जो भौतिकवादी पक्ष का है। प्रभा आदि तितलियाँ केवल खिलवाड़ की वस्तुएँ हैं, उनसे आत्मिक प्रेम सम्भव नहीं—इस तथ्य का उसे पूर्ण ज्ञान है, क्योंकि वह स्वयं न जाने कितनी तितलियों के साथ खिलवाड़ कर चुका है। भौतिकवादी सुखों में उसे कोई आकर्षण नहीं रह गया है। इसीलिए तो वह अपने वर्ग से अलग वर्ग के व्यक्ति रमेश से मित्रता जोड़ता है। रमेश का आदर्शवादी प्रेम उसके लिए एक नवीन वस्तु है, यद्यपि उसके प्रति उसके हृदय में अनास्था का भाव नहीं है। रमेश की असफलता से अजित को धक्का नहीं लगता क्योंकि उसे पहले ही प्रभा की मनोवृत्ति का ज्ञान है। किन्तु उसे वास्तविक धक्का तब लगता है जबकि वह देखता है कि असफल होकर भी रमेश अपनी अवस्था से डिगा नहीं, आस्था को मिटाकर नवीन आस्था—खेलने खाने की आस्था—को ग्रहण करने के स्थान पर वह (रमेश) स्वयं अपने को मिटाने पर तुला हुआ है। अजित ने दुनिया देखी है, वह यथार्थवादी है और उसके विचार तर्क पर आश्रित होने के कारण एक हद तक सही होते हुए भी प्रेम का ऐसा पक्ष उसके सामने आया जिसकी उसे कम सम्भावना थी और इसका धक्का उसको जबर्दस्त बैठा। उसने अनुभव किया कि रमेश की इस अवस्था की जिम्मेदारी उस पर है। भौतिकवादी आस्था के प्रति आकर्षण तो पहले ही न रह गया था, इस धक्के ने उसे भौतिकवादी सुखों को लात मारकर कहीं चले जाने की प्रेरणा दी। अन्त में प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में रमेश द्वारा लेखक ने जो मत प्रकट किया है उसमें अजित व रमेश दोनों के विचारों का समन्वय है। प्रभा के अति भौतिक वादी पक्ष को अवश्य गर्हित माना है। अजित विवाह के लिए प्रेम इसलिए आवश्यक नहीं मानता क्योंकि प्रेम रूप के आकर्षण की उपज होने से अस्थायी है। इस प्रकार वह प्रेम के भौतिकवादी स्वरूप को नहीं स्वीकार करता—यही कारण है कि वह यथार्थवादी होते हुए भी बहुत कुछ आदर्शवादी है, विवाह के बाद प्रेम के आदर्श पर जोर देता है।

प्रभा ऐश्वर्य में पली है, उसकी आवश्यकताएँ बढ़ी हैं। प्रेम को वह पेट भरे का विलास मानती है। धन प्रमुख है, उसके पश्चात् अन्य वस्तुओं पर ध्यान दिया जा सकता है। इस दृष्टि से वह भौतिकवादी यथार्थ पक्ष को ग्रहण किये हुए है। प्रेम और धन में उसको धन महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। वह प्रेम के यौनपक्ष (Sexual side of love) का ग्रहण करती है। जहाँ सरोज के प्रेम में त्याग का चरम उत्कर्ष है, वहाँ प्रभा के प्रेम में प्राप्ति की चरम लालसा।

इस तरह का यौनिक प्रेम कोई अलभ्य वस्तु नहीं, वह तो उसे चाहे जहाँ मिल जायगा। अधिक कठिन है धन पाना, इसीलिए वह धन पर विशेष अनुराग रखती है। त्याग की आवश्यकता ही क्या है, जो कुछ रमेश से उसे मिलता है वह तो वह कहीं भी पा सकती है। हाँ, सरोज को रमेश से जो कुछ मिला है वह एक दुर्लभ वस्तु है, यही कारण है कि दोनों के दृष्टिकोण अलग हैं। एक सब कुछ लुटाकर रमेश से प्रेम करती है, दूसरा धन के पीछे रमेश को ठुकरा देती है।

अजित और प्रभा दोनों यथार्थवादी हैं, अन्तर केवल यही है कि अजित भौतिक वातावरण में रहकर भी लिप्त नहीं है, उसे वह सब कुछ स्वीकार नहीं करता और प्रभा भौतिक सुखों को ही चरम उद्देश्य मान लेती है। एक ही प्रकार के वातावरण में रहते हुए भी दोनों के दृष्टिकोण भिन्न होने का मूल कारण यही है। इसीलिए प्रभा की प्रेम और विवाह की व्याख्या में यान्त्रिकता है, जो आत्मिक सम्बन्ध को कहीं भी स्वीकार नहीं करती—न विवाह से पूर्व, न विवाह के पश्चात्। अजित प्रेम को बिलकुल त्याज्य न मानते हुए केवल उसका परिस्थिति में अन्तर भर चाहता है। वह प्रेम का मूल्य विवाह के पश्चात् मानता है।

लेखक ने अपना निष्कर्ष उपन्यास के अन्त में दिया है। विवाह के दो पहलू हैं—पहला आत्मिक, जिसे प्रेम कहते हैं व दूसरा आर्थिक—जीवन यापन से सम्बन्धित। प्रभा का प्रेम भोग विलास तक सीमित था व विवाह का अर्थ था धन के बदले में शरीर का सौदा। प्रेम और विवाह में वह सम्बन्ध नहीं मानती, इसलिए एक व्यक्ति से वह प्रेम करते हुए उससे विवाह को राजी नहीं होती। जब वही व्यक्ति धनाढ्य हो जाता है तब वह उससे विवाह को उत्सुक हो जाती है। इस प्रकार प्रभा विवाह का कारण धन मानती है, प्रेम नहीं। वह उसके शारीरिक एवं आर्थिक पहलू मात्र को स्वीकार करती है। वह पुरुष का धन लेती है, अपना शरीर देने के बदले में और यह वेश्यावृत्ति है। उपन्यासकार ने जो हल रखा है उसने आर्थिक पहलू पर विशेष ध्यान न दे आत्मिक पहलू को स्वीकार किया है। इस पहलू की स्वीकृति के परिणामस्वरूप ही रमेश सरोज के साथ अपने इस बन्धन को स्वीकार करता है।

उपन्यास एक समस्या को लिये हुए है जो तार्किक शैली में लिखा गया है। वर्माजी की भाषा सबल और प्राञ्जल है, उसमें ललचाऊपन नहीं है।

'चित्रलेखा' के प्रभाव से उपन्यासकार मुक्त नहीं हो सका है। कुछ सीमा तक वही शैली पकड़े हुए है। 'तीन वर्ष' का अजित 'चित्रलेखा' के बीजगुप्त की भाँति रमेश को अभावों की दुनिया से उठाकर ऐश्वर्य के प्रासाद में लाकर छोड़ देता है, विभिन्न प्रकार के त्याग करने को प्रस्तुत है, यद्यपि वह बीजगुप्त की भाँति महान् नहीं हो सका है, न यह उपन्यास ही उतना ऊँचा उठ सका है जितना 'चित्रलेखा'।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते'

समाज में दो प्रकार के वर्ग हैं—एक वह जो पुराने विचारों में पला है व वे विचार उसके रग रेशे में इस तरह समा गए हैं कि वह नवीनता का समर्थन नहीं कर पाता और समय के साथ बढ़ने में असमर्थ हो अपने स्थान पर ही अड़े रहना चाहता है। इस प्रयास में वह प्रगतिशील विचारों का विरोध करते हुए अपने साथ ही समय को भी रोकने की चेष्टा करता है,

किन्तु इस चेष्टा में वह स्वयं भी पिसता चलता है।

दूसरा वर्ग है उस समाज का जो नवोदित भावनाओं का स्वागत करता है, उनके विकास तथा प्रसार में सहायक होता है। अधिकांशतः नवयुवक इस वर्ग में ही शामिल हैं। इस वर्ग में विभिन्न उपवर्ग हैं यथा साम्यवादी, समाजवादी, क्रांतिवादी, कांग्रेसी आदि।

प्रथम वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि हैं—पूँजीवादी व साम्राज्यवादी तथा सामाजिक क्षेत्र के पूरक हैं प्राचीन रूढ़िवादी।

द्वितीय वर्ग में भी दो भेद हो गए हैं—१ हिंसावादी, २ अहिंसावादी। क्रान्तिकारी तथा साम्यवादी दल हिंसात्मक क्रांति में विश्वास करते हैं, यद्यपि प्रस्तुत उपन्यास में साम्यवादी दल ने हिंसा का आश्रय नहीं लिया है। कांग्रेस तथा गांधीजी से प्रभावित व्यक्ति अहिंसा में विश्वास करते हैं।

वस्तुतः संघर्ष सबल एवं निर्बल के बीच है। साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध गुलामों का, पूँजीवादियों के विरुद्ध गरीब मजदूरों का, जमींदार के विरुद्ध शोषित किसानों का तथा अपनी इच्छा लादने वाले परिवार के मुखिया के विरुद्ध परिवार के स्वतन्त्र चिंतक सदस्यों का विरोध है। इस प्रकार समस्या आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार की है।

आलोच्य उपन्यास में प्रथम वर्ग के प्रमुख प्रतिनिधि हैं पं० रामनाथ तिवारी। वे जमींदार हैं और इस हैसियत से किसानों पर उनका कोड़ा चलता है व पिता तथा परिवार के मुखिया की हैसियत से छोटे भाई व पुत्रों पर शासन अपना अधिकार समझते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति, जिसके पुलिस, फौज, विशम्भरदयाल सरीखे व्यक्ति पुर्जे हैं, सारे देश के शासन को हाथ में रखने में प्रयत्नशील है। इस प्रयत्न में बाधक शक्तियों का दमन करने में प्रथम वर्ग पूर्णतया दृढ़ है। पं० रामनाथ पुत्र से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं और किसानों का दमन कठोरता से करते हैं। साम्राज्यवादी शक्ति भी दमन करने में पूरी तौर पर कठोर व निर्मम है, यद्यपि यह बात दूसरी है कि अहिंसात्मक आन्दोलन को कुचलते समय प्रयत्न करने पर भी बहुत निर्मम नहीं हो पाती।

प्रस्तुत उपन्यास में निर्बल और सबल का संघर्ष तो है ही, साथ ही सबल का सबल से भी संघर्ष हो पड़ता है। शक्ति का पुजारी सबल दल अहं में आस्था रखता है और इस अहं की रक्षा हर कीमत पर करना चाहता है। रामनाथ व विशम्भरदयाल के बीच इसी अहं की भावना ने संघर्ष का बीज रोपा। विशम्भरदयाल तथा रामनाथ दोनों ही शक्ति व अहं के नशे में मदहोश हैं, धन की उन्हें चिंता नहीं और इसलिए एक ही दल—सबल दल के होते हुए आपस में जूझ जाते हैं। पराजय दोनों की होती है। प्रभानाथ का सरकारी मुखबिर बयान में विशम्भरदयाल असमय रहते हैं और मैं को मौत से बयान में रामनाथ असफल हो जाते हैं। सबल की आपसी लड़ाई में ही तो निर्बल को अवसर मिलता है कि सबल की इस निर्बलता का लाभ उठाकर अपनी शक्ति बढ़ाई जाय, सबल को करारी चोट दी जाय।

विरोधी निर्बल दल का प्रतिनिधित्व पं० रामनाथ के तीनों लड़के करते हैं। यह एक मजे की बात है कि उनके तीनों लड़के तीन अलग दलों में सम्मिलित होते हैं व करीब करीब उत्तम नेता का पद पा जाते हैं। दयानाथ कांग्रेस का माना हुआ नेता बनता है, उमानाथ साम्यवादी दल के देश के सबसे बड़े नेता का पद सम्भालता है और प्रभानाथ क्रांतिकारी दल का नेता व

होने पर भी हीरो (Hero) बन जाता है। इस प्रकार असाधारण पिता के तीनों पुत्र असाधारण निकलते हैं। पिता एक वर्ग का प्रतिनिधि है तो तीनों पुत्र तीन अलग दलों में विशेष स्थान रखते हैं।

पिता व पुत्रों की विचारधाराएँ सर्वथा भिन्न हैं। सबका दृष्टिकोण अलग है, सबके रास्ते अलग हैं। सवाल उठता है कि आखिर कौन सही रास्ते पर है और किसका मार्ग गलत है? सब अपने अपने ढंग से सोचते हैं व उसी ढंग से अपने मार्ग पर चलते हैं। हरेक अपने ढंग से ईमानदारी के साथ अपने मार्ग को ठीक समझकर उस पर चलता है। लेखक ने सबका दृष्टिकोण यथासम्भव तटस्थ की भाँति स्पष्ट कर दिया है। अन्त तक उसकी चेष्टा रही है कि वह किसी एक मार्ग को सही व सीधा मानकर उसके प्रचार में न शामिल हो जाय। सभी मार्ग उसके लिए खुले हैं, आसान उनमें से कोई नहीं है। तब भी उसकी सहानुभूति गांधीजी के अहिंसात्मक आन्दोलन के प्रति है। साम्यवादी दल के प्रति उसकी सहानुभूति कम है। कुछ कुछ वह उसे अराष्ट्रीय मानता है, रूस का चलाया आन्दोलन स्वीकार करता है। क्रान्तिकारी आन्दोलन को भी वह सही नहीं मानता, किन्तु राष्ट्रीय होने के नाते उसकी सहानुभूति का यह भागी अवश्य है। यही कारण है कि वह एक प्रमुख क्रान्तिकारी द्वारा मरते समय आतंकवाद को गलत कहलाते हुए भी अपने मार्ग पर ईमानदार प्रभानाथ व वीणा के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार कायम रखता है और प्रभाकर का चरित्र उज्ज्वल चित्रित करता है। दूसरी ओर गांधीवाद व कांग्रेस का समर्थन करता है और रामनाथ सरीखे दकियानूसी के मुँह से अहिंसा की शक्ति की प्रशंसा व गांधी के प्रति श्रद्धा प्रकट कराते हुए निजी स्वार्थ में लीन दयानाथ की कुछ फजीहत भी करा देता है।

पात्र

प्रत्येक काल में, प्रत्येक राष्ट्र में, समयानुकूल प्रगति के अनुसार नई पीढ़ी बढ़ती है, सम्पूर्ण सामाजिक एवं राष्ट्रीय व्यवस्थाओं एवं मानव की मान्यताओं में क्रमानुसार परिवर्तन होते चलते हैं और पुरानी पीढ़ी भी परिवर्तनों का विरोध करते हुए उनकी बढ़ती धारा को रोकने में असफल हो धीरे धीरे उनके अनुरूप ढलती चलती है। इस प्रकार नई पीढ़ी तथा पुरानी पीढ़ी में सतत बौद्धिक संघर्ष चलता रहता है, भले ही वह संघर्ष संकटपूर्ण परिस्थिति न उत्पन्न करता हो।

कभी कभी ऐसी परिस्थितियाँ बन जाती हैं कि देश व समाज में होने वाले इन बाह्य एवं वैचारिक परिवर्तनों की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है और पुरानी पीढ़ी की मन्द गति इनका साथ न दे सकने के कारण उपयुक्त संघर्ष विकट रूप धारण कर लेता है। प्रस्तुत उपन्यास में ऐसा ही अवसर प्रस्तुत हुआ है। पुरानी पीढ़ी के प्रतिनिधि एवं उपन्यास के सम्भवतः सर्वप्रमुख पात्र रामनाथ की मनोदशा इन शीघ्र परिवर्तनशील परिस्थितियों के कारण ही असन्तुलित हो गई है। वे उलझन में हैं कि अचानक सभी कुछ नवीन और अनजाना सा क्यों होता जा रहा है। पुराने युग के सुशिक्षित एवं तर्कशील प्रतिनिधि रामनाथ अपने को नये युग का समझते हैं,[1] क्योंकि वे पुरानी रूढ़ियों एवं परम्पराओं के बिना तर्क की कसौटी पर कसे स्वीकार करने को तैयार नहीं, किन्तु जब वे देखते हैं कि वे तो समय से काफी पिछड़ गए हैं अथवा नया माने जाने वाले युग का स्वरूप उनकी समझ के परे है तो उनकी अहम्मन्यता की भावना को ठेस

[1] पृ० १६२।

लगती है। सारी समस्या यही है कि वे अपने को पिछड़ा मानने को तैयार नहीं। यहीं उनका नये युग से विरोध है। वे नये युग को स्वाभाविक एवं कल्याणकर मानने से ही इन्कार कर देते हैं। दूसरी ओर पुरानी पीढ़ी का अल्पशिक्षित एवं तर्कबुद्धि से प्राय रहित पुरातनपंथी झगड़ू मिसिर में अहम्मन्यता का अभाव होने से हठधर्मिता नहीं है और परिणामस्वरूप वे नई पीढ़ी के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने में, उसके साथ कदम मिलाकर चलने में, सफल हैं। उनकी रूढ़िवादिता एवं उनका बौद्धिक पिछड़ापन अज्ञान का परिणाम है, रामनाथ की भाँति वह हठधर्मी के साथ जान बूझकर नई रोशनी का विरोधी नहीं है। रामनाथ का व्यक्तित्व जितना प्रखर एवं शक्तिशाली है, यदि उनमें उपर्युक्त कमी न होती तो उसके अनुसार उनमें सारे गाँव की विचारधारा को संचालित करने की शक्ति सम्भव थी। क्रान्तिकारी प्रभाकर भी इस व्यक्तित्व की प्रखरता से भयभीत है,[1] किन्तु वस्तुतः रामनाथ का स्वयं अपने से ही संघर्ष है। वे जिस बात को तर्क द्वारा समझते हैं उसको स्वीकार करने में उनके हृदय में हिचक है। अपनी इसी दुर्बलतावश वे अपनी शक्ति बहुत कुछ खो बैठते हैं। वे ऐसे शक्तिशाली नेताओं के समान हैं जिनमें नेतृत्व की क्षमता, प्रबल क्षमता है, किन्तु जो गलत पक्ष का समर्थन कर रहे हों तथा साथ ही स्वयं भी इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। उनकी अहम्मन्यता ने एक ऐसे पुतले का निर्माण किया है जो ऊपर से फौलादी है और हर परिस्थिति में अडिग रहने वाला है, किन्तु जिसके भीतर मानवीय भावनाएँ भी भरी हैं (दबी हुई ही सही) तथा इन भावनाओं की आग इस कठोर फौलादी ढाँचे को भीतर ही भीतर जलाकर खोखली करती चली जा रही है। बाहर से अब भी भले ही कठोर फौलादी ढाँचा खड़ा है, किन्तु वस्तुतः उसकी बरदाश्त करने की शक्ति व्यय हो चुकी है।

वास्तव में समस्त जीवन भर रामनाथ की कोशिश यही रही है कि वे कहीं पराजित न हों। ब्रिटिश शासन के आगे भी वे इसी दृष्टि से सिर नहीं झुकाना चाहते हैं। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन तथा जमींदार वर्ग एक दूसरे के सहारे टिके हुए हैं और इस दृष्टि से उनमें बराबरी का सा सम्बन्ध है। लड़कों द्वारा प्रतिपादित नवीन विचारों के आगे अपने विचारों एवं धारणाओं की अवहेलना उनको पुत्रों से जुदा कर देती है। वे अपने विचारों को, अपने व्यक्तित्व को ही, सर्वोपरि मानते हैं। छोटा लड़का प्रमानाथ कहीं झुक न जाय, इसकी चिन्ता है, क्योंकि बच्चों की दुर्बलता में भी वे अपनी पराजय देखते हैं। दोनों बड़े लड़कों को अपने पथ से भ्रष्ट होने से (उनके पथों के विरोधी होते हुए भी) वे बचाते हैं। छोटे लड़के को भी उनसे शक्ति मिलती है कि दृढ़ रहे, किन्तु परिस्थितियाँ कुछ ऐसी हैं कि यह दृढ़ता हास्यास्पद है। रामनाथ विफल हैं, बेबस हैं। उनकी सारी शक्तियाँ इन परिस्थितियों के सम्मुख निरर्थक हो गई हैं कि वीणा इस कार्य में आगे बढ़ती है। वीणा द्वारा प्रभानाथ को दुर्बलता प्रदर्शित करने से रोकने का कार्य यद्यपि रामनाथ के अहं की रक्षामात्र के लिए नहीं था, किन्तु इससे रामनाथ की पराजय अवश्य बन गई। रामनाथ की पराजय होती है स्वयं के साथ युद्ध में और इस युद्ध में वे इतने क्षीण शीर्ण हो जाते हैं, इतने अशक्त हो जाते हैं कि एक अबोध बालक के सहारे के लिए ही व्याकुल हैं। जिस व्यक्ति ने सदैव सब पर शासन करना ही सीखा हो उसका अन्त में एक अबोध बालक को चिपटा लेना उसकी मनोदशा का द्योतक है। स्पष्ट ही रामनाथ भयभीत हैं कि सब कुछ छुट

[1] पृ० २६३।

गया, कहीं यह सहारा भी न छिन जाय। उनकी सारी शक्ति का महल अब इस छोटे से सहारे पर ही टिका रह गया है। वस्तुतः यह उस व्यक्ति का अत्यंत दीन स्वरूप है—उस प्रखर व्यक्तित्व का जो सबको झुलसा देता है, जिसके आगे प्रभाकर सदृश क्रांतिकारी भी दहलते हैं। तथापि सम्भवतः पहली बार रामनाथ यहाँ हाड़ माँस से बने मानव के रूप में स्पष्ट रूप से प्रकट हो सके हैं, इसके पहले उनके मानवस्वरूप पर अहम्मन्यता का आवरण सदैव ढका मिलता है।

नई पीढ़ी के पात्र अनेक हैं। उनके मार्ग अनेक हैं। रामनाथ के तीन लड़के दयानाथ, उमानाथ तथा प्रभानाथ तीन विविध मार्गों के प्रतिनिधि अनुयायी हैं, शेष पात्र इनके राजनीतिक सिद्धांतों का न्यूनाधिक पालन करते हैं। उदाहरणार्थ ब्रह्मदत्त को लेने पर ज्ञात होता है कि वह साम्यवादी मजदूर आन्दोलन का समर्थक होते हुए भी कांग्रेस दल का सदस्य है।

दयानाथ कांग्रेस का सदस्य एवं प्रमुख नेता है। कांग्रेस के कार्य के हेतु वह अपने पिता के रोष का सामना करता है। उसमें जहाँ एक ओर देश प्रेम की भावना कूट-कूटकर भरी है और उसके कारण वह विदेशी शक्ति के समर्थक जमींदार वर्ग (पिता सहित) का विरोधी है, वहीं उसमें अहम्मन्यता की पैतृक सम्पदा कूट-कूटकर भरी है। उसमें अपने पिता से स्वभावगत कोई भिन्नता नहीं है। केवल वह कुछ दुर्बल है तथा बौद्धिक तर्क वितर्कों से परे है। उसका व्यक्तित्व भी उतना प्रखर नहीं है, केवल कठोरता एवं दर्पभाव उसमें है। वह जनता के लिए लड़ता है, किन्तु जनता से, कांग्रेस के अपने अधिकांश साथियों से, भी समान भाव से नहीं मिल सकता है। यह पैतृक अहम्मन्यता उसकी पराजय का कारण बनती है और वास्तव में यह पराजय उसके लिए आवश्यक है। तथापि उसके चरित्र की दुर्बलता इतने से ही प्रदर्शित हो जाती है कि वह पराजित होते ही मार्ग से डिग जाता है और यदि उसके पिता ने, जिन्होंने निर्ममता के साथ अपने इस बागी पुत्र को 'त्याज्य' घोषित कर दिया है, उसको सही दिशा का निर्देश नहीं किया होता तो उसका चारित्रिक पतन तो हो ही चुका था।

उमानाथ भारत के बाहर से अन्तराष्ट्रीय साम्यवादी संगठन एवं आन्दोलन का प्रशिक्षण प्राप्त करके भारत आया है। उसकी पश्चिम भक्त दृष्टि में भारत रूढ़िवादियों और जाहिलों से भरा हुआ जंगली देश है। भारत के बुद्धिजीवी वर्ग की हालत उसको और भी परेशान करती है। यदि वह चकित होता है तो अशिक्षित और 'गंवारी' ब्रह्मदत्त की तर्कबुद्धि एवं सूझ बूझ से। अन्तिम धक्का लगता है महालक्ष्मी के प्रेमपूर्ण त्याग एवं अटूट श्रद्धापूर्ण व्यवहार द्वारा। उसकी सारी पश्चिमी विचारधारा आस्था की इस प्रबल आँधी में सूखे पत्ते की भाँति उड़ गई। पश्चिमी तर्कवाद यहाँ भारतीय श्रद्धा के आगे घुटने टेक देता है। उमानाथ के माध्यम से मानो उपन्यासकार ने विदेशी साम्यवाद को भारत से निकाल फेंका है, भारत की भूमि इस पौधे के लिए अनुपयुक्त सिद्ध होती है। यह सम्भव है कि साम्यवाद भारत में आए, किन्तु यह निश्चय है कि वह अपने विदेशी स्वरूप को त्यागकर विशुद्ध भारतीय बनकर ही आ सकता है। उपन्यासकार साम्यवादी धारणा के विपरीत नहीं ज्ञात होता है, किन्तु उसको राष्ट्रीयता विरोधी साम्यवाद किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है। उमानाथ में भी अहम्मन्यता का बीज विद्यमान है, भले ही पाश्चात्य वातावरण में रहने के कारण उसके हृदय में वह पनप नहीं पाया है। प्रारम्भ

में वह प्रशान्त के प्रति जो उपेक्षा भाव प्रकट करता है[1] उसमें दूसरों को तुच्छ समझने की भावना काम कर रही है, तथापि उसमें अपनी भूल को स्पष्ट स्वीकार करने का भारी गुण विद्यमान है। अहम्मन्यता के विरोध में यह विशेषता उसके व्यक्तित्व को आकर्षक बना देती है। पश्चिमी स्वच्छन्दता उसकी कमजोरी है जिसके अन्तर्गत वह अपने जीवन में अनेक परिवर्तन ले आता है—यथा एक पत्नी के होते हुए भी दूसरा विवाह करके प्रथम पत्नी को तलाक देने का विचार करता है, अपनी दूसरी पत्नी हिल्डा के साथ स्वच्छन्द व्यवहार आदि—किन्तु वह शीघ्र ही अपेक्षाकृत संयत एवं भारतीय वातावरण के अनुकूल होता जाता है।

प्रमानाथ सरल स्वभाव का सीधा सच्चा नवयुवक है। मानवता के विकृत स्वरूप को देखकर उसका हृदय हिल उठता है, जीवन के प्रति आस्था तक की नींव हिल जाती है और वह अनायास ही उस क्रान्तिकारी दल मे जा पड़ता है। जीवन की अपेक्षा मानवता के प्रति उसका प्रेम उस समय पूरी तरह प्रकट होता है जबकि वह जीवन पर भीषण संकट की अवस्था में भी अपने घायल साथी प्रभाकर को नहीं छोड़ना चाहता है। प्रभाकर के माध्यम से उपन्यासकार ने हिंसक क्रान्ति के मार्ग को 'बना गलत रास्ता' बताया है तथा यह भी संकेत किया है कि इस मार्ग को उन लोगों ने अपनाया है 'जो निराश हो चुके हैं'।[2] प्रमानाथ की आयु अधिक नहीं है, अतएव उसमें जीवन के प्रति गम्भीरता का दृष्टिकोण नहीं बना है।

उपन्यास के प्रमुख नारी पात्रों को दो वर्गों में रख सकते हैं—(१) स्वतन्त्र व्यक्तित्वरहित नारी, तथा (२) स्वतन्त्र व्यक्तिगत सत्तायुक्त नारी। प्रथम वर्ग में महालक्ष्मी तथा राजेश्वरी आती हैं तथा दूसरे में वीणा। तीनों नारी पात्र प्रेम में त्याग एवं समर्पण को स्वीकार किये हुए हैं। इसके विपरीत एक अन्य नारी हिल्डा का तुलनात्मक चरित्र प्रस्तुत किया गया है। हिल्डा पाश्चात्य समान अधिकार का दावा करने वाली दुर्बल नारी का स्वरूप प्रकट करती है—ऐसी नारी का स्वरूप जो स्वच्छन्दतापूर्ण व्यवहार को प्रगति एवं बौद्धिक चेतना का आधार मानती है। उपन्यासकार ने इस प्रकार पश्चिम तथा भारत के वैवाहिक सम्बन्धों का तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया है। पश्चिमी दाम्पत्य जीवन केवल एक आर्थिक समझौता मात्र है, पति पत्नी के सम्बन्ध उतने गहरे नहीं हैं जितने भारतीय जीवन मे होते हैं। भारतीय दाम्पत्य जीवन का आधार आत्माओं का मिलन है। उपन्यास के तीनों भारतीय नारी पात्र भारतीयता के इस विशेष पहलू को प्रकट करते हैं। राजेश्वरी तथा महालक्ष्मी का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है ही नहीं। उनके व्यक्तित्व तो उनके पतियों के साथ ही हैं। सुशिक्षित एवं सबला नारी वीणा का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वह सोच सकती है, स्वयं के निर्णय करती है, किन्तु प्रेम का त्यागमय तथा गहरा स्वरूप उसके चरित्र में भी प्रकट होता है। प्रमानाथ उसका पति नहीं है, किन्तु प्रेम के नाते उसने यह सम्बन्ध मान लिया है और यह काल्पनिक सम्बन्ध भी इतना गहरा है कि उसके निवाह हेतु वीणा स्वयं अपने प्राणों के महत्त्व को खो देती है। भारतीय नारी का जो आदर्श माना गया है वह इन तीनों नारियों के चरित्रों में भरपूर प्रकट हुआ है। रामनाथ सदृश संस्कारी, कठोर तथा जिद्दी व्यक्ति भी, जिसके लिए किसी विजातीय कन्या को पुत्रवधू स्वीकार करना अकल्पित था, इस बंगाली लड़की के दृढ़ एवं आदर्श विश्वास के आगे झुक जाता है

१ पृ० १७४।

२ पृ० ३८६।

और धार्मिक अनुष्ठानों सहित विधिवत् विवाह संस्कार के अभाव में भी, केवल एक भावना की शक्ति के स मुख नत होकर, इस भावना के सम्बन्ध को चुनौती देने का भी विचार नहीं कर पाता। वह वीणा से पूछता है, 'क्या पत्नी के कर्त्तव्य जानती हो?' मानो वह चुपचाप वीणा के इस अधिकार को कि वह प्रभानाथ की पत्नी है, स्वीकार कर लेता है। भावना की इस शक्ति के स मुख इस उपयुक्त तथा प्रखर व्यक्तित्व का यह आत्मसमर्पण जहाँ एक ओर रामनाथ की पराजय नहीं प्रकट करता (क्योंकि यह आत्मसमर्पण ही अधिक स्वाभाविक है) वहाँ वीणा का चरित्र इससे अधिक निखर आया है। केवल इसी शक्ति के आधार पर यह दुर्बल सी लड़की उस पराजयपूर्ण परिस्थिति को विनष्ट कर देती है, जिसके आगे रामनाथ का व्यक्तित्व, धन सम्पदा आदि, श्यामनाथ का उच्च शासकीय पद एवं मान दौड़, सभी असफल सिद्ध हुए थे। इस दृष्टि से वह रामनाथ की सहायिका ही कही जा सकती है।

'आखिरी दाँव'

आज के भौतिकवादी युग में, चमचमाती सभ्यता के इस युग में, सबसे शक्तिशाली है पैसा। पैसा ही मानव का भगवान है, उसका इष्ट है। पैसे में वह शक्ति है कि उससे शरीर क्रय किया जा सकता है, आत्मा क्रय की जा सकती है। मानव का मूल्य चाँदी के सिक्कों से निर्धारित किया जाता है। वर्माजी के 'आखिरी दाँव' उपन्यास में यही प्रतिपाद्य है।

इस पैसे के साधन द्वारा समाज में ऊँचा स्थान मिलता है। यह पैसा कैसे मिले? कोई भी आदमी बिना बेईमानी के, बिना आत्मा को बेचे, धनवान नहीं बन सकता। रामेश्वर, जोकि इस तथ्य को जान गया है, पूरी तौर पर पैसा पैदा करने में लग जाता है। रामेश्वर को चमेली से प्रेम है और वह जानता है कि पैसे के न होने से ही उसकी चमेली उससे पैसे वाले छीने ले रहे हैं। चमेली को पाने के लिए ही वह पैसा पैदा करने के लिए हर कदम उठाने को तैयार है। रामेश्वर से चमेली को भी प्रेम है। वह रामेश्वर का सच्चे अर्थों में है। किन्तु परिस्थितियाँ उसे दूर ढकेल रही हैं। चमेली के पतन का मुख्य कारण अपने को समझकर रामेश्वर इतना अमीर होना चाहता है कि फिर कोई उसका चमेली को न छीन सके। जिस पैसे के कारण चमेली को वह पतन के गर्त में ढकेलने को विवश हुआ, उसके प्रति एक प्रकार का रोष सा उसके हृदय में समा जाता है। वह उस शक्तिशाली पैसे को भी गुलाम बनाने के लिए पागल-सा हो उठा है। दुनिया की कोई शक्ति, चमेली तक में शक्ति, नहीं कि उसकी गति को रोके। दुनिया का कोई तर्क, धर्म व आत्मा की पुकार भी उसके बढ़े कदम को नहीं रोक पाते। जिस भाग्य ने उसको निधनता देकर लूटा था उस पर वह हँसना चाहता है, कि तु भाग्य की अन्त में विजय होती है। अपनी पाप की कमाई वह हार जाता है। यह विजय मगल की नहीं, भाग्य की है। मगल तो एक साधन मात्र है, भाग्य का एक अस्त्र मात्र है, जिसके रूप में भाग्य रामेश्वर को लूटने आया है। सारा धन तो रामेश्वर हार ही जाता है, कि तु साथ ही वह आखिरी दाँव, जिसमें उसने बची खुची पूँजी भी लगा दी थी, हार जाता है। मगल के सामने तो आखिरी दाँव में वह थोड़े से चाँदी के टुकड़े ही हारता है, किन्तु नियति के विरुद्ध लगाये गए इस आखिरी दाँव में वह स्वयं अपने और अपनी चमेली को भी हार जाता है। यह उसकी आखिरी हार है। अब हारने को उसके पास कुछ नहीं है और

जीतने का कोई प्रश्न ही नहीं। इस अवस्था में एक निराशा मिश्रित विरक्ति (Resignation) के साथ वह झुक जाता है, आत्मसमर्पण कर देता है। अब उसमें कोई विरोध शेष नहीं रहा।

'आखिरी दाँव' में समस्या है पैसे की, किन्तु समस्या को प्रधानता न मिलकर परिस्थितियाँ प्रमुख हो गई हैं। वे नाटकीय तथा फिल्म के ढंग की उतार चढ़ावयुक्त हैं।

वर्माजी मुख्यतः समस्या प्रधान उपन्यासकार हैं। उनके उपन्यासों में समस्या प्रधान होना ही है। आलोच्य उपन्यास सम्भवतः फिल्म के लिए लिखा गया था। उपन्यास के गठन से तो यही प्रतीत होता है। फिल्म के लिए लिखा जाने के कारण परिस्थितियों को महत्त्व देना पड़ा और इस प्रकार समस्या दब गई, परिस्थितियाँ प्रबल हो उठी हैं। फिल्म व्यवसाय के क्षेत्र में पूँजीवादी संस्कारों ने कितनी अनैतिकता और भ्रष्टाचार पैदा किया है, उसके चित्रण करने का प्रयास भी इस उपन्यास में है।

जिस प्रकार वर्माजी ने 'चित्रलेखा' में पाप पुण्य का, 'तीन वर्ष' में प्रेम और विवाह का, 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं का द्वंद्व दिखाया था, उसी भाँति 'आखिरी दाँव' में पैसे और नैतिकता का संघर्ष है, जिसमें अर्थ की ही विजय है, नैतिकता को बार बार उसके सम्मुख झुकना पड़ता है। पूरा उपन्यास परिस्थितियों का एक चक्र सा है जिसमें फँसा मनुष्य विवश-सा है, वह उसमें पराजित होता है।

पात्र

रामेश्वर प्रमुख पुरुष पात्र है। उसमें पौरुष है और इसलिए वह चमेली के धन पर जग मोहन की भाँति आश्रित होने को तैयार नहीं। स्वयं अपने पाँव पर खड़े होने का आत्मविश्वास उसमें है। यही कारण है कि उपन्यास के प्रारम्भ में ही जुए में सब धन हारने पर उसमें विवशता व भविष्य के प्रति आशंका व आतंक का भाव नहीं है। अपने पर उसे आत्मविश्वास है, इसलिए वह भविष्य से निश्चिन्त है। उसके दृढ़ व्यक्तित्व का ही प्रभाव है कि जल्द ही वह भयङ्कर कर्मी व्यक्तियों का नेता बन जाता है। रामेश्वर की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह गहरी किस्म का व्यक्ति है, शीघ्र ही बह जाने वाला कच्ची किस्म का नहीं। अपने पर उसे संयम है, यही कारण है कि चमेली को सेठ शांतिप्रसाद के साथ शराब पीते देखकर उत्तेजित हो उठता है अवश्य, किन्तु जल्दी ही वह अपने पर काबू पा लेता है। उसकी यह दृढ़ता, पौरुष व शक्ति सब उसके उस व्यक्तित्व के अंग हैं, जिसके आगे चमेली पराजित है और सब नत हैं, हतप्रभ से हैं। उसमें कमजोरी है तो केवल एक। वह यह है कि वह जुए के मोह को नहीं छोड़ पाता। अन्त में भाग्य के साथ जुए में वह जिन्दगी का आखिरी दाँव लगाता है जिसमें वह स्वयं अपने को व चमेली को भी हार जाता है। पहली बार वह परास्त होता है। यह पराजय अपनी हार पर नहीं वरन् चमेली को भी खो बैठने पर ही स्वीकार करता है। चमेली के प्रति उसके हृदय में जो सच्चा प्रेम है, उसके ऊपर विश्वास है वे उसके चरित्र को बहुत उज्ज्वल बना देते हैं। चमेली के पतन पर भी रोष प्रकट नहीं करता और न चमेली को पतित स्वीकार करता है। उसके पतन की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेता है। इस प्रकार वह असफलताओं व पाप की जिम्मेदारियाँ दूसरों के माथे पर पटककर मुँह चुराने वाला पलायनवादी नहीं है, वरन् सबको स्वीकार करते

हुए भी पराजय स्वीकार न कर जीने वाला पुरुष है। चमेली को खोकर वह अवश्य टूट जाता है, यदि न टूटता तो वह आदमी नहीं रह जाता। उसका पतन भी हमारी दृष्टि में उसे गिराता नहीं और अन्त में उसकी पराजय हमें विषाद में डाल देती है।

चमेली प्रमुख नारी पात्र है। परिस्थितियाँ उसे पतन के गढ़े में ढकेलती हैं जिसमें वह गिरती ही जाती है, प्रयत्न बहुत करती है कि सँभाल जाय। उसके पतन के बावजूद रामेश्वर के प्रति उसके हृदय में सच्चा प्रेम है, वह उसे बहुत ऊँचा उठाए रखता है और वह हमारी सहानुभूति की पात्र रहती है। अन्त में सेठ शीतलप्रसाद की हत्या कर वह आत्महत्या करके अपने कलंक को धो डालती है।

इस उपन्यास में भी नारी दुर्बल है, पुरुष का आश्रय चाहती है। चमेली को धन से बढ़कर रामेश्वर की आवश्यकता है।

इस उपन्यास के चरित्रों की यह विशेषता है कि उनमें अन्तर्द्वन्द्व पर्याप्त मात्रा में है। पात्र यथार्थ की भूमि से कहीं अलग नहीं हैं, उन्हें वह स्थिति स्वीकार करनी पड़ती है जिसमें वे फँसे हुए हैं। वे सब परिस्थितियों के शिकार हैं और उनसे हार मान भी लेते हैं। वे बार बार गिरते हैं और बार बार उठने का प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु वे पराजित होते हैं—लेकिन यह पराजय बाह्य जगत् का है, अन्तरंग की नहीं, अन्यथा चमेली पतन के गर्त में गिर कर भी फिर एक बार उठने का प्रयत्न न करती, न रामेश्वर ही अपने जीवन को बदलने की बात को विचारता। इस दृष्टिकोण से उपन्यास अपना विशेष महत्त्व रखता है।

उपन्यास में समस्या परिस्थिति के आगे दब अवश्य गई है, किन्तु बीच बीच में वह सिर उठा लेती है। गुपचुप परिस्थितियों को प्रभावित तो वह कर ही रही है। परिस्थितियाँ स्वतन्त्र नहीं हैं। रामेश्वर से सम्बन्धित परिस्थितियाँ तो मुख्यतः पैसे की समस्या से ही प्रभावित हैं। रामेश्वर प्रमुख पात्र है, इसलिए उसके कार्य सब परिस्थितियों पर असर डालते हैं। इस प्रकार समस्या का अस्तित्व व अप्रत्यक्ष महत्त्व तो रहता ही है।

विचार पक्ष

वर्माजी के उपन्यास समस्या प्रधान हैं। 'चित्रलेखा' में आध्यात्मिक, 'तीन वर्ष' में सामाजिक, 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में राजनीतिक, 'आखिरी दाँव' में नैतिक समस्या उपस्थित की गई है। समस्या उपस्थित करते समय लेखक तटस्थ रहने का प्रयास करता है और हर दृष्टिकोण को तार्किक शैली में प्रस्तुत करता है। इस प्रयत्न में वह प्रत्येक पक्ष को पूर्णतया विकसित या प्रकट होने का अवसर देता है। इनकी कला की पकड़ एक वैज्ञानिक की भाँति है जो प्रत्येक वस्तु को परखकर ही अपना निर्णय देने का यत्न करता है, इसलिए उपन्यासों के अन्त में अपना मत भी कहीं कहीं दिया है। 'चित्रलेखा', तीन वर्ष', 'आखिरी दाँव', प्रायः सभी में उनका अपना दृष्टिकोण है।

वर्माजी की विचारधारा का मूल आधार केवल अनुभव और तर्क हैं, कोई तात्विक सिद्धान्त नहीं। वे किसी भी मत को मानने वाले नहीं हैं। वे अज्ञेय की भाँति बौद्धिक हैं, जैनेन्द्र की भाँति भावुक और विचारक तथा प्रेमचन्दजी की भाँति विश्लेषण करने वाले हैं, किन्तु वे इन सब कलाकारों की रूढ़िवादिता से अलग हैं, उनसे विशिष्ट हैं। उन्होंने समाज की विभिन्न

विचारधाराओं को देता है, उन्हें तर्क पर कसता है और जो निर्णय निकले हैं उन्हें ही उन्होंने तटस्थ दृष्टि से रखा है। वर्माजी ने स्वयं एक स्थल पर लिखा है—"जो कुछ मैं लिखता हूँ, तर्क करने को नहीं लिखता। मैं तो अपने उन निर्णयों को पेश करता हूँ जिन पर मैं अपने उन तर्कों द्वारा पहुँचा हूँ जो अनुभवों और अनुभूतियों पर अवलम्बित हैं। बहुत सम्भव है जो बातें आज मैं कह रहा हूँ वे आगे चलकर मेरे भावी अनुभवों की कसौटी पर गलत उतरें और मुझे स्वयं अपने इन निर्णयों को बदलना पड़े। पर इसके ये अर्थ नहीं कि मैं निर्णय करना ही छोड़ दूँ। मुझे अपने जीवन के लिए कुछ आदर्श तो चाहिए ही।"[1] उनके इन आदर्शों का स्पष्टीकरण उनके एक अन्य लेख से होता है—"जो भी साहित्यकार इस प्रकार के साहित्य का सृजन करता है, जिसमें अप्राकृतिक चीजों का समावेश हो, वह साहित्यिक सफल न हो सकेगा ऐसा मेरा विश्वास है। आज का शिक्षित मस्तिष्क कल्पना के पेंच तार की सहायता नहीं चाहता—इनसे उसे विशेष रुचि नहीं है वह चाहता है सीधी सादी बातें, जीवन की वास्तविक घटनाएँ, जिन्हें वह रोज देखता है और कलाकार को जो कुछ लिखना हो, उसे वह वास्तविक जीवन से ही लेना पड़ेगा। आज हमें जिस साहित्य का सृजन करना है वह वास्तविक मानवीय विकास के आदर्शों को ही सामने रखेगा और उन आदर्शों का प्रचार करने के लिए हमें अपनी कला की नीति भी बदलनी होगी। मैं फिर कहता हूँ कि हमें, हम साहित्यिकों को, अपने चारों ओर देखना है, दूसरों के दुःख दर्द को, दूसरों की कमजोरियों को अनुभव करना है। हमें मनुष्य को देखना है, उसके कर्मों से सरोकार है। मनुष्य की उपेक्षा करके उसके कर्मों पर अपना निर्णय देना मानवता के लिए हितकर नहीं है।"[2]

कला पक्ष

वर्माजी के उपन्यासों की कथावस्तु की यह विशेषता है कि वह व्यक्तियों के चारों ओर लिपटी है, उसमें घटनाओं का महत्त्व, बल्कि चरित्र की विशेषताओं का उद्घाटन अधिक है। उन्होंने प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासकारों की वर्णन परम्परा और प्रेमचन्द की वर्णन शैली तथा आधुनिक वार्तालाप को लेकर विचार प्रधान शैली के साथ मिलाकर सुन्दर समन्वय उपस्थित किया है। फलतः उपन्यास न तो शुष्क हुए हैं और न बौद्धिकता से बोझिल। उन्होंने सही रूप से प्रेमचन्दीय कथावस्तु रखने की परम्परा में चमत्कारपूर्ण योग दिया है और उसमें आवश्यक परिवर्तन किया है। प्रेमचन्द की भाँति उनके उपन्यासों में न तो कई कथाएँ उपकथाएँ चलती हैं और न उनकी भाँति वर्माजी में एकता का अभाव है। उनकी कथावस्तु तो एक शृंखला में जुड़ी हुई कड़ी सी है और यह कथा की शृंखला बहुत सावधानतापूर्वक जोड़ी जाती है, कहीं भी अव्यवस्था का अंश नहीं होता।

प्रेमचन्दजी की ही भाँति वर्माजी के उपन्यासों की कथावस्तु में प्रत्येक वस्तु, पात्र,

---

१ भगवतीचरण वर्मा, 'हमारी उलझन' (लेख संग्रह), 'विचार विनिमय' नामक लेख से, पृ० ३०।

२ भगवतीचरण वर्मा 'हमारी उलझन' (लेख संग्रह), 'एक साहित्यिक दृष्टिकोण' नामक लेख से, पृ० १६ से २४।

घटना का वर्णन विस्तार और सूक्ष्मता से हुआ है। उनकी दृष्टि में कोई भी बात छूटने नहीं पाती है। घटनाएँ भी प्रत्यक्ष जीवन से ली जाती हैं।

पात्र

(१) वर्माजी के पात्रों का अपना विशेषता है। वे वर्ग के प्रतीक होते हुए भी अपनी यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं को समाहित किये हुए हैं, दूसरे रूप में कहा जाय तो उनका व्यक्तित्व ही प्रधानतया उपन्यास में उभर आता है। इस रूप से देखा जाय तो वर्माजी के पात्र व्यक्तिवादी उपन्यासों की श्रेणी में आते हैं। उनके उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के साथ व्यक्तियों का निर्माण हुआ है, व्यक्तित्व में टकरा हुई है और व्यक्ति की समस्या ने समाज की समस्या का रूप धारण कर लिया है, इसलिए व्यक्तिवादी पात्र रखते हुए भी उनके उपन्यास व्यक्तिवादी नहीं हैं और न वर्माजी व्यक्तिवादी कलाकार ही। पाप पुण्य, प्रेम और विवाह, विभिन्न राजनीतिक मतमतान्तर के संघर्ष, अर्थ और नैतिकता का सम्बन्ध, व्यक्ति की अपनी समस्या होते हुए भी समाज की समस्याएँ हैं और उनका हल भी व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से न दिया जाकर सामाजिक दृष्टिकोण से ही दिया गया है। इसीलिए उनके पात्र किन्हीं अर्थों में अपने व्यक्तित्व से पूर्ण होते हुए भी वर्ग के प्रतीक भी हैं। रमेश, प्रभा, अजित, रामनाथ, दयानाथ, उमानाथ, प्रभानाथ, शीतलप्रसाद, चमेली और रामेश्वर—इस बात के उदाहरण स्वरूप हैं।

(२) वर्माजी के सभी पात्र परिस्थितियों के शिकार हैं और परिस्थितियाँ ही उनके जीवन के उत्थान पतन को निर्देशित करती हैं। किन्तु इस क्षेत्र में भी इन पात्रों की अपनी व्यक्तिगत विशेषता यह है कि वे परिस्थितियों के बाह्य रूप से पराजित होते हैं, लेकिन उनका अन्तरंग उनसे पूर्णतया पराजित नहीं होता। उनके पात्रों में अन्तरंग और बाह्य जीवन में संघर्ष चलता रहता है और अन्त में प्रायः अन्तरंग के द्वन्द्व की ही विजय होती है। चित्रलेखा, बीजगुप्त, रमेश, रामनाथ, चमेली और रामेश्वर के जीवन का अध्ययन इस तथ्य का उदाहरण है। वे बाह्य परिस्थिति के सम्मुख झुकते हैं, किन्तु अन्तरंग द्वन्द्व उनके चरित्र को ऊँचा उठा देता है। वर्माजी के चरित्रों की यह विशेषता उनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की विशेषता को प्रकट करती है।

(३) वर्माजी के उपन्यासों में मानव की कमजोरी पर विजय पाने का प्रयास है। प्रायः हर पात्र अपनी दुर्बलता से लड़ रहा है, लेकिन केवल इच्छा शक्ति मात्र से वह ऊपर उठ नहीं पाता, बाहरी सहायता की आवश्यकता होती है। बाहरी सहायता प्रत्यक्ष हो सकती है, जैसे प्रभानाथ व दयानाथ कमजोरी को रामनाथ से व रामनाथ वीणा की सहायता से जीतते हैं। रमेश सरोज की व अजित रमेश की प्रत्यक्ष सहायता पाते हैं। बीजगुप्त अपने सहकारी श्वेतांग द्वारा यशोधरा से विमुख कराया गया है। अप्रत्यक्ष रूप से घटनाएँ भी सहायक होती हैं। चमेली शीतलप्रसाद के शिकंजे से रामेश्वर की गिरफ्तारी की सम्भावना की बात सुनकर छूट जाती है। अन्तर्द्वन्द्व पहले से विद्यमान रहता है, केवल ज़रा से सहारे की आवश्यकता है।

(४) वर्माजी के पुरुष पात्र प्रायः तर्क अधिक करते हैं। वे स्वयं अपने बारे में अधिक से अधिक बता देते हैं, जो कुछ रह जाता है वह परिस्थितियों के चक्र और उनके अन्तर्द्वन्द्व से

स्पष्ट हो जाता है।

(५) वर्माजी के नारी पात्र विशेष हैं। उनके सभी उपन्यासों में नारी पुरुष पर आश्रित व त्यागमयी है। उसका यह त्याग ही उसको पुरुष से ऊपर उठा देता है और पुरुष को उसके आगे नत हो जाना पड़ता है। 'तीन वर्ष' की वेश्या सरोज रमेश को पतन से अपने व्यक्तित्व द्वारा बचाती है और 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में महालक्ष्मी के त्यागपूर्ण व्यक्तित्व के आगे तर्कवादी उमानाथ नत हो जाता है। 'चित्रलेखा' की चित्रलेखा और 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' की राजेश्वरी देवी भी त्यागमयी नारियाँ हैं। 'आखिरी दाँव' की चमेली रामेश्वर के लिए स्वयं पतन के गर्त में गिरती है और अन्त तक उसे बचाने का यत्न करती है। पाश्चात्य शिक्षा पाई हुई प्रभा सदृश तितलियाँ अवश्य अपवाद हैं।

शैली

वर्माजी की शैली तार्किक है और भाषा साफ सुथरी। वह केवल तर्क करने के लिए तर्क नहीं करते, वरन् तथ्य प्रस्तुत करने के लिए तर्क करते हैं। सही रूप से वे टेक्नीक के क्षेत्र में एक प्रयोगवादी कलाकार की भाँति हैं जो इस दिशा में बहुत हद तक सफलता पा चुका है।

उपसंहार

वर्माजी के उपन्यासों में प्रेमचन्दजी की भाँति व्यापक जीवन दृष्टि नहीं है, उनके उपन्यास एक सीमित क्षेत्र और वर्ग की कुण्ठाओं और समस्याओं से सम्बन्धित हैं। प्रेमचन्द के सम्मुख एक विशाल संसार था, उन्होंने उसे अपनी सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखा था—किन्तु वर्मा जी ने जीवन के किन्हीं अंशों को लिया है और प्रेमचन्द की भाँति ही सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से उठाया है। प्रेमचन्द की ही भाँति उनका दृष्टिकोण भी मानवीय रहा है, मानव को उन्होंने दुर्बल माना है और इस दुर्बलता से छूटने का उसका प्रयत्न ही उनके उपन्यासों के मूल में है। कथा की ऐतिहासिकता के क्षेत्र में वे प्रेमचन्द से आगे हैं और उन्होंने गाँव एवं नगर की कथावस्तु को साथ साथ नहीं उठाया है। उन्होंने केवल नगर के जीवन की ओर ही अपनी दृष्टि रखी है और उसमें भी प्रायः उच्च मध्यवर्ग की ओर। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने एक लेख में वर्माजी के विषय में लिखते हुए कहा है—'स्वर्गीय श्री प्रेमचन्दजी ने अपनी सरल, सुबोध भाषा में लोगों का ध्यान समाज की ग्रामीण तथा निम्न श्रेणी की अवस्था की ओर पहली बार दिलाया था, भगवतीचरण जी ने अपनी आकर्षक शैली में पढ़े लिखे लोगों का ध्यान जीवन के आदर्शों के सम्बन्ध में इनके उलझे हुए मस्तिष्क की ओर आकर्षित किया है।'[1]

1 डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, 'विचारधारा' (लेख संग्रह), पृ० १७०।

गंगाधर झा

मैक्सिम गोर्की

हिन्दी जगत् में गोर्की निर्विवाद रूप से संसार के एक श्रेष्ठ कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्हें जब हम टाल्सटाय की समकक्षता में रखते हैं तब यह बहुत स्वाभाविक प्रतीत होता है। गोर्की की यह प्रतिष्ठा प्रधानतः उनके 'माँ' नामक उपन्यास पर आश्रित है। इस कृति को हम विश्व के उपन्यास साहित्य में बहुत उच्चस्थ मानते हैं। इसके अतिरिक्त गोर्की की अनेक कहानियाँ भी हिन्दी में अनूदित हैं। किन्तु गोर्की के समस्त कृतित्व का यह एक इतना सूक्ष्म अंश है कि उसके आधार पर उनकी कलाकारिता का उपयुक्त मूल्यांकन सम्भव नहीं। सच तो यह है कि हमारे यहाँ उनकी मान्यता किसी भिन्न ही वस्तु पर आश्रित है। भारत में वे निम्न और निपीड़ितों के मसीहा, क्रांति के अग्रदूत तथा मानव मात्र की मुक्ति के अमर स्वर सधानक के रूप में प्रसिद्ध हुए। जिस समय यह देश अपने सामाजिक बन्धनों तथा विदेशी शासन से स्वतन्त्र होने के लिए सचेष्ट था, उसी समय जारशाही से निपीड़ित रूसी जनता भी क्रान्ति की सफल साधना करके एक अभिनव सुखमय समाज के निर्माण में अग्रसर हो रही थी। जो मार्ग दोनों देशों ने अपनाए वे नितान्त भिन्न थे, किन्तु उन्मुक्त और मंगलमय जीवन की आकांक्षा और साधना में वे हमराही थे। टाल्सटाय के आदर्शवादी विचार भारत में सहज प्रविष्ट हुए तथा रूस का किसान भारतीय किसान के बहुत आत्मीय बन्धु के रूप में प्रस्तुत हुआ। ऐसी भावुक पृष्ठभूमि ने भारत के हृदय को समस्त रूसी के प्रति सहानुभूतिपूर्ण, कोमल और आत्मीय बना दिया था। अतएव गोर्की जब क्रांति और साम्यवाद के प्रमुख प्रचारक के रूप में उपस्थित हुए, तब गांधीवाद के अनुगामी भारत ने उन्हें भी प्रभूत समादर के साथ स्वीकार किया।

गोर्की के अनुशीलन का उत्साही समीक्षक प्रकाश की आशा में स्वभावतः विदेशी विद्वानों की ओर मुड़ता है। प्रकाश उसे सम्भवतः कुछ मिलता है, किन्तु अनेक जटिल समस्याएँ भी उसके समक्ष उपस्थित होती हैं। मैक्सिम गोर्की मार्क्सवादी एवं बोल्शेविक पार्टी के एक सदस्य थे। इस तथ्य के अनुकूल एक ओर उन्हें एक महान् जनवादी कलाकार और समाजवादी यथार्थवाद का अग्रणी उन्नायक घोषित किया जाता है तो दूसरी ओर एक ऐसा प्रतिभा के रूप में, जिसने राजनीति की वेदी पर अपनी कला को बलि चढ़ा दिया। अनेक विद्वानों द्वारा कलाकार से अधिक प्रचारक घोषित किये जाते हैं। इसी प्रकार रूस के विषय में पश्चिमी धारणा भी अनेक जटिलताएँ उत्पन्न करती है। यह धारणा सदा एकसी नहीं रही और परिस्थितियों के अनुसार बदलती गई। यह प्रमाणित किया जा सकता है कि इस धारणा के विकासक्रम में पूर्वग्रह और स्वार्थ तथा अन्ततः साम्यवाद का विरोध मुख्य प्रेरक हैं। रूसी साहित्य और विशेषतः गोर्की के मूल्यांकन में इस तथ्य का गहरा प्रभाव पड़ा है। ऐसी जटिलताओं के समक्ष गोर्की का निष्पक्ष

और वस्तुपरक अनुशीलन बहुत सरल नहीं प्रतीत होता। आरम्भिक आवश्यकता यह है कि हम गोर्की के समस्त कृतित्व का सामान्य परिचय प्राप्त करें तथा उन तथ्यों पर ध्यान दें जो उनके निष्पक्ष अनुशीलन को आच्छादित करते हैं। यही प्रस्तुत निबन्ध का प्रयोजन है।

गोर्की ने जिस समय साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया, मिर्स्की के अनुसार उसके कुछ वर्ष पूर्व ही रूसी उपन्यास का स्वर्णयुग सम्पन्न हो चुका था। बीच में कुछ समय रूस के लेखक उपयोगितावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया में कलात्मकता की ओर अग्रसर हुए। इस समय में मार्क्सवाद को रूस में प्रचलित अन्य सिद्धान्तों के ऊपर प्रमुखता प्राप्त हो चली। किन्तु सभी लेखकों और कलाकारों ने उसे नहीं अपनाया। मिर्स्की अपने रूसी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—"सन् १६०० और १६१० के बीच रूसी साहित्य दो स्पष्ट और परस्पर अभेद्य भागों में विभक्त था। एक ओर गोर्की एवड्रीव सम्प्रदाय था और दूसरी ओर प्रतीकवादी और उनके अनुयायी थे। आरम्भ में गोर्की एवड्रीव समूह ने प्रतीकवादियों को आच्छादित कर दिया किन्तु आज वह अवधि हमें प्रतीकवाद युग के रूप में दिखाई देती है।" दोनों दलों का मुख्य अन्तर प्रतिभा के आधार पर नहीं, किन्तु सांस्कृतिक धरातल पर आश्रित है—"गोर्की एवड्रीव दल पुराने बुद्धिजीवियों का उत्तराधिकारी है, जो पुराने प्रगतिशीलों की नैतिक शिक्षा के अधिकांश से वंचित थे और जिसके बदले में निराशावाद और अनास्था के एक 'तृषित शून्य' के अतिरिक्त जिन्होंने कुछ प्राप्त नहीं किया। प्रतीकवादी एक नई संस्कृति के अग्रदूत थे, जो यद्यपि एकांगी और अपूर्ण थी तथापि जिसने रूसी मानस को अधिक व्याप्ति और समृद्धि दी तथा बुद्धिजीवियों को एक साथ अधिक यूरोपीय और अधिक राष्ट्रीय बना दिया।" संस्कृति से मिर्स्की का क्या अर्थ है तथा उनके उपयुक्त वक्तव्य के साथ कितने लोग सहमत हो सकते हैं यह निर्णय हम दूसरों पर छोड़ते हैं, किन्तु हमारे प्रयोजन के लिए जो अर्थ उसमें सन्निहित हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं—गोर्की की प्रतिभा विवाद्य नहीं है, रूसी साहित्य के इतिहास में उनका स्थान सीमित है तथा कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ देते हुए भी उन्होंने कोई ऐसा प्रवर्तन नहीं किया जो रूसी साहित्य के भविष्य विकास को प्रेरित करे। इस अन्तिम कार्य की भूमिका दूसरों द्वारा निर्मित हुई।

अभाव की अन्यतम गहराइयों से उठकर गोर्की ने यश और सफलता के चरम शिखर का चुम्बन किया। उनका जन्म सन् १८६८ में निज्नी नोवोगारोड नामक स्थान में हुआ। उनका मूल नाम ए० एम० पेश्कोव है। गोर्की उपनाम है जिसका अर्थ पीड़ित अथवा विपन्न है। उनका आरम्भिक जीवन उत्पीड़न और अभाव की एक विलक्षण कहानी है। उनके बाल्य काल में ही उनके पिता की मृत्यु हो गई और उनकी माँ उन्हें लेकर अपने पिता के यहाँ रहने लगी। गोर्की को जीवन यापन के लिए बचपन से कार्य करना पड़ा। मोची के काम से लेकर ऐसा कोई धन्धा नहीं जो उन्होंने न किया हो। एक समय जब वे वोल्गा नदी के एक जहाज पर काम करते थे तब जहाज के शराबी रसोइये ने उन्हें पढ़ना लिखना सिखाया। उनके आरम्भिक अध्ययन में जनप्रिय मारकाट, साहसिकता और रोमांच की पुस्तकों की बहुलता थी। इसका प्रभाव गोर्की की आरम्भिक कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है। पन्द्रह वर्ष की उम्र में उन्होंने काजान की एक पाठशाला में प्रविष्ट होने का प्रयत्न किया, किन्तु धनाभाव के कारण अपने उद्देश्य में वे निष्फल हुए। यही नहीं, उदरपोषण के लिए वे एक भूगर्भ में स्थित रोटी के कारखाने में

काम करने के लिए विवश हुए, जिसका 'छब्बीस मनुष्य और एक लड़की' नामक कहानी में उन्होंने मार्मिक वर्णन किया है। कज़ान में ही वे विद्यार्थियों के सम्पर्क में आए और क्रांतिकारिता का आरंभिक शिक्षा उनसे प्राप्त की। १८६१ में वे रूस के पर्यटन के लिए निकल पड़े। इस समय अपने निर्वाह के लिए जो काम मिल गया वही वे करते थे। अंत में वे टिफलिस पहुँचे और वहाँ मजदूरों के एक क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गए। वहीं मार्क्सवादियों से उनका परिचय हुआ और उनकी विचारधारा की गतिविधि निर्धारित हो गई।

टिफलिस में ही ए० एम० काल्युज़्नी नाम के एक प्रगतिशील विचारों वाले व्यक्ति ने गोर्की को अपने समस्त अनुभवों को लिखने के लिए प्रेरित किया। फलस्वरूप १८६२ में एक स्थानीय दैनिक में उनकी प्रथम कहानी 'माकर छुद्रा' प्रकाशित हुई। १८६५ में प्रथम बार एक प्रसिद्ध मासिक पत्रिका में उनकी 'शेलकश' नामक कहानी का प्रकाशन हुआ। यश के आगमन में देर नहीं लगी और गोर्की बहुत शीघ्र देश विदेश में प्रसिद्ध हो गए। सन् १८६८ में उनकी कहानियों का संग्रह दो भागों में प्रकाशित हुआ।

गोर्की की आरम्भिक कहानियों में स्वच्छंदतावाद की प्रधानता है। 'माकर छुद्रा', 'ओल्ड इज़रगिल', 'सॉंग ऑफ द फाल्कन' आदि कहानियाँ इसी कोटि की हैं। 'माकर छुद्रा' बर्बरता की समस्त तीव्रता से युक्त एक दुःखान्त प्रेम की कहानी है। 'ओल्ड इज़रगिल' एक ऐसी कहानी है जिसमें एक जर्जर वृद्धा संस्मरण के रूप में अपने यौवनकाल के बहुसंख्यक प्रेम प्रसंगों का वर्णन करती है। एक समय आता है जब वह ढल चलती है और पुरुषों को अपना खिलौना बनाकर रखने की क्षमता से वंचित होकर स्वयं एक पुरुष के प्रेम में उन्मत्त हो जाती है। स्वयं को किसी भी हद तक गिरा कर उसके हृदय को जीतने का वह प्रयास करती है, किन्तु सफल नहीं होती। रूप रचना की दृष्टि से इस कहानी में यह विलक्षणता है कि उसके आरम्भ और अन्त में क्रमशः 'लारा' और 'द हार्ट ऑफ डेंको' का कपोल कथाएँ संयुक्त हैं। 'सॉंग ऑफ द फाल्कन' में फाल्कन सब कुछ दॉंव पर रखकर नये आदर्शों की ओर बढ़ने वाले क्रांतिकारी का प्रतीक है।

गोर्की की अनेक कहानियों में ऐसे पात्रों को प्रमुखता मिली है जो आवारा तथा समाज से बहिष्कृत हैं। 'शेलकश', 'कोनोवालोव' और 'द ओर्लोव्स' इस कोटि में प्रमुख हैं। गोर्की के आवारे अपनी बाह्य विरूपता के नीचे मानवीयता छिपाये हुए हैं। एक ओर उनमें स्वयं को बहिष्कृत करने वाले समाज के प्रति घृणा भरा हुई है और दूसरी ओर स्वतंत्रता और प्रकृति के लिए अपार प्रेम के साथ वे जीवन का अर्थ समझने के लिए उत्सुक हैं।

१८६७ से गोर्की की कृतियों में यथार्थवाद की प्रमुखता हो चलती है। उनकी 'एकग पोबुल' नामक कृति में यह स्पष्ट लक्षित होता है। 'ट्वेंटीसिक्स मैन एण्ड ए गर्ल', 'मिस्चीफ मेकर', 'द ओर्लोव्स' और 'फॉर वान्ट ऑफ समथिंग बैटर टु डू' इत्यादि कहानियाँ इसी कोटि के अन्तर्गत आती हैं।

मिर्स्की ने जिन कहानियों का विशेषता के साथ उल्लेख किया है वे क्रमशः 'शेलकश', 'माइ फैलो-ट्रैवलर' और 'ट्वेंटी सिक्स मैन एण्ड ए गर्ल' हैं। 'शेलकश' में चरित्रांकन बहुत स्पष्टता से किया गया है। इस दृष्टि से मिर्स्की 'माइ फैलो ट्रैवलर' को सर्वोत्तम मानते हैं। वे ट्वेंटी सिक्स मैन एण्ड ए गर्ल' को सर्वोपरि सम्मानित स्थान प्रदान करते हैं— 'कहानी क्रूरता

के साथ यथार्थवादी है। उसमें काव्य का एक ऐसा प्रबल प्रवाह है, सौंदर्य, स्वतन्त्रता और मनुष्य के मूलभूत औदात्य के प्रति ऐसी विश्वसनीय आस्था है, और उसी समय इतनी सूक्ष्मता और अनिवार्यता के साथ उसे कहा गया है कि एक सर्वोत्कृष्ट कृति के नाम से उसे वंचित करना बहुत कठिन है। गोर्की को वह हमारे साहित्य के सच्चे महारथों की मंडली में प्रतिष्ठित करती है। किन्तु अपने चरम सौंदर्य में वह अकेली है—और गोर्की के आरम्भिक उत्तम कार्य में अन्तिम है।"

इस युग में पश्चिमी पूँजीवाद अपने स्वर्ण युग की तन्द्रा में मग्न था। वहाँ उदारवाद की प्रधानता थी। अपने प्रजातान्त्रिक आदर्शों में वे देश स्वयं मुग्ध थे और उन पर गर्वित थे। रूसी शासक उन्हें इन आदर्शों के परम शत्रु प्रतीत होते थे और उनके प्रति उन्हें कोई सहानुभूति न थी। उनकी सहानुभूति उन विचारकों, कलाकारों और क्रान्तिकारियों के साथ थी जो इस शासन को मिटा कर नई व्यवस्था के आग्राहक थे। रूसी साहित्य उनमें बहुत विचित्र प्रतिक्रिया उत्पन्न करता था और दस्तोव्स्की के उपन्यासों की 'आध्यात्मिक गहराइयों' में डूबकर वे उल्लसित और पूत होते थे। मानवीय मनोवृत्ति के इस विचित्र अभिनय काल में उस स्वयं प्रशंसित, गर्वोन्नत भूमि यूरुप ने गोर्की को भी बहुत सहज वृत्ति के साथ स्वीकार किया।

१८६६ से १६१२ तक गोर्की अपने रचनाक्रम के द्वितीय सोपान पर आरूढ़ रहते हैं। इस काल में उन्होंने अनेक उपन्यासों और नाटकों तथा कतिपय सामान्य कृतियों की सृष्टि की। उनके उपन्यास क्रमशः 'फोमा गोर्देयेव' (१८६६), 'थ्री ऑफ देम' (१६००-१), 'द मदर' (१६०७), 'द कॉन्फेशन' (१६०८), 'ओकरोव सिटी' (१६०६) और 'मात्वेई कोजेम्याकिन' (१६१०) हैं। 'द पैटी बूर्जुआ' (१६०१), 'द लोअर डैप्थ्स' (१६०२), 'समर स' (१६०४) 'द चिल्ड्रन ऑफ द सन' (१६०५), 'द बर्बेरियन' (१६०६), 'एनीमीज' (१६०६) और 'वास्सा जैलेज्नोवा' (१६१०) इस काल में विरचित उनके नाटक हैं। सृजन का यह परिमाण अत्यन्त विपुल है, किन्तु इन समस्त रचनाओं को मिर्स्की गोर्की के कृतित्व का सबसे कम महत्त्वपूर्ण अंश मानते हैं।

गोर्की के उपन्यास प्रचार मूलक और स्पष्ट रूप से सामाजिक संदेश को लेकर चलने वाले माने जाते हैं। मिर्स्की की धारणा है कि गोर्की के सामान्यतः सभी उपन्यास बहुत उत्तम ढंग से आरम्भ होते हैं, किन्तु आगे चलकर वे अशक्त और प्रभावहीन हो जाते हैं। उदाहरणार्थ "द थ्री ऑफ देम' और द कॉन्फेशन' के आरम्भिक कुछ पृष्ठ कथा के अबाध और प्रत्यक्ष विकास द्वारा पाठक को मन्त्र मुग्ध रखते हैं, किन्तु तब वह अन्तहीन और थका देने वाली 'जिज्ञासा' आरम्भ हो जाती है पर जब वह अपने लक्ष्य के समीप पहुँचने लगती है और नायक सोचता है कि समाज के लिए उसने रामबाण पा लिया है तब वह और अधिक उबाने वाली हो जाती है।" यही समीक्षक 'फोमा गोर्देयव' को गोर्की का सर्वोत्कृष्ट उपन्यास मानते हैं। "आरम्भिक अध्याय गोर्की की कलासृष्टि के सर्वोत्तम अंश का भाग है। उसकी रचनात्मक और पौरुषपूर्ण वृत्ति उसे एक ऐसी विशेषता प्रदान करती है जो रूसी साहित्य में दुर्लभ है।"

गोर्की के उपन्यासों पर जो आरोप लगाए जाते हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं। सर्वप्रथम उनकी प्रचारवादिता उन्हें दुर्बल बनाती है। द्वितीयतः गोर्की ने अपनी कृतियों में दार्शनिक विवादों का विपुल योग किया है। स्थान स्थान पर जीवन के अर्थ को लेकर बहस छिड़ जाती है।

परिणामत कृतियों का संगठन नष्ट हो जाता है और वे शिथिल हो जाती हैं। कृतियों की शैली प्रभावहीन वार्तालाप की शैली में बदल जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि गोर्की केवल कलाकार बनकर संतुष्ट नहीं थे, वरन् एक नेता और शिक्षक बनने की आकांक्षा भी उनमें थी। किंतु उनके दार्शनिक विचार कभी स्पष्ट नहीं रहे और उनके धुँधलेपन के कारण कृतियों में एक ऐसी विशेषता आ जाती है जो निराशावाद के समान प्रतीत होती है तथा उनके मूलभूत आशावाद को भी आच्छादित कर देती है। १९०८ के आसपास 'ईश्वर निर्माण' नाम से अभिहित एक विचित्र धार्मिक धारणा उन्होंने निर्मित की। इसका सारांश यह है कि जनता की आस्था से ईश्वर का निर्माण होना चाहिए। इस मत का विरोध स्वयं लेनिन ने अत्यंत विनम्रता किंतु स्पष्टता के साथ किया। इन निर्णयों के विषय में हम कह सकते हैं कि गोर्की की उपर्युक्त दुर्बलताएँ चाहे क्षम्य न हों, किन्तु रूसी साहित्य की एक विशेष परम्परा से उनका सम्बन्ध अवश्य जोड़ा जा सकता है। बेलिंस्की के समय से यहाँ यह धारणा रही है कि लेखक का कार्य सामाजिक प्रश्नों के गम्भीर चिंतन के साथ जनता का नेतृत्व करना भी है। इसी आधार पर किसी कृति के मूल्यांकन में सबसे अधिक महत्त्व उसमें प्राप्त होने वाले संदेश को दिया जाता था। जीवन का निरीक्षण, क्रमशः चिंतन और चिंतन के परिपाक से संदेश का निर्माण—इस क्रम ने क्रमशः रूसी साहित्य को उसकी यथार्थवादिता, दार्शनिकता और प्रचारात्मकता प्रदान की। इन विशेषताओं से टॉलस्टाय वंचित नहीं थे और पश्चिम के विद्वान दस्तोएवस्की के कृतित्व का मूल्यांकन प्रधानतः उनके आध्यात्मिक संदेश के आधार पर करते थे। कला के विषय में इस प्रकार का दृष्टिकोण कहाँ तक न्याय संगत और उत्कर्षकारी है, इस विषय में हम यहाँ कुछ नहीं कहेंगे। हमारा प्रयोजन केवल यह प्रदर्शित करना है कि उस समय रूस में उसका प्रचलन था।

हिन्दी जगत् को यह मनोरंजक प्रतीत होगा कि अपने इतिहास में मिर्स्की ने 'मदर' के विषय में एक शब्द कहना आवश्यक नहीं समझा और पश्चिमी समीक्षा में जहाँ उसका उल्लेख हुआ, वहाँ उसे एक द्वितीय कोटि की कृति से ऊँचा नहीं माना गया। हम अभी इस स्थिति में नहीं कि इन निर्णयों का प्रामाणिक खण्डन कर सकें, किंतु इस विषय में अपने कतिपय विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहेंगे। यह सच प्रतीत होता है कि 'मदर' में गतिहीन और 'दार्शनिक' वार्तालाप की बहुलता है और उससे उसके संगठन, गति और प्रभाव शक्ति में शिथिलता आती है। किंतु कम से कम इस कृति में 'दार्शनिक' वार्तालाप की दिशा पर्याप्त स्पष्ट है। उसका नायक केवल लाखों मजदूरों की बस्ती के पतित और संकीर्ण संस्कारों में उत्पन्न और विकसित होकर अपने जीवन की वास्तविक हीनता का अनुभव करता है। उसके कारण की खोज में वह अध्ययन में रत होता है और क्रमशः मार्क्सवादी सिद्धांत में अपना पथ प्राप्त करता है। उस वर्ग के मनुष्य आरम्भ में अपने अमानवीय जीवन को दुःखद, किंतु स्वाभाविक समझते हैं, जिससे मुक्ति का कोई मार्ग नहीं। किंतु यह जानते ही कि वह जीवन स्वाभाविक नहीं है, एक विशेष सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है, वे उसे मिटाकर एक नये न्यायपूर्ण समाज के निर्माण के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं। आरम्भिक प्रतिक्रिया क्रोध और अनियन्त्रित विद्रोह के रूप में होती है, किन्तु सत्य का ज्ञान इस मनोदशा को एक बलिदानी संकल्प और उज्ज्वल भविष्य के विश्वास में परिणत कर देता है। यह तथ्य किसी आध्यात्मिक विकास से कम महत्त्वपूर्ण नहीं और मानवीयता की प्रतिष्ठा में उसके मूल्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। क्या निःस्व और निपीड़ितों से

सम्बद्ध किसी कृति को हम तभी महत्त्वपूर्ण मानें जिसके पात्र आत्मपीड़क बनकर उपस्थित होते हैं और अपनी मुक्ति का आदर्श किसी आध्यात्मिक कल्पना में पाते हैं। गोर्की की यह कृति एक ओर यदि ऐसी विशेषताओं से मुक्त है तो दूसरी ओर उस विनाशकता से भी, जिसे साम्यवादी प्रचार और घृणा प्रसार के नाम से अभिहित किया जाता है। सिद्धान्त निरूपण से भी अधिक आसक्ति गोर्की ने मानवीय मूल्यों के प्रति प्रदर्शित की है। यदि यह सच है कि दार्शनिक वार्तालाप की बहुलता इस कृति को शिथिल बनाती है तो यह भी कम सच नहीं कि ध्वज यात्रा, रीबिन की बलिदानी दृढ़ता, यगोरोव की मृत्यु और अदालत के दृश्यों के चित्रण में गोर्की की कला एक गम्भीर उत्कर्ष और प्रभाव शक्ति ला देती है। स्वयं 'माँ' का चरित्र एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण सृष्टि है। यदि अपने जीवन के प्रथम पक्ष में वह अचेतन रूप में बर्बरता के चरणों पर बलि थी, तो अंतिम पक्ष में स्वनिर्धारित लक्ष्य के पथ पर चलती हुई स्वेच्छा से बलि होती है। समस्त उपन्यास वास्तव में उनके इस विकास की एकता में अन्तर्गत गठित है। पुस्तक के अन्त में माँ का बलिदान मातृत्व की स्वभाव कोमलता और त्यागशीलता तथा उस मनुष्य आदर्श की प्राप्ति के स्वरूप को एक साथ व्यक्त करता है जो आज के निःस्व और निपीड़ितों को कल वास्तविक मानवीयता के धरातल पर प्रतिष्ठित करेगा।

गोर्की के नाटकों में सबसे प्रसिद्ध 'द लोअर डैप्थ्स' है। उसे तात्कालिक सफलता मिली और बर्लिन में वह लगातार दो वर्ष तक प्रदर्शित होता रहा। किन्तु मिर्स्की उसकी इस सफलता का कारण उसके मूलभूत गुण को न मानकर अन्यत्र खोजते हैं—"'द लोअर डैप्थ्स' एक विजय थी। देश में स्तानिस्लाव्स्की दल का विस्मयजनक अभिनय निर्णायक सिद्ध हुआ। विदेश में उसकी सफलता इस प्रकार की वस्तु की आतिशयिक नवीनता पर आश्रित थी, अर्थात् उसकी भूमिका की भावोत्तेजक यथार्थवादिता और दार्शनिक चोरों, आवारों और वेश्याओं के गम्भीर वार्तालाप को सुनने का अभिनव आनन्द।" किन्तु इसी नाटक के विषय में दूसरे समीक्षकों ने भिन्न प्रकार के मत भी प्रस्तुत किये हैं। १९०५ में प्रकाशित अपनी 'इकोनोक्लास्ट्स—ए बुक ऑफ ड्रैमेटिस्ट्स' नामक पुस्तक में जेम्स हूनेकर ने लिखा है—"पेरिस में उत्पादित और वार्षिक रूप में अमरिका में निर्यात होने वाले व्यभिचार के नाटक की तुलना में समाजच्युत नर नारियों के एक समूह का यह अध्ययन एक शक्तिशाली नैतिक शिक्षा है।" १९३५ के अपने 'रेड थियेटर्स एण्ड द ग्रीन बे ट्री' नामक लेख में रूसी थियेटर की प्रशंसा करते हुए हालसेण्ड वैल्स ने 'द लोअर डैप्थ्स' का उल्लेख उसे 'एक चरमोत्कृष्ट कृति' कहकर किया है। गोर्की के शेष नाटक समीक्षकों के कृपापात्र नहीं बन सके। उनका रूप रचना में चेखव की नाट्य शैली का अनुकरण माना जाता है, किन्तु इस महत्त्वपूर्ण अन्तर के साथ—कि चेखव के नाटकों के प्रच्छन्न गतिमान संगठन से वे वंचित हैं।

इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिसका गोर्की और उनकी ख्याति पर गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १९०६ में गोर्की ने अमेरिका की यात्रा की। वहाँ बहुत धूमधाम से उनके स्वागत की तैयारियाँ की गई थीं, किन्तु बहुत शीघ्र यह समस्त उनकी निन्दा और विरोध में बदल गया। अपनी 'मैक्सिम गोर्की एण्ड हिज रशिया' (१९३१) पुस्तक में अलेक्जेण्डर काउन ने इस विचित्र वृत्तान्त का विस्तृत विवरण दिया है—"यह निश्चित प्रतीत होता था कि गोर्की का इस देश में प्रवास अनेक साहित्यिक और राजनीतिक मान्य व्यक्तियों से युक्त प्रीति

भोजों और जनसभाओं की शृखला के रूप में होगा। यह जनश्रुति थी कि राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की ओर स भी एक निम त्रण उन्हें मिलने वाला है। गोर्की १० अप्रैल, १९०६ को अमेरिका पहुँचे। कुछ ही दिनों के अन्दर उनका उत्थान और पतन सम्पन्न हो गया। अंशत वे अमरीकी मित्रों की सलाह के शिकार हुए, जिन्होंने उनसे इडाहो की खान में काम करने वाले ऐसे मजदूरों के प्रति सहानुभूति सूचक तार में हस्ताक्षर कराया जिन पर अपराध क लिए उस समय कानूनी कार्यवाही चल रही थी अंशत न्यूयार्क के समाचार पत्रों की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता इसका कारण हुई अंशत रूसी दूतावास के प्रभावपूर्ण कि तु प्रच्छन्न प्रयत्नों स यह सम्भव हुआ और अंशत अमरीकी जनता क नैतिक सन्निपात के कारण, जो इन शोध सूचनाओं से उद्दीप्त हो गया कि गोर्की एक ऐसी स्त्री क साथ यात्रा कर रहे थे जो वैध रूप में उनस विवाहित नहीं थी। कि तु यह नहीं बतलाया गया कि तलाक विषयक रूसी कानून के अ तगत वे ऐसा कर ही नहीं सकते थे।"

मार्क ट्वेन ने एक सभा क समक्ष पढने के लिए एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने रूसी शासन के विरुद्ध और क्रान्तिकारियों के पक्ष में विचार प्रकट करते हुए यह आशा प्रस्तुत की थी कि 'यह दिन देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो जब रूस में ज़ार और ग्रेण्ड ड्यूक उतने ही विरल हो जायेंगे, जितने विरल, मुझे विश्वास है, वे स्वर्ग में हैं।" किन्तु इसी बीच नि दा अभियान चल पडा। उससे मार्क ट्वेन अत्यन्त खिन्न और उद्विग्न हो गए। एक दूसरे प्रसिद्ध साहित्यिक विलियम डीन हॉवेल्स ने अपने भाई को एक पत्र (१६ अप्रैल, १९०६) में लिखा— 'हम लाग उन्हें एक बहुत बड़ा साहित्यिक भोज दने जा रहे थे, कि तु वे उस स्त्री के साथ जो उनकी पत्नी नहीं है, तीन होटलों स निकाले जा चुके हैं । गोर्की ने भूल की है, कि तु मुझ उनके लिए दु ख होता है अपने ही देश में वे बहुत कष्ट झेल चुके हैं । वे एक सरल हृदय व्यक्ति हैं और महान् लेखक, किन्तु वे असम्भव काय नहीं कर सकते।" इन परिस्थितियों के उत्तर में गोर्की ने 'द सिटी ऑफ द यलो डेविल' नाम से लेखों का एक पूरा शृखला प्रस्तुत की।

कलाकार के रूप में गोर्की की मान्यता पर भी उपयुक्त विचित्र वृत्तान्त का गहरा प्रभाव पडा। उनकी निन्दा ही स तोष के लिए पर्याप्त नहीं थी, यह भी आवश्यक था कि लेखक के रूप में उन्हें उच्छिन्न कर दिया जाय। 'बुकमैन' (जून, १९०६) में 'द एक्लिप्स ऑफ गोर्की' शीर्षक के अन्तगत ऐसे विचार अंकित हुए— गोर्की स्वय में कोई विशेष व्यक्ति नहीं वे गदी बस्तियों की उपज हैं वर्षों तक व आवारा रहे और उन्होंने कुछ पुस्तकें लिखी हैं जो एक हताश अनास्था स ओत प्रोत हैं और जिनमें कम से कम पाठक को दु खी और खिन्न बनाने की शक्ति है । अमेरिका ने क्रान्ति-उत्साहियों पर व्यग्य करते हुए लिखा गया— 'उनकी विकृत बुद्धि उस आतकपूर्ण भयकरता का अनुभव करने में असमर्थ है जो एक ऐसी जनता के सामूहिक विद्रोह के साथ अनिवार्यत उत्पन्न होगी जो स्वराज्य की असमर्थता में लगभग पशुवत् है।' डोरोथी नियुम्टर का वक्तव्य है कि "इस प्रकार गोर्की के साथ रूसी जनता और रूसी लेखकों, सबका पतन हो गया' तथा "इसके पश्चात् कलाकार के रूप में गोर्की की निष्पक्ष समीक्षा की बड़े परिमाण में आशा नहीं की जा सकती।'

१९०६ और उसके पश्चात् रूसी शासकों के प्रति इंग्लैण्ड के दृष्टिकोण में भी परिवतन

हुआ। इसके साथ विद्रोहियों के प्रति उसकी सहानुभूति में भी कुछ परिवर्तन स्वाभाविक हो गया। इन परिस्थितियों का गोर्की के साथ प्रत्यक्ष रूप में कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु यह असम्भव था कि अप्रत्यक्ष रूप से इस व्यापक दृष्टिकोण का प्रभाव गोर्की पर भी न पड़े। रूस के साथ इंग्लैण्ड के सम्बन्ध में बर्नार्ड शॉ १६१४ के अपने 'कॉमन सेन्स अबाउट वार' नामक निबन्ध में मनोरंजक प्रकाश डालते हैं—"१६०६ तक सामान्यतः यह माना जाता था कि ज़ारशाही प्रत्येक ऐसी स्वतन्त्रता की शत्रु थी जिसका इंग्लैण्ड को गर्व था, किन्तु समाचार-पत्रों ने रूस द्वारा उन राजनीतिक सिद्धान्तों की अवहेलना के उदाहरण प्रकाशित करना बन्द कर दिया है जो इंग्लैण्ड के आदर्श हैं। क्यों? उत्तर सरल है। १६०६ वह वर्ष है जब हमने रूस को ऋण देना आरम्भ किया और रूस 'द टाइम्स' में विज्ञापन छपाने लगा। तब से रूस इसके लिए स्वतन्त्र है कि हमारे धनीवर्ग के प्रेस से विरोध का एक शब्द सुने बिना अपने एच० जी० वेल्सों और लॉयड जॉर्जों पर दर्जनों की संख्या में कशाघात करे और उन्हें फाँसी पर लटका दे।"

स्पष्ट है कि पश्चिम की दृष्टि में इस प्रकार के परिवर्तन के साथ गोर्की का निष्पक्ष मूल्यांकन अधिक दुष्कर होता गया। कहा जाता है कि अचानक महानता के शिखर को पाकर गोर्की की मान्यता इस काल में रूस में भी क्षीण हो गई। सर्वमान्य राष्ट्रीय लेखक के स्थान पर वे केवल मार्क्सवादियों के प्रियपात्र बनकर रह गए। इस काल में गोर्की और लेनिन में कुछ सैद्धान्तिक मतभेद भी दृष्टिगोचर होता है। कुछ लोग चाहते थे कि गोर्की पार्टी के नियमित कार्य में भाग लें और गोर्की 'प्रोलितेरियन' के लिए कुछ छोटी छोटी चीज़ें लिखें। लेनिन ने विनम्रता के साथ इन प्रस्तावों का विरोध किया। लूनेचारस्की को १३ फरवरी, १६०८ के एक पत्र में उन्होंने लिखा—"ठीक स्थान पर होने के कारण आप अधिक अच्छा निर्णय कर सकते हैं। यदि आप सोचते हैं कि पार्टी के नियमित काम में लगाकर गोर्की का (स्वतन्त्र) कार्य क्षतिग्रस्त नहीं होगा (और उसके द्वारा पार्टी का बहुत बड़ा लाभ होगा), तो आप उसके लिए प्रयत्न कीजिए।" उसी तारीख के एक दूसरे पत्र में लेनिन ने गोर्की को लिखा—"प्रोलितेरियन के लिए कुछ छोटी छोटी चीज़ें लिखने की आपकी योजना मुझे आनन्दित करती है। किन्तु यह निश्चित रहना चाहिए कि यदि आप महत्त्वपूर्ण कार्य में लगे हुए हैं तो स्वयं को उसमें विच्छिन्न मत कीजिए।" इन पंक्तियों का अर्थ स्पष्ट है, किन्तु आगे चल कर बात कुछ अधिक गम्भीर प्रतीत होती है। कुछ लेखकों का एक दल 'माखिज़्म' और 'रिकॉलिज़्म' नाम से अभिहित आन्दोलनों को अग्रसर करने में रुचि रखता था। गोर्की का सम्भवतः इन आन्दोलनों की ओर कुछ झुकाव था। उक्त दल के साहित्यिक गोर्की को अपना नेता बनाना चाहते थे। लेनिन की प्रतिक्रिया क्षिप्र और स्पष्ट थी—"'माखिज़्म' और 'रिकॉलिज़्म' को दृढ़ बनाने के लिए इस अधिकारी (गोर्की) का उपयोग करना इसका दृष्टान्त प्रस्तुत करना है कि अधिकारियों के साथ कैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। प्रोलितेरियन कला के विषय में गोर्की एक बहुत बड़े सहायक हैं, किन्तु वह 'माखिज़्म' और 'रिकॉलिज़्म' के प्रति उनकी सहानुभूति के बावजूद है।" इसी समय पश्चिम में यह हल्ला उड़ा कि गोर्की को सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी से निकाल दिया गया है। इसे मिथ्या घोषित करते हुए लेनिन ने लिखा—"किसी निम्नकोटि के संवाददाता ने रिकॉलिज़्म और 'ईश्वर निर्माण' से सम्बद्ध

मतभेद के विषय में अफवाह के एक छोर को सुन लिया (और यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर सामान्य रूप से पार्टी में और विशेष रूप से 'प्रोलितरियन' में एक वर्ष से अधिक समय तक खुले आम बहस होती रही है) और सूचना के टुकड़ों को अतिरंजित करके उसने एक (महत्वपूर्ण और सनसनीखेज) समाचार गढ़ लिया।" लेनिन के इन वक्तव्यों से कुछ बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं—एक महान् प्रतिभाशाली कलाकार के रूप में गोर्की सर्वमान्य थे, एक लेखक के रूप में उनकी स्वतन्त्रता स्वीकृत थी, किन्तु पार्टी के सिद्धान्तों और कार्य की दिशा में उनकी कुछ प्रवृत्तियों का हस्तक्षेप लेनिन को मान्य न था। गोर्की जब केप्री द्वीप में थे तो उनकी राजनीतिक भूलों पर आक्षेप किये जाने पर उन्होंने उत्तर दिया—'मैं जानता हूँ कि मैं एक दुर्बल मार्क्सवादी हूँ और फिर हम सब कलाकार कुछ न कुछ उत्तरदायी होते हैं।'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि मिर्स्की जैसे अधिकारी व्यक्ति गोर्की के इस काल के कृतित्व को किसी विशेष महत्त्व से हीन मानते हैं, तथापि सम्बद्ध कृतियों के अनुशीलन में बहुत सतर्कता की आवश्यकता है। १९१३ से गोर्की के कृतित्व का नया युग आरम्भ होता है। इस समय उनकी तीन कृतियाँ प्रकाश में आईं—आत्मजीवनी की शृङ्खला में 'चाइल्डहुड' (१९१३), 'माइ एप्रेंटिसशिप' और 'माइ यूनिवर्सिटीज' 'रिकलेक्शन्स' (टालस्टाय, १९२०, कोरोलेंको, चेखव, एण्ड्रीव इत्यादि), और 'नोट्स फ्रॉम ए डायरी' (१९२४)। इन कृतियों में गोर्की सच्चे यथार्थवादी के रूप में प्रस्तुत हुए हैं और उन्होंने तन्मयता के साथ पूर्ण वस्तुमूलकता प्राप्त कर ली है। उनकी आत्मजीवनी के विषय में मिर्स्की लिखते हैं—"यथार्थवादी तटस्थता उनकी आत्मजीवनी शृङ्खला को किसी भी समय लिखी गई सबसे विचित्र आत्मजीवनी बना देती है। वह केवल गोर्की को छोड़कर और सबके विषय में है। उनका व्यक्तित्व केवल वह आश्रय है जिसके चारों ओर विस्मयकारी चित्रावलि संकलित की गई है। इन पुस्तकों में गोर्की की सबसे बड़ी विशेषता उनकी चाक्षुष सजीवता में है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मनुष्य बस आँखें ही आँखें है और पाठक चरित्रों की विस्मयकारी रूप से सजीव और स्पष्ट आकृतियों को इस प्रकार देखता है मानो वे सुरङ्ग चित्रित हों। गोर्की की आत्मजीवनी शृङ्खला जगत् को क्रूर प्रस्तुत करती है, किन्तु प्रकाश से विहीन नहीं जो बातें उसके भार को हल्का बनाती हैं और जो मानवता की रक्षा कर सकती हैं तथा जिन्हें ऐसा करना ही चाहिए वे ज्ञानोदय, सौन्दर्य और सहानुभूति हैं।" मिर्स्की की दृष्टि में गोर्की अपनी अन्य दो कृतियों में और अधिक उच्चकोटि के लेखक के रूप में प्रस्तुत होते हैं—

'टाल्स्टाय के संस्मरण' उस महान् मनुष्य के विषय में किसी भी काल में लिखे गए ग्रन्थों के बीच सबसे अधिक सारपूर्ण हैं और यह सब इसके बावजूद है कि गोर्की सुनिश्चित रूप में टाल्स्टाय के बौद्धिक समकक्ष के समान कुछ भी नहीं हैं। वह उनकी आँखें हैं जो आर पार देख लेती हैं न कि उनकी बुद्धि जो समझती है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि उन्होंने वे चीजें देखीं और अंकित कीं जिन्हें देखने में दूसरे असमर्थ थे, अथवा यदि वे देखते थे तो उन्हें अंकित करने की शक्ति उनमें न थी। गोर्की निर्मित टॉल्स्टाय की प्रतिमा रचनात्मक की अपेक्षा ध्वंसात्मक अधिक है—वह अनुभूति की एकता को जीवन की जटिलता की वेदी पर बलि चढ़ा देती है।" 'द नोट्स फ्रॉम ए डायरी' में चरित्रों की एक माला

है। मौलिकता उसमें मूल वस्तु है और मिर्स्की उसे टालस्टाय के संस्मरण को छोड़कर गोर्की की सर्वोत्कृष्ट कृति मानते हैं।

किन्तु इस बीच में पश्चिम की दृष्टि भी रूस के प्रति और भी बदली। इस दृष्टि के पीछे व्यापक महत्त्व की अनेक घटनाएँ हैं। १९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ा। रूस इसमें मित्र राष्ट्रों का सहयोगी बनकर सम्मिलित हुआ। १९१७ में रूसी क्रान्ति हुई और वहाँ साम्यवादी शासन स्थापित हुआ। साम्यवादी सरकार ने जर्मनी से सन्धि कर ली और रूस को युद्ध से हटा लिया। युद्ध समाप्ति के पश्चात् समस्त पश्चिम ने रूस का विरोध किया और साम्यवादी शासन को मिटाने के लिए हर प्रकार के प्रयत्न किए जो विफल हुए। एक नई और कट्टर शत्रुता का जन्म हुआ जिसका दानवीय विस्तार वर्तमान युग को भी आच्छादित किये हुए है। साम्यवाद के विरोध ने बहुत शीघ्र उन्माद का रूप धारण कर लिया और यहाँ तक कि सोवियत रूस से सम्बद्ध कोई भी वस्तु बहुतों के लिए घृणित और असह्य, अस्पृश्य और त्याज्य हो गई। यह असम्भव है कि रूसी लेखकों के मूल्यांकन में इस प्रबल मनोदशा का कोई प्रभाव न पड़े। इस प्रकार के प्रभाव से गोर्की का मूल्यांकन भी वंचित नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में पश्चिम के अनेक विद्वान् रूसी आत्मा और रूसी लेखकों से आध्यात्मिक शक्ति और सहायता प्राप्त करने के भावुक अभ्यासी थे। ऐसे ही एक सज्जन स्टेफेन ग्राहम ने रूस को इस आध्यात्मिकता का केन्द्र बनाकर बहुत सी पुस्तकें लिखी थीं। महायुद्ध शुरू होने के समय और उसके पश्चात् वे रूस में तीर्थयात्री थे। गोर्की इस समय दस्तोएव्स्की के विरुद्ध लेख लिखने में व्यस्त थे। दस्तोएव्स्की के विरुद्ध उनके मुख्य आरोप यह थे कि उन्होंने पीड़न और मृत्यु में ही अपनी समस्त शक्ति केंद्रित कर दी थी। गोर्की का मत यह था कि रूस को रहस्यवादी, पीड़ित और मलिन बनना छोड़ देना चाहिए और इसके बदले उसे स्पष्ट बुद्धि, आशावादी और अपनी आत्मा का स्वामी बनना चाहिए। यह सब देखकर ग्राहम के मर्म पर आघात लगा। दस्तोएव्स्की हा तो 'आध्यात्मिक मूल्य' के अक्षय कोष थे। उन्होंने लिखा—"जिस रूस पर गोर्की आक्रमण कर रहे हैं वह ठीक वही है जिसके प्रति हमें इंग्लैंड में आध्यात्मिक रुचि है—रहस्यवादी और अव्यावहारिक रूस, वह रूस जो तीर्थयात्री है, वह रूस जो कलात्मक है और रूस को जो वे बनते देखना चाहते हैं वह ठीक ऐसा, है जो आध्यात्मिक रूप से हमारे लिए अत्यन्त रुचिकर होगा—रूस जो आशावादी, आत्मविश्वासी, व्यावहारिक, सुपरिचालित, स्फूर्तिमय और चतुर तथा पश्चिमी है।" यहाँ यह स्मरणीय है कि भारत पर पश्चिम के शासनकाल में हमारे देश के 'आध्यात्मिक मूल्य' का उपयोग करने में भी पश्चिम के लोग कभी कृपण और शिथिल नहीं रहे। ग्राहम की 'द वे ऑफ मार्था एण्ड द वे ऑफ मेरी' नामक पुस्तक को लेकर गोर्की ने लिखा—"अंग्रेज उसे स्वीकार करते हैं क्योंकि हमें पावन दीर्घसूत्रियों और अव्यावहारिक व्यक्तियों के रूप में चित्रित करने में अंग्रेज पूँजीवादी के लिए अफ्रीका और भारत के समान रूस में एक भविष्य ब्रिटिश उपनिवेश देखकर उल्लास में हाथ मलने के लिए स्थान रह जाता है।" किन्तु इंग्लैंड के कल्याण को ध्यान में रखकर ग्राहम आध्यात्मिक मूल्य वाले रूस से चिपके रहे।

किन्तु उपर्युक्त उल्लेख उस सन्निपात की केवल आरम्भिक बानगी है जिसके आगमन

के साथ पश्चिम की समस्त शक्तियाँ रूस और रूसी साहित्य के शिकार में लग गईं। मा य समी क्षकों से प्रभूत प्रशंसित गोर्की की 'टॉल्स्टाय क संस्मरण' कृति के विषय में एडमण्ड गॉग ने अभिमत दिया कि वह विवेकहीन है और सोवियतिस्ट साहित्य द्वारा अपने मसीहा की समाधि के ध्वंस का उदाहरण है। यह उन्माद किस सीमा तक पहुँचा हुआ था इसका उदाहरण १६१८ में प्रोफेसर पॉल शोरे द्वारा 'अमेरिकन मेडिको साइकॉलॉजिकल एसोसिएशन' के समक्ष दिये गए इस वक्तव्य में स्पष्ट लक्षित होता है— 'टॉल्सटाय यदि स्वय पागल नहीं, तो दूसरों में विक्षेप उत्पन्न करने क विपुल स्रोत (अवश्य) रहे हैं।'' उन्होंने और बतलाया कि रूसी साहित्य का अध्ययन अमरीकी साहित्य समीक्षा के मानसिक स्वास्थ्य और अमरीकी जनमत के सन्तुलन को क्षति पहुँचा रहा है। ऐसे उन्मत्त किन्तु संगठित प्रचार का परिणाम यह हुआ कि अमेरिका में रूसी साहित्य की खपत घट गई और 'डायल' ने यह आशंका प्रकट की कि उसके कारण गोर्की की आत्मजीवनी के प्रकाशन में कहीं बाधा न हो।

१६१७ में गोर्की ने रूस की बोलशेविक क्रांति का साथ दिया। बहुत दूर तक लेनिन और उनकी नीति का समर्थक होने पर भी गोर्की ने एक स्वतन्त्र स्थिति अपनाई। बड़े बड़े लोगों से उनकी मैत्री थी तथा उनका यश बहुत समृद्ध था। परिणामत स्वतन्त्र स्थिति रखकर भी वे बहुत काम कर सके। उन्होंने स्वय को कला और संस्कृति क संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठित किया। इस विषय में उनके काय का महत्त्व मिर्स्की ने इस प्रकार अंकित किया है—''स्वनिर्धारित संस्कृति और सभ्यता क संरक्षक का काय ढ होंने जितना उनसे सम्भव था, उतनी अच्छी तरह किया। रूसी संस्कृति पर उनका बहुत बड़ा ऋण है। १६१८ और १६२१ के बीच रूसी लेखकों और अन्य उच्च बुद्धिजीवियों को भूखों मरने से बचाने के लिए जो कुछ भी किया गया वह सब गोर्की के कारण था। यह मुख्यत कवियों और उपन्यासकारों का अनुवाद का काम देकर किया गया। सम्भवत यह युक्ति निर्दोष नहीं थी, कि तु इन परिस्थितियों में कदाचित् केवल यही सम्भव थी।' १६२१ में गोर्की जर्मनी चले गए और वहाँ से १६२४ में इटली। १६२८ में अपनी साठवीं वर्षगाँठ के समारोह में सम्मिलित होने क लिए वे रूस लौटे। इसके शीघ्र पश्चात् व पुन रूस में ही बस गए। स्टालिन के शासन का उन्होंने समथन किया। १६३६ में उनकी मृत्यु हो गई। अपने अन्तिम काल में साहित्यिक मानदण्डों को उठाने और नये लेखकों को शिक्षित करने में उन्होंने अथक परिश्रम किया।

अपने जीवन के अन्तिम पक्ष में भी गोर्की ने बहुत सी पुस्तकें लिखीं। उनका 'द आर्तमानोव्स' उपन्यास १६२५ में प्रकाशित हुआ। १६२७ से १६३६ तक 'द लाइफ ऑफ क्लिम सामगिन' लिखा गया, जिसके विभिन्न भाग 'बाइस्टैण्डर', 'द मैगनेट', 'अदर फायर्स' और 'द स्पैक्टर' नाम से अंगरेजी में अनूदित हैं। उक्त दोनों कृतियाँ सहज सम्मानित हुईं। गोर्की अपने द्वितीय उप यास को पूरा नहीं कर पाए। इसी प्रकार उनकी एक नाटक त्रयी की योजना भी अधूरी रह गई। उसके केवल दो भाग 'बूलाचोव एण्ड अदर्स' (१६३२) और 'दस्तीगायेव एण्ड अदर्स' (१९३३) पूर्ण हो सके। ये समस्त गोर्की के जीवन के स न्ध्याकाल की कृतियाँ हैं और गोर्की की प्रतिभा की दीप्ति उनमें बनी हुई है। उनकी पूर्ववर्ती कृतियों की तुलना में अन्तिम कृतियों की निर्माण योजना अधिक महत्त्वाकांक्षापूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने अत्यन्त घटनापूर्ण जीवन में जो कुछ उन्होंने देखा था उसके समस्त सारभूत अंश को वे कतिपय विशाल

चित्रपटों की एकता में उसकी मूल गतियों के साथ अंकित कर देना चाहते थे।

एक शिल्पकार और शैलीकार के रूप में भी गोर्की पर अनेक आक्षेप हैं। संगठन की दृष्टि से उनकी बहुत सी कृतियाँ दुर्बल कही जाती हैं। इस दुर्बलता का मुख्य कारण तथाकथित दार्शनिक विवादों की विपुलता और उसके साथ अशक्त वार्तालाप की शैली का प्रयोग है। किन्तु यह एक ऐसा प्रश्न है जो विशुद्धतः कला पक्ष से सम्बद्ध है और उस पर कुछ कहने के लिए अधिक और एक विशेष प्रकार के अध्ययन की आवश्यकता होगी। समीक्षक कहते हैं कि हास्य की क्षमता से गोर्की वंचित थे और इसलिए उनकी कृतियों का वातावरण अधिक मलिन और धूमिल हो गया है। जिस शैली को लेकर गोर्की ने आरम्भ किया वह स्वच्छन्दतावाद की शैली है, और जिसे सोवियत समीक्षा में 'क्रान्तिकारी स्वच्छन्दतावादी शैली' नाम दिया है। इसके पश्चात् गोर्की क्रमशः यथार्थवाद की ओर बढ़े। उनके आरम्भिक यथार्थवाद का रूप देखकर पश्चिमी समीक्षक कड़ी आलोचना के लिए प्रेरित हुए। उनकी तुलना फ्रांस के ज़ोला से की गई और जेम्स हुनेकर ने उन्हें 'एक देशी प्रकृतवादी' कहा, 'जिसके समीप ज़ोला अपनी कला का 'क ख ग' सीखने के लिए जा सकते थे।' अपनी 'लेटर नाइनटी थ सेंचुरी' (१९०७) पुस्तक में प्रकाण्ड विद्वान सेण्टसबरी ने रूसी लेखकों पर चर्चा करते हुए लिखा—" **परवर्ती और सचमुच (हमारे) समकालीन गोर्की के उल्लेख के लिए केवल यही पर्याप्त माना जा सकता है कि उन्होंने 'गन्दगी' में और प्रगति की।"** यह हम देख ही चुके हैं कि गोर्की के कृतित्व के तृतीय काल की कृतियों में मिर्स्की सच्ची वस्तुमूलकता और तटस्थता से युक्त वास्तविक यथार्थवाद को प्रतिष्ठित मानते हैं। गोर्की के यथार्थवाद की चर्चा हम जल्दी से केवल यही कहकर बन्द करते हैं कि यह 'समाजवादी यथार्थवाद' का युग है। /

गोर्की के इस सर्वेक्षण में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बहुत स्पष्ट हो जाती हैं। जिस प्रकार 'आलोचना' में प्रकाशित दस्तोएव्स्की पर अपने लेख में हमने देखा था कि विशिष्ट सिद्धान्तों पर आश्रित समीक्षा कलाकार पर सहायक प्रकाश डालने के स्थान पर उसके अनुशीलन को अधिक जटिल और कटंकित बनाती है, उसी प्रकार प्रस्तुत लेख यह प्रदर्शित करता है कि सैद्धान्तिक मतभेद के अतिरिक्त गोर्की की समीक्षाओं में विशिष्ट राष्ट्रीय दृष्टिकोणों की बहुलता है। विभिन्न देशों के लिए किसी भी समय अपने अपने विशेष दृष्टिकोण का कारण और मूल्य हो सकता है और कदाचित् कला के मूल्यांकन को भी उससे पूर्णतया मुक्त करना कभी सम्भव नहीं, किन्तु इस कार्य में उसका इतने स्थूल और व्यापक रूप में प्रभाव किसी प्रकार वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह नहीं है कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण क्यों है और विशेष प्रकार के समीक्षात्मक वक्तव्य क्यों दिये गए हैं। इनका होना तो अत्यन्त स्वाभाविक है। किन्तु यह स्वाभाविक है इसीलिए यह आवश्यक है कि निष्पक्ष मूल्यांकन के पूर्व तटस्थता के साथ ऐसे तथ्यों पर ध्यान दिया जाय जिससे हमारे निर्णयों में यथासम्भव इस प्रकार के देशी या विदेशी पूर्वग्रहों का समावेश न हो सके। हिन्दी जगत् के हृदय में गोर्की की प्रतिमा तेजोदीप्त है, किन्तु वह रूपहीन है। उसे सरूप बनाने के लिए जैसे स्वयं गोर्की के समस्त साहित्य का अध्ययन आवश्यक है, उसी प्रकार गोर्की की समीक्षा के उस पक्ष का अध्ययन और विश्लेषण भी, जिसके संकेत का प्रयत्न प्रस्तुत निबन्ध में किया गया है और हमारा सुझाव है कि ब्रिटेन अपना हाइड्रोजन बम फोड़े उसके पूर्व ही हमें यह कार्य सम्पन्न कर लेना है।

प्रस्तुत प्रश्न

'नई कविता'—दो समीक्षाएँ

१

ब्रजलाल वर्मा

[नई कविता शब्द से हमारे दोनों समीक्षकों ने 'नये प्रकार की कविता' का अर्थ अनायास ले लिया है। हमारी दृष्टि में नई कविता शब्द का प्रयोग इतने सीमित अर्थ में करना ठीक नहीं है फिर भी हमने प्रस्तुत शीर्षक को बदलना उचित नहीं समझा। केवल उसे ' चिह्नों से समन्वित कर दिया है।]

—सम्पादक

मानव हृदय की राग चेतना और कविता दोनों सहजात एवं अन्तरावलम्बित हैं, दोनों के इतिहास का एक साथ उदय होता है तथा दोनों एक दूसरे की मुखापेक्षी हैं। कविता के क्षेत्र में हम राग चेतना तथा बुद्धि का भेद भी युग युग से है, फिर भी राग-चेतना में बुद्धि का एकान्त अभाव अथवा एकान्त अतिरेक दोनों ही समर्थ रचना के बाधक हैं। सुन्दर एवं मार्मिक काव्य रचना के लिए मस्तिष्क स्थित बुद्धि को सदैव अपना आसन छोड़कर हृदय की ओर कुछ नीचे उतरना पड़ता है तथा हमारी हृदयस्थ भावना को बुद्धि के स्वागत के लिए सदैव तत्पर रहना पड़ता है—सफल रचना का प्रादुर्भाव इसी समन्वय में सम्भव है। कविता के लम्बे अतीत पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि कविता के सामने ऐसा चतुष्पथ पहले कभी नहीं आया जबकि उसे विभ्रमित सी होकर अपने गन्तव्य पथ पर बढ़ने के लिए किसी के निर्देश, संकेत की आवश्यकता पड़ी हो, जैसी कि आज कविता के सामने 'किधर जायें' की समस्या आ खड़ी हुई है। संस्कृत कवियों, आचार्यों की सम्प्रदाय परक परिभाषाओं के बड़े बड़े व्यूहों में कविता को प्रवेश करना पड़ा, तथापि वह सबको पार करती हम तक आ गई है। परन्तु आज कविता समस्या विह्वल सी खड़ी न आगे बढ़ रही है और न पीछे। वह स्तम्भित सी एक स्थान पर खड़ी है। विभिन्न मार्गनिर्देशक अपनी अपनी झंडियों द्वारा उसे परस्पर प्रतिकूल दिशाओं में बढ़ने का संकेत दे रहे हैं—कविता किस निर्देशक पर विश्वास करे, किसके संकेत पर आगे बढ़े, एकान्तनिष्ठ प्रतिकूल प्रताड़नाओं में वह किसका आदेश माने यह एक समस्या है। उसे भय और आशंका है कि यदि किसी भ्रामक निर्देश के सहारे किसी अनजाने पथ पर वह बढ़ गई तो ऐसा न हो कि

उसे वहाँ से फिर वापस लौटना पड़े।

इतनी भूमिका से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'नई कविता' शीर्षक में हम हिन्दी की किस काव्यधारा को बाँधना चाहते हैं। हमने 'नई' शब्द के लिए 'आधुनिक' शब्द का जान बूझकर प्रयोग नहीं किया, क्योंकि नई कविता के उन्नायक नई कविता को आधुनिक कविता कहने के पक्ष में नहीं हैं। **"हम 'नई कविता' के नाम से इधर एक विशिष्ट शैली और 'स्कूल' की काव्य कृति को पुकारने पहचानने लगे हैं और अब शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं रही कि सभी सामयिक अथवा आधुनिक कविता नई होते हुए भी नई कविता नहीं है।"**[1] नई कविता से यहाँ प्रयोजन है वह कविता जो 'प्रसाद', 'निराला', पंत और महादेवी की छायावादी तथा रहस्यवादी धारा की प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुई। नई कविता का अभिप्राय विशेष रूप से उस कविता से है जो श्री अज्ञेय के पहले और दूसरे 'तार सप्तक' से फूटी। हम नहीं कहते कि नई कविता 'तार सप्तक' में स्वरित होने के पश्चात् ही आविर्भूत हुई, हो सकता है 'तार सप्तक' की तारों में 'नई कविता' पहले से ही निर्वाक् तारों में निवसित रही हो। हमारा आशय इतना ही है कि नई के प्रथम आलोक के दर्शन तभी हुए जब नई कविता के सप्तर्षि कवि श्री 'अज्ञेय' के 'तार सप्तक' की वल्लकी को छेड़कर अपने स्वतन्त्र राग अलापने लगे। यद्यपि आधुनिक कविता के इतिहास का कोई भी पर्यवेक्षक इसी यथार्थ को स्वीकार करेगा कि नई कविता ने पिछले पच्चीस वर्षों में अपने तीन नाम बदले हैं। सबसे पहला नाम था प्रगतिवाद, दूसरा नाम था प्रयोगवाद, और तीसरा नाम है 'नई कविता'। ध्यान रहे कि नई कविता के आज के पोषक नामों की इस परम्परा को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। नाम क्या, वे नई कविता तथा प्रगतिवाद में कोई लगाव भी स्वीकार करने को तैयार नहीं और हम तो नई कविता को प्रयोगवाद भी कहते घबराते हैं, क्योंकि इस दिशा में श्री 'अज्ञेय' के विधि निषेध पहले से ही निर्धारित हैं। वे कहते हैं— **"प्रयोग का कोई वाद नहीं, हम वादी नहीं रहे, न ही हैं। न प्रयोग अपने आप में इष्ट या साध्य है। अतः हमें प्रयोगवादी कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हम कवितावादी कहना।"**[2] उक्त कथन में 'नहीं रहे' अंश इतना तो संकेत करता है कि पहले कभी थे अब नहीं रहे, तब फिर हमारा तीन नामों की परम्परा का उल्लेख असंगत नहीं है। प्रश्न यह उठता है कि नामों के परिवर्तन की आवश्यकता क्यों पड़ी? उत्तर सरल और निष्पक्ष है। जैसे किसी देश में *अराजकता उत्पन्न करने वाला विद्रोही शासनाधिकारियों की गिरफ्त से बचने के लिए तथा* उनकी नजर बचा जाने के लिए नित्य अपने रूप और नाम बदलता रहता है, वैसे ही यह नई कविता भी शायद समालोचकों के कठोर अनुशासन एवं नियन्त्रण से बचते रहने के लिए अपना नाम और रूप बदलती रही। पूछा जा सकता है कि फिर नई कविता की यह परिवर्तन-परम्परा पकड़ में कैसे आई? इसका उत्तर भी सरल ही है। नाम रूप का परिवर्तन संस्कारों में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता, नाम रूप के बदलने पर भी स्वभाव, संस्कार, आदतों और आचरण में कोई अन्तर नहीं आता। उधर साहित्य के अनुशासक भी नई कविता के पीछे पड़ गए। आज तो नई कविता के विद्रोही ने आज की बदली हुई भौतिक परिस्थितियों और परिवेश में पर्याप्त रूप

---

१ 'कल्पना' मासिक पत्रिका जनवरी १९५६ का 'नई कविता' निबन्ध, ले० श्री बालकृष्ण राव।

२ 'दूसरे सप्तक की भूमिका', ले० श्री अज्ञेय।

से शक्ति सकलन कर लिया है और अब तो वह अनुयायकों के सामने मोचाबन्दी करके खुले रूप से आ गया है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यही निष्कर्ष बारम्बार हमारे सामने आएगा कि हिन्दी काव्य की छायावादी धारा में भारतीय संस्कृति और भारतीय सौन्दर्य के मान जब अपना मूल्य और महत्व स्थापित करते देखे गए, जब छायावादी धारा कलात्मक प्रणाली में स्वतन्त्र भारतीय राष्ट्रीयता के उद्घोष का माध्यम बनने लगी तो भारत के राजनीतिक अंचल में एक वर्ग ऐसा भी था जो मार्क्स और लेनिन के प्राप्त निर्देशों का परिपोषक था और जिसने यह अनुभव किया था कि यदि कविता 'मास्को मुक्त' राष्ट्रीय चिन्तन की अभिव्यक्ति का माध्यम बन गई तो भारतीय जनता के हृदय में साम्यवाद तथा मार्क्स के सिद्धान्त अपनी जड़ें नहीं जमा सकेंगे। अत उस वर्ग ने कविता को प्रगतिवाद की गली में चलना सिखाना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु भारतीय साहित्यिकों के वजन और तजन ने इस धारा को आगे नहीं बढ़ने दिया। तब परिणाम यह हुआ कि उसी वर्ग ने कविता को 'प्रयोग' जैसा नाम दे दिया। हां, नाम के परिवर्तन के साथ साथ रूप परिवर्तन की महिमा भी सामने आई। इस बार नया शिल्प, नये शब्द, नई अभिव्यक्ति, नये उपमान आदि के नारे बुलन्द किये गए। कथन और कथ्य दोनों की नवीनता का प्रतिपादन किया गया। "कथ्य का आधुनिक होना तो आवश्यक है ही। बिना सर्वथा आधुनिक कथ्य के शैली की नवीनता मात्र विलक्षणता अथवा प्रयोग होकर रह जायेंगे।"[1] नई कविता का आन्दोलन वैसे ही शक्ति ग्रहण करता गया, जैसे मि० जिन्ना का हिन्दू मुसलिम दो पृथक् राष्ट्रों वाला सिद्धान्त। किन्तु इसका कारण सिद्धान्त की अपनी शक्ति सम्पन्नता उतना नहीं था जितना भारतीय नेताओं द्वारा सिद्धान्त का विरोध। नई कविता की ऐसी कटु, गम्भीर एवं अनावश्यक भर्त्सना की गई कि इसके प्रति समाज का और भी आकर्षण बढ़ता गया। आकर्षण के लिए वस्तु का सुन्दर होना आवश्यक नहीं, वस्तु की असामान्यता ही उसके आकर्षण का साधन बन जाती है। असामान्यता का पक्षी या विपक्षी, अनुकूल या प्रतिकूल आन्दोलन तथा प्रचार उसके आकर्षण में चार चाँद लगा देता है। नई कविता के साथ यही हुआ। हमारा विश्वास है कि यदि हमारे समालोचक इसकी उपेक्षा कर जाते तो शायद नई कविता का यह अनिवादी रूप सामने न आता जो आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में आया है तथा विरोध में सन्तुलन नहीं रहता। यही कारण है कि जिस प्रकार छायावादी काव्य के प्रति यह उपालम्भ निरन्तर चलता रहा कि छायावादी काव्य में और कुछ भी हो, छाया शब्द से तो उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही 'नई कविता' के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसमें 'नया' कुछ भी हो 'कविता' तो नहीं है। छायावादी कविता तथा नई कविता में हमें एक विशिष्ट साम्य देखने को मिलता है। जैसे छायावादी कविता एक ओर तो ब्रिटिश प्रभाव के भारत में अंग्रेजी साहित्य की नवजात चेतनाओं से प्रभावित हुई, दूसरी ओर रीतिकालीन काव्य की स्थूल ऐन्द्रिकता तथा शैली की रूढ़ियों से ऊबकर सूक्ष्मता और स्वच्छन्दता की ओर वेग से मुड़ गई, उसी प्रकार नई कविता भी एक ओर अंग्रेजी की यथार्थवादी धारा से प्रभावित हुई, दूसरी ओर उस पर विज्ञान का बढ़ता हुआ बुद्धिवादी घटाटोप छा गया।

नई कविता के कर्णधारों ने अंग्रेजी समालोचकों की भाँति ही स्वच्छन्दवादी तथा छायावादी धाराओं को मृत एवं अतीत मानने में ही नई कविता का गौरव समझा। "यह दूसरी बात है कि पुरानी कविता शनै शनै सामान बाँधकर जाने की तैयारी में लगी हुई है और

[1] 'नई कविता' निबन्ध, 'कल्पना', जनवरी २६, लेखक श्री बालकृष्ण राव।

नई अरना घर नथा रही है।"[1] अथवा "इस समय भो जहाँ एक ओर नई कविता की प्रभात किरणें क्षितिज को आलोकित करने लगी हैं, वहाँ आकाश और पृथ्वी पर गत निशा की नक्षत्रावलियाँ अब भी टिमटिमाती मुस्कराती दीख पड़ती हैं। सक्रान्ति के समय किसी का एकाधिपत्य नहीं होता और यह समय सक्रान्ति का ही है।"[2] श्री राव के इस वक्तव्य में हमें कभी कभी सक्रान्ति शब्द में भ्रम होने लगता है, क्योंकि सक्रान्ति तो सध्या में भी होती है, उस समय भी नक्षत्रों का प्रकाश दृष्टिगोचर होता है, उस समय तो गत निशा नहीं आगत निशा की सूचना मिलती है, क्योंकि नई कविता जिस दृश्य की अवतारणा कर रही है उसमें तो प्रभात के आगमन का सदेश न मिलकर किसी कविता की दीर्घयामिनी का ही आभास मिलता है। रोमान्टिक काव्य के सम्बन्ध में भी अंग्रेजी के कवितावादियों की सी बात यहाँ के लोगों ने भी कही है।[3]

नई कविता के शिल्प विधान, भावाभिव्यक्ति तथा सूक्ष्म सगीतमयता को देखकर तो श्री प्रभाकर माचवे के स्वरों में "सहसा यह प्रश्न उठता है कि हिन्दी के कवि क्या पढ़ते हैं? उनका अध्ययन कितना गहरा है, कितनी भाषाओं का है? कितने विषयों का है, वाग्वैदग्ध्य का उनके निकट क्या मूल्य है? क्या सगीत को शब्दार्थ से वे असम्पृक्त मानते हैं? उनमें अनुभूति की सचाई कितनी है? आलोचकों को कवियों की महानता का बिल्ला चिपकाने की इतनी जल्दी क्यों है? उन पर प्रभाव कितने हैं, किनके हैं, कैसे हैं? आधुनिक कविता में गूँज कितनी है, अनुगूँज कितनी है?"[4] यद्यपि श्री माचवे ने यह प्रश्न हमारे आशय से भिन्न दूसरी सगति में प्रस्तुत किया है, किन्तु नई कविता की वर्तमान दशा देखकर ऐसा लगता है कि श्री माचवे ने हमारे मुँह से मजमून छीन लिया है। ये प्रश्न नई कविता के समर्थन में जुटाये गए हैं, किन्तु यदि हम उनके विरोध में इन प्रश्नों को सयोजित करें तो एक एक प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है[5]—हिन्दी के नये कवि टी० एस० इलियट का वेस्ट लैंड, फ्रायड का काम सिद्धान्त, श्री अज्ञेय के निबन्ध ही पढ़ते हैं। उनका अध्ययन था हर्ष, माघ, कालिदास, भवभूति, तुलसी, सूर, देव, बिहारी, प्रसाद, पत का पूर्ण बहिष्कार करके ह्वाइटमैन एजरा पाउण्ड, टी० एस० इलियट, होन, पो आदि की रचनाओं के अनुशीलन तक सीमित है, कितना गहरा है यह साफ है। भाषाओं में तो ठीक ठीक हिन्दी भाषा का भी ज्ञान नहीं है, विषयों में 'विषय' वासना का है। वाग्वैदग्ध्य का मूल्य नये कवियों के निकट कुछ भी नहीं है। सगीत तो उनके छन्दों और शब्दों में क्या, एक एक वर्ण और मात्रा में है। तब सम्पृक्त असम्पृक्त का प्रश्न ही नहीं उठता। महानता का बिल्ला चिपकाने की जल्दी क्या है इसका जवाब तो श्री अज्ञेय ही दे सकते हैं। इन नये कवियों पर प्रभाव इलियट, फ्रायड, एडलर जुग के हैं, प्रभाव बहुत हैं, बुरे हैं। आधुनिक

१ 'कल्पना' पृष्ठ ३, जनवरी १९५६, 'नई कविता' ले० श्री बालकृष्ण राव।

२ 'कल्पना', जनवरी ५६, पृष्ठ ३।

३ Literature and Psychology, P 130, by F L Lucas, "Romanticism like many Romantics died comparatively young That was natural Neo Classicism in decline became a bore but bores can live long'

४ जनवरी १९५६ का टी० एस० इलियट और काव्यालोचन शीर्षक निबन्ध से, श्री प्रभाकर माचवे। कृपया यह उत्तर दिये गए प्रश्नों के क्रम से पढ़िए।

५ कृपया इन उत्तरों को प्रश्नों के क्रम से पढ़िए।

कविता में गूंज कुछ भी नहीं है, अनगूंज ही है।

अब आइये, नई कविता के शिल्प विधान पर एक दृष्टि डालें। नई कविता में छन्द और तुक के सम्बन्ध में कोई ऐसा कठोर नियम अथवा सिद्धान्त तो नहीं है, किन्तु नये कवियों के कुछ आपसी सर्वसम्मत रिवाज अब अवश्य प्रचलित होते हैं, जिनका पालन परस्पर प्रायः सभी नई कविता का होनहार पौध करता है। उदाहरणार्थ नई कविता की यह एक प्रच्छन्न शर्त है कि वह बेतुकी हो, छन्दहीन हो, संगीतमयता से मुक्त हो, भाषा सरल हो, किन्तु शब्दों के नये प्रयोग हों, चाहे पाठक के लिए वह फिर एक बार 'केशव की कविताई' क्यों न बन जाय। परन्तु नई कविता के परवरदिगार हमारे इस कथन से सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि वे नई कविता के प्रत्येक चरण में एक नया तुक, नया छन्द, नई भाषा, नवीन लय मानते हैं। हमारे विचार से इस प्रकार के विचार को अंग्रेजी की नई कविता के काव्यशास्त्र से प्रेरणा मिली होगी, क्योंकि वहाँ का कवि यति (Stress) को ही तुक (Rhythm) मानने लगा।[1] वहाँ यति ही कविता का लय और तुक बन गया। अंग्रेजी के ध्वनि सिद्धान्त (Phonetics) तथा हिन्दी अथवा संस्कृत के ध्वनि सिद्धान्त में मौलिक अन्तर है, यह तो सभी भाषाभाषी जानते हैं। अंग्रेजी कविता के लिए यति को ही तुक, लय और संगीत मान लेना भले ही संगत हो, किन्तु हिन्दी के लिए तो यह बड़ी बेतुकी बात होगी, क्योंकि हमारे काव्य, संगीत, भाषा, शब्द, वर्ण प्रत्येक के पीछे एक गम्भीर वैज्ञानिकता है, जबकि अंग्रेजी में हमारे दृष्टिकोण से पहले तो कोई संगीत अथवा लय या तुक है नहीं, यदि है भी तो वह हमारी भाषा के अनुरूप नहीं। फिर अंग्रेजी यति प्रणाली अथवा छन्द विधान हमारी कविता में किस प्रकार बिठाया जा सकता है? यदि ऐसा करने का दुराग्रह किया भी जाय जैसा कि नई कविता के प्राणदाताओं द्वारा किया जा रहा है, तो यह वैसा ही होगा जैसे मोतियों के ढेर में घोंघे मिलाकर दोनों को एक ही दाम में बेचने का प्रयास करना। मोती और घोंघा एक में नहीं मिल सकते। मिश्रण तो सजातीय द्रव्यों का ही हो सकता है। अंग्रेजी कविता की रचना प्रणालियों के विजातीय द्रव्यों की मिलावट तो दोनों के वस्तु रूपों को नष्ट कर देगी। इन तथ्यों को स्पष्ट करने के लिए चाहिए था हिन्दी की नई कविता के उदाहरण प्रस्तुत करना, किन्तु स्थानाभाववश यहाँ यह सम्भव न हो सका। नई शब्द योजना, अप्रस्तुत उपमान विधान के लिए नया कवि विकल रहता है। नये नये बिम्ब (images), नई नई उपमाएँ नई कविताओं का जीवन स्रोत हैं और नये कवि की आस्था भ्रमर, कमल, मकरन्द, निर्झर, चन्द्र, सुरभि से हटकर गधा, कुत्ता, सड़क, कीड़ा, पसीना, मूत्र आदि में हो गई है। नये कवि के यही पूज्य उपमान और उपमेय बन गए हैं। नये कवियों के यही उपमान साधारणीकरण की क्रिया में सफल हो पाए हैं, जैसा कि श्री अज्ञेय का कहना भी है—"जब चमत्कारिक अर्थ मर जाता है और अभिधेय बन जाता है, तब उस शब्द की रागोत्तेजक शक्ति भी क्षीण हो जाती है। उस अर्थ से रागात्मक सम्बन्ध नहीं हो पाता। कवि तब उस अर्थ की प्रतिपत्ति करता है, जिससे पुन

1 Key to Modern English Poetry 1948 Edition P 33 By Martin Gilkes Gerard Manley Hopkins m ant rhythm in which one does not count by syllables but by stresses (a stress being either one word or group of words upon which the emphasis of the voice falls) So many stresses go to make one line and it does not matter in the least provided the requisite stresses are all present and correct how long or short the line may be

राग का सचार हो, पुन रागात्मक सम्ब ध स्थापित हो। साधारणीकरण का यही अर्थ है।"[1] शायद नये कवियों को इसीलिए मकर द के स्थान पर पसीना और मून तथा मृग और उसकी चचलता के स्थान पर गधा और उसका बुद्धूपन साधारणीकरण का श्रेष्ठतर माध्यम प्रतीत होने लगा है। परन्तु हमारे विचार से साधारणीकरण का मर्म यह नहीं है। यह तो धारणा की चरम विकृति है, इसीलिए तो डॉ० नगेन्द्र को खीझकर कहना पड़ा—"प्रयोगवादी कवि बुद्धि व्यव सायी है, अपनी अनुभूति पर उसे विश्वास नहीं है। परिणामत वह सहानुभूति में असमर्थ रहता है, अर्थात् अपने सवेद्य को विश्वास रूप में न तो वह ग्रहण कर सकता है और न प्रस्तुत ही कर सकता है और इसके बिना काव्य रचना सम्भव नहीं है।"[2] परन्तु कविता के प्रवर्तकों के लिए यह सब क्षम्य है, क्योंकि वे न रस की पद्धति पर वैसी आस्था रखते हैं और न प्राचीन काव्यशास्त्र की वैज्ञानिकता उनको प्रिय है। उनके लिए तो ससार का सभी कुछ रूढ हो गया है। उनके तो शब्द के, भाषा के अपने नवीन 'वैज्ञानिक प्रयोग' हैं। किसी भी सख्या में पक्तिया लिखकर ये कवि कविता लिख देने तथा एक से लेकर किसी भी सख्या के शब्दों द्वारा एक पक्ति अथवा चरण बना देने का अच्छा अभ्यास कर चुके हैं। नई कविता के आचार्यों ने भी नई कविता की रचना के लिए उसी प्रकार के नियम प्रचलित कर दिए, जिस प्रकार सन् १९५३ में एफ० एस० फ्लिट और एजरा पाउण्ड ने 'अमेरिकन पोइट्री' नामक पत्रिका में कुछ सिद्धात नई कविता के लिए निर्धारित कर दिए थे।[3] यदि श्री जे० आइजक ने स्वच्छन्दतावादी धारा की यह कहकर भर्त्सना की है—"रोमाण्टिक कवि जब एक बार अपना बदन दबा देता या टोपकाक खोल देता अथवा रूपकों को अनुस्यूत कर देता है तो वह यह नहीं समझता कि वह कितनी काव्य शक्ति निर्गलित कर रहा है। प्राचीन धारा का कवि कम से कम जितना निर्गलित करता है उस पर नियत्रण रखने की आशा तो रखता है।"[4] तो नई कविता के इस असतुलित रचना विधान पर कहा जा सकता है कि नया कवि जब एक बार अपने नवप्रयोगों का नल खोल देता है तो उसे यह ध्यान नहीं रहता कि जो भाव-जल वह काव्य पिपासु को दे रहा है वह जल तनिक भी सतृप्तिकारी है और उसे यह भी ज्ञान नहीं रहता कि इस प्रकार के जल की प्रभूत मात्रा पिपासु के कण्ठोच्छलन का कारण तो नहीं बन जायगी। नई कविता के पोषक काव्य कक्ष के वातायनों को उन्मुक्त कर देने का आग्रह करते हैं, वह इसलिए कि बाहर का स्वच्छ हवा प्रवेश पा सके, किन्तु वे यह नहीं विचार करते कि कमरे सभी वातायनों के बिलकुल खोल देने पर बाहर की दुर्गन्धि, धूप, शीत, आदि के प्रविष्ट हो जाने का भय रहता है, अत चारों ओर देखकर ही वातायनों को खोलना चाहिए। स्वच्छन्दता और स्वतन्त्रता में अन्तर है। स्वतन्त्रता में अनुशासन और सयम का सौन्दर्य मिश्रित रहता है। हमारे विचार से कवि को स्वतन्त्र तो होना

१ 'दूसरा सप्तक' की भूमिका, लेखक श्री अज्ञेय।

२ 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', पृष्ठ १२३, ले० डॉ० नगेन्द्र।

३ The Background of Modern English Poetry, p 34 by T Isaacs
(1) Direct treatment of thing whether subjective or objective
(2) To use Absolutely no word that did not contribute to the presentation
(3) As regarding rhythm to compose in sequence of musical phrase, not in sequence of m tronome

४ The Background of Moden English Poetry के पृष्ठ २६ से मेरे द्वारा अनूदित एक खण्ड।

चाहिए, किन्तु स्वच्छन्द नहीं। स्वच्छन्दता तो विक्षिप्तता का ही लक्षण है। श्री एफ० एल० ल्यूकस का यह विचार इस प्रसंग में अत्यन्त संगत प्रतीत होता है—"साहित्य स्वतन्त्र की सम्पत्ति है, किन्तु अनुत्तरदायी की नहीं।"[1] इतना ही नहीं, नये कवियों की एक और दुर्बलता लक्षित होती है, वह यह कि वे जनप्रिय बनने के लिए अभिव्यक्ति के अत्यन्त असंस्कृत एवं क्षुद्र धरातलों पर उतर आते हैं। 'पापुलरटी' पाने की आकांक्षा नये कवियों को सब कुछ करने के लिए विवश कर देती है। श्री ल्यूकस ने इस सम्बन्ध में भी अपने मूल्यवान विचार प्रकट किये हैं, उनके अनुसार कवि को 'पापुलरटी' प्राप्ति मात्र के लिए नहीं लिखना चाहिए।[2]

नई कविता के एक वस्तु में सचलाइट फैंकना अभी शेष है। वह है उसकी फ्रायड के काम सिद्धान्त की उपासना। नई कवितावादियों के अनुसार छायावादी कवियों का यह भी एक अपराध था कि वे दमित वासनाओं का अभिव्यक्ति में संकोच करते थे, वे लोकादर्श का लाजवश अपनी दुर्बलताओं को प्रतीकों और दुरूह रूपकों के व्याज से व्यक्त करते थे। परिणाम होता था कि कविता का दुरूह हो जाना, लोकमानस को तृप्त करने में उसका असमर्थ हो जाना। इसीलिए नये कवियों ने भद्रता, आदर्श, शिष्टाचार, शील, सौन्दर्य सबको एक साथ तिलांजलि देकर उन दमित वासनाओं को अपनी कविता में मायम से हटकर उभारा। उनको मनुष्य के अवचेतन की ग्रन्थियों को खोलने में अधिक आनन्द मिला। नई कविता के बहुत से कवियों को फ्रायड के न तो प्लेजर प्रिंसिपल का ज्ञान है और न सेक्स इंस्टिंक्ट का। केवल वे इतना जानते हैं कि मानव के प्रत्येक कार्य के पीछे काम वासना छिपी है, यदि काम वासना को काम प्रेरणा भी कह लें तो अपना जानकारी के साथ वे किसी सीमा तक न्याय कर सकते हैं। हीगेल, प्लैटो और अरिस्टाटिल के नैतिकतावाद एवं आदर्शवाद को चुनौती देने में नई कविता के प्रहरी फ्रायड से भी आगे बढ़ गए। 'मन की मुक्ति' नये कवि का आधेय बन गई।[3] नैसर्गिक सत्य के व्याज से आचरण की उच्छृंखलता का पोषण किया गया। मन के निग्रह एवं अन्तःकरण के संयम की युग युग की पुनीत साधना पद्धति को लात मारकर मन की उद्दाम वासना तथा प्रवृत्तियों के निरंकुश स्खलनों को प्रश्रय दिया गया। इसीलिए नई कविता एकांगी हो गई। हमने जहाँ नई कविता की कुछ दुर्बलताओं की ओर संकेत किया है, वहीं यह भी स्पष्ट कर दें कि सब 'नये' से हमारा विराग नहीं तथा सब 'पुराने' से राग नहीं। अच्छा हो कि पुराना कुछ नया बनकर आये और नया कुछ पुराना बनकर आये। हमें अतीतवादी होकर वर्तमान के सम्पूर्ण का त्याग प्रिय नहीं और न नवीनतावादी बनकर अतीत के सम्पूर्ण के ग्रहण को ही हम अपेक्षित मानते हैं। हमें कोई आपत्ति न होनी चाहिए, यदि किसी भीषण नाद के लिए बम का विस्फोट,

---

1 Literature belongs to the free, but not to the irresponsible

२ देखिए वही, पृष्ठ १५३।

३ श्री गिरिजाकुमार की 'सत्' वाली कविता से उद्धृत

हैं यहाँ आजाद सभी विचार
मन भी मुक्त
मन की व्यंजना भी मुक्त
यही है सत्य नैसर्गिक
यही आसक्ति मन की

रेल के इंजन की वाष्प फूत्कार उपमान के रूप में आएँ, किन्तु हमें मेघों के गर्जन और शरद के भैरवनाद को सर्वथा विस्मृत नहीं कर देना चाहिए।

नये कवियों की 'मूड' की अधतारणा देखकर तो कभी कभी बड़ी निराशा होती है। कहीं-कहीं क्या, प्रायः इन नि[illegible] कुछ अर्थ भी नहीं बैठता है। मुझे तो श्री अज्ञेय के दूसरे 'तार सप्तक' में एक बड़ा भ्रम हो गया। मैं भ्रम के दोनों खण्डों को उद्धृत कर देना चाहता हूँ।

हासवन	विषय
मौनतम उसास से	दो पहरी
दहता वह अश्रु कठिन	ये हरे वृक्ष
जन उदास,	सुनसान घाटी
अन्तर प्रकाश था	दुबनी रात गये
तन घुलता	केशर रंग रंगे आगन
पाहन मलिन	पूर्णमासी रात भर
	जान बूझकर नहीं जानती
	डर लगता है
	ज़िन्दगी का बोझ
	लोहर का निर्माता
	ताज़ा पानी

यहाँ आप देखें तो आकार और रूप में दोनों खण्ड प्रयोगवादी अतुकान्त कविताएँ सी दीखते हैं। किन्तु आप आश्चर्य करेंगे यह जानकर कि पहला खण्ड श्री शमशेर बहादुरसिंह की 'हासवन' शीर्षक कविता है और दूसरा श्रीमती शकुन्तला माथुर की रचनाओं का सूचीपत्र है। यह प्रयोगवादी रचना पद्धति की विशेषता ही मानिए कि उसकी शैली और सज्जा में एक सूचीपत्र छाप दिया जाय तो वह कविता ही बन जायगा।

बिम्ब ग्रहण तथा उसकी अभिव्यक्ति का नये कवि बड़ा दम्भ भरते हैं। हम एक ही विषय पर दो रचनाएँ प्रस्तुत कर रहे हैं। दोनों के उपमा विधान पर विचार कीजिए और देखिए कि सौन्दर्य किसमें है। वैयाकरण महर्षि पाणिनि एक नायिका के सौन्दर्यातिरेक का वर्णन करते हुए कहते हैं—

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारा निपातैः सह किन्नुवान्तश्चन्द्रोयमित्यार्ततरं ररास॥[1]

बादल अपनी बिजली की आँखों से रात्रि में अभिसारिका के मुख को देखकर इस भ्रम में पड़ गए कि उनका अन्तश्चन्द्र तो वर्षा की धारा के साथ नीचे नहीं चला गया। ऐसा सोचकर व आर्ततर होकर विलाप करने लगे।[2] अभिसारिका के सौन्दर्य की कैसी शुद्ध अभिव्यक्ति है! हम

१ महर्षि पाणिनि विरचित 'जाम्बवती विजय नाटक' नामक अप्राप्य कृति से।

२ हिन्दी अनुवाद—मेघ ने तड़ित नयन से देख

निशा में अभिसारिणि मुखचन्द्र
गिरा शशि जल वर्षा की जान
सिसकता सकरुण स्वर में मन्द्र।

पूछेंगे, इस उक्ति में कौनसे शब्द घिस गए हैं ? इसमें प्रयोग की किस विशेषता का अभाव है ? श्रीमती शकुन्तला के 'सुहाग बेला' गीत के इस खण्ड में कौनसा नया प्रयोग है ?

चली आई बेला सुहागिन पायल पहन
बाणविद्ध हरिणी सी
बाँहों में सिमट जाने की
उलझने को, लिपट जाने की
मोती की लड़ी समान

इन पंक्तियों में सुहागवेला के आगमन का चित्र खींचा गया है, किन्तु बाणविद्ध हरिणी का उपमान प्रस्तुत करके रस में भंग कर दिया गया है। शृंगार में करुण की योजना की गई है।

छायावाद के मरघट पर नई कविता की मेंहदी रचाने वाले महाशयों का धारणा है कि नई कविता का भविष्य उज्ज्वल है, क्योंकि वह नई है, कविता न भी हो तो क्या ? किन्तु नई कविता के पक्षधरों एवं विरोधियों दोनों को गम्भीरतापूर्वक सोचना होगा तथा रूढ़ि और नवीनता दोनों के बीच एक सन्धि बिन्दु खोजना होगा। रूढ़ि का पूरा बहिष्कार तो श्री अज्ञेय भी नहीं स्वीकार करते, प्रत्युत वे रूढ़ि की साधना को अनिवार्य मानते हैं।[1] नये कवियों की एक और विशेषता यह है कि वे नई कविता पर आये दिन प्रचार गीत लिखते हैं। नई कविता उनकी रचना का आलम्बन बन गई है यह भी कविता के हित में नहीं है। काव्य प्रतिभा न होने पर भी कुछ तरुण, जब कहीं कविता नहीं छपती या प्रकाशित होती तो वे उसी असफल रचना को, कहना चाहिए जो रचना ही नहीं है, किसी प्रयोगवादी सकलन में प्रकाशित करा देते हैं क्योंकि अभी प्रयोगवादी किले में मैन पावर का बड़ा महत्त्व है, जितने ही रंगरूट भर्ती जायें अच्छा है। मैंने तो कुछ किशोर कवियों की प्रयोगवादी रचनाएँ लिखने का कारण यही जाना है कि उनकी वहाँ प्रतिष्ठा है, सम्मान है, कवि के रूप में आदर होता है। अप्रयोगवादी क्षेत्र में उनको कोई कवि ही नहीं मानता। अपने एक निबन्ध में डॉ० जगदीश गुप्त, जो प्रयोगवाद के हिमायती हैं, का विश्वास है कि जिस प्रकार छायावाद के प्रारम्भ में उसका बड़ा विरोध हुआ किन्तु अन्ततोगत्वा उसने अपनी जड़ें जमा ही लीं,[2] उसी प्रकार नई कविता के प्रारम्भ में उठने वाले विवाद एक दिन क्षीण हो जायँगे और नई कविता व्यापक प्रतिष्ठा की अधिकारिणी हो सकेगी। यह तर्क तो नई कविता के जन्म के पूर्व ही उसकी मृत्यु की सूचना देता है। प्रयोगवादी हो यह भी मानते हैं कि छायावाद को अपनी कुछ विकृतियों के कारण अविकसित ही मर जाना पड़ा, तो फिर

१ 'त्रिशंकु' पृष्ठ ३१ लेखक श्री अज्ञेय—

'हमें किंचित् यह विस्मयकारी तथ्य स्वीकार करना होगा कि परम्परा स्वयं लेखक पर हावी नहीं होती, बल्कि लेखक चाहे तो परिश्रम से उसे प्राप्त कर सकता है। लेखक की साधना से ही रूढ़ि बनती और मिलती है और हम सिद्ध करेंगे कि रूढ़ि की साधना साहित्यकार के लिए वाञ्छनीय ही नहीं, साहित्यिक प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए अनिवार्य भी है।'

२ नयी कविता नया सन्तुलन' निबन्ध लेखक डॉ० जगदीश गुप्त—"कटु आरोपों और अनर्गल आलोचनाओं के विरुद्ध उस समय का विद्रोह नतशीश नहीं हुआ, आज भी नहीं होगा।'

जगदीश का यह तर्क तथा नई कविता के सम्बन्ध में पूरा का पूरा स्वीकार कर लिया जाए तो छायावाद की अकाल मृत्यु नई कविता के सामने भी है। नई कविता चाहे अपने नाम में नई कविता बनी रहे, किन्तु अपने प्रभाव और गुणों में यदि केवल कविता ही बनी रही तो वह साहित्य की विस्तृत परम्परा को अपने पुष्ट योग द्वारा आगामी युग तक बढ़ा देगी, अन्यथा नई कविता की वर्तमान गतिविधि तो परम्परा की उस धारा को विच्छिन्न कर देगी ऐसा प्रतीत होता है। यदि नई कविता के शिल्प की पाकशाला में स्वास्थ्यवर्द्धक सुस्वादु व्यञ्जनों का अभाव है तो विदेशी मन्दिरों के उच्छिष्ट प्रसाद के बल पर उसका जीवन कितने दिन चलेगा।

२

श्री० प्रतापसिंह चौहान

हिन्दी की नई कविता को लेकर विद्वानों तथा आलोचकों में विवाद हुए हैं। इस नये काव्य के समर्थन में प्रायः वे ही व्यक्ति हैं जो इसके स्रष्टा हैं। आलोचकों के दोनों वर्गों—पिछली पीढ़ी के आलोचकों तथा नये प्रगतिशील आलोचकों—ने इसका स्वागत नहीं किया, वरन् भर्त्सना ही की है। नई कविता के समर्थकों ने पुष्ट तर्कों द्वारा अपने मत की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। ये विवाद प्रायः रूपाकार (फार्म) तथा वस्तु को लेकर हुए हैं। हिन्दी की काव्य परम्परा को देखते हुए निस्सन्देह नई काव्य शैली विवादग्रस्त तथा विचारणीय है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अति प्राचीन काल से 'पद्य' तथा गद्य की भाषा में अपेक्षाकृत अन्तर रहा है। भाव व्यञ्जना की इन दोनों शैलियों में जहाँ गद्य व्यास पद्धति को अपनाता है, वहाँ पद्य समास पद्धति को। गद्य में जहाँ विवेचना तथा तर्क की अधिक क्षमता होती है वहाँ पद्य में लय के साथ भाव प्रसूत चित्र अधिक स्पष्ट तथा हृदयग्राही होते हैं। अतएव काव्य में से जब लय को निकाल दिया जाता है तो भावाभिव्यक्ति बुद्धिपरक हो जाती है और हम उसे गद्य ही कह सकते हैं। मैं यह नहीं कहता कि नया काव्य अपनी अभिव्यञ्जना में अपने पूर्ववर्ती छन्दों का परिधान ही स्वीकार करे, किन्तु मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि चिन्तना तथा भावाभिव्यञ्जना की भाषा में अन्तर हो। लयहीन काव्य भाषा में निश्चय ही काव्य तत्वों का पूर्ण पोषण नहीं हो सकता। इसका प्रमुख कारण यह है कि भावानुभूति की दशा में हृदय के सामान्य स्पन्दनों में तीव्रता आ जाती है। अतएव मन की उस असाधारण भावुकतापूर्ण स्थिति में भाषा तथा भावों में अतिशय रमणीयता आ बैठती है। अस्तु, उन क्षणों में अद्भुत क्षमता होगी। उसे पढ़ते ही मन भावाविष्ट हो उठेगा। भाषा में अत्यन्त प्रभविष्णुता होगी। वह भाषा हृदय की होगी, आत्मा की होगी। किन्तु भावानुभूति के क्षणों के अतिरिक्त समय में भाषा विचार प्रधान होगी। और इसीलिए मैं हृदय की भाषा तथा मस्तिष्क की भाषा के अन्तर को आवश्यक ही नहीं, अभीष्ट भी समझता हूँ।

आज का कवि अपने काव्य में संगीत की नियोजना भी नहीं पसन्द करता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि काव्य में संगीत उसी सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है, जहाँ तक काव्य की महिमा अक्षुण्ण रहे। यदि श्रोता का मन काव्य में वर्णित वस्तु की अपेक्षा संगीत की तानों और

अलाप। में अधिक रमता है तो कवि नि सन्देह ही अपनी सीमा के बाहर चला जाता है। किन्तु शब्दों के समुचित प्रयोग तथा छन्द योजना में भी एक प्रकार का संगीत रहता है। उसकी पहचान यदि कवि को नहीं है, तो उसका काव्य उस अभिव्यक्ति को नहीं दे सकता जो उस भाव व्यंजना के लिए आवश्यक है। इस प्रकार के शब्द संगीत की आवश्यकता तो प्राय सभी प्रकार के काव्य में रहती है, किन्तु 'लीरिक' या गीतिकाव्य में तो संगीत पर ही विशेष प्रकट होता है। यदि 'गीत' से गेय तत्त्व निकाल दिया जाय तो वह केवल मात्र तुकबंदी रह जायगा। आधुनिक काल में संगीत और काव्य कला को दो भिन्न विभाजन माने जाने लगे हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन आचार्यों ने भी कला के वर्गीकरण में संगीत और काव्य की पृथक् सत्ता स्वीकार की है। तानों, आलापों, स्वरों, ग्रामों और गमकों में बँधा हुआ संगीत निस्सन्देह ही अपने आप में पूर्ण है, किन्तु उसे हम केवल संगीत ही कह सकते हैं। कबीर, तुलसी, सूर तथा मीरा के पद जितना कवियों को भावाविष्ट करते हैं, उससे कम वे संगीत और गायक के मन को रससिक्त नहीं करते। वे कवि से अधिक उन पर अपना अधिकार समझते हैं। अतएव यदि नया कवि (प्रयोगवादी कवि) अपने काव्य में संगीत की इसी प्रकार अवहेलना करता जायगा, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि संगीत के माध्यम से समाज और राष्ट्र में जिस चेतना को जन्म दिया जा सकता है, वह सम्भव न हो सकेगी। अपने गेयतत्व के अभाव में काव्य भी लोकप्रियता नहीं प्राप्त कर सकेगा और कदाचित् इसी कारण अपने अन्तर्गत सामाजिक तत्वों को लिये हुए भी वह समाज का न हो सकेगा तथा इसी कारण उसे अधिक टिकाऊ होने का भी अधिक अवसर नहीं प्राप्त होगा।

रूपाकार (फार्म) को लेकर मुझे केवल एक बात और कहनी है। वह बात है शब्द प्रयोग की। आज का प्रयोगवादी कवि शब्दों के अशुद्ध प्रयोग करता जा रहा है। शब्दों को तोड़ मरोड़कर उनको अपने काव्य में बिठाना जहाँ एक ओर मन को जुगुप्सा से भर देता है, वहीं शब्द सामर्थ्य को भी कमजोर कर देता है। एक कवि ने चिहुँकी शब्द के स्थान पर चिउँकी के प्रयोग द्वारा व्यंजना में मिठास लाने के लिए शब्द की शक्ति पर जो आघात किया है, उसे चिहुँका तथा चिउँकी की अर्थ शक्ति की जानकारी रखने वाले सभी विद्वान जानते हैं। पर इससे अधिक चिन्त्य बात है, व्याकरण को लेकर भाषा के प्रयोग। १६५४ की कविताओं का एक प्रतिनिधि संकलन 'कविताएँ १६५४' के नाम से श्री अजितकुमार तथा देवीशंकर अवस्थी के संयुक्त सम्पादन में निकला है। इस संग्रह को मैं सन् १६५४ का प्रतिनिधि संग्रह इसलिए कहता हूँ, क्योंकि इसमें सन् १६५४ के प्राय सभी प्राचीन नवीन कवियों की कविता तथा काव्य की प्रत्येक धारा को स्थान प्राप्त हुआ है। सम्पादक द्वय का यह कार्य वास्तव में स्तुत्य है। इसी संग्रह के एक कवि हैं श्री कुँवर नारायण। उनकी कविता का शीर्षक है 'परस मेरे'। इस कविता की कुछ पंक्तियाँ निम्न हैं—

> परस मेरे
> तू कृती हर बार
> नभ कवल प्रतीचा।
> तू उमड़ बढ़ वक्र में अपने गगन को घेर।

इस कविता में जरा 'वक्र' शब्द के प्रयोग को देखिये, आदि आदि। 'वक्र' शब्द हिन्दी तथा संस्कृत दोनों भाषाओं में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता आया है, किन्तु यहाँ पर कवि ने

प्रभाग के चक्कर में संज्ञा के रूप में इसे रखा है। कवि के मन में अंग्रेजी का 'कर्व' शब्द रहा है और सम्भवत यह गलती इसी कारण हुई है। चाहे जो कुछ हो, ऐसे प्रयोग भाषा तथा व्याकरण की दृष्टि से अत्यन्त चिन्तनीय हैं। अतएव जिन्हें व्याकरण का ज्ञान है उन्हें शब्दों और व्याकरण के साथ यह खिलवाड़ सह्य न होगा, क्योंकि शब्द का अपना सामर्थ्य होता है, अपनी अर्थ-व्याप्ति होती है। अतएव जब तक प्रयोगवादियों का अपना एक सर्वसम्मत व्याकरण नहीं बन जाता तब तक उन्हें रूढ़िवादियों के व्याकरण का ही आश्रय लेना चाहिए और व्याकरण तथा शब्दों के साथ मनमाना अत्याचार न करना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक शब्द के साथ एक इतिहास जुड़ा है, उसकी सामर्थ्य की व्याप्ति है। 'नम' के 'मन' तक पहुँचने तक की प्रक्रिया में समय लगा है। एक क्षण में ही बिना सोचे समझे यह सब सम्भव नहीं हुआ है। फिर भी दोनों के अर्थों में महान् अन्तर है। एक सकल्प विकल्प की क्रिया का द्योतक रूढ शब्द है तो दूसरा प्रणति के भाव को व्यक्त करता है। शब्दों के प्रयोग के विषय में दूसरी बात है अन्य भाषाओं के शब्दों के ग्रहण के विषय में। अन्य भाषाओं के शब्दों को अपने काव्य के अन्तर्गत अपनाने में प्रयोगवादी कवि ने आवश्यकता से अधिक उदारता दिखाई है। छायावादी कवियों के काव्य में—विशेषकर पन्त और निराला के काव्य में—यत्किंचित् उर्दू शब्दों का प्रयोग यत्र तत्र दृष्टिगोचर होता है, किन्तु उन्होंने अपनी काव्य भाषा के लिए प्रमुख रूप से सस्कृत से ही प्रेरणा ली है। निरालाजी के काव्य में प्रान्तीय भाषा बंगला का प्रभाव प्रचुर मात्रा में अवश्य मिल सकता है। किन्तु बंगला अपने शब्दों के निर्माण में सस्कृत से ही आश्रय लेती आई है, इसलिए वे शब्द बंगला से गृहीत होने पर भी सस्कृत के ही हैं। किन्तु प्रयोगवादी कवि ने उर्दू और अंग्रेजी शब्दों के मोह में सस्कृत से प्रेरणा लेना लगभग बन्द ही कर दिया है। 'नई कविता' प्रकाशन का दूसरा अंक मेरे हाथ में है। इसमें प्रकाशित अधिकांश कविताओं की भाषा या तो उर्दू है या फिर अंग्रेजी। सस्कृत तत्सम बहुत्ता एक दो कविताओं को छोड़कर और नहीं दिखाई देती। कुछ कविताओं के शीर्षक भी अंग्रेजी में दिये गए हैं। उदाहरणार्थ श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविताओं के 'पोस्टर और आदमी' तथा 'पीस और पैगोडा' शीर्षक रखे जा सकते हैं। उर्दू भाषा के शब्दों की छटा तो प्राय प्रत्येक कविता में अतिशय मात्रा में मिल सकती है। कुछ पंक्तियाँ 'पीस और पैगोडा' शीर्षक कविता से उद्धृत कर रहा हूँ, पढ़िए और भाषा के प्रश्न पर विचार कीजिए—

> "एक *लाश* खड़ी करके दूसरी *लाश* उसके सर पर लिटा दी गई है,
> ताकि उसकी छाँह तले
> ठण्डक से ऐंठे हुए
> दो *बेहोश* जहरीले साँपों के फन
> एक ही कमल की पखुरी पर
> सुलाए जा सकें।
> *क्या कमाल* है मेरे दोस्त।"

उपर्युक्त उद्धरण की भाषा प्राय सभी उर्दू है, किन्तु यदि और अधिक उदारता की जाय तो *इटैलिक* शब्द तो विशुद्ध उर्दू के हैं ही। इसी अंक की एक दूसरी कविता का भी नमूना देखिए। इसके रचयिता हैं श्री राजेन्द्र माथुर। उनकी हिन्दी कविता का उर्दू शीर्षक है, 'खुद

परस्ता'। यह तो लिफाफा है, अब 'मजनून' की भी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

' किया गया तलब
कहा गया चलो कलब
सवाल जवाब से तुम्हें मतलब ?
जुम्बिशाने से लब
गये कुछ दब
टपकने लगे नैनों के टब

जमाना न हुआ सस्ता
हालत अलबत्ता हो गई खस्ता।
अब नहीं ढूँढती रस्ता।
खुद परस्ता।'

इस कविता के भी प्रायः सभी शब्द उर्दू के हैं। पर कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिन्हें संस्कृत या संस्कृत के माध्यम से हिन्दी जानने वाले व्यक्तियों के लिए तो उर्दू या फारसी कोष का आश्रय लेना पड़ेगा। 'कलब' और 'टब' अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग का ढंग भी दर्शनीय है। 'नयनों' का उर्दू संस्करण 'नैनों' देखने योग्य है। अब प्रश्न यह है कि क्या अपने काव्य को उर्दू या अंग्रेजी के शब्दों द्वारा इस प्रकार भर लेना हमारी भाषा के लिए श्रेयस्कर होगा ? इस प्रकार के खिचड़ी प्रयोगों द्वारा हिन्दी भाषा का रूप कभी भी स्थिर न हो सकेगा। हिन्दी भाषा ने सदैव से ही संस्कृत से अपने निर्माण में सहायता ली है। इस देश की संस्कृति और सभ्यता के निर्माण में संस्कृत भाषा का जो अनुदान रहा है उससे सभी परिचित हैं, इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि हिन्दी भाषा भी देश और राष्ट्र के लिए संस्कृति और सभ्यता की रक्षा, संस्कृत भाषा से प्रेरणा लेकर करे। यदि शब्दों के निर्माण के विस्तार में जाया जाय तो इस बात का पता चलेगा कि प्रत्येक शब्द अपनी शक्ति के वलय में अपने देश की कितनी आध्यात्मिक शक्ति, धार्मिक भावना तथा सांस्कृतिक चेतना धरे हुए है। 'सिजदा' और 'दण्डवत्' अथवा 'नमस्ते' और 'आदाबअर्ज' या 'सलावालेकुम' समानार्थी प्रतीत होते हुए भी न तो समानार्थी ही हैं और न इनके उच्चारण से मन पर एक सी प्रतिक्रिया ही होती है। एक के उच्चारण से जहाँ मन में गम्भीरता और पूजा के भाव जागते हैं, तो दूसरे के उच्चारण द्वारा मन में एक विशेष प्रकार की चुहल की प्रतिक्रिया होती है जो इसकी तलहटी में छिपे हुए श्रद्धा भाव को उभरने ही नहीं देती। इस प्रकार की प्रतिक्रिया इसलिए सम्भव हुई है क्योंकि इन दोनों म शब्दों के शब्दों के निर्माण में अपने अपने देश की भौगोलिक स्थिति, परम्परा, संस्कृति, सभ्यता, अध्यात्म और धार्मिक भावनाओं का वृहत् रूप में प्रभाव पड़ा है। अतः आज के कवि को यह निर्णय करना होगा कि क्या वह अपनी संस्कृति, अध्यात्म तथा सभ्यता के आधार पर अपने समाज और राष्ट्र का निर्माण करना चाहता है या फिर अन्य देशों को आदर्श मानकर राष्ट्र का निर्माण करना चाहता है या फिर अन्य देशों को आदर्श मानकर उनकी सांस्कृतिक आस्था का अनुकरण करना चाहता है ? यदि हाँ तो उसे अपने देश की भाषा का ही आश्रय लेना पड़ेगा, यदि नहीं तो क्या उसने भली भाँति सोच लिया है कि वह देश को पथभ्रष्ट नहीं कर रहा है ?

नयी कविता के रूपाकार (फार्म) के विषय में उपर्युक्त विचारणा के पश्चात् अब मैं उसकी वस्तु का परीक्षण करूँगा। वस्तु परीक्षण में मैं नये काव्य की सामाजिकता, दर्शन तथा उस रस का क्रम से विवेचन करने का प्रयत्न करूँगा। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि किसी अच्छे काव्य का अभ्यन्तर इन्हीं तीन तत्त्वों से निर्मित होना चाहिए। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर वह चिरस्थायी होता है तथा उसके लोक मंगल की सर्वाधिक क्षमता होती है।

जिस काव्य में सामाजिक तत्त्व नहीं हैं, वह अन्य काव्य तत्त्वों से युक्त होते हुए भी निरर्थक है। वह उस गान के समान है जो गायक के मन प्राणों में पुलक भरने के लिए चाहे सक्षम हो, किन्तु सर्वसाधारण को उल्लास या भाव के एक भी कण का दान करने में सर्वथा असमर्थ है। यह तभी सम्भव है जब वह समाज को अधिक से अधिक प्रभावित करती हो, उसमें अधिक से अधिक उदात्त चेतना के भाव भरती हो। जब तक कलाकार या कवि अपने 'अहं' की व्याप्ति सम्पूर्ण राष्ट्र या समाज तक नहीं कर लेता तब तक उसकी कला व्यर्थ है, काव्य स्वार्थपूर्ण और अपने अहं की ही तुष्टि करने वाला है।

आज का प्रयोगवादी कवि अपनी भाषा, अलंकार तथा छन्दों के प्रयोगों में इतना व्यस्त है कि उसे अपने बाहर की दुनिया की कुछ भी परवाह नहीं है, वह प्राण शरीर को ही आत्मा मान बैठा है। अतएव उसकी इस प्रकार की घोर वैयक्तिक तथा समाज निरपेक्ष रचनाओं का भविष्य कितना उज्ज्वल है। अधिक सोचने समझने की बात नहीं है। एक व्यक्ति परक रचना की कुछ पंक्तियाँ देखिये। रचयिता हैं श्री अनन्तकुमार 'पाषाण'। कविता का शीर्षक है 'बम्बई का क्लर्क'।

> "मेरे मन की अँधियारी कोठरी में
> अतृप्त आकांक्षा की वेश्या बुरी तरह खाँस रही है
> मैं घर की एकरस भन भन से घबराता हूँ
> ज़रा मौज मनाकर देखूँ—
> पास घर आये
> तो दिन भर का थका जिया मचल मचल जाये।"

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि की मुमूर्षु वैयक्तिक अभिव्यक्ति न तो कवि को ही कोई लाभ पहुँचा सकती है और समाज निरपेक्ष होने के कारण समाज के लिए उसकी उपयोगिता की बात सोचना ही व्यर्थ है।

तर्क किया जा सकता है कि छायावाद का सम्पूर्ण गीति काव्य अधिकांश रूप में घोर व्यक्तिवादी होते हुए भी अधिक लोकप्रिय रहा है। उत्तर में कहा जा सकता है कि निस्सन्देह छायावादी कवियों ने अपने गीतों में मानव के अन्तर्द्वन्द्वों के चित्र दिये हैं, किन्तु उनके काव्य में एक बड़ा प्रबल सामाजिक तत्त्व संगीत का रहा है और इसी संगीत के आवेष्टन में कवि के अपने ही मानस संवेदन समाज संवेद्य हो गए हैं। उस काल का कवि अपनी बात कहता कहता अपना नहीं रह गया है, वरन् सम्पूर्ण विश्व का हो गया है।

> आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे।
> या फिर
> साँझ होवे ही न जाने छा गई कैसी उदासी!

क्या किसी की याद आई ऐ विरह व्याकुल प्रवासी ॥
क्या किसी की याद आई ए विरह व्याकुल प्रवासी ॥

ऐसी पंक्तियों में कवि की अपनी प्रिया से 'बिछुड़न' सम्पूर्ण प्रेमियों की अपनी प्रिया से 'बिछुड़न' बन गई है तथा उसकी उदासी सम्पूर्ण प्रवासियों की उदासी हो गई है। किन्तु छायावादी कवियों ने प्राय अपने काव्य में उन्हीं भावों की अभिव्यक्ति की है जो सार्वकालीन हैं, नित्य सत्य हैं और इसी कारण वे सामाजिक हैं तथा प्रयोगवादी काव्य की वैयक्तिता से पृथक् हैं।

काव्य का दूसरा प्रभावशाली तत्व है उसकी दार्शनिक पीठिका। 'दर्शन' से मेरा तात्पर्य उस लोक मंगलकारी चिन्तना से है जिसकी आधारशिला पर समग्र समाज की नींव रखी जाती है। आदिकाल से ही कवि ने सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक सुव्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का आश्रय लिया है। जितने भी महाकाव्यों की रचना हुई है, उनमें युगानुकूल दार्शनिक चिन्तनाओं को यथोचित स्थान मिला है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' रखा जा सकता है। गोस्वामीजी यद्यपि सिद्धान्त रूप से विशिष्टाद्वैत के अनुयायी थे, किन्तु उनके मानस में द्वैत, अद्वैत आदि सभी दार्शनिक सिद्धान्तों का भी यथोचित निरूपण हुआ है। कवि की दृष्टि सामाजिक हित के लिए राजनीति, धर्म और दर्शन सभी की ओर रही है। तत्कालीन कवियों ने भी अपने काव्य में किसी न किसी दार्शनिक सिद्धान्त की नियोजना की है। उनके इस प्रकार के कृत्य में निश्चय ही समाज के सर्वाङ्गीण हित की उदात्त विचारणा रही है। छायावादी युग के प्रमुख महाकाव्य 'कामायनी' में भी शैवाद्वैत दर्शन उपनिषदों के अद्वैत दर्शन के साथ साथ 'प्रसाद' द्वारा निरूपित 'आनन्दवाद' सिद्धान्त का तो निरूपण मिलता ही है, साथ ही आज के बुद्धिवादी दर्शन के आधार पर चलने वाली समाज की दुर्दशा का भी पूर्ण रूप इडा सर्ग में प्राप्त होता है। छायावादी इतर कवि भी जीवन के प्रति आस्थावान हैं और इसी कारण उनके काव्य में समाज के सदस्य में हार थके व्यक्तियों के लिए साहस की महती प्रेरणा मिलती है, परास्त जीवन के लिए आनन्द और उल्लास की सुदृढ़ व्यवस्था मिलती है, ऐसा इसलिए सम्भव हुआ है क्योंकि कवि समाज की इकाई के रूप में अपने उत्तरदायित्व को सँभालता आया है। उसे अपने और अपने काव्य के ऊपर पूर्ण आस्था है तथा उसे काव्य की क्षमता की भी पूर्ण पहचान है।

किन्तु आज के प्रयोगवादी कवि के समक्ष कोई भी दार्शनिक चिंतना नहीं है। वह कोई भी ऐसी बात नहीं कहता जिसमें सामाजिक जीवन के लिए आनन्द, उल्लास तथा उत्साह का उत्स मिल सके। वैयक्तिक होने के कारण प्रथम तो उसका काव्य अपने ही रुदन, क्रन्दन तथा कुण्ठाओं तक सीमित है, किन्तु जो इतर काव्य भी है उसमें भी जीवन को खोखला चित्रित करने के प्रयत्न के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता। यह सही है कि जीवन में कुरूपता है, दुःख है, भय है, भ्रम और आशंका भी है, किन्तु यही तो समग्र जीवन की परिभाषा नहीं है और इन भावों के काव्य चित्रण द्वारा तो समाज में भयंकर निराशा तथा अनास्था भर जायगी, जिससे सामाजिक जीवन दुर्वह हो जायगा। अतः आज के प्रयोगशील कवि को आस्थावान होना चाहिए, ताकि वह अपने काव्य द्वारा अपने 'स्व' और उससे ऊपर समाज तथा राष्ट्र का हित कर सके और इस आस्था के लिए उसे किसी न किसी सुव्यवस्थित दार्शनिक विचारधारा का आश्रय लेना पड़ेगा।

अन्तिम तथा सबसे प्रमुख बात है प्रयोगवादी काव्य में रस समस्या की। काव्यशास्त्र के अनुसार कोई भी रचना रसरहित होने पर काव्य के अन्तर्गत स्वीकार नहीं की जा सकती। पाश्चात्य शास्त्रों में कविता का उद्भव हृदय तथा उससे ऊपर आत्मा द्वारा स्वीकार किया गया है। 'दू रिफ्लेक्शन इन इंग्लिश पोइट्री' नामक पुस्तक के नवें पृष्ठ पर एफ० आर० लिविस वास्तविक (Genuine) कविता और पद्यबद्ध रचना के विषय में लिखता है—

'The difference between genuine poetry and the poetry of Dryden, Pope and all their schools, is briefly this their poetry is conceived and composed *in their wits* genuinive poetry is conceived and composed in the soul'

ड्रायडेन, पोप तथा उसके वर्ग के अन्य कवियों की कविताएँ, तथा वास्तविक काव्य में संक्षेप में यह अन्तर है कि इनकी कविता मस्तिष्क (wit) में ही सोची तथा रची जाती है, जबकि वास्तविक काव्य आत्मप्रसूत। लाविस ने संक्षेप में काव्य की सुन्दर परिभाषा कर दी है। यह परिभाषा हमारे काव्य शास्त्रियों की कविता सम्बन्धी विचारधाराओं से पूर्णतया मिलती जुलती है। प्रायः सभी देशों के काव्य शास्त्रियों ने काव्य में किसी न किसी प्रकार रस की सत्ता स्वीकार की है। अपने काव्य में हृदय अनुभूति को ही काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया है।

किन्तु आज के प्रयोगवादी काव्य को, जोकि शत प्रतिशत मस्तिष्क की ही उपज है, किस रस के अन्तर्गत स्वीकार किया जाय? काव्य शास्त्रियों द्वारा निर्धारित नवरसों की परीक्षा के अन्तर्गत यह काव्य तो समा नहीं पाता, क्योंकि सारे रसों की निष्पत्ति हृदय की अनुभूति तथा स्पन्दनों के आधार पर स्वीकार की गई है। बुद्धिपरक चिन्तना को उन्होंने काव्य नहीं माना। प्रयोगवादी कवि भी शास्त्र के अनुसार अपने काव्य को रस के ऊपर ही आधृत मानता है। किन्तु उसको यह भली भाँति ज्ञात है कि उसका काव्य नवरसान्तगत नहीं आता, इसलिए इधर कुछ दिनों से उसने एक नये रस की खोज कर डाली है। उसने इसे 'बुद्धिरस' की संज्ञा दी है। उसका यह कहना है कि काव्य में नवरसों की सृष्टि इसलिए हुई क्योंकि एक ही रस सम्पूर्ण भाव-व्यंजनाओं के प्रकाशन में असमर्थ था और इन नवरसों के पश्चात् वात्सल्य भाव को प्रकट करने के लिए वात्सल्य रस की कल्पना की गई। आज फिर आवश्यकता है कि इस नूतन प्रयोगवादी काव्य के लिए, जो हृदयपरक न होकर मस्तिष्कपरक है, 'बुद्धिरस' की सर्जना की जाय। किन्तु बुद्धि को रस मानने में सबसे बड़ा रोड़ा हमारा प्राचीन से लेकर आज तक का मनोविज्ञान है। बुद्धितत्व को सदा से ही विवेचना के क्षेत्र के अन्तर्गत माना गया है, अर्थात् जिस बात को पढ़कर या सुनकर मन आविष्ट होने के बावजूद सोचने के लिए विवश हो, बुद्धितत्व का विषय है, तथा जिसके पढ़ने या सुनने से हृदय विभोर होकर उसी में रम जाय, मस्तिष्क में 'तनाव' न उत्पन्न हो वह हृदय तत्व से सम्बन्धित है और आज तक हृदय की इसी विभोरता तथा रमणीयता को लेकर रस की सत्ता स्वीकार की गई है। अतः समझ में नहीं आता कि 'बुद्धिरस' का स्वप्न देखने वाले कवि किस प्रकार रसों की पंक्ति में इस नूतन रस की प्रतिष्ठा कर सकेंगे, क्योंकि वैज्ञानिक प्रयोगों, राजनीति तथा गणित को लेकर मन के रमने में और एक 'काव्य कृति' के अध्ययन द्वारा मन के रमने तथा आनन्द के आस्वाद में मौलिक अन्तर है। एक चिन्तनापरक है और उसका पश्चात प्रभावचिंतन के लिए ही विवश करता है दूसरा हृदयपरक है और वह मन को चिरकाल के लिए आविष्ट किये रहता है, आनन्द के कण बिखेरता रहता है। एक आनन्द

की खोज में है, दूसरा आनन्द का स्रोत है।

अन्त में मैं केवल इतना ही कहूँगा कि आज के प्रयोगशील कवि को अपने काव्य को लोकप्रिय तथा सामाजिक बनाने के लिए भाषा को सँवारना होगा, छन्द का आश्रय लेना होगा, हृदय की अनुभूति को प्राथमिकता देनी होगी, और अपने काव्य को स्थायित्व देने के लिए एक सुव्यवस्थित आस्थापूर्ण दार्शनिक पीठिका को भी स्थान देना होगा।

●

मूल्यांकन

रामविलास शर्मा

बूँद और समुद्र : आस्था की समस्या

'बूँद और समुद्र' अमृतलाल नागर का नया और महान् उपन्यास है—महान्, आकार की दृष्टि से और विषयवस्तु की दृष्टि से भी। अमृतलाल नागर ने लगभग बीस वर्ष पहले तस्लीम लखनवी के नाम से लखनऊ के बिगड़े नवाबों, उनके अर्ध सर्वहारा मुसाहबों के चित्र खींचकर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। स्वर्गीय बलभद्र दीक्षित 'पढ़ीस' के कविता संग्रह 'चकल्लस' के नाम पर उन्होंने हास्यरस का अभूतपूर्व साप्ताहिक 'चकल्लस' निकाला था। उसमें 'नवाबी मसनद' नाम के स्तम्भ में धारावाहिक रूप से नवाब साहब और उनके आसपास के लोगों के सजीव रेखाचित्र निकलते रहते थे। इन रेखाचित्रों में नागर ने लखनऊ के चौक मुहल्ले अर्थात् पुराने लखनऊ के साधारण जनों की बोली बानी का ऐसा सजीव और रोचक उपयोग किया था जैसा 'फसाना ए आजाद' के अतिरिक्त हिंदी उर्दू में अन्यत्र दुर्लभ था। आगे चलकर उन्होंने आगरा के व्यापारियों की बोली को आधार बनाकर सेठ बाँकेमल का चित्रण किया और एक नष्ट होती हुई पीढ़ी और उसकी संस्कृति को अपने साहित्य से अमर कर दिया। उन्होंने अनेक कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें 'मरघट के कुत्ते' और 'गोरखधंधा' विशेष उल्लेखनीय हैं। जीवन के सबसे निचले स्तर तक पैठने और अप्रत्याशित बीभत्सता का उद्घाटन करने में वह अद्वितीय हैं। साथ ही वह हास्यरस के जाने माने लेखक हैं। हास्य के लिए वे आसपास के सामाजिक जीवन से आलम्बन ही नहीं चुनते, पौराणिक गाथाओं और भटियारिनों के किस्से कहानियों का भी सहारा लेते हैं। आत्मी हिम्मत के हैं, निर्भीकता से सामाजिक समस्याओं पर लिखते हैं। 'आदमी, नहीं ! नहीं !!', 'पाँचवां दस्ता' और 'गोलवलकर, ढोलबलकर, पोलबलकर' उनकी ऐसी ही सोद्देश्य रचनाएँ हैं। इस सबके साथ ही उन्हें पुरातत्त्व और प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास से भी बहुत दिलचस्पी है। लखनऊ के लक्ष्मण टीले की खुदाई कराने के लिए उन्होंने जमीन आसमान एक कर दिया है। कला—विशेषकर चित्रकला—से उन्हें प्रेम है और उनके अनुज मदनलाल नागर हमारे प्रदेश के सुविख्यात चित्रकार हैं। 'निराला', 'प्रसाद', 'पन्त', शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय, 'पढ़ीस' आदि ख्यातनामा साहित्यकारों के साथ रहकर उन्होंने सात्विक और नाना प्रकार के संस्कार अर्जित किये हैं। कुछ वर्ष तक रेडियो में काम किया है। रेडियो

के लिए नाटक लिखे हैं। 'महाकाल' नाम से बंगाल के अकाल पर उपन्यास लिखा है। जन नाट्य संघ के साथ लखनऊ में नाटकों का निर्देशन कर चुके हैं। बहुत से लेखों के साथ चेख़ोव, मोपासां, फ्लाबेयर आदि की रचनाओं के अनुवाद भी किये हैं। इन सबके अतिरिक्त उन्हीं के शब्दों में "१८ फ़िल्मों की मेहनत रेत पर खींची गई लकीरों की तरह मिट गई।" विचारधारा में वह गांधीवादी हैं अथवा यों कहें कि वह गांधीजी के भक्त हैं, लेकिन आदमी वह खास चौक लखनऊ के हैं। नागर की कला और व्यक्तित्व के ये सभी उपकरण 'बूँद और समुद्र' में एक साथ लहलहा उठे हैं।

लेखक ने कथा क्षेत्र के लिए लखनऊ चुना है और उसमें भी विशेष रूप से चौक के गली कूँचों को। कुछ समय के लिए वह मथुरा वृन्दावन की सैर भी करता है। चौक के बाहर के स्थान गौण हैं, मुख्यतः चित्रण चौक का है। यह मुहल्ला एक बूँद की तरह है जिसमें समुद्र की तरह विशाल भारतीय जीवन के दर्शन होते हैं। शहर के विभिन्न स्तरों का जीवन कैसा है, इसका पता तो उपन्यास से लगता ही है, गांवों में भी जनता के संस्कार कैसे हैं, इसका परिचय बहुत कुछ इस कथा से मिल जाता है। उपन्यास के नाम की यही सार्थकता है, एक मुहल्ले के चित्र में लेखक ने भारतीय समाज के बहुत से रूपों के दर्शन करा दिए हैं। वैसे तो भारतीय समाज हिन्दमहासागर है और उसका चित्रण करने के लिए यह समुद्र भी छोटा है।

'बूँद और समुद्र' पुरानी समाज व्यवस्था के बनते बिगड़ते और बदलते हुए भारतीय परिवार का महाकाव्य है। इस परिवार की धुरी है नारी। कितनी तरह की देवियाँ हैं इस उपन्यास में ! ताई, जिसे पति ने छोड़ दिया है, जादू टोनों में विश्वास करने वाली, मुहल्ले भर के लड़कों और बड़े बूढ़ों के भी कौतुक का केन्द्र, कृष्ण की अनन्य भक्त, हिंसा और मानव प्रेम (अथवा जीवमात्र से प्रेम) का अद्भुत सम्मिश्रण, नन्दो, जो घर में ही कुटना का काम करता है अतृप्त प्रेम से पीड़ित 'बड़ी', नये फैशन और नई शिक्षा में दीक्षित पत्नियाँ दमन की शिकार हिस्टीरिया से पीड़ित युवतियाँ पुराने चाल की निष्ठावान किन्तु रूढ़िवादी कल्याणी, मुहल्ले की गन्दगी में सवेरे की हवा के झोंके जैसी स्वावलम्बिनी वनकन्या। कहीं लाले की घरवाली एटम बम की तरह बीच चौक में फूटकर भगूती के घर को हिरोशिमा बना देती है, कहीं नन्दो 'रणक्षेत्र में आकर गाण्डीव' टंकारती है। सिनेमा जाती हुई देवियाँ, किस का कोट किस फैशन का है, इस पर टीका टिप्पणी करती हैं और 'बेशुमार हतभागिनि किस सन् के चलन का कोट नहीं पहन थीं।" वनकन्या की मां और ताई में सौत का रिश्ता चलता है। उसकी भाभी 'पड़' है, 'प्रकृति का एक मज़ाक' ऐसी औरत ज़ाहिर में औरत लगकर भी असल में बेमानी होती है।" कहीं गभरती विधवा शरीर में आग लगाकर जल मरती है। एक जगह मुन्नी की लाश को कुत्ते घसीटते हुए दिखाई देते हैं। मन्दिर के अन्दर अच्छे खासे मर्द देवियों का अभिनय करते हैं। इन सबकी बोली बानी अलग, सबकी व्यक्तिगत शैली अलग। इनके साथ पुरुषों का वर्ग अपनी विशिष्ट मर्दानी संस्कृति के साथ चित्रित किया गया है। पीपल के नीचे का चबूतरा, हुक्के, नीम की दातुनें, अखबार, गजक और मूँगफली बेचने वाले, मक्खन की तारीफ, कोन पर पाँच पाँच रुपये रख दो और भाग न दबे, कुल्फी की तारीफ़, गोल दरवाजे में खरीदो और रानी कटरे में जाकर खाओ और तारीफ ये कि ज़रा भी न गले, तीतरों को चुगाता हुआ परसोतम, सेक्रेटेरियट के बाबू गुलाबचन्द, लखनऊ की खास

गाली को उपनाम की तरह अपने वाक्यों में जड़ने वाले लाला मुकुन्दीमल, मुहल्ले से लेकर विश्व तक की समस्याओं पर वाद विवाद, कथा बाचते हुए पण्डितजी, राजा, डॉक्टर, लेखक, चित्रकार, साधू, गुण्डे—उपन्यास में रेखाचित्रों की ऐसी समृद्धि है जैसी प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के कम उपन्यासों में न मिलेगी।

रेखाचित्रों की सजीवता अपने आप एक बहुत बड़ा आकर्षण है। पुराने यूनानी विचारक कहते थे कि कला का धर्म जीवन का अनुकरण अथवा उसकी प्रतिच्छवि अंकित करना है। चित्रकला में पशु, मानव, वनस्पति या निर्जीव पदार्थों की सजीव छवि देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं। सजीव अनुकरण सरस होता ही है, फिर वस्तुओं के चयन में लेखक अपने उद्देश्य और रुचि का परिचय भी देता है। पात्रों की संख्या, उनकी विविधता, अनुकरण अथवा प्रतिच्छवि की सजीवता के विचार से अमृतलाल नागर हमें ऐसे जीते जागते और कोलाहलमय संसार में ला खड़ा करते हैं जिसकी समृद्धि की तुलना बाल्ज़ाक की रचनाओं से ही की जा सकती है। लेखक के पास ऐयारों की ऐसी झोली है जिसमें पात्रों की सैकड़ों मूर्तियाँ भरी हुई हैं और वह सन्तुलन का भी विचार न करके उन्हें सामने एक के बाद एक निकालता चला जाता है, फिर भी झोली खाली नहीं होती। पात्र अकेले नहीं आते, वे अपने साथ अपना पूरा वातावरण लाते हैं—पुरानी हवेली, पीपल के नीचे का चबूतरा, नदी का किनारा, इत्यादि। अनेक स्थानों के वर्णन में कवि सुलभ सरसता है। "कटी फटी पतंगों, मकड़ी के जालों, घोंसलों, चिड़ियों, गिलहरियों और पीपली के दानों से लदा, अनगनित इसानों के बचपन मन समृद्ध सा हरहराता हुआ घना पीपल कई सदियों से मुहल्ले का साथी है। आज के बड़े बूढ़ों के बचपन तक यह पेड़ गये भूरिये के बाग़ का पीपल कहलाता था। मगर वह दीवाल, जो किसी समय किसी गये भूरिये का वैभव थी, अब बाबू छेदालाल इश्योरेंस एजेण्ट की मिल्कियत है। म्युनिसिपैलिटी के रजिस्टर के अनुसार उस मकान का नम्बर इस समय ४२० है जो सही तौर पर बाबू छेदालाल की ख्याति में चार चांद लगाता है।" वातावरण के छोटे बड़े तथ्य, जो मनुष्य का दुःखपूर्ण या मनोरंजक स्थिति की ओर संकेत करते हैं, लेखक की निगाह से बच नहीं पाते। वह वास्तव में शहर के गली कूचों का कवि है।

वह इन गली कूचों में बरसों रहा और घूमा है। उसने चारों ओर के जीवन को देखा ही नहीं, उसका रंग बिरंगा कोलाहल सुना भी है। यहाँ एक शैली और एक व्याकरण का प्रयोग करने वाले पात्र नहीं हैं, प्रायः जितने पात्र हैं, उतनी तरह की शैलियाँ और उनके अपने अपने व्याकरण हैं। लखनऊ में विभिन्न जनपदों से सिमटकर जनता एकत्र होती रही है। उसने अपनी बानी बानी एक हद तक सुरक्षित रखी है, एक हद तक दूसरों की भाषा से, यहाँ तक कि अंग्रेजी से भी, प्रभावित भी हुई है। अमृतलाल नागर द्वारा किया हुआ एक मुहल्ले का यह 'लिंग्विस्टिक सर्वे' भाषा विज्ञान की सामग्री का अद्भुत पिटारा है। अभी तक किसी भी देशी विदेशी भाषा में एक नगर की इतनी बोली टोलियों का निदर्शन करने वाला उपन्यास मेरे देखने में नहीं आया। इन शैलियों में भाषाओं और समाज का इतिहास बोलता है। इसके अतिरिक्त कथा की दृष्टि से प्रकृति या चरित्र कम से कम पचास फीसदी उसकी शैली से प्रकट होता है। जहाँ तक हास्यरस का सम्बन्ध है—केवल शुद्ध हास्य नहीं, विनोद, मनोरंजन, वक्रोक्ति, व्यंग्य, सभी कुछ—उसकी निष्पत्ति सौ फीसदी इस बोली ठोली और शैली पर निर्भर है।

पुरानी चाल की माताजी की आड़ा जाउन मिश्रित लगी बोली—"जो जिसकी जिसकी समझ में आवत है वही करत हैंग। कल को हमरे शंकर एमे पास करके अपसर होयँगे, उनकी बहुरिया पुरानी चाल से चलै तो किरकिरी न होय?" हाथरस की ताइ की ब्रज का पुट लिये हुए खड़ी बोली—'निगोड़ी सबकी सब मेरी छाती पे ही मूँग दलने आमें हैंगी। सात जनम की दुश्मन मरी, गली गली घूमकर मेरे घर बच्चे पटकने आइ रहो। अरे तन-तन में कीड़े पड़ेंगे, सरदी की रात में दौड़ा मारा।" लखनऊ के पुलिसमैन की अंग्रेजी अवधी मिश्रित हिन्दुस्तानी— कोतवाली को वैरलस कर दिया हुजूर' मिरजाजी अटपट कर रहे थे हुजूर, तौन उन्होंने मिसेज दिया कि अस्पताल की गाड़ी भिजवाते हैं हुजूर।" जगह जगह घूमे हुए अवध के साधु की हिंदी — 'पूर्व आश्रम में हम मोटर मिकैनिक रह! अन्त में मालिक की चाकरी से छूटकर विंध्याचल में रम गए। त्रिकुटी में ध्यान साधा, निर्जल, निराहार रहे— जाने क्या क्या अष्ट सपट किया। वहाँ एक महात्मा के दर्शन हुए। तौन उन्होंने कहा कि ड्यूटी बजाना छोड़कर यहाँ का ढोंग करता है—जा सेवा कर। फिर हम क्या करते रामजी? जिसको गुरु माना उसकी आज्ञा भी तो माननी पड़ेगी। तो कहने का सारांश यह है कि अपनी ड्यूटी का पाबन्द हुए बिना कोई अपना स्वामी बन ही नहीं सकता।" कथा बाँचने वाले पण्डितजी की भाषा—"सूतजी बोलम् कि हे जिजमान सुनौ, एक समय जो है सो नारदजी बैकुण्ठ लोक के बीच में लक्ष्मीपति विष्नू भगवान् के पास जाय के कहत भएम् कि ।" इस तरह की दो चार नहीं बीसों भाषा शैलियाँ हैं जिनके अत्यन्त रोचक उदाहरण 'बूँद और समुद्र' में मिलेंगे। सरसता की कितनी सामग्री हमारे चारों ओर बिखरी पड़ी है और भाषा शैली की इस विविधता से जनसाधारण भी अपना मनोरंजन करते हैं। अमृतलाल नागर के हास्यरस का दृढ़ आधार यही यथार्थ जीवन है। उनके मनोरंजक संवाद हास्य की सृष्टि करने के अतिरिक्त चित्रण की सजीवता की छाप मन पर छोड़ते हैं।

यह समझना कठिन नहीं है कि इस उपन्यास में लेखक के वर्षों के सामाजिक अनुभव का संग्रह है। इस तरह के संग्रह मात्र के लिए ही सुदीर्घ साधना और परिश्रम अपेक्षित हैं। कला प्रेमियों के अलावा भाषा विज्ञान और समाज शास्त्र के पण्डितों के लिए भी यहाँ दुर्लभ सामग्री एकत्र की गई है। उपन्यास में स्त्रियों के जो गीत दिये गए हैं, वे अपने में अलग सांस्कृतिक इतिहास की महत्त्वपूर्ण निधि हैं। "कलजुग तो आया बड़ी धूम से, बहुएँ हो गईं ददिया सास, राजा तुम गए कॉलेज पढ़ने मेरी उमर गुजर गई पीहर में', "जब से चला है किलिप लगाना, कदर बेंदी की गई मेरी जान" आदि खड़ी बोली के गीत नारी समाज की वह झाँकी देते हैं जो अधिकांश उपन्यासकारों के कल्पना रंजित चित्रों से बिलकुल भिन्न है।

उपन्यास की धुरी हैं ताइ। लखनऊ की एक रईस की छोड़ी हुई पहली पत्नी हैं। जीवन की परिस्थितियों ने उनके मन में विचित्र ग्रंथियाँ उत्पन्न कर दी हैं। अब वह जादू टोने से मानव मात्र का संहार करने पर तुली हुई सी दीखती हैं। भारतीय समाज का सारा अंधविश्वास और मनुष्य से घृणा करने वालों की सारी हिंसा मानो सिमटकर ताइ में केंद्रित हो गई है। बच्चे, बूढ़े, जवान, सब उन्हें चिढ़ाते हैं और अब ताइ के पास आशीर्वाद का एक शब्द भी नहीं रह गया, वह केवल कोसना जानती हैं। भारतीय समाज में

न्याय, वैशेषिक, साख्य, वेदान्त आदि की चर्चा के साथ पलग की पाटी में सेंदुर मलने, तकिये में काला डोरा पिरोकर सुइ चोंसने, आटे के पुतले बनाकर मारणम त्र चलाने आदि की जो क्रियाएँ होती रही हैं, उनकी सूत्रधार ताइ हैं। उनकी हिंसा इतनी तीव्र है कि पति के अपराध के लिए वह जादू द्वारा उसके नाती के प्राण लेने का प्रयत्न करती हैं।

ताइ के घर में एक दिन बिल्लियों का युद्ध होता है। लालटेन जलाकर देखती हैं कि बिल्ली का एक बच्चा मरा हुआ है, जिसका सिर गायब है। वह सिरकटी लाश पड़ोस में गर्भवती तारा के दरवाजे पर रख आती हैं, इन शब्दों के साथ—"राँड बहुत पेट लिये घूमती है। ऐसे ही कटकर गिर पड़ेगा।" हिंसा की मूर्ति ताइ बिल्ली के शेष तीन बच्चों को आँचल में डालकर बाहर फेंकने जाती हैं। "ठण्ड से सिकुड़े बन्द आँखों वाले तीन बच्चे आँचल में गठरी सो बनकर उनके पेट से लग गए।" ताइ को सहसा अपनी बिटिया की याद आइ और वह वापस लौट आई। उस दिन से ताई के परिवार में वे बच्चे भी शामिल हो गए, अथवा या कहें, उस दिन से ताइ ने नये सिरे से पारिवारिक जीवन बिताना शुरू किया।

हिंसा और अन्धविश्वास की पुतली ताइ म भी जैसे प्रेम का बीज मिटने से रह गया था। मानवेतर जीव के सस्पर्श से वह बीज सहसा अकुरित हो उठा। इस बीज को मिटाने में रईस पति और ताइ के मुहल्ले वालों ने कुछ उठा न रखा था। मनुष्य ने उसे मिटाया, पशु जीवन ने उसे फिर अकुरित कर दिया। इसका श्रेय पशु जीवन से अधिक ताइ को है जो अपने अन्तस्तल म कहा अब तक वह प्रेम का बीज छिपाये हुए थीं।

एक भारतीय लेखक के लिए ताइ में यह परिवर्तन देखना बहुत स्वाभाविक है। जिस देश के आदि कवि ने एक पक्षी के क्रन्दन से द्रवित होकर एक नया छन्द ही रच डाला था, उसके आधुनिक लेखक के मन पर अब भी वैसे सस्कार बने हों तो आश्चर्य क्या? तब क्या वर्तमान युग में भारतीय लेखक के लिए आस्था का प्रश्न एसा कुछ उलझा हुआ है कि उसे हल करना बहुत ही कठिन हो गया है?

ताइ की बिल्ली के बच्चे बहुत परेशान करते हैं, लेकिन ताइ उनका मोह छोड नहीं सकतीं। एक बच्चे की आँखों में देखते हुए उन्हें लगता है कि भीतर से बालमुकुन्द भाँक रहे हैं। जब ताइ में यह परिवर्तन होता है, तभी कुछ लोग आकर उनके मुँह मे कपडा ठूँस देते हैं, बिल्ली के बच्चों को उठाकर फेंक देते हैं, ताइ के मुँह पर काजल और सिन्दूर पोत देते हैं और रुपये लेकर चल देते हैं। कलाकार सज्जन जब उन्हें देखता है तो उसे वह उचित ही "आदिम समाज की पुरोहितानी" जैसी लगती हैं। ताइ के बन्धन खुलते ही वह सबसे पहले बिल्ली के बच्चा के लिए दूध मँगवाती हैं। कलाकार "सज्जन सोचने लगा, पत्थर भी पिघलना जानता है।" बिल्ली के बच्चों के बाद ताइ को सज्जन से स्नेह है। 'कनोमल के पोते' कहकर वह बड़े प्यार से उसे बुलाती हैं। लेकिन कलाकार सज्जन ऐसा उच्चकोटि का बुद्धिजीवी है कि पत्थर को पिघलता देखकर भी वह आस्था के प्रश्न से उलझा रहता है।

कलाकार की कोठरी पर मुहल्ले के लोग हमला करते हैं। मुहल्ले में कवि विरहेश और 'वन्दी' के प्रेमकाण्ड के पकड़े जाने पर रूढ़िवादियों ने क्रोध उतारा सज्जन की कला पर। "उत्तेजित भीड़ ने कमरे का ताला तोड़ डाला। सज्जन की बनाइ तसवीरें चिन्दी चिन्दी

कर डालीं। रंगों के ट्यूब फेंके, जूते के नीचे दबाकर फर्श पर मसल दिए। स्प्रिट का तेल गद्दे और तकियों पर छिड़का। उसमें दियासलाई लगाई गई। सारा कमरा टूटे काँच, टूटे प्याले, फटी तस्वीरों और चादर की चिन्दियों से भर गया।" अहिंसावादी समाज का रूढ़िवाद कितना बर्बर हो सकता है, उसका यह निदर्शन है। इन रूढ़िवादियों ने बड़ी को निर्ममता से पिटते देखा था। पीटने वाले के प्रति उनकी सक्रिय सहानुभूति थी। वही लोग चरित्र और संस्कृति की रक्षा के लिए सज्जन के चित्रों का नाश कर देते हैं। अवश्य ही वे बड़ी के वेश्यागामी पति से कुछ नहीं कहते। इस तरह के फासिस्ट आक्रमणों के वर्णन हमने विदेशी उपन्यासों में पढ़े हैं। भारतीय रूढ़िवाद के आधार पर यहाँ भी कला और कलाकारों पर फासिस्ट आक्रमण हो सकते हैं, इस उपन्यास से यह चेतावनी मिलती है। एक तरह की हिंसा यह है, दूसरी तरह की हिंसा उपन्यासकार महिपाल की है। असहाय स्त्री को पिटते देखकर उसे क्रोध आ जाता है। वह बचाने जाता है तो वेश्यागामी पति उसे भी अपनी पत्नी का यार कहकर धक्का देता है। इस पर "महिपाल का वो कड़ाकेदार हाथ पड़ा कि गाल और कनपटी सुन्न हो गई।" इन दोनों तरह की हिंसा में कौनसी उचित है और कौनसी अनुचित, या दोनों ही उचित अथवा अनुचित हैं? साधारण पाठक की सहानुभूति महिपाल के प्रति होगी और निर्दय पति को दण्ड मिलता देखकर उसकी न्याय की आकांक्षा तृप्त होगी। हिंसा और अहिंसा के सैद्धान्तिक संघर्ष की वास्तविकता क्या है, इसका उत्तर उपर्युक्त घटना से मिलता है।

सज्जन की कोठरी पर आक्रमण होने के बाद कला की रक्षा करने के लिए सबसे पहले ताई आगे आती हैं। वह मन्त्र पढ़कर सब पर सिंदूर फेंकना शुरू करती हैं। "थोड़ी देर में ताई कायर भीड़ पर विजयिनी हुईं।" चरित्र और संस्कृति की रक्षा के नाम पर चित्रों में आग लगाने वाली भीड़ कायर ही होगी। इन कायरों से कला की रक्षा कौन करेगा? "उस दिन ताई बड़ी रात तक लालटेन के उजाले में सज्जन—के कोमल के पात—की तस्वीरों के टुकड़े बटोर बटोरकर सहेजती रहीं।" कलाकार किसमें आस्था रखे, इस प्रश्न का उत्तर फिर यहाँ मिलता है।

सज्जन के आक्रमण से घबराती तारा अस्वस्थ हो जाती है। रात में मुहल्ले वालों का सहानुभूति खोया हुआ उसका पति ताई को अँधेरे में प्रेत समझकर बेहोश हो जाता है। ताई अपनी हिंसा भूलकर तारा को प्रजनन कराने में लग जाती हैं। यह उपन्यास का सबसे मार्मिक चित्र है। टॉल्स्टाय ने 'अन्ना करेनिना' में उस उद्विग्न पति का चित्र खींचा है जो शीघ्र ही पिता बनने वाला है। यहाँ सारी उद्विग्नता ताई में केंद्रित है, जिसके माँ बनने का अब कोई भी अवसर नहीं है। 'ज़रा सी हींग दबकर ताई और कुँभलाई। आप सौरी में थीं, इसलिए बमा को ही अपने घर के ममालेदान का पता बतलाया। अपने ठाकुरजी की कोठरी में टाँड पर रखे हुए कुल्हड़ सकोरों का पता बतलाया, मुट्ठी भर हींग और एक सकोरा लाने की आज्ञा दी। ताई ने बच्चे की नाल गाड़ी और पलंग के निकट आकर बच्चे को झुककर भर नज़र देखती रहीं।" यह चित्र श्रीयुत अमृतलाल नागर ने हिन्दी उपन्यास को उच्चतम स्तर तक उठाया है। जिसे ताई की इस निगाह में आस्था न मिले, उसे नमाध ही कहना चाहिए।

पुरुष पात्रों में सज्जन और महिपाल दोनों कलाकार हैं। एक चित्रकार है और दूसरा

उप यासकार है। दोनों रईस घरानों के हैं। अ तर केवल इतना है कि सज्जन की सम्पत्ति बची हुई है और महिपाल अपने वग से अलग होकर एक हद तक मध्यवर्ग का सदस्य बन गया है। सज्जन की अपनी कोठी है, मुहल्ला जीवन का अध्ययन करने के लिए वह ताई के पडोस में कोठरी लेकर रहता है। लेखक ने दोनों का ही चित्रण बडी बारीकी से किया है। बुद्धिजीवियों और मध्यवर्ग के शिक्षित वर्गों की अधिकाश समस्याएँ दोनों को परेशान करती हैं। दोनों म बहुत ही समानताएँ भी हैं। दोनों कलाकार होने के अलावा सामाजिक और सास्कृतिक विकास की समस्याओं से बहुत दिलचस्पी रखते हैं। दोनों का ही घरेलू जीवन अनियमित सा है। शराब का नस्का दोनों को है। महिपाल विवाहित है, ठठ अवधी बोलने वाली उसकी पत्नी कल्याणी निष्ठा की मूर्ति, पतिव्रता देवी है, किन्तु अपने कलाकार पति का मूल्य बिलकुल नहीं पहचानती। उसके सस्कार बहुत ही रूढिवादी हैं और ब्राह्मणों में ऊँच नीच का भेद भाव, कुलीनता अकुलीनता के विचार उसके सस्कारों की आधारशिला है, जिनसे टकराकर उप यासकार के सारे प्रगतिशील विचार वापस चले आते हैं। महिपाल का स्वभाव बहुत ही उग्र है। धीरता, दृढ इच्छाशक्ति, सहनशीलता आदि गुणों का उसमें अभाव है। यद्यपि वह बातें समाजवाद की करता है, फिर भी उसके सस्कार अराजकवादी के हैं। वह अपनी पत्नी के रूढिवाद से परेशान है, लेकिन 'इज्जत का सवाल' जितना उसे परेशान करता है, उतना कल्याणी को नहीं। कल्याणी न अपने भाई से कुछ रुपये मँगाये थे। महिपाल के अन्दर का बबर रूढिवादी तुरत जाग उठता है। "हरामजादी, तूने मेरी इज्जत खाक में मिला दी।" यह कलाकार की भाषा भी जो वह अपने उप यासों में न लिखता था, लेकिन खानदानी इज्जत की रक्षा के लिए उसका उपयोग करने म न हिचकता था। इतना ही नहीं, 'बडी' के वेश्यागामी पति की तरह वह भी लात घूँसों और थप्पडों के प्रयोग से बाज नहीं आता। कमरे के अन्दर यह काण्ड होता है, बाहर उसकी लडकी खडी रानी सब सुनती है, "दबी चीखें, साँसें घसीट घसीटकर रोना, पिता की अस्पष्ट गालियाँ, घुडकियाँ, धक्का मुक्की, पटकनों, घूँसों के धमाके।" लडकी के दरवाजा पीटने पर वह बाहर आता है और पत्नी के पैर छूकर और सबसे क्षमा माँगकर बाहर चला जाता है। आस्था की समस्या महिपाल के लिए उठ खडी होती है। "अपनी पत्नी को मारकर महिपाल आस्थाविहीन हो गया है।" बिगडे रईस महिपाल ने समाजवाद का चोगा ओढ रखा था, इज्जत का सवाल आने पर वह एक ही झटके में नीचे गिर पडता है। सज्जन से उसे ईर्ष्या भी होती है। अपने मित्र के विरुद्ध वह प्रचार करता है कि सज्जन छिपे छिपे कम्युनिज्म फैला रहा है। महिपाल की डींग सुनकर उसका एक पूँजीपति मित्र यह रहस्य प्रकट कर देता है कि ननिहाल मे डाका पडने पर महिपाल ने बहुत से गहने चुरा लिये थे और कह दिया था कि उन्हे डाकू ले गए। चोरी पकडे जाने पर आत्म हत्या के सिवा उसे कोई मार्ग नहीं सूझता। एक पत्र में अपना कच्चा चिट्ठा लिखकर ससार से विदा हो जाता है। महिपाल की आत्म हत्या यह दिखलाती है कि उसके आगे बढ़ रास्ता नहीं रह गया था। समाजवाद से उसे बौद्धिक सहानुभूति है, अपने जीवन में वह असन्तुलित अराजकवादी है। वह अच्छा पिता और पति नहा बन पाता। डॉ० शीला से उसे प्रेम है और शीला को छोडने के बाद वह भीतर से टूट जाता है। किन्तु उसकी ट्रैजेडी घरेलू जीवन तक सीमित नहीं है। शिवभक्त महिपाल समाज को बदलने का कोई रास्ता नहीं देखता। उसकी कहानी उस बुद्धिजीवी

की कहानी है जो समाज व्यवस्था से असन्तुष्ट तो है, लेकिन उसके बदलने के लिए जन शक्ति को संगठित करने का धैर्य और दृढ़ मनोबल जिसमें नहीं है।

दूसरी ओर चित्रकार सज्जन है। रूढ़ियों के विरुद्ध है, लेकिन वृन्दावन में जाकर रहस्यवादी बन जाता है। टेलीपैथी आदि चमत्कारों में उसे विश्वास है। वृन्दावन में कनकलता के प्रति प्रेम निवेदित करने के बाद लखनऊ आते ही अपनी प्रेमिका चित्रा राजदान के साथ सरस समय बिताता है। रईसी ठाट में नौकरों पर हाथ भी चला देता है, उन्हें बर्खास्त कर देता है। कनकलता से विवाह होने पर जहाँ कोठी में उसके साले साहब आते हैं, उस पर इज्जत का भूत सवार होता है और उसे सबसे पहले यह भय होता है कि नौकरों ने देख लिया तो क्या कहेंगे। ईर्ष्या का शिकार वह भी है, लेकिन साधु की कृपा से उसकी मति बदल जाती है और वह सम्पत्ति दान करने के लिए तैयार हो जाता है। महिपाल और सज्जन में महिपाल अधिक सजीव है। उसका मानसिक द्वन्द्व ज्यादा तीखा और नाटकीय है। अपनी कमजोरियों के बावजूद वह पाठक की करुणा अपनी ओर खींचता है। सज्जन की कठिनाइयाँ उसकी अपनी गढ़ी हुई हैं, वह परिस्थितियों से महिपाल की तरह नहीं जूझता। उसका चित्रकार भी बहुत कमज़ोर है। चित्रकार से अधिक वह मुहल्ले के जीवन का अध्ययन करने वाला समाज शास्त्री है और यहाँ उसका व्यक्तित्व उपन्यासकार महिपाल की ही प्रतिच्छवि है। उसके सम्पत्ति दान में ऐसी गरिमा नहीं है जो पाठक को आन्दोलित करे। 'प्रेमाश्रम' और 'जहाज का पंछी' के काल्पनिक समाधान की छाप उपन्यास को कमज़ोर बनाती है।

पुरुष पात्रों में ताई से मिलते जुलते पात्र हैं कनल और रामजी साधु। कनल उच्च मध्यवर्ग के दूकानदार हैं। अपने मित्रों में नगीनचन्द जैन कनल नाम से विख्यात हैं। बुद्धिजीवियों की समस्याएँ उनकी समझ में नहीं आतीं लेकिन जहाँ भी मनुष्य पर विपत्ति पड़ती है, नगीनचन्द उसकी सहायता को तुरन्त पहुँच जाते हैं। वनकन्या को अपने अत्याचारी कुटुम्बियों के यहाँ जब आश्रय नहीं मिलता, तब नगीनचन्द उन्हें अपने यहाँ बहन की तरह रखते हैं। इस मानव प्रेम के कारण उन्हें रूढ़िवादियों का कोपभाजन बनना पड़ता है लेकिन वह चतुराई और दृढ़ता से उनका सामना करते हैं। कलाकार सज्जन को जब उसके वर्ग के रईस अपनी उँगलियों पर नचाते हैं तब नगीनचन्द कलाकार की इमानदारी के लिए लड़ते हैं। कलाकार सज्जन के लिए एक बार वह अपने सच्चे उद्गार प्रकट करते हुए कहते हैं— 'क्या बताऊँ ये सज्जन ससुरा हम वक्त ऐसी लौंडी निकला कि।" सज्जन वास्तव में कायर है वीर कमठ पुरुष हैं नगीनचन्द। रूढ़िवादियों और राजनीतिक दलों से असन्तुष्ट होकर वह कहते हैं—"इनकी हर चाल पलटकर इस बार अपनी अलग पार्टी—इसानी दल कायम न किया तो कुछ काम न किया। अब हम एक नहीं सब पॉलिटिकल पार्टियों को चुनौती देकर कसौटी पर कसेंगे। हम जनता में रहेंगे। जनता के अधिकारों के साथ रहेंगे। अब चाहे सरकार हो, ये बड़े बड़े कैपिटलिस्ट हों या पॉलिटिकल पार्टियाँ हों—हम सबसे अपने अधिकारों के लिए सावधान रहेंगे।" यह उस नागरिक की आवाज़ है जिसे जनता से प्रेम है, जिसके हृदय का निःस्वार्थ प्रेम उसके आये दिन के कार्यों से प्रकट होता रहता है, जो बाधाओं और दुघटनाओं से त्रस्त होकर मानसिक उधेड़ बुन का स्वाँग रचकर 'हाय आस्था, हाय आस्था' कहकर नहीं चिल्लाता। नगीनचन्द का चरित्र यह सिखलाता है कि पुरानी व्यवस्था को बदलने और रूढ़िवाद को निमूल

करने के लिए जिस निष्ठा और धैर्य की आवश्यकता है, वह समाज में विद्यमान है।

नगीनचन्द से भी अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व रामजी बाबा का है। पुराने सन्तों की परम्परा के वह साकार जीवित रूप हैं। उपन्यास के अनेक पात्रों की तरह लेखक ने उन्हें यथार्थ जगत् से ही लिया है। सज्जन और महिपाल की तरह ज़मीन आसमान के कुलाबे न मिलाकर वह सेवा को कर्म मानकर समाज के बहिष्कृत पागलों की सेवा करते हैं। उनकी सेवा भावना के आगे बुद्धिजीवियों की कुण्ठाग्रस्त शंकाएँ सूखे पत्तों की तरह उड़ जाती हैं। उनकी तुलना में सज्जन को अपनी कमजोरी का पता चलता है—"वह सेवा के आदर्श को इत्र की तरह सूँघ कर आनन्दित भले ही हो ले ।" वास्तविक सेवा से वह बहुत दूर है। जब महिपाल कहता है कि आज का मनुष्य जंगली हो गया है, तब रामजी साधु कहते हैं—"मनुष्य इस समय अपने मन के महल को सफाई कर रहा है। जब पूरी हुइ जायगी तब देखियेगा।" महिपाल केवल उपन्यासकार है, अस्सी साल के नौजवान रामजी बाबा सेवा कार्य में युवकों को मात करते हैं। मनुष्य के भविष्य में उनकी यह सहज अडिग आस्था उनके कमठ जीवन से उत्पन्न होती है। उसका आधार हवाई उधेड़ बुन नहीं है। वास्तव में साधु शब्द के प्रचलित अर्थ में वह संसार त्यागी महात्मा हैं ही नहीं। वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उन भक्तों में से हैं जो इस गोचर जगत् में ब्रह्म के दर्शन करके मनुष्य की सेवा करते हैं। विज्ञान ने इतनी प्रगति की है, क्या उससे मानवता का नाश न हो जायगा? बाबा रामजी की आस्था डिगने के बदले वैज्ञानिक प्रगति से और दृढ़ होती है। कहते हैं—"विज्ञान के जो अनुपम रत्न निकल रहे हैं, मानवतावाद का व्यापक प्रचार हुइ के चेतना का जो अमृत निकलेगा वह समस्त लोक को मिलेगा और जौन ये स्वार्थपरता, अनाचार का कालकूट निकल रहा है तौन नीलकंठ परम सेवक हैं वो अपनी हत्या ही बचाने से कभी नहीं चूकते।" इस दृढ़ आस्था के सामने कुण्ठा की पीड़ा से कराहने वालों को शर्म आनी चाहिए।

वनकन्या अपने चारों ओर के वातावरण से तिलमिला उठती है, लेकिन महिपाल की तरह वह घुटने नहीं टेकती। सभी परिस्थितियों में धैर्य से काम लेते हुए वह रूढ़िवाद से टक्कर लेती है और साथ ही अपने प्रेमी कलाकार सज्जन के ढुलमुल मन को भी सम्भालती है। नारी और विवाह के सम्बन्ध में सज्जन के विचार 'नक्का क्लब' और 'मनुष्य के रूप' के लेखक से मिलते-जुलते हैं। वनकन्या सिद्ध कर देती है कि स्वच्छन्द प्रेम के ये विचार क्रान्तिकारी न होकर वास्तव में अभिजात वर्ग के संस्कार हैं। अनैतिकता के वातावरण में दृढ़ इच्छा शक्ति वाली सच्चरित्र वनकन्या पाठक की आस्था को दृढ़ करती है।

आस्था के इतने प्रतीकों के होते हुए भी उपन्यास के अन्त में सज्जन को लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। महिपाल की आत्महत्या के बाद उसे विशेष रूप से आस्था का प्रश्न चुभ करता है। वह अपने लिए ठीक सोचता है कि महिपाल की सी परिस्थितियों में यदि उसका जीवन बीता होता तो शायद उसका भी अन्त यों ही हुआ होता। आखिर वह महिपाल के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू ही तो है। वह आत्महत्या से कैसे बचता? लेकिन अपने विनाश की सम्भावना में उसे देश मिटता दिखाई दे रहा है। वह देश के बारे में सोचता है—"जिस देश में कर्मयोग का सिद्धान्त है, वेद, उपनिषद्, साहित्य, शास्त्र हैं, व्यास, वाल्मीकि जैसे युग प्रवर्तक महर्षि हैं, इतना रसज्ञान है, अजन्ता, एलूर, कोणार्क, दक्षिण भारत—सारे

भारत में व्याप्त अनुपम शिल्प है, सुनीतियाँ हैं जिस देश का इतिहास इतना महिमामय है, वह देश जड़ता और गन्दगी में रहना पसन्द करते हुए आज की भयंकर अगति के रूप में आत्महत्या क्यों कर रहा है?"

सज्जन ने भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास में जो कुछ देखा, वह सब सत्य है। लेकिन सत्य उतना ही नहीं है। भारतीय जनता का इतिहास उसके संघर्षों का इतिहास भी है। उसकी संस्कृति जनता के इस संघर्षमय इतिहास से दूर रखकर नहीं समझी जा सकती। सज्जन न तो पुराने इतिहास में और न वर्तमान काल में जनता को कहीं संघर्ष करते देखता है। स्वाधीनता प्राप्ति के लिए जनता ने जो संघर्ष किया, उसकी छाप भी कहीं उसके मन पर पड़ती नहीं दिखाई देती। अपने चारों ओर आस्थावान पात्रों के होते हुए भी उसे लगता है कि देश आत्महत्या कर रहा है। इसका एक कारण यह है कि निष्ठावान पात्र अपने व्यक्तिगत जीवन में तो महान् हैं, किन्तु लोक कल्याण के लिए उनमें सामूहिक प्रयत्न का अभाव है। स्वयं सज्जन ने सम्पत्ति दान किया है और अपने ढंग से समाज सेवा की ओर बढ़ भी रहा है। स्पष्ट है कि इस सबसे उसे सन्तोष नहीं है। कुछ धनी व्यक्तियों का सम्पत्ति दान समाज की मूल समस्या हल नहीं कर सकता। आस्थावान पात्र सामूहिक प्रयत्न से दूर हैं, इसलिए उनकी आस्था भी अधूरी है। स्वयं सज्जन व्यक्तिगत श्रम से भी दूर है, इसलिए वास्तव में वह महिपाल से भी अधिक आस्थाहीन है।

उपन्यास की भूमिका में लेखक ने "देश के मध्यवर्गीय नागरिक समाज का गुण दोष भरा चित्र" खींचने की बात कही है। उपन्यास में मध्यवर्गीय नागरिक भी हैं। फिर भी उपन्यास के मुख्य पात्र सज्जन, महिपाल, वनकन्या, ताई, कर्नल और शीला हैं। रामजी बाबा सज्जन से पूछते हैं कि वह कितना दान कर सकता है? सज्जन उत्तर देता है—तीन लाख। वह लखपती का बेटा ही नहीं, स्वयं भी लखपती है। भारत के मध्ययुग में तीन तीन लाख की सम्पत्ति का दान देने लायक सदस्य हो जायँ तो कहना ही क्या! ताई राधाकृष्ण का विवाह करती है। जिन्हें सुबह शाम छेड़कर बच्चे, बूढ़े, जवान सभी सुख पाते हैं, वह ताई पचास हजार की सम्पत्ति लुटाकर उत्सव मना रही हैं।" महिपाल की प्रेमिका "शीला के पास लाख डेढ़ लाख रुपया है।" लाला नगीनचन्द उर्फ कर्नल 'लखनऊ की एक पुरानी और प्रसिद्ध अंग्रेजी दवाओं की दुकान के मालिक हैं। सामाजिक कामों के लिए जो खोलकर चन्दा देने वालों में उनका नाम शहर के गिने चुने लोगों के साथ लिया जाता है। रह गए महिपाल और वनकन्या। वे परिस्थितियों से जूझते हैं, लेकिन हैं वे भी रईस घराने के। महिपाल ननिहाल में पला था और 'उसकी ननिहाल का घराना ताल्लुकदारों का था।" वहाँ डाका पड़ा तो महिपाल के अनुसार डेढ़ लाख रुपये की ज्वेलरी गई।" आगे यह रहस्य खुलता है कि चोरी का जेवर डाकू को मारकर महिपाल ने स्वयं हड़प लिया था। सेठ रूपरतन कहते हैं कि उन्होंने गहने बिकवाने के नाम पर महिपाल के लिए चालीस हजार की रकम खड़ी कर दी। महिपाल उपन्यासकार है और अपनी पत्नी से उसे सबसे बड़ी शिकायत यह है कि वह उसके कलाकार का महत्त्व नहीं समझती। लेकिन 'महीनों हो गए, उसने एक अक्षर नहीं लिखा, केवल अपने घर में, अपने चारों ओर हर तरफ लक्ष्मी का आडम्बर सजाने में ही उसके दिन अधिकतर चले जाते हैं।' वह अपने मन में थका हुआ अनुभव करता है और 'उस मकान में उसे बैंक में जमा

अपने अड़तीस हजार रुपये याद आए।" "वह किसी हद तक विलासिता का शिकार है।" वह अपने अन्तिम पत्र में लिखता है, "ताल्लुकेदारी वातावरण में पलकर मेरे संस्कार भी राजसी हो गए थे।" पैसा मिलते ही उसके राजसी संस्कार लहलहा उठते हैं। एक दिन की बात है—"महिपाल आज पूर्ण रियासती भाव में था—बढ़िया चप्पल, बन्दा चुन्नटदार धोती, रेशमी कुर्ता, रेशमी जवाहर जैकेट कामदार सूया की घड़ी, शेफर्स की सुनहली कलम, हाथ में पुखराज की अँगूठी।" परिस्थितियों से जूझने के बावजूद महिपाल मध्यवर्ग का प्रतिनिधि नागरिक नहीं माना जा सकता। कल्याणी भी एक तबाह रईस घराने की लड़की है। "रईस मेरे बाबा परबाबा भी थे।" कल्याणी कहती है—"उनके किस्से मैंने भी सुने हैं। यह बात दूसरी है कि अपने होश से ही मैंने अपने मायके में फिजूलखर्ची और कंगाली ही बराबर बढ़ती देखी।" रईस या बिगड़े हुए रईस—उपन्यास के प्रमुख पात्र इस तरह के हैं। इस तरह के लोगों का अपने वर्ग संस्कार छोड़ना और श्रमिक जनता के दुःख सुख में घुल मिल जाना एक कठिन प्रक्रिया है। यदि वे सामूहिक प्रयत्न द्वारा समाज व्यवस्था को बदलने का रास्ता नहीं देख पाते तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सज्जन को किसी भी राजनीतिक पार्टी में आस्था नहीं है। "सब अधिकांश में एक से एक बढ़कर बेईमान, क्षुद्र आकांक्षाओं वाले, जालसाज, दम्भी और मक्कारों द्वारा अनुशासित हैं, आदर्श और सिद्धान्त तो महज शिकार खेलने के लिए आड़ की टट्टियाँ हैं। इनकी आपसी लड़ाई अधिकतर व्यक्तिगत है।" यदि सज्जन राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लेकर इस परिणाम पर पहुँचता, यदि उपन्यासकार विभिन्न पार्टियों की राजनीतिक कार्यवाही का सजीव चित्र देकर ऊपर की स्थापना हमारे सामने लाता तो वास्तव में चिन्ता की बात होती और पाठक उस तक आते आते तिलमिला उठता। लेकिन उपन्यास में क्षीण मनोबल वाले बिगड़े रईस या सम्पत्ति दान से भारत का उद्धार करने वाले कलाकार ऐसी बातें करें तो इसे उन्हीं का वर्गगत दम्भ समझना चाहिए। जालसाजी जैसी चीज महिपाल के चरित्र में है, क्षुद्र आकांक्षाओं की कमी सज्जन में नहीं। फिर भी वह धर्मोपदेशक बनकर कहता है—"आत्मविश्वास ही नये युग का धर्म है।" उसे "जनजीवन अन्धविश्वासों और भ्रान्तियों से जकड़ा हुआ" दिखाई देता है। वास्तव में जितने अन्धविश्वास और भ्रान्तियाँ सज्जन में हैं, उतने अन्धविश्वास और भ्रान्तियाँ अशिक्षित और निर्धन जनता में नहीं हैं। वह अपनी समझ में बड़ा मार्मिक प्रश्न करता है—"क्या किसीको भी आज अपने देश से प्यार नहीं ?" यदि सज्जन की आँखें उसके वर्ग संस्कारों ने बन्द न कर दी होतीं तो वह समाज में अपने को अकेला देश भक्त न पाता। उसकी समझ में भारत का मनुष्य "अधिकांश में भारतीय नहीं, मानव भी—?—नहीं।" अन्त में, 'दोनों पति पत्नी अपनी आस्था पर दृढ़ रहेंगे।" इति, शान्ति, शान्ति, शान्ति।

क्या इस उपन्यास में ही सज्जन से अधिक आस्थावान व्यक्ति नहीं हैं ? क्या लाड़ द्वारा तारा के प्रजनन में सहायता, रामजी साधु द्वारा पागलों की सेवा, नगीनचन्द द्वारा जनक या की सहायता, महिपाल द्वारा बड़ी के पति की पूजा, महिपाल के लिए शीला का प्रेम सज्जन के चरित्र और उसके किसी भी कृत्य से अधिक महान् नहीं हैं ? सज्जन ने उपन्यास में जरूरत से ज्यादा जगह घेरी है। पूर्वार्द्ध में वह उतनी जगह नहीं घेरता, जितनी उत्तरार्द्ध में। इसलिए उपन्यास का उत्तरार्द्ध अपेक्षाकृत निर्बल हो गया है। विशेष रूप से उसका अन्त काफी कमजोर

है। महिपाल की आत्म हत्या पाठक को यथिन अवश्य करती है, किन्तु वह क्षोम भी उत्पन्न करती है। किसी कारण दूसरों के मन की बात जानने वाले रामजी बाबा महिपाल के मन की बात बिलकुल नहीं जान पाते कि वह आत्महत्या करेगा। वह अपनी शक्ति से जितना सज्जन की सहायता करते हैं, उसकी शतांश कृपा भी वह महिपाल पर नहीं करते। लेखक के साथ वह भी सज्जन का पक्षपात करते हैं। लाला नगीनचन्द बहुत ही व्यवहारकुशल व्यक्ति हैं, लेकिन मित्रों में भेद सुन जाने पर अपमानित होकर जब महिपाल घर से निकलकर चल देता है, तब भी वह उसके पीछे नहीं चलते, न उसकी खोज खबर लेते हैं। उपन्यास के उत्तरार्द्ध की यह सबसे महत्त्वपूर्ण घटना कलात्मक दृष्टि से सत्य नहीं उतरी।

कथावस्तु को कमजोर करने वाला एक दूसरा दोष आदिम समाज का हवाला देने का रोग है। सज्जन और महिपाल दोनों समाज शास्त्री हैं। कहीं मोहेंजोदड़ो, कहीं वैदिक सभ्यता, कहीं प्रस्तर मूर्तियाँ, कहीं आर्य अनार्य संघर्ष और एक जगह नहीं पचीसों बार नाक में दम कर देते हैं। आधुनिक उपन्यासों के पात्रों को आत्मचिन्तन और आत्मविश्लेषण का रोग होता ही है। पन्ने-के पन्ने आत्मचिन्तन से रँगे हुए हैं। इनसे कथावस्तु में शिथिलता अवश्य आती है, चरित्र की गहराई का पता तो दो वाक्यों से ही लग जाता है।

कथा कहने में एक दोष यह भी है कि जिन पात्रों से पाठक काफी पहले परिचित हो चुका है, उनके विस्तृत रेखाचित्र अथवा संक्षिप्त जीवन चरित बाद में दिये गए हैं। इससे कथा प्रवाह में बार बार ठहराव पैदा हो जाता है। एकाध दोष असावधानी से उत्पन्न हो गया है। कर्नल स्वामी हिन्दी बोल लेता है, लेकिन ६६वें अध्याय में उस पर 'है' की जगह 'हैगा' कहने का खब्त सवार हो जाता है। उपन्यास में कुछ यथार्थ जगत् के पात्र भी आते हैं, जैसे अमृतलाल नागर, यशपाल, ज्ञानचन्द जैन, भगवतीचरण वर्मा इत्यादि। लेखक ने इनके रेखाचित्र भी नहीं दिए, उसने यह मान लिया है कि पाठक तो इन्हें जानता ही होगा। पाठक साहित्यकार के रूप में उन्हें जान भी सकता है, लेकिन साहित्यकार होने से ही कोई उपन्यास का पात्र नहीं हो जाता। लेखक इनमें पात्रता उत्पन्न नहीं कर पाया।

इन सब दोषों के होते हुए भी 'बूँद और समुद्र' एक सुन्दर उपन्यास है। भारतीय समाज के ऊपर से आत्मसन्तोष का पर्दा खींचकर लेखक ने उसके भीतर की बीभत्सता सबके सामने प्रकट कर दी है। नारी के साथ जो पाशविक अत्याचार किए जाते हैं, उसके हृदयविदारक दृश्य उसने हमें दिखलाये हैं। सम्भ्रान्त परिवारों में जो गुप्त रूप से व्यभिचार चलते हैं, उसकी नारकीयता से युद्ध करने के लिए उसने ललकारा है। न्याय, धर्म और कला किस तरह सम्पत्ति शाली वर्ग के हाथों बिकते हैं, इसके सजीव चित्र उसने आँके हैं। प्रेमचन्द के बाद किसी ने न्याय व्यवस्था की वास्तविकता पर ऐसा व्यंग्य नहीं किया जैसा अमृतलाल नागर ने। उपन्यास में सभी रस हैं। भयानक, अद्भुत और बीभत्स के चित्रण में नागर का सानी नहीं है। कल्याणी, वनकन्या, बड़ी, महिपाल की यथा पाठक को बुरी तरह झकझोरती है। चित्रण और सम्वादों में हास्यरस का उद्रेक नागर की शैली की विशेषता है। चित्रा राजस्थान और कवि विरहेश जैसे पात्र थोड़ी देर के लिए भी उपन्यास में आते हैं तो पाठक को अपनी सजीवता से मुग्ध कर देते हैं। लखनऊ के शरीफों की बातचीत पढ़ते हुए कई बार लगा जैसे आगरा छोड़कर मैं फिर लखनऊ पहुँच गया हूँ। रामजी बाबा के पागलों का वर्णन विक्टर ह्यूगो की गम्भीर मानवतावादी

क्षमता की याद दिलाता है। दुश्चरित्र पिता—महिपाल—अपने पाप से परिचित सन्तान का सामना करने में जिस आत्मग्लानि का अनुभव करता है, उसका चित्रण लेखक ने अपूर्व तन्मयता से किया है। विभिन्न स्वभाव के पात्र, उनके स्वभावों की टक्कर, एक ही व्यक्ति की प्रकृति में उत्थान पतन और नये मोड़, ऐसे पात्र जिनसे पाठक को बहद प्रेम हो जाता है और ऐसे पात्र जिन पर कभी दया आती है, कभी क्रोध आता है, संस्कृति के विभिन्न स्तर, समाजवादी चेतना, पुराने संतों का सेवाभाव, कलाकार का अहंकार, जादू टोने की दुनिया, क्लिप और चिट्ठी में रमने वाला मन, सहज मानवप्रेम और भाईचारा—इन सबके चित्र देखकर मन कह उठता है, कैसा विचित्र देश है अपना और यह प्रिय विचित्र देश अब करवट बदलकर उठ रहा है। कर्नल ही इतानी दल बनाकर जनता के अधिकारों के लिए लड़ने की बात नहीं सोचता। अशिक्षित देवियाँ भी अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो रही हैं। स्वाधीन भारत का पहला चुनाव है। "बूढ़े, बीमार, अपाहिज तक वोट डालने आ रहे थे। स्त्रियों में तो अपार जोश था।" एक महाशय पत्नी से जनसंघ को वोट देने के लिए कहते हैं। पत्नी कांग्रेस को वोट देना चाहती है। पत्नी बोलीं, "देखो, आज हम जिन्दगी में पहली बार ओट डालन आये हैंगे। जिसे हमरा मन आयेगा उसे देंगे। औ' तुम्हें अब कसम है, हमरा मरा मूँ देखो जो अब की टोकाटाकी करो।" यदि यह क्रान्ति नहीं है तो क्रान्ति शब्द को निरर्थक ही समझना चाहिए।

अमृतलाल नागर के पास अपनी विभिन्न शैलियों में भाव विचार प्रकट करते हुए पात्रों का अक्षय भण्डार है। उनकी कला में यह शक्ति है कि इन पात्रों को वह उनके सामाजिक परिवेश के साथ सजीव कर देते हैं। ऐसी सजीवनी कला बहुत कम लेखकों के पास है। उनसे बहुत कम पूँजी वाले लेखक महान् कलाकार बन चुके हैं। 'बूँद और समुद्र' में जितना सामाजिक अनुभव संचित है, वह उसे अपने ढंग का विश्वकोश बना देता है। उसे एक बार नहीं, बार बार पढ़ने को मन करेगा। कुछ स्थल ऐसे हैं जिन्हें बार बार पढ़ने पर भी मन न भरेगा। निस्सन्देह स्वाधीन भारत का यह एक उत्तम उपन्यास है।

●

प्रकाशचन्द्र गुप्त

हाथी के दाँत

'हाथी के दाँत' श्री अमृतराय का दूसरा लघु उपन्यास है। इसके पूर्व आपका एक वृहद् उपन्यास 'बीज' और एक लघु उपन्यास 'नागफनी का देश' प्रकाशित हो चुके हैं और इनकी काफी चर्चा भी हुई है। 'हाथी के दाँत' ठाकुर परदुमनसिंह की कथा है, जो सन् '४७ के पूर्व ब्रिटिश शासन के समर्थक थे और अब कांग्रेसी एम० एल० ए०, उपमन्त्री और मन्त्री बनकर कांग्रेसी शासन तन्त्र के अंग बन गए हैं। उन्होंने अनेक स्त्रियों को बेआबरू किया है, अनेक क़त्ल किए हैं, जिनका रहस्य किसीसे छिपा नहीं है। खद्दर, गांधी टोपी और देश

सेवा का ढोंग केवल दिखावे के दाँत हैं, सभी जानते हैं कि इस कांग्रेस रूपी हाथी के खाने के दाँत और ही हैं।

'हाथी के दाँत' मुख्यत व्यंग्यात्मक कथा है। व्यंग्य की शैली में अमृतराय विशेष पटु हैं। आपकी भाषा में बड़ा प्रवाह है, आपकी शैली सरल, मुहावरेदार, टकसाली शैली है। इस सफल शैली में आप अनेक व्यक्ति चित्र प्रस्तुत करते चले जाते हैं—ठाकुर परदुमन सिंह, चम्पाकली, रावल, चन्द्रिकाप्रसाद, पण्डित रमाविहारी चतुर्वेदी, रामसिंह, आजादजी, रत्ना। ये सभी पात्र बड़े सजीव और सफल हैं और मिलकर आज के भारतीय जीवन की एक विहगम झाँकी पाठक को देते हैं।

जब हम इस उपन्यास के कथानक में कोई केन्द्रीय सूत्र खोजते हैं, तो कठिनाई होती है। उपन्यास की उठान बहुत अच्छी है। परदुमनसिंह और चम्पाकली के प्रेम-व्यापारों से कथा का आरम्भ होता है, किन्तु चन्द्रिकाप्रसाद की मृत्यु के उपरान्त कथा का यह महत्त्व सूत्र त्याग दिया जाता है। पाठक यह जानना चाहता है कि चम्पाकली का बाद में क्या हुआ। इसका हवाला उसे उपन्यास के अन्त में एक वाक्य में मिलता है। हम समझते हैं कि उपन्यास का स्वाभाविक विकास इसी केन्द्रीय कथा के साथ चलता रहता, तो उपन्यास अधिक सफल होता। अब वह अनेक कहानियों का संग्रह है, जिनमें परस्पर कोई विशेष तारतम्य नहीं है। उदाहरण के लिए, पण्डित रमाविहारी चतुर्वेदी स्वयं एक स्वतन्त्र रोचक कहानी के पात्र हैं, किन्तु ठाकुर परदुमनसिंह की कहानी से आपका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। यही स्वामी परमानन्द और आजादजी की कथा के सम्बन्ध में भी हम कह सकते हैं।

'हाथी के दाँत' का कथानक कुछ बिखरा होने पर भी हमें कांग्रेसी भारत का अत्यन्त सजीव और प्रभावोत्पादक चित्र देता है। श्री अमृतराय में सफल उपन्यासकार के अनेक गुण हम पाते हैं—पात्रों का दृढ़, सुस्पष्ट रेखाओं द्वारा अंकन, भाषा की चित्रात्मकता, प्रवाह और वेग जीवन की विभीषिकाओं पर हँसने की क्षमता, व्यंग्य के अस्त्र से उन पर तीव्रतम मर्म प्रहार, कथा के तार को समर्थ प्रतिभा से उठाने की क्षमता। इन सब गुणों को देखते हुए आपसे पाठक अधिक गुँथे हुए उपन्यास की आशा कर सकता है।

अमृतराय प्रगतिशील कथाकार हैं और उन्होंने जीवन के दुःखों को ही अपने उपन्यास का केन्द्र बिन्दु बनाया है। आपने उन नेताओं की अनेक दुर्बलताओं का काफी पर्दाफाश किया है, जो कभी जनता के दुःख सुख की बात शायद सोचते रहे हों किन्तु जिनको अब अपने विलास वैभव के क्षणों से ही अवकाश नहीं मिलता। 'हाथी के दाँत' हमें भारत के सामन्ती शोषण की एक झलक देता है। इन सामन्तों का सिक्का स्वतन्त्र भारत में भी उसी शान से चलता है, जैसे वह ब्रिटिश शासन में चलता था। 'हाथी के दाँत' में विधानसभा में कांग्रेसी सदस्यों के विश्राम करने के भी बड़े सफल और सजीव चित्र हैं।

अमृतराय पुलिस के घोड़ों का वर्णन करते हैं—'घुड़सवार हँसते बड़ी आन बान के साथ अपने दीवार जैसे ऊँचे घोड़ों पर तलवार बाँधे खड़े हैं। पुलिस लादन के घोड़ों का क्या कहना! इतनी जाँफिशानी से वे दले मल गए हैं और इतनी अच्छी उनकी खूराक है कि उनके जिस्म बिलकुल साँचे में ढले हुए नजर आते हैं

"काश कि मुल्क के इन्सानों को वह दल भात, वह ही लपक वह खूराक मिल

सकती जो हम घोड़ों को मिलती है !

"मगर वह कैसे हो, किस तर्क से ? मुल्क के इन्सान तो हकूमत की ताकत के खम्भे नहीं हैं और ये घोड़े हैं। दोनों में फर्क तो होना ही। इन्साफ की बात है।"[1]

भाषा की सजीवता और सफलता का एक उदाहरण गाँव में बसंत का वर्णन है—"आम गदगदाकर बौरे हुए थे। हवा महुए और आम्रमञ्जरी की गंध से, अलसायी हुई थी। हलकी हलकी पुरवैया बह रही थी, जिसमें खेत की पीली सरसों किसी अलबेली नवेली के आँचल की तरह लहरा रही थी और साँझ की बेला थी। पेड़ों पर चिड़ियाँ चहक रही थीं, जैसे शाम को घर लौटकर निहायत बेसब्री से अपने दिन भर के तजुर्बे बयान कर रही हों। बाँसों के झुरमुट आपस में कनबतियाँ कर रहे थे। गायें चरागाहों से लौट चुकी थीं और ग्रामपथ निर्जन हो चला था।"[2]

परिच्छेदों के शीर्षक भी बड़े आकर्षक हैं—गड़े मुर्दे, इन्द्र सभा, अगर फिरदौस बर रूए जमीन अस्त, नहले पर दहला, मृगछलना, छलनामृग आदि। ये शीर्षक प्रमाण हैं कि लेखक ने बड़ी गहरी अनुभूति से विषय को आत्मसात् किया है।

प्रतिभा के इन लक्षणों का स्वागत करते हुए भविष्य में उनके अधिक सफल सम्पादन की आलोचक आशा करता है।[3]

✿

प्रकाशचन्द्र गुप्त

राह बीती

'राह बीती' यशपाल की दूसरी यात्रा पुस्तक है। पहली पुस्तक 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' हिन्दी पाठकों में काफी लोकप्रिय हो चुकी है। इस पुस्तक में यशपाल ने सोवियत जनता की समृद्धि की तुलना पश्चिमी यूरोप से की थी। 'राह बीती' में चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, रूमानिया और अफगानिस्तान की यात्रा के रोचक वर्णन हैं। यशपाल चुटीले व्यंग्य, विनोद और हास्य में घोलकर अपने वर्णन प्रस्तुत करते हैं। अपने प्रगतिशील विचार दर्शन के कारण आप वस्तु स्थिति के मर्म तक आसानी से पहुँच जाते हैं और उसका यथार्थ मूल्यांकन कर सकते हैं। आप मार्क्सवादी जनवाद के आधार—उसकी आर्थिक भूमि—की परीक्षा निरन्तर कर सकते हैं।

यशपाल की यह तीसरी यूरोप यात्रा थी। इस बार आप चैकोस्लोवाकिया के लेखक सम्मेलन में शामिल होने प्राहा गये थे। वहाँ पूर्वी जर्मनी और रूमानिया जाने का निमन्त्रण भी आपको मिला। बम्बई से प्राहा तक हवाई यात्रा का बड़ा चित्रात्मक वर्णन यशपाल ने किया है। फिर पाठक यशपाल के साथ रोम का चक्कर काटता है, कौलोसियम के खण्डहरों में बैठता है और

---

1 पृ० ८१।

2 पृ० २६।

3 लेखक—प्रभुदयाल, प्रकाशक—हंस प्रकाश इलाहाबाद मूल्य २॥)।

प्राचीन कला के नमूने देखता है।

चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी और रूमानिया—तीनों ही पिछले महायुद्ध के विध्वंस में काफी नष्ट हुए थे। इन देशों में पुनर्निर्माण की गति से यशपाल काफी सन्तुष्ट हैं। पूर्वी बर्लिन में आप एक गुप्त अमरीकी सुरंग का आँखों देखा हाल लिखते हैं। यह सुरंग अमरीकी साम्राज्यवादियों ने पूर्वी बर्लिन के टेलीफोन एक्सचेंज के नीचे बनाई थी, ताकि वे पूर्वी जर्मनी के समाचार गुप्त रूप से जान सकें।

चेकोस्लोवाक लेखकों के सम्मेलन में बहस गम्भीर और ऊँचे स्तर की थी। ये लेखक अपने साहित्य को जन हित की प्रेरणा से तो अनुप्राणित करना ही चाहते हैं, वे अपने साहित्य का स्तर भी निरन्तर ऊँचा करना चाहते हैं। इस सम्मेलन की बहसों पर बीसवीं सोवियत कांग्रेस की विचार धाराओं का काफी प्रभाव था।

यशपाल इस सम्मेलन में हिन्दी में बोले थे। बाद में उनके वक्तव्य का अनुवाद चैक भाषा में सुनाया गया। यशपाल के अनुसार चैक लेखकों की आर्थिक हालत बहुत अच्छी है। उनके विश्राम गृह और आमोद स्थल सभी सुख सुविधाओं से परिपूर्ण हैं। अपनी यात्रा में यशपाल ने पूर्वी यूरोप के समाजवादी जीवन के अनेक अंगों का परिचय प्राप्त किया। नगर, उद्योग धन्धे, आमोद स्थल, गाँव, सामूहिक कृषि शालाएँ आदि आपने देखे। यशपाल के अनुसार इस समाजवादी संसार में मनुष्य का सांस्कृतिक स्तर ऊँचा उठ रहा है। यह देश प्रगति के पथ पर अग्रसर है। फिर भी वे अपनी विजय यात्रा से सम्पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे जानते हैं कि अभी उन्हें बहुत आगे बढ़ना है। अपनी प्रगति के लिए वे शान्ति की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव करते हैं। पिछले महासमर में भारी हानि और वेदना झेलने के कारण वे युद्ध जनित संकट के प्रति विशेष रूप से सतर्क हैं।

यशपाल की पुस्तक हिन्दी पाठक को समाजवादी यूरोप की परिस्थितियों से परिचित कराएगी। पाठक का ज्ञान वर्द्धन तो पुस्तक से होगा ही, साथ ही उसका मनोरंजन भी यथेष्ट मात्रा में होगा। असावधानी के कारण कहीं कहीं पाठ में भाषा की अशुद्धियाँ हैं, जिन्हें अगले संस्करण में दूर कर देना चाहिए।[1]

●

शिवकुमार मिश्र

कौड़ियों का नाच

वर्तमान युग गद्य का, विशेषतः कथा कहानियों (उपन्यास व आख्यायिका) का युग है। हिन्दी का कथा साहित्य इस युग में जितनी प्रगति कर रहा है, जितनी शीघ्रता से आगे बढ़कर प्रौढ़ता की मंजिल पर पहुँचने का उपक्रम कर रहा है, कदाचित् इससे पूर्व उसमें इतनी गति न थी और न ही वह आज के अर्थों में इतना सम्पन्न था। आज हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में उपन्यास व

1 लेखक—यशपाल, प्रकाशक—विप्लव कार्यालय, लखनऊ मूल्य ३॥)।

छोटी कहानियों की, जिनमें रेखाचित्र, व्यंग्य चित्र सभी शामिल हैं, एक बाढ़ सी आ गई है। स्पष्ट है कि यह सारा साहित्य श्रेष्ठ, सुन्दर और स्थायी नहीं है। कारण स्वाभाविक है कि जब बाढ़ आयगी तब तमाम गन्दी, छिछली और ओछी वस्तुएँ भी उतरा आयेंगी, पर इसके बावजूद भी इस बाढ़ ने हमें कतिपय सुन्दर, श्रेष्ठ और स्थायी चीजें एवं प्रतिभावान लेखक भी दिये हैं, साथ ही कुछ ऐसे भी, जिनमें अभी पूर्ण परिपक्वता नहीं आई, पर जिनमें भविष्य की सुन्दर सम्भावनाएँ निहित हैं। प्रेमचन्द और प्रसाद की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले जिन पुराने और नये लेखकों ने कथा कहानियों के क्षेत्र को समृद्ध किया है, कथाकारों की उसी पंक्ति में हम प्रस्तुत कहानी संग्रह की लेखिका श्रीमती सरूपकुमारी बख्शी को भी रखते हैं।

प्रस्तुत संग्रह में लेखिका की दस कहानियाँ संग्रहीत हैं—(१) टूटा हुआ चिराग, (२) जगा सिंह, (३) लुटेरे का दान, (४) प्लास्टिक की दुनिया, (५) निराली शान, (६) काश्मीरी मुहल्ला, (७) तितलियों की सभा, (८) फैशन की घुड़दौड़, (९) इनायत का नकाब और (१०) कौड़ियों का नाच। इसी अन्तिम कहानी पर ही संग्रह का नामकरण हुआ है।

प्रस्तुत संग्रह लेखिका की कहानियों का प्रथम संग्रह है। इसीको लेकर उसने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया है। स्पष्ट है कि इस संग्रह की सभी कहानियाँ लेखिका की सुन्दर कृतियाँ नहीं हैं, पर कुछ कहानियाँ ऐसी अवश्य हैं जो लेखिका के होनहार भविष्य की ओर संकेत करती हैं। इस सम्बन्ध में मैं संग्रह की प्रथम कहानी 'टूटा हुआ चिराग' का उल्लेख करना चाहूँगा। शेष कहानियाँ, जिनमें कुछ चलती हुई भी हैं, एक महत्वपूर्ण विशेषता लिये हुए हैं और वह है उन कहानियों में व्यक्त लेखिका का मानवतावादी दृष्टिकोण, आज के तथाकथित सफेदपोश, सुसंस्कृत, सभ्य एवं 'खोखले दिमाग' वाले भद्र पुरुषों एवं महिलाओं का, इस पूरे के पूरे वर्ग का चित्रण और इस चित्रण में झलकती हुई लेखिका की जनसाधारण के प्रति असीम प्रेम और निष्ठा की भावना, उस सफेदपोश वर्ग के प्रति वितृष्णा तथा मानवता के उज्ज्वल भविष्य के प्रति लेखिका की अडिग आस्था।

लेखिका ने कहानियों में समाज के इस सफेदपोश वर्ग के व्यक्तियों के दिमाग और दिलों की तह में उतरकर, उनके विचारों और भावनाओं, उनके क्रिया कलापों, उनकी सभ्यता और आचारों के इतने स्पष्ट, यथार्थ और निखरे हुए चित्र खींचे हैं कि वह समाज अपनी सारी वास्तविकता के लिए इन कहानियों में प्रकट हो गया है और वह वास्तविकता है उसका खोखलापन, उसकी बाहरी चमक दमक, और इस चित्रण द्वारा लेखिका ने इस समाज की घुटन का जो पर्दाफाश किया है उसके लिए वह बधाई की पात्र है।

लेखिका इस समाज के उतार चढ़ावों, उसकी सीमों, उसकी धड़कनों से पूर्णरूपेण परिचित प्रतीत होती है और यही कारण है कि वह उसके इतने यथार्थ और जीवन्त चित्र देने में समर्थ हुई है और इस समाज से इतनी गहराई से सम्पर्क होने पर भी लेखिका का स्वयं का व्यक्तित्व उससे कितना बाहर और अलग है, यह भी इन कहानियों से पता लग जाता है। उसने एक सतर्क आलोचक की भाँति इस समाज को देखा परखा है और उसकी एक एक रेखा उभारी है।

'टूटा हुआ चिराग'—संग्रह की प्रथम कहानी—वास्तव में मर्मस्पर्शी है और लेखिका का मानवतावादी दृष्टिकोण भी उसमें पूरी तरह उभर उठा है। इसमें लेखिका ने लाहौर में रहने

वाले एक लखनवी शायर मियाँ जमाल का चित्र खींचा है—वह शायर जो अपनी निर्धनता के बावजूद भी एक बड़ा इन्सान था और जिसके ऊपरी ढाँचे को देखकर लोग जिससे घृणा करते थे, उसके भीतर उसे झाँककर देखा एक छोटी सी बच्ची ने और उसने उस बूढ़े, फक्कड़, फटे हाल शायर को अपने दिल की दुनिया दे डाली। कहानी बड़ी सजीव उतरी है, मर्मस्पर्शी और आकर्षक।

'प्लास्टिक की दुनिया', 'निराली शान', 'फैशन की घुड़दौड़', 'तितलियों का समां', 'कौड़ियों का नाच', 'इन्सानियत का नकाब', 'लुटेरे का दान', ऐसी कहानियाँ हैं जिनके शीर्षक ही उनकी विषय वस्तु को स्पष्ट कर देते हैं। समाज के उसी वर्ग का चित्रण, जहाँ नाच होते हैं, पार्टियाँ होती हैं, शराब के दौर चलते हैं, फैशन की भाग दौड़ होती है, स्त्री पुरुष सब के सब जहाँ इन्हीं पार्टियों और नाचरंग की दुनिया में लिप्त रहते हैं, बाहर क्या हो रहा है, जीवन का वास्तविक रूप क्या है, उसके संघर्ष कितने भीषण हैं, इन बातों में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं रहती।

'लुटेरे का दान' कहानी में सेठजी नारी क्लब को बड़ी कठिनाई से एक हजार रुपये का दान देते हैं, पर साथ ही मुनीम को आदेश देते हैं कि कर्मचारियों के वेतन से ५ फीसदी काट लिया जाय। सुनन्दा के प्रश्न करने पर ही ही करते हुए उत्तर देते हैं—"यह भी तो मेरा ही पैसा है। मैं इन लोगों को हर साल जो बढ़ौती देता हूँ सो? वह बढ़ौती मैं इनसे दान में खर्च करवा लूँगा, नहीं तो यह इसे सिनेमा सिगरेट, ताड़ी, वगैरह में खर्च करेंगे। जी हाँ आप इन्हें जानतीं नहीं ये छोटे आदमी बड़े मज़े करते हैं कमबख्त, जिस दिन तनख्वाह मिलती है। तो मेरा फर्ज है कि मैं इनका पैसा उत्तम कारज में लगवाऊँ। आप फिकर न करें।' और रात को सुनन्दा ने बिस्तर पर पड़े पड़े एक अजीब दृश्य देखा—

एक छोटी सी कोठरी अंधेरी और गन्दी। वहाँ पर चार पाँच बच्चे शोरगुल मचा रहे थे। एक अधनग्न बच्चा जमीन पर पड़े पड़े घिसट रहा था। इतने में ही दरवाजे पर एक जोर से आवाज हुई और एक अधेड़ नारी ने प्रवेश किया। उसके शरीर पर एक फटी हुई धोती थी, बाल बिखरे हुए थे। उसने सुनन्दा की ओर देखा और गाली देकर बोली तुम कौन हो जी, चोर या डाकू? गरीबों का पेट काटकर समाज सेवा करोगी? हमारी खून पसीने की कमाई को छीनकर तुम संस्था बनाओगी जहाँ पार्टियाँ हों, नाच गाना हो तुम्हारा लिक्चर हो, नाम हो। दे मेरे रुपये, चुड़ैल कहीं की, बेईमान ''
" दूसरे दिन सुनन्दा सब रुपये सेठजी की मेज पर पटक आई और संस्था को त्यागपत्र दे दिया।'

'प्लास्टिक की दुनिया' में डाला (कहानी की नायिका) का चित्रण—'डाला समाज की प्रेमिका है। विशेषकर जब से उन्होंने अपने पति को तलाक दे दिया है तब से तो वह बहुत प्रसिद्ध हो गई है। सुना है कि बहुत अमीर है और बड़े ठाठ से ज़िन्दगी बसर कर रही है। बंगला है मोटर है बैरा है। उसकी आमदनी का जरिया क्या है यह किसीको मालूम नहीं। उसकी आँखें सुन्दर हैं होटल के साइन बोर्ड की तरह चमकदार, शरीर छरहरा और कमर में नाच के लिए बनी हुई साड़ी की तरह घुमावदार आवाज सुरीली जैसे शराबखाने के काउण्टर पर सिक्कों की खनन-खनन।'"

'नखरली शान' में उधार माँगकर अपना रौब जमाने वालों का चित्रण किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सारी कहानियों के पीछे लेखिका का एक उद्देश्य है और उस उद्देश्य की पूर्ति में वह पूर्णरूपेण सफल हुई है। वह उद्देश्य कौनसा है, इसे हम पीछे बता चुके हैं।

जहाँ तक कहानियों की कलात्मक प्रौढ़ता का प्रश्न है 'टूटा हुआ चिराग' को छोड़कर शेष कहानियाँ कला की कसौटी पर पूरी तरह खरी नहीं उतरतीं। अधिकांश कहानियों की विषय वस्तु समान होने के कारण उनमें ताजगी का अभाव दीख पड़ने लगता है। कुछ कहानियों में शिथिलता और उखड़ापन भी स्पष्टत झलकता है। 'काश्मीरी मुहल्ला' में कोई कथा ही नहीं है, 'फैशन की घुड़दौड़', 'तितलियों की सभा' कहानियाँ भी शिथिल हैं। कुछ कहानियाँ निरी वर्णन मात्र हैं। वास्तव में लेखिका की लेखनी अभी पूरी तरह मँज नहीं सकी, वह अभी विकास के रास्ते पर है, उसमें क्षमता है, यह बात भी इन कहानियों से प्रकट हो जाती है।

भाषा सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ भी हैं, व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ भी हैं, पर कम। डाली का चित्र खींचते समय, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, भाषा में 'उन्होंने', 'उनकी' आदि शब्दों का व्यवहार न होना चाहिए था, इनके स्थान पर 'उसने', 'उसकी' शब्दों को प्रयुक्त होना चाहिए था। इन छोटी मोटी कुछ त्रुटियों के अतिरिक्त, वैसे भाषा सरल, सशक्त प्रवाहमयी, मुहावरेदार, स्पष्ट व सजीव है। लखनवीपन की छाप भी भाषा पर स्पष्ट झलकती है। पात्रोचित भाषा का स्वरूप विशेष दर्शनीय है।

'कौड़ियों का नाच' लेखिका का प्रथम कहानी संग्रह है, इस कारण कहानियों में कुछ अपरिपक्वता होने पर भी लेखिका के प्रयत्न का स्वागत करना चाहिए, विशेषकर इसलिए कि लेखिका में भविष्य की सुन्दर सम्भावनाएँ दृष्टिगत होती हैं। उसका यह संग्रह इस कथन का उदाहरण है। पुस्तक की छपाई, सफाई, गेट अप आदि भी सुन्दर व आकर्षक हैं। मूल्य भी उचित है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में लेखिका अधिक प्रौढ़ और कलात्मक कहानियों के साथ अपनी सम्भावनाओं को सत्य करेगी।[1]

रामचन्द्र तिवारी

हिन्दी-रीति-साहित्य

हिन्दी का रीति साहित्य अध्ययन और मूल्यांकन की दृष्टि से प्रायः उपेक्षित ही रहा है। द्विवेदी युग की सुधारवादी प्रवृत्ति एवं संकीर्ण नैतिक दृष्टि ने हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी को इसके अध्ययन से विरत रखा। साथ यह यह मान लिया गया कि आधुनिक युग चेतना के विकास में यह अध्ययन अस्वास्थ्यकर होगा। सभा की खोज रिपोर्टों तथा मिश्रबन्धुओं के वृहद्

1 लेखिका—सरूपकुमारी बख्शी, प्रकाशक—रजना प्रकाशन, लखनऊ।

इतिहास के माध्यम से रीतिकालीन प्रचुर साहित्य प्रकाश में तो आया, किन्तु सन्तुलित दृष्टि से उसका मूल्यांकन प्रायः नहीं ही हुआ। बाबू श्यामसुन्दरदास के उदार दृष्टिकोण तथा आचार्य शुक्ल की सामञ्जस्यमयी यथानिष्ठ दृष्टि ने इसके मूल्यांकन की परम्परा को आगे बढ़ाया। देव और बिहारी के झगड़े ने भी रीति साहित्य का कम उपकार नहीं किया। कम से कम, लोगों की दृष्टि इस ओर मुड़ी और वे इसे क्षण भर रुककर देखने को विवश हुए। डॉ० नगेन्द्र द्वारा प्रस्तुत 'रीति-साहित्य की भूमिका' महाकवि देव की ही पृष्ठभूमि बनकर नहीं आई, उसने रीति-साहित्य के अध्ययन की विस्तृत पृष्ठभूमि भी प्रस्तुत की। आचार्य विश्वनाथ मिश्र द्वारा प्रस्तुत घनानन्द, बिहारी तथा अन्य रीतिमुक्त और रीतिमुक्त कवियों से सम्बद्ध मौलिक सामग्री ने इस साहित्य के प्रति हमारी उदासीनता दूर की। प० परशुराम चतुर्वेदी का 'नव निबन्ध' और डॉक्टर राजेश्वर चतुर्वेदी का 'शृंगार रस विवेचन' तथा इस प्रकार के अन्य छोटे बड़े प्रयासों ने रीति साहित्य के अध्ययन को जीवित रखा है। लखनऊ विश्वविद्यालय से पी एच० डी० के लिए प्रस्तुत प० ब्रजकिशोर मिश्र का 'रीतिकालीन प्रबन्ध के कवि' शोध निबन्ध अभी प्रकाश में नहीं आया है। निश्चय ही यह अध्ययन इस युग के बहुत से कवियों तथा प्रधान प्रवृत्तियों के विषय में नवीन सामग्री उपस्थित करेगा। डॉ० भगीरथ मिश्र का प्रस्तुत अध्ययन उपर्युक्त समस्त सामग्री को आत्मसात् कर हिन्दी रीति साहित्य के सन्तुलित मूल्यांकन का नवीनतम सफल प्रयास है।

डॉ० मिश्र ने हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करते समय रीतिकालीन सम्बन्धी साहित्य को भली भांति परखा था। तब से बराबर इस सम्बन्ध में सोचने और अध्ययन को आगे बढ़ाने का अवसर उन्हें मिलता रहा है। प्रस्तुत अनुशीलन इसी चिन्तन और अध्ययन का परिणाम है। इस कृति में उन्नीस पृष्ठों की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत लोकभाषा की परम्परा, रीति साहित्य के विकास के कारणों तथा राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है। परिस्थितियों के अध्ययन की विशेषता यह है कि उनका सीधा सम्बन्ध रीति साहित्य की प्रवृत्तियों से दिखाया गया है। परिस्थितियाँ और प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से खिंची तनी नहीं हैं। इतिहास ग्रन्थों से प्रमाण उपस्थित करते समय डॉ० ईश्वरीप्रसाद के इतिहास से ही बार बार उद्धरण देना थोड़ा खटकता है। इस सम्बन्ध में— Life and Condition of the People of Hindustan'—कुँअर अशरफ की कृति का भी आधार लिया गया होता तो अच्छा ही था। यद्यपि अशरफ महोदय का अध्ययन १५५६ ई० तक ही सीमित है, किन्तु जीवन प्रणाली का स्रोत आगे भी लगभग उसी स्थिति में बहता आया है। इसी पृष्ठभूमि के अन्तर्गत रीतिकालीन जीवन के ऐहिक पक्ष पर प्रस्तुत सामग्री रोचक और नवीन है।

इस अध्ययन की तीन अन्य प्रमुख विशेषताएँ लक्षित की जा सकती हैं—

(क) हिन्दी रीति साहित्य में भी 'अलंकार', 'ध्वनि', 'रस' और 'रीति' सम्प्रदायों की स्थिति का अवलोकन।

(ख) पूर्व परम्परा के रूप में संस्कृत के उपर्युक्त सम्प्रदायों का संक्षिप्त किन्तु सचेष्ट परिचय।

(ग) अन्त में रीति काव्य संग्रह के रूप में सुरुचिपूर्ण छन्दों का संग्रह।

हिन्दी में अलंकार सम्प्रदाय के अन्तर्गत लेखक ने 'केशव', 'जसवन्तसिंह', 'मतिराम', 'भूषण', 'गोप', 'रसिक सुमति', 'गोविन्द', 'दूलह', 'बैरीलाल', 'गोकुलनाथ', 'पद्माकर' आदि

आचार्यों को स्थान दिया है। आधुनिक युग के आलंकारिकों में लछिराम, कविराजा मुरारीदान,
कन्हैयालाल पोद्दार, लाला भगवानदीन, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', अर्जुनदास केडिया और
मिश्रबन्धुओं की कृतियों पर विचार किया गया है।

हिन्दी रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत सुन्दर कवि, चिन्तामणि, तोष, मतिराम, कुमारमणि
भट्ट, रसलीन, भिखारीदास, रूपसाहि, उजियारे, यशवन्तसिंह, रामसिंह, पद्माकर, रसिक गोविन्द,
बेनी प्रवीन, ग्वाल, लछिराम, प्रतापनारायणसिंह, हरिऔध और बिहारीलाल भट्ट आदि
आचार्यों की कृतियों को स्थान दिया गया है।

ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत कुलपति मिश्र, देव, सूरति मिश्र, कुमारमणि भट्ट, श्रीपति,
सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि, लछिराम, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार और प० रामदहिन मिश्र
की कृतियों को स्थान दिया गया है।

रीति सम्प्रदाय में रहीम, सेनापति, बिहारी, मतिराम, देव, घनानन्द, भिखारीदास,
रसलीन, बेनी प्रवीन, पद्माकर, आदि की गणना की गई है।

जहाँ तक नवीनता का प्रश्न है, निस्सन्देह हिन्दी रीतिकालीन आचार्यों की मान्यताओं
में संस्कृत साहित्य में प्रवर्तित विविध सम्प्रदायों की छाया ढूँढकर उनका भी शास्त्रीय साम्प्रदायिक
वर्गीकरण हिन्दी साहित्य में पहली बार किया गया है, किन्तु इसमें थोड़ी गड़बड़ी या असुविधा
भी (पाठकों की दृष्टि से अधिक) सम्भावित है। निश्चित है कि हिन्दी-साहित्य के अधिकांश
आचार्य न तो किसी विशेष शास्त्रीय सम्प्रदाय की स्थापना करना चाहते थे और न अपने को
उस सीमा में बाँधना ही चाहते थे। अतः इस प्रकार की सम्प्रदाय स्थापना में एक ही आचार्य
को दो या तीन सम्प्रदायों में समाहित करना पड़ा है।

इस अध्ययन में रीतिकालीन स्वच्छन्द कवियों के साथ भी थोड़ा अन्याय हुआ है। घना
नन्दजी के जो कवित्त "सुच्छन्द सदा रहै" वे रीति की शृंखलाओं में बँधकर अपनी विवशता
दिखा रहे हैं। यह ठीक है कि रीतिकालीन टीकाकारों ने उनके छन्दों में भी नायिकाओं को ढूंढ-
कर खड़ा कर दिया है, किन्तु उनकी मूल प्रकृति स्वच्छन्दता की ओर ही है। वैसे तो सभी युगों
में कवि किसी न किसी रीति का अनुसरण करने को बाध्य होता है। छायावादी कवि भी तो एक
विशेष प्रकार की परिपाटी में बँधे रहे हैं।

यह होने पर भी डॉ० मिश्र की प्रस्तुत कृति निष्पक्ष, सन्तुलित, सचेष्ट और विश्वास
पूर्ण मूल्यांकन की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्वीकृत होगी, ऐसा मेरा विश्वास
है।[1]

---

१ लेखक—डॉ० भगीरथ मिश्र प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन प्राइवेट, लिमिटेड, बम्बई,
दिल्ली, इलाहाबाद, पटना, मद्रास पृष्ठ संख्या १३१ मूल्य ४)।

लक्ष्मीरमण वार्ष्णेय

पद्मसिंह शर्मा के पत्र

विद्यार्थी जीवन में एक बार आचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा के दर्शन हुए थे। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी और पं० हरिशंकरजी शर्मा द्वारा सम्पादित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' पढ़कर उनकी मूर्ति फिर सजीव हो उठी। यह इस पुस्तक की सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण है।

किसी लेखक या कवि की कृति का उसके व्यक्तित्व से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। उसकी कला उसके व्यक्तित्व की प्रतिमूर्ति होती है। इसीलिए उसकी रचनाओं का भलीभाँति अध्ययन करने के लिए उसके जीवन और उन अन्य बातों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है जिनसे उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। उसकी प्रकाशित रचना से उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अनेक बातें ज्ञात होती अवश्य हैं, किन्तु उसके प्रकृत स्वरूप के जानने का अवसर प्राप्त नहीं होता। उसके जीवन और फलतः रचनाओं की छोटी बड़ी सभी सन्धियाँ जानने के लिए पत्र मूलाधार का काम देते हैं। इन्हीं सन्धियों पर उसका सामाजिक रूप आधारित रहता है। सामाजिक जीवन में कवि या लेखक को दुराव छिपाव भी करना पड़ता है, कहीं कहीं उसे मौन भी धारण करना पड़ता है। पत्रों में उसका वास्तविक व्यक्तित्व प्रकट होता है। इसलिए यदि किसी रचना का अध्ययन करने के लिए उसके रचयिता के जीवन का अध्ययन करना जरूरी है, तो जीवन को वास्तविक रूप में जानने के लिए कृपापात्रों, मित्रों, पाठकों, विश्वस्त व्यक्तियों आदि को लिखे गए पत्रों से उसके मन के कोने कोने में झाँकने का अवसर मिल जाता है। इससे साहित्य का अध्ययन व्यक्तित्व के अध्ययन के साथ साथ होता चलता है। साहित्य के अध्ययन की दृष्टि से, फलतः, पत्रों का विशेष महत्त्व है।

खेद की बात है कि साहित्य के इतने उपयोगी अंग की हिन्दी में उपेक्षा होती रही है। जीवनी-साहित्य और पत्र साहित्य का दृष्टि से हिन्दी भाषा आज भी बहुत समृद्ध नहीं कही जा सकती। अनेक महापुरुषों की जीवन गाथाएँ तो विस्मृति के महान्धकार में विलीन हो ही चुकी हैं। पत्रों को सुरक्षित रखने वाले लोगों का भी हमारे समाज में कुछ अभाव-सा मिलता है। जैसा कि पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने अपनी सुन्दर भूमिका में कहा है, ' पत्र लिखना भी एक नशा है और पत्र संग्रह करना भी एक नशा है। यह नशा जितने अधिक लोगों में हो उतना ही अच्छा है।''

यूरोप में जीवनी लेखकों तथा साहित्य के विद्यार्थियों ने पत्रों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है और अनेक प्रसिद्ध साहित्यिकों तथा महापुरुषों के पत्र संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। बायरन, कीट्स, मार्क्स, ऐंगल्स, स्टीवेंसन, तुर्गनेव, टॉल्स्टाय, गॉल्सन आदि महापुरुषों के विचारों का मूल तत्व समझने के लिए उनके पत्रों से विशेष सहायता मिलती है। पत्रों का अध्ययन करने से हम उनकी कला विभूति और आत्मा की महत्ता का पता लगाने में समर्थ होते हैं, उनके जीवन की अच्छाइयों और कमजोरियों द्वारा उनका मानव रूप समझने में सहायता प्राप्त करते हैं। उर्दू और बंगला में भी पत्र साहित्य काफी प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी में इस दिशा में जितना कार्य होना चाहिए था उतना तो अभी नहीं हुआ, किन्तु यह सन्तोष की बात है कि अब कुछ महानुभावों का ध्यान इस ओर गया है। आशा है उनसे

प्रेरणा ग्रहण कर इस कार्य के बढ़ाने में अन्य सज्जन भी प्रवृत्त होंगे। जिन थोड़े से महानुभावों का ध्यान इस ओर गया भी है उनके मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

हिन्दी में अभी तक जिन साहित्यिकों के पत्रों का संग्रह करने की ओर सबसे अधिक प्रयास किया गया है और किया जा रहा है, उनमें स्वर्गीय आचार्य द्विवेदीजी और आचार्य पद्मसिंहजी शर्मा प्रमुख हैं—यद्यपि पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी तथा पं० हरिशंकरजी शर्मा ने कुछ अन्य पत्र-संग्रहों का भी उल्लेख किया है। हाल ही में 'द्विवेदी पत्रावली' शीर्षक के अन्तर्गत उनके पत्रों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' शीर्षक संग्रह दूसरा महत्त्वपूर्ण संग्रह है। वास्तव में शर्माजी के पत्र कला की दृष्टि से आदर्श पत्र हैं। उनका व्यक्तित्व विविधता सम्पन्न था। अपने समय के साहित्य निर्माण में उनका पूरा योग था। उनके पत्र पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पद्मसिंहजी केवल प्रकाण्ड पण्डित ही नहीं थे, वरन् उनमें व्यवहार बुद्धि, साहस, निर्भीकता, विचारों की दृढ़ता और स्वाभिमान था और, सर्वोपरि, उनका मानव रूप इन पत्रों से भलीभाँति विदित हो जाता है। भाषा, व्याकरण, रचनादर्श और साहित्यिक मूल्य की दृष्टि से उनके पत्रों में उनकी सरल स्वाभाविक, किन्तु शक्ति सम्पन्न और घरेलू शैली के दर्शन होते हैं। संग्रह में सर्वश्री पारसनाथसिंह, वियोगी हरि, हरिशंकर शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, हरिदत्त शास्त्री, ज्वालादत्त शर्मा, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, महावीरप्रसाद द्विवेदी, भीमसेन शर्मा, श्यामसुन्दरदास खत्री, मोहनलाल महतो 'वियोगी', कुँवर सुरेशसिंह, नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' आदि को लिखे गए पत्र हैं। परिशिष्ट में पं० श्रीराम शर्मा, प्रेमचन्द, अकबर इलाहाबादी और राजेन्द्रप्रसाद द्वारा व्यक्त पद्मसिंहजी के सम्बन्ध में विचारों का संकलन है। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी और पं० हरिशंकरजी शर्मा का पद्मसिंहजी से घनिष्ठ सम्पर्क था। ऐसे उपयुक्त व्यक्तियों द्वारा इस ग्रंथ का सम्पादन होने से उसका मूल्य और भी अधिक हो गया है। कुछ पत्रों के फोटो दे देने से ग्रंथ हस्त लिपि विशारदों के लिए भी उपयोगी बन गया है। पाद टिप्पणियाँ देकर सम्पादक द्वय ने और भी अच्छा काम किया है।

लगभग प्रत्येक पत्र से पद्मसिंहजी की जिन्दादिली तो टपकती ही है, उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में भी अनेक आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। पद्मसिंह शर्मा टाइप के लोग तो अब साहित्य क्षेत्र में मिलते नहीं। उनके पत्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रत्येक घड़ी साहित्य रस में डूबे रहते थे। गन्ने उगाने या बीमारी की बात तक कहने में उन्होंने साहित्यिकता प्रदर्शित की है। उनके इन पत्रों में वह सजीवता तथा गुण हैं जिनके लिए वे साहित्य में प्रसिद्ध हैं। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी को लिखते हुए एक पत्र में उन्होंने लिखा है—"मैंने इनमें कुछ ऐसे लेखकों पर प्रकाश डाला है जो दलबन्दी की आँधी के कारण छिप गए हैं। जिन लोगों ने कन्वेसिंग, प्रोपेगेण्डा या दलबन्दी के सबब अपना सिक्का बिठा रखा है उन्हीं का गुणगान होता है। चुपचाप काम करने वालों को कोई नहीं पूछता। बात 'खरी चोखी' बावन तोले पाव रत्ती—यानी बिल्कुल सही और सच है। फिर 'बहुलती कूदती' भाषा का लाजवाब जवाब भी है। उस बहुलती कूदती भाषा की बात को उस सूखा गए पौधे से लेकर पौधे वाले पेड़ों ने कई पुस्तकों को दोहराया है—'शगाफ रोइम स्वाब' का परिचय दिया है—इसलिए इसको और भी जरूरत थी, आप ही कहिए, थी या नहीं ? मैं

तो समझता हूँ—थी, और जरूर थी, आपने तो प्रायगेयटा अस्त्र मौन मूँदकर फिर मोथरा कर दिया, सोडावाटर का उबाल आकर रह गया, पर मैं इस अनय और अत्याचार को यों चुपचाप सह लेना नितान्त अनुचित समझता हूँ। " इससे उनका अन्याय के प्रति रोष, सचाई और निर्भीकता का परिचय मिलता है। उनके सहानुभूतिपूर्ण हृदय का प्रमाण देखिए—' ऐसी घटनाएँ बड़ी हृदय विदारक होती हैं। जीवन को भारभूत बना देती हैं। उर्दू के एक कवि ने सच ही कहा है—

हरनफस आह और अनफास पै जीने का मदार,
जिन्दगी आहे-मुसलसल के सिवा कुछ भी नहीं।

जीना क्या है, दुखों का भार ढोना है, जो ढोना ही पड़ता है, लाचारी है। उर्दू हिन्दी के साहित्य सवियों की सच्ची जीवनी लिखी जाय, तो दुख-गाथाओं का एक भारी पोथा बन जाय। गालिब और अकबर यही रोना रोते रोते मर गए। शंकरजी और द्विवेदीजी (स्व॰ महावीरप्रसाद द्विवेदी) का भी यही हाल है। कौटुम्बिक व्याधियों से व्यथित हैं। भगवान् यम के आदेश की प्रतीक्षा कर रहे हैं। पढ़कर जी भर आया। साहित्य सवियों की जीवनी में दुख-ही-दुख भरा है। " पद्मसिंहजी के द्रवीभूत हृदय और उनकी मानसिक दशा बताने वाली ये पंक्तियाँ उनके मानव रूप की घोषणा करती हैं। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण इस संग्रह से दिये जा सकते हैं जो पद्मसिंहजी के पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हैं। उनकी साफगोई, दिखावे से घृणा, दम्भ से अरुचि, आत्मगौरव, निर्भीकता, आदर्श पालन, साहित्य सेवा, बहुज्ञता, भाषाधिकार आदि अनेक बातों का इन पत्रों से पता लगता है। उनके लिए यह कहा गया है कि सरस्वती की रक्षा के लिए तो वे 'बरतना शमशेर' थे। प्रस्तुत पत्र-संग्रह से इस कथन की सार्थकता पूर्णतः प्रमाणित होती है। उनका मानव रूप और साहित्यिक रूप दोनों ही उनके पत्रों में भलीभांति प्रतिबिंबित हैं। इसीलिए यह पत्र संग्रह सार्थक, सफल और उपयोगी है। ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के लिए सम्पादक-द्वय धन्यवाद के पात्र हैं।[1]

●

भोलानाथ तिवारी

पुरानी राजस्थानी

इटली के सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ॰ एल॰ पी॰ तेस्सितोरी का 'Notes on the Grammar of the old western Rajasthani with special reference to Apabhramsa and Gujarati and Marwari शीर्षक प्रसिद्ध शोधपूर्ण निबन्ध 'इण्डियन ऐंटिक्वेरी' में धारावाहिक रूप से १९१४, '१५ तथा '१६ के कुछ अंकों में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत पुस्तक उसी निबन्ध का डॉ॰ नामवरसिंह द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद है। डॉ॰ तेस्सितोरी के इस निबन्ध के महत्त्व के सम्बन्ध में डॉ॰ सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के कुछ वाक्य द्रष्टव्य हैं—

'राजस्थानीविद् स्व॰ एल॰ पी॰ तस्सितोरी ने 'इंडियन ऐंटीक्वरी' पत्रिका के

1 सम्पादक—प॰ बनारसीदास चतुर्वेदी और प॰ हरीशंकर शर्मा प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली-६ १९५६ मूल्य ६) पृ॰ स॰ २२१।

शब्दों में जो सूक्ष्मतम् गवेषणा सम्पूर्ण की थी, इससे राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति तथा विकास पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला गया है। पुरानी राजस्थानी उच्चारण रीति, रूप तत्त्व और वाक्य-रीति के पूरे विचार के साथ तेस्सितोरी की आलोचना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसे राजस्थानी तथा गुजराती भाषा तत्त्व की बुनियाद यदि कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी।[1]

राजस्थानी तथा गुजराती के लिए तो यह निबंध महत्त्वपूर्ण है ही, साथ ही किसी भारतीय भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण प्रस्तुत करने का भी यह प्रथम प्रयास है और इस रूप में एक दिशा का यह प्रथम निर्देशक ग्रंथ है।

यह निबंध एक तो अंग्रेजी में था और दूसरे एक पुस्तक रूप में न होकर इंडियन ऐंटिक्वेरी के कई अंकों में बिखरा पड़ा था, अतएव हिन्दी के अध्येता सरलतापूर्वक इतनी महत्त्वपूर्ण सामग्री का समुचित उपयोग नहीं कर पाते थे। डॉ० सिंह ने इसका अनुवाद करके तथा नागरी प्रचारिणी सभा ने इसे प्रकाशित करके हिन्दी वालों का बड़ा उपकार किया है।

अनुवादक की प्रस्तावना के अतिरिक्त मूल पुस्तक १० अध्यायों में विभक्त है, जिनके शीर्षक क्रम से भूमिका, ध्वनि विचार, संज्ञा शब्द रूप, विशेषण, संख्यावाचक विशेषण, सर्वनाम, क्रियाविशेषण समुच्चय बोधक, क्रिया तथा रचनात्मक प्रत्यय हैं। अंत में एक परिशिष्ट में 'प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी रचनाओं से संकलित उदाहरण' हैं। पुस्तक के आरम्भ में डॉ० तेस्सितोरी का संक्षिप्त जीवन परिचय तथा उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियों की सूची है। उसके पूर्व अनुवादक की विज्ञप्ति है, जिसमें अन्य बातों के अतिरिक्त पुस्तक के महत्त्व पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

लेखक के शब्दों में यह निबंध 'पुरानी पश्चिमी राजस्थानी के व्याकरण पर नोट' मात्र है, पर जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, यह राजस्थानी का ऐतिहासिक व्याकरण है, साथ ही जैसा कि डॉ० सिंह ने भी अपनी विज्ञप्ति में कहा है, यह पुरानी पश्चिमी राजस्थानी द्वारा अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की उस जोड़ टूटी कड़ी के पुनर्निर्माण का प्रयत्न है, जिसके बिना किसी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का ऐतिहासिक व्याकरण लिखा ही नहीं जा सकता।

अनुवाद की भाषा स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण तथा मूलभाव की रक्षा में पूर्ण समर्थ है।

हिन्दी में व्याकरण के संज्ञा, सर्वनाम आदि सामान्य शब्दों को छोड़कर, जो हम संस्कृत भाषा से विरासत के रूप में मिले हैं, भाषा के अध्ययन के लिए आवश्यक पारिभाषिक शब्दावली में, जिनका आधार यूरोपीय भाषाएँ हैं, एकरूपता का सर्वथा अभाव है। उदाहरणार्थ 'Inflectional' शब्द लें। इसके लिए हिन्दी में विभक्तियुक्त, विभक्त, धातुरूपात्मक, श्लिष्टयोगात्मक, विभक्ति प्रधान, विकार प्रधान, विकृति प्रधान तथा श्लिष्ट आदि लगभग आधे दर्जन से अधिक शब्दों का प्रयोग चल रहा है। इस अव्यवस्था के कारण सामान्य पाठक ही नहीं, अपितु भाषा शास्त्रियों के लिए भी कहाँ-कहाँ लेखकों के मन्तव्य समझने में कठिनाई होती है। डॉ० सिंह के सामने भी अनुवाद करते समय इस प्रकार की कठिनाई रही होगी। उन्होंने कुछ तो पुराने लोगों द्वारा गढ़े शब्दों का प्रयोग किया है और कुछ स्वयं भी गढ़ लिये हैं। लगता है कि शब्दों का यह गढ़ना नाना अनुवाद के साथ ही चलता रहा है और अनुवाद-कार्य करते

[1] 'राजस्थानी भाषा', डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, उदयपुर, १९४९, पृ० ८८।

के पूर्व या बाद में उन पर एकरूपता की दृष्टि नहीं दौड़ाई गई है। यदि अनुवाद में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द पहले स्थिर कर लिये गए होते तो एक ही अंग्रेज़ी पारिभाषिक शब्द के लिए कहीं किसी और कहीं हिन्दी पारिभाषिक शब्द को प्रयुक्त करने की स्थिति का सामना न करना पड़ता। इन नये नये प्रयुक्त शब्दों में कुछ शब्द (जैसे Illative के लिए 'पारणामवाचक' तथा 'निष्कर्षवाचक') प्राय एक से ही हैं, पर पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार के अंतर भी न रहने देना स्थिरीकरण की दृष्टि से प्राय अच्छा होता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, डॉ० सिंह ने कुछ अंग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी प्रतिशब्द गढ़ लिये हैं, पर कई स्थलों पर संभवत शब्दों को गढ़ने की कठिनाई के कारण ही उन्होंने अंग्रेज़ी शब्दों के ही प्रयोग कर दिए हैं। इस प्रकार के कुछ उदाहरण हैं—

१ स्वरों के बीच ज व्यञ्जन की शक्ति खो देता है और जैन प्राकृत की य श्रुति की तरह Euphonic तत्त्व के रूप में प्रयुक्त होता है।[1]

२ Precative बहुवचन के पदान्त में ज विकल्प से तरल होकर उय हो जाता है।[2]

३ कुछ और अधिक ज़ोर देने के लिए करणकारक संज्ञाओं में यौगिक appendage की तरह जोड़ दिया जाता है।[3]

४ मारवाड़ी में हमें परो, वरो, रो विशेषणों का उपयोग करके एक प्रकार के Verbal intensives बनाने के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं।

५ ध्यान देने योग्य है कि कविता में ए प्रथमपुरुष सर्वनाम में सभी कारकों में मात्रा की दृष्टि से anceps है।

६ यह क्रिया के पहले Proclitically रखा जाता है।

इतने परिश्रम से डॉ० सिंह ने इस पुस्तक का अनुवाद, सफल अनुवाद, किया है और काफी शब्दों के पर्यायों का निर्माण किया है। ऐसी स्थिति में यदि थोड़ा और श्रम और समय देकर इन अंग्रेज़ी शब्दों को भी, जो संख्या में एक दर्जन से अधिक नहीं हैं, हिन्दी रूप दे दिया गया होता तो अनुवाद और भी पूर्ण हो जाता। यह स्खलन संभवत जल्दी करने के कारण हो गया है, क्योंकि संभवत इनमें से कुछ शब्दों के हिन्दी पर्यायों का प्रयोग इसी अनुवाद में अन्यत्र हुआ है।

पुस्तक के अंत में इसमें आए राजस्थानी शब्दों की यदि एक अनुक्रमणी दे दी गई होती तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती।

कहीं-कहीं प्रूफ की कुछ साधारण अशुद्धियाँ हैं। पृष्ठ १६ १७ पर ६ पंक्तियाँ दो बार छप गई हैं। पर ये सब नगण्य हैं।

ऊपर दिये गए सामान्य स्खलनों के बावजूद पुस्तक का अनुवाद सुन्दर, प्रकाशन सुरुचिपूर्ण और छपाई सुन्दर तथा शुद्ध है। अनुवादक तथा प्रकाशक दोनों हिन्दी संसार का बधाई के पात्र हैं।[4]

---

१ पृ० ३४ २ पृ० ४२ ३ पृ० ६१

४ 'पुरानी राजस्थानी', लेखक—डॉ० एल० पी० तस्सितोरी, अनु०—प्रो० नामवरसिंह, प्रकाशक—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

शिवकुमार मिश्र

बेकसी का मज़ार

'बेकसी का मजार' हिंदी के जाने माने कथाकार, 'विदा', 'विकास', 'बयालीस', 'विसर्जन' आदि उपन्यासों के रचयिता, मुंशी प्रतापनारायण श्रीवास्तव की नवीनतम कृति है। इस कृति में मुंशीजी ने अपने अन्य उपन्यासों से भिन्न एक ऐतिहासिक कथानक को अपनी लेखनी का आधार बनाया है और वह कथानक भी ऐसा जो अतीत का होते हुए भी, आज भी हमारे लिए उतना ही ताज़ा और नया है, जितना तब था—और वह ऐतिहासिक कथानक है—भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम का कथानक, सन् १८५७ का जन क्रांति का कथानक, एक ऐसे व्यक्तित्व से सम्बंधित जो एक साथ बादशाह, दार्शनिक, कवि सभी कुछ था, अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे पुत्रों व पौत्र के कटे हुए सिर को देखकर भी (जिन्हें अंग्रेजों ने उसके पास भेजा था) अत्यन्त धैर्य और मुख पर अपूर्व शांति धारण कर जिसने केवल इतना ही कहा था—

"अल्लाह मद लिल्लाह! तैमूर की औलाद ऐसी ही सुर्खरू होकर बाप के सामने आया करती थी।"[१] हमारा इशारा मुगल वंश के आखिरी चिराग बहादुरशाह शाह 'ज़फर' की ओर है, जो सन् १८५७ में अपनी धूमिल किंतु ऐसी ज्योति के लिए जल रहा था जिसने आज़ादी के दीवाने अगणित पतंगों को अपने ऊपर जलकर भस्म हो जाने के लिए प्रेरित किया और बाद को स्वयं भी बुझ गया, पर भारतीयों के हृदय में ऐसी यादगार छोड़कर, ऐसी निष्ठा और कर्मण्यता फूँककर, जिसका परिणाम १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत वर्ष की पूर्ण स्वाधीनता में प्रकट हुआ।

ऐसे ही इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तित्व और उससे सम्बंधित सन् १८५७ की लोमहर्षक, भयानक और अधिकांशत सत्य घटनाओं को लेकर उपरोक्त उपन्यास की, जो डिमाई आकार के ५५२ पृष्ठों का है और अपने मूल्य के रूप में पूरे दस रुपयों की माँग करता है (जो औसत पाठकों के लिए शायद बहुत अधिक है), रचना हुई है।

सबसे पूर्व हम इस भ्रम को मिटा देना चाहते हैं कि जब उपन्यास सन् १८५७ की घटनाओं व बहादुरशाह से सम्बंधित है तो उसका नाम 'बेकसी का मज़ार' क्या रखा गया? इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदन है कि सन् १८५७ की जन क्रांति की घोर असफलता एक बेकसी का मजार ही कही जा सकती है, दूसरे 'बेकसी का मजार' शीर्षक बहादुर शाह ही की एक सुंदर नज़्म की अंतिम पंक्तियों से सम्बन्ध रखता है जो अपने भावों में कितनी सुंदर है, बहादुरशाह के तत्कालीन व्यक्तित्व को उभारने में भी उतनी ही सफल

---

१ His animal passions not satisfied, their heads were severed from their bodies and presented to Bahadurshah on which the aged Emperor with unimaginable calmness remarked —
Allah mad lillah ' (History of Modern India—Dr Ishwari Prasad and S K Subedar, Page 262) उपन्यासकार ने उपन्यास में इस समय बहादुरशाह को अचेत होता हुआ दिखाया है जो कदाचित् ठीक नहीं है।

पाई। बहादुरशाह 'ज़फ़र' की उस नज़्म की आखिरी पंक्तियाँ यों हैं—

कोई मुझ पै फूल चढ़ाय क्यों, कोई आके शमा जलाय क्यों,
कोई मुझ पै अश्क बहाय क्यों, कि मैं बेकसी का मज़ार हूँ।

उपन्यास का अन्त भी इन्हीं पंक्तियों से होता है, अतएव जहाँ तक उपन्यास के शीर्षक के औचित्य का प्रश्न है, हम उससे सहमत हैं।

अब उपन्यास की कथावस्तु को लीजिए, उपन्यास का लेखक जिस तत्त्व को उपन्यास के अन्य सार तत्त्वों से अधिक महत्त्व देता है। ५५२ पृष्ठों के इस वृहत् उपन्यास में कथानक का ढाँचा काफी व्यापक घटनाओं के आधार पर निर्मित किया गया है। १८५७ का स्वाधीनता संग्राम वैसे ही अपने भीतर अगणित घटनाओं को आत्मसात् किये है, उन घटनाओं का एक विशेष व्यक्ति के साथ तारतम्य जोड़कर, ऐसे कथानक का ढाँचा निर्मित करना जो एक साथ ही उस व्यक्ति के विषय में भी सब कुछ स्पष्ट कर दे, साथ ही स्वाधीनता संग्राम की भी व्यापक झलक प्रस्तुत करे और फिर आकर्षक व रोचक भी हो—काफी परिश्रम साध्य कार्य है। यही कारण है कि यद्यपि उपन्यासकार का मस्तिष्क में कथानक का ढाँचा निर्मित करने में पाँच छः वर्ष का समय लगा, फिर भी वह विभिन्न ऐतिहासिक व काल्पनिक घटनाओं की सुसंगठित व सम्यक् योजना करने में पूर्णरूपेण सफल नहीं हो पाया, हाँ उसने इतनी सफलता अवश्य प्राप्त की है कि पाठक इस बृहत् उपन्यास को एकबारगी ही आखिर तक पढ़ जाता है। यह सफलता कुछ कम नहीं है। असफल उपन्यासकार इस अर्थ में हुआ कि जिस महत्त्वपूर्ण व्यक्ति विशेष को उसने कथा वस्तु का प्रमुख केन्द्र बनाना चाहा है, उसका न तो चरित्र ही पूरी तरह उभर पाया है और न उससे सम्बन्धित सारी घटनाएँ ही आ सकी हैं, केवल उनकी झलक मात्र मिलती गई है जो पर्याप्त नहीं है। बहादुरशाह के स्थान पर उपन्यास सन् १८५७ की क्रान्ति की ही गाथा बन गया है। क्रान्ति की योजना किस प्रकार हुई, किस प्रकार वह प्रारम्भ होकर असफल हुई, उपन्यास में प्रमुख रूप से यही वर्णित है। क्रान्ति की घटनाओं ने बहादुरशाह से सम्बन्धित घटनाओं को बिल्कुल दबा दिया है। बहादुरशाह के भाग्य निर्णय के पश्चात् की घटनाएँ अवश्य छोड़ दी गई हैं, पर इससे हमारे उपरोक्त कथन में कोई अन्तर नहीं आता। घटनाएँ अधिकांशतः देश भर की क्रान्ति से ही सम्बन्धित हैं, न बहादुरशाह से और न दिल्ली से ही, जैसा कि उनको होना चाहिए था। इस प्रसंग में हम श्री वृन्दावनलाल वर्मा के 'झाँसी की रानी' उपन्यास की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिसमें सारी घटनाएँ रानी व प्रमुखतः झाँसी से सम्बन्धित हैं और यही कारण है कि 'झाँसी की रानी' एक सफल कृति बन सकी, पर प्रस्तुत उपन्यास के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। कथानक की घटनाओं को दिल्ली से सम्बन्ध सूत्र जोड़ने वाला केवल एक व्यक्ति है—शाह हसन अस्करी जो बहादुरशाह का निजी व विश्वासपात्र है, जो देश भर में घूम घूमकर क्रान्ति की आग सुलगाता है, देश भर के विद्रोही नेताओं को बहादुरशाह के झण्डे के नीचे एकत्र करता है, पर हमारे विचार से शाह हसन अस्करी के ये कार्य भी हमारी पूर्व कथित बात को नहीं मिटाते। हाँ, शाह हसन अस्करी अपने इन कार्यों से स्वयं उपन्यास के सर्वप्रमुख पुरुष-पात्र बन जाते हैं और इस प्रकार बहादुरशाह को पीछे डालकर स्वयं उपन्यास का नायक बनने का claim (हक़) उपस्थित कर देते हैं और जो उचित भी है।

इसके अतिरिक्त घटनाओं की अधिकता के कारण उनका तारतम्य भी अनेक स्थानों पर विशृङ्खलित सा हो गया है, जिसे सँभालने के लिए उपन्यासकार को इतिहास से काफी मुँह मोड़कर कल्पना का आश्रय लेना पड़ा है जो एक ऐतिहासिक उपन्यास के लिए, विशेषकर ऐसे ऐतिहासिक उपन्यास के लिए, जिसकी घटनाओं को घटे अभी बहुत समय नहीं गुजरा, जो आज भी उतनी ही जीवन्त हैं—उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, ऐतिहासिक और काल्पनिक घटनाओं की ऐतिहासिकता या काल्पनिकता भूलकर, उन्हें समग्र रूप में देखने पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि कथावस्तु का ढाँचा उपन्यास का कलेवर देखते हुए पर्याप्त गठा हुआ है, कम से कम अन्त तक उसमें आकर्षण, भरपूर आकर्षण, विद्यमान है। पहली पंक्ति से जो कथा प्रारम्भ होती है वह अंतिम पंक्ति तक पहुँचकर ही समाप्त होती है—भले ही उसे गतिशील रखने के लिए, उसके रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए कुछ अनगढ़, मनगढ़न्त व अस्वाभाविक घटनाओं का आश्रय लिया गया हो।

यहाँ 'अनगढ़', 'मनगढ़न्त', 'अस्वाभाविक' घटनाओं की चर्चा हो गई है, अतएव उसे स्पष्ट कर देना आवश्यक है। उपन्यासकार ने कथानक की योजना में ऐसी अनेक घटनाओं का आश्रय लिया है जो पूर्णतः कल्पित अथवा मनगढ़न्त हैं—शायद ऐसी घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाओं के बराबर या उनसे ज्यादा ही हों, जैसा कि उपन्यासकार ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने 'निवेदन'[1] में स्वीकार भी किया है। यहाँ तक तो कोई बात नहीं, पर प्रश्न तब उठ खड़ा होता है जब हम उन कल्पित घटनाओं के बीच कतिपय ऐसी घटनाओं को देखते हैं जिनके कारण हमें उपरोक्त शब्द प्रयुक्त करने पड़े। वस्तुतः उपन्यास का कलेवर १५० पृष्ठ तक या उससे भी अधिक कम हो सकता था, यदि उपन्यासकार अनावश्यक चमत्कारिता के फेर में न पड़कर, 'चन्द्रकान्ता' व 'भूतनाथ' सरीखे उपन्यासों के पाठकों के मनोरंजन का खयाल न कर, घटनाओं की सृष्टि करता। पर उसने ऐसा न कर सभी प्रकार की रुचि वाले पाठकों के लिए भाँति भाँति का 'मसाला' जुटाने की कोशिश की, परिणामस्वरूप ही उपरोक्त दोष पैदा हुआ। इस प्रकार की घटनाएँ तो अनेक हैं, पर यहाँ हम दो एक उन्हीं प्रमुख घटनाओं को लेते हैं जो या तो अनावश्यक रूप से अधिक पृष्ठ घेरती हैं, बाकी उपन्यास में जिनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, या उपन्यास के तत्वों को गलत रूप से प्रभावित कर कथानक की सृष्टि में व्याघात उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार की घटनाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) बादशाह शाहजहाँ के खुफिया खजाने से सम्बन्धित घटना—इस घटना ने उपन्यास के ४० पृष्ठ घेरे हैं तथा इस खजाने की प्राप्ति में 'चन्द्रकान्ता' व 'भूतनाथ' सरीखे न जाने कितने 'तिलिस्म' टूटते हैं, सनसनीखेज व भयानक दृश्य सामने आते हैं, कौतूहल व भयमिश्रित वातावरण उत्पन्न होता है परन्तु इस घटना का उपन्यास के शेष कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं है, न यह खजाना ही किसी काम आता है। इस घटना ने उपन्यास के अनेक पृष्ठ तो घेरे ही, आज के साहित्यिक उपन्यासों में इस प्रकार की तिलिस्मी घटनाओं का कोई औचित्य भी नहीं है।

---

1 इसमें (उपन्यास में) कहानी को प्रधानता देकर इतिहास को गौण बनाया गया है और प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाओं को एक सूत्र में पिरोकर उन्हें कहानी का अंग बनाने की चेष्टा की गई है।

(२) अजीमुल्ला-गुलनार प्रेम प्रसग—इस घटना के औचित्य पर हमें कोई शिकायत नहीं है, केवल इसके अनावश्यक विस्तार से हम सहमत नहीं हैं, कारण इस प्रेम प्रसग का विशेष महत्त्व उपन्यास में नहीं दिखाई देता।

(३) गुल मुहम्मद व मातावदलसिंह की मृत्यु के पश्चात् का कथानक—वस्तुत उपन्यास के इन दो पात्रों की मृत्यु के पश्चात् समाप्त हो जाना था, पर कथा को अनावश्यक रूप से, केवल कुछ कौतूहलजनक वातावरण उत्पन्न करने की इच्छा से, बढ़ाया गया है। इस विस्तार ने उपन्यास की ऐतिहासिकता पर भी आघात पहुँचाया है। लेखक ने अजीमुल्ला को उपन्यास के अन्त तक जीवित दिखाया है, जबकि इतिहासकारों के अनुसार वह लखनऊ के युद्ध में मारा गया था। हाँ, इतना अवश्य है कि अन्तिम दृश्य मार्मिक व प्रभावशाली बन गया है, नहीं तो यह विस्तार बेहद खटकता।

(४) गुलशन का यौन परिवर्तन—चौथी घटना, जिस पर हमारी गम्भीर आपत्ति है और वस्तुत जो ही कथानक की सारी अनगढ़ता और कुरूपता का कारण है, गुलशन (बेगम जीनत महल की सहेली, उपन्यास की सर्वप्रमुख नारीपात्र, क्रान्ति में अग्रणी) का यौन परिवर्तन है। पता नहीं क्यों उपन्यासकार ने कथानक में ऐसी घटना को स्थान दिया। जिन जिन लोगों ने उपन्यास पढ़ा है, इसी घटना की कुरूपता पर इशारा किया है। आधे उपन्यास तक तो गुलशन स्त्री रहती है, उसकी सुन्दरता व उसके आकर्षण का उपन्यासकार उल्लेख करता है, उसे उपन्यास की नायिका के रूप में आगे बढ़ाता है, पर आधे उपन्यास के पश्चात् यही गुलशन स्त्री न रहकर पुरुष बन जाती है और उसका नाम गुलमुहम्मद हो जाता है। अब यदि यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाय कि उपन्यास की नायिका कौन है, तो कोई रास्ता नहीं रह जाता। यह ठीक है कि उपन्यासकार काफी पहले से गुलशन के भावी यौन परिवर्तन के सकेत देने आरम्भ कर देता है, जिससे अन्त तक पहुँचते पहुँचते यह घटना आकस्मिक नहीं लगती, पर प्रश्न यह उठता है कि उसने ऐसा क्यों किया, अपने कथानक के साथ इस प्रकार का बेजा खिलवाड़ क्यों किया, किन आधारों पर किया, किस उद्देश्य से किया? एक ऐतिहासिक उपन्यास में यौन परिवर्तन की बात दिखाना, उपन्यास की सर्वप्रमुख नारी पात्र से उसका सम्बन्ध जोड़ना, घटनाओं के स्वाभाविक क्रम को यकायक मोड़ देना, कहाँ तक उचित और युक्तिसगत है?

आज यदा-कदा यौन परिवर्तन सम्बन्धी देश विदेश के कुछ किस्से समाचारपत्रों में देख पड़ते हैं, पर केवल इन किस्सों के आधार पर एक ऐतिहासिक कथानक में इस प्रकार का परिवर्तन हमारे विचार से कतई उचित नहीं है। बातचीत के दौरान में उपन्यासकार ने इसे आधुनिक युग का प्रभाव स्वीकार किया है व यह तक भी दिया है कि आज इस प्रकार की घटनाएँ घटती हैं तो उस युग में भी घटती होंगी व छिपी रह जाती होंगी, पर केवल इस अनुमान पर ही उपन्यास में इतना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाना हमारे विचार से बिलकुल ठीक नहीं है। फिर यदि इस घटना की स्वाभाविकता अस्वाभाविकता का प्रश्न छोड़ भी दिया जाय और एक घड़ी के लिए उपन्यासकार की ही बात मान ली जाय, तब प्रश्न उठता है कि उपन्यासकार के इस यौन परिवर्तन से कौनसे उद्देश्य सिद्ध होते थे? प्रत्येक उपन्यासकार का अपने कथानक की छोटी से छोटी घटना की योजना करने में भी कोई न कोई उद्देश्य होता है, फिर किसी महत्त्व

पूर्ण घटना का जन्म तो निरुद्देश्य होता ही नहीं। यदि कोई उपन्यासकार महज चमत्कार लोभ से ऐसा करता है तो यह उसकी अरसिकता ही समझी जायगी। उपन्यास की साहित्यिकता का गला चमत्कारिता से दबवाने का प्रयत्न विरला उपन्यासकार ही कर सकता है, जैसा कि मुंशी प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने किया है।

उपन्यासकार ने इस घटना के औचित्य को लेकर जो तर्क मुझे दिये और जो वस्तुत हो सकते हैं, वे इस प्रकार हैं—

(१) मातावदल सिंह (हिन्दू) व गुलशन (मुसलमान) के पारस्परिक विवाह की समस्या को टालना।

(२) बहादुरशाह के लड़कों के कातिल हाडसन को मारने की क्षमता का पुरुष में ही होना जबकि गुलशन स्त्री थी।

(३) मैनावती (नाना साहब की पालिता पुत्री) व गुलशन का प्रेम प्रसंग, जो गुलशन को पुरुष बनाकर ही प्रदर्शित किया जा सकता था।

हम उपरोक्त तीनों तर्कों का क्रमश उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

जहाँ तक पहले तर्क का प्रश्न है, हमारा इतना ही कहना है कि एक तो मातावदल सिंह व गुलशन का प्रेम एकाङ्गी था, गुलशन मातावदलसिंह से प्रेम न करती थी वरन् उसे अपने प्रेम का भुलावा देकर उससे अपनी कार्यसिद्धि करना चाहती थी, जैसा कि उसके अनेक कथनों से प्रकट होता है।[1] दूसरे मातावदलसिंह जिस हद तक गुलशन के वश में हो गया था और जिस प्रकार उसके विवाह प्रस्ताव को समझा बुझाकर गुलशन ने आगे के लिए टाल दिया था, उसी प्रकार गुलशन उसे अन्त तक सँभाले रख सकती थी और अन्त में इस समस्या के उठने का कोई प्रश्न ही नहीं था, कारण उपन्यासकार को उसे मारना ही था। फिर यदि विवाह का प्रश्न भी उठता तो उसमें हिन्दू मुसलिम प्रश्न को लेकर कोई बाधा न न खड़ी होती, कारण गुलशन के बिरादरी वालों ने सब जानकर भी इस बात को कोई महत्त्व न प्रदान किया था। शाह हसन अस्करी, जो गुलशन के पिता के समान थे, स्वयं इस प्रश्न को लेकर गुलशन के साथ मजाक किया करते थे[2] व गुलशन की बहन गुलनार भी सूबेदार मातावदलसिंह का नाम ले-लेकर गुलशन की चुटकियाँ लिया करती थी।[3] अस्तु।

उपन्यासकार का उपरोक्त तर्क बहुत हल्का है। अब दूसरे तर्क पर आइये। दूसरे तर्क के उत्तर में इतना ही कहा जा सकता है कि हाडसन की मृत्यु किसी दूसरे के हाथ से भी दिखाई जा सकती थी और यदि उपन्यासकार इस कारण कि हाडसन ने पहले गुलशन की बेइज्जती की थी, गुलशन के हाथों से ही उसे मरवाना चाहता था तो स्त्री रूप में ही गुलशन से यह कार्य कराने में क्या बाधा या अस्वाभाविकता थी? बल्कि यह घटना तब और भी प्रभावशालिनी हो गई होती। यह बात मानने को जी नहीं करता कि पुरुष को मारने की क्षमता पुरुष में ही हो सकती थी। उपन्यासकार ने प्रारम्भ से ही गुलशन को एक वीर रमणी

१ पृष्ठ २८, शाह हसन अस्करी से बातचीत के दौरान में, पृष्ठ १२४ शाहसाहब से ही पुन, आदि आदि।

२ पृ० २८।

३ पृ० १२३।

के रूप में प्रस्तुत किया है और ऐसी दशा में यदि वह शत्रु को युद्ध में पराजित कर उसे मारती तो कोई अस्वाभाविकता न उत्पन्न होती। भारतीय इतिहास इस प्रकार की नारियों से भरा पड़ा है, स्वयं १८५७ में ही रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिए थे। क्या यह अस्वाभाविक था? फिर यदि उपन्यासकार के कहने से यह मान भी लिया जाय कि यह कार्य अस्वाभाविक लगता, तो यह अस्वाभाविकता हमें ग्राह्य होती वरन् उस अस्वाभाविकता के जो उसने गुलशन का यौन परिवर्तन करके प्रदर्शित की है।

जहाँ तक तीसरे तर्क का प्रश्न है, इतना ही निवेदन है कि आखिर इस बात की कौन सी आवश्यकता आ पड़ी थी कि मैनावती की ओर किसी का आकर्षण दिखाया ही जाय? फिर यदि दिखाना ही था तो कोई अन्य पुरुष पात्र इस कार्य के लिए मिल सकता था, गुलशन ही इसके लिए क्यों चुनी गई? स्त्री, स्त्री से प्रेम नहीं कर सकती इस कारण गुलशन को पुरुष बनाकर उसे मैनावती का प्रेमी बनाना—इस सारी खींचतान की क्या आवश्यकता थी? फिर ये सारी घटनाएँ, यहाँ तक कि मातावदलसिंह, गुलशन, मैनावती आदि पात्र भी कल्पित थे, और जब उपन्यासकार आसानी से स्वाभाविक मार्ग का और घटनाओं के प्रवाह को मोड़ सकता था, उस पर कोई बंधन न था, तब उसने कथानक के साथ इतनी मनमानी स्वतन्त्रता क्यों बरती? गुलशन का यौन-परिवर्तन 'चेखरी का मजार' की एक ऐसी घटना है जो उसकी आधी सुंदरता की हत्या कर देती है, उससे उपन्यासकार के किसी भी उद्देश्य की (केवल चमत्कारिता को छोड़कर) पूर्ति नहीं होती, उल्टे अन्य घटनाओं पर उसका बुरा प्रभाव पड़ा है।

कथावस्तु में कतिपय छोटी मोटी अनुचित व अस्वाभाविक घटनाएँ और भी हैं—उदाहरणार्थ शाह हसन अस्करी का गुलशन (जिसे वे पुत्री से भी अधिक मानते थे) को अपनी प्रेम-कहानी सुनाना और सुनाते सुनाते गिरकर रोने लगना, गुलशन से सूबेदार मातावदलसिंह का नाम लेकर मजाक करना, गुलशन का उन्हें अपने यौन परिवर्तन की बात पूरे विस्तार से, अपने अंगों का हवाला देकर बतलाना, मैनावती का अपनी बुआ रानी लक्ष्मीबाई से गुलशन के अंगों की बाबत बताना आदि आदि। कुछ अस्वाभाविक बातें भी हैं, जैसे बैसवाड़े के मातावदलसिंह का 'आल्हा' से परिचित न होना और नृपतिनाथ से पूछना कि 'आल्हा क्या है? मुझे नहीं मालूम'[1] तथा बिठूर में गुलशन के अंगों का स्त्रीवत् होना और बिठूर से कलकत्ता तक के मार्ग में अचानक पुरुषरूपेण पुरुषवत् हो जाना आदि आदि।

कथानक में जैसा कहा गया है, ऐतिहासिक और काल्पनिक सभी प्रकार की घटनाएँ मिश्रित हैं। परन्तु उपरोक्त दो तीन प्रमुख घटनाओं को छोड़कर लेखक की कल्पना ने कहीं भी सीमा का अतिक्रमण नहीं किया। काल्पनिक घटनाओं को संगति इतिहास के संदर्भ में कुशलता से बिठा दी गई है। ऐतिहासिक व काल्पनिक सभी घटनाएँ प्रभावशाली व मार्मिक हैं। अजीमुल्ला का इंगलैण्ड जाना, वहाँ के भद्र रमणी समाज में विख्यात होना, अनेक रमणियों का उन पर आकर्षित होना, इंगलैंड से लौटते हुए इटली व रूस जाना तथा रूस के ज़ार से मिलना, सब कुछ ऐतिहासिक है व रसेल की डायरी के आधार पर है। शाह हसन अस्करी का फारस के शाह को पत्र भिजवाना आदि घटनाएँ भी सत्य हैं। मिर्ज़ा इलाहीबख्श की गद्दारी भी इतिहास सिद्ध है, यद्यपि उपन्यासकार ने उसके रूप को अवश्य परिवर्तित कर

[1] पृष्ठ १०३।

दिया है। ऐतिहासिक व काल्पनिक घटनाओं के इस योग ने कथावस्तु को पाठकों के लिए सहज ही ग्राह्य बना दिया है। मातादत्तसिंह व गुलशन का प्रेम प्रसंग यदि बिगाड़ा न जाकर स्वाभाविक गति से आगे बढ़ाया जाता, तो अन्त में देश की स्वाधीनता के लिए लड़ते हुए और अपने प्राणों की बलि देते हुए उन प्रेमियों का चित्र उपन्यास का अविस्मरणीय चित्र होता।

चरित्र ऐतिहासिक, अर्ध ऐतिहासिक, काल्पनिक, सभी प्रकार के हैं, पर उनमें कोई वैषम्य नहीं प्रतीत होता। काल्पनिक चरित्र ऐतिहासिक चरित्रों के साथ कुशलतापूर्वक गूँथ दिये गए हैं। प्रमुख पुरुष पात्रों में सम्राट् बहादुरशाह, शाह हसन अस्करी, मौलवी अहमद शाह, मातादत्तसिंह, नाना साहब, अजीमुल्लाखाँ, गुलमुहम्मद व हडसन हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं, जिनमें गुलमुहम्मद व मातादत्तसिंह को छोड़कर, जो पूर्णतः काल्पनिक हैं तथा हसन अस्करी, जो अर्ध ऐतिहासिक हैं, शेष सभी अपने युग के प्रमुख ऐतिहासिक व्यक्तित्व हैं। बहादुरशाह को छोड़कर शेष सभी पात्रों का चरित्रांकन कुशलता से हुआ है, उनके चरित्र की टेढ़ी सीधी सभी रेखाओं को उभारा गया है। गौण पुरुष पात्रों में अली, अमरनाथ, तात्या, बख्त खाँ, इलाहीबख्श व कुछ अंग्रेज अफसर हमारे सम्मुख आते हैं, जिनमें अली व बख्त खाँ सबसे अधिक प्रभावशाली प्रतीत होते हैं। यही बात नारी पात्रों के विषय में भी कही जा सकती है। बेगम जीनत महल, बेगम हजरत महल (ऐतिहासिक), गुलशन व गुलनार (काल्पनिक) उपन्यास की प्रमुख नारियाँ हैं और सबके साथ अपूर्व दीप्ति से दीपित हैं तथा उन्हें हम प्रभावित करती हैं। मैनावती व लक्ष्मीबाई गौण नारी पात्र हैं, पर मैनावती की झलक मात्र, उसका बलिदान हमारे नेत्रों के सम्मुख अविस्मरणीय बनकर चमक उठता है। अंग्रेज पात्रों की विशिष्टताएँ व दुर्बलताएँ भी सावधानी व कुशलतापूर्वक, पक्षपातरहित दृष्टिकोण से प्रदर्शित की गई हैं।

भाषा के क्षेत्र में उपन्यासकार को आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। उपन्यासकार की भाषा पात्रानुकूल अपना रूप परिवर्तित करते हुए आगे बढ़ती है। मुसलमान पात्र उर्दू फारसी शब्द बहुल भाषा का प्रयोग करते हैं, पर ऐसी सरल, मीठी और बोधगम्य कि पढ़ते ही बनता है, जबकि हिन्दू पात्र संस्कृत तत्सम प्रधान भाषा ही अधिकतर बोलते हैं। उर्दू फारसी शब्द प्रधान भाषा की प्रभावशालिता ने उर्दू के प्रसिद्ध लेखक स्व० ख्वाजा हसन निजामी तक को बेहद आकर्षित किया था। अपनी सहजगति व प्रभावशालिता के कारण उपन्यास की भाषा उसकी महत्त्वपूर्ण विशिष्टता बनकर रह गई है।

यहाँ एक दोष का भी उल्लेख कर देना समीचीन प्रतीत होता है जो आज के अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यासों में देख पड़ता है, वह यह कि उपन्यासकार यह भूलकर कि वह एक ऐतिहासिक उपन्यास लिख रहा है, भावावेश में कथानक के युग का अतिक्रमण कर आज तक की चर्चा करने लगता है। प्रस्तुत उपन्यास में भी यह दोष कई स्थानों पर देख पड़ता है जो विस्मय है और कम से कम मुंशीजी जैसे प्रौढ़ लेखक से यह गलती न होनी चाहिए थी। इस प्रकार के उदाहरण पृष्ठ १८४ के अंतिम पैराग्राफ, पृष्ठ ५०६ के पहले पैराग्राफ, व पृष्ठ ५३२ व ५३३ में स्पष्ट देखे जा सकते हैं, जहाँ उपन्यासकार ने मूल उपन्यास की धारा में १५ अगस्त १९४७ तक की चर्चा कर डाली है।

उपरोक्त कतिपय छोटी बड़ी दुर्बलताओं को छोड़कर उपन्यासकार ने उपन्यास-लेखन में काफी सतर्कता बरती है व काफी परिश्रम किया है। उस युग का ऐतिहासिक वातावरण उपन्यास में सजीवता से उभरा है। स्थान स्थान पर लेखक ने अपने प्रगतिशील विचारों का भी परिचय दिया है। राजा नवाबों से अधिक उसने जन साधारण का पक्ष लिया है। उपन्यास के अनेक स्थल इस कथन के प्रमाण हैं, जहाँ उपन्यासकार ने जनता के वास्तविक महत्त्व को, उसकी अजय शक्ति को उभारकर दिखाया है।

उपन्यास का अन्त पर्याप्त मार्मिक है, विशेषकर शाहज़ादी द्वारा गाई गई बहादुरशाह की अमर नज़्म 'न किसी की आँख का नूर हूँ, न किसी के दिल का करार हूँ' वातावरण को और भी मार्मिक व विषाद से युक्त बना देती है।

उपन्यास की छपाई, सफाई, गेट अप आदि पर्याप्त सुन्दर है। प्रूफ की अशुद्धियाँ पर्याप्त मात्रा में हैं, आशा है व उपन्यास के अगले संस्करण में दूर हो जायेंगी।

निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि कतिपय गहरी दुर्बलताओं के बावजूद भी 'बेकसी का मज़ार' सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम से प्रेरित होकर रचे गए साहित्य के बीच अपना विशिष्ट स्थान रखेगा। हाँ उपरोक्त दुर्बलताओं ने उसे प्रथम श्रेणी की कृति नहीं बनने दिया, ऐसा हमारा निश्चित मत है।[1]

●

सतीशचन्द्र काला

कला दर्शन

शचीरानी गुर्टू हिन्दी की विचारशील लेखिका हैं। 'कला-दर्शन' पुस्तक उनके अथक परिश्रम और समालोचनात्मक ऊहापोह का फल है। इस पुस्तक में १५ मुख्य अध्याय हैं— प्रागैतिहासिक कला, मिस्र की कला, चीन जापान की चित्रकला, यूनान की कला, इटालियन कला, स्पेन, फ्लाण्डर्स, जर्मनी, हालैंड की कला, फ्रांस की चित्रकला, ब्रिटेन और अमेरिका की कला, रूस की कला, आस्ट्रेलियन कला, अफ्रीका की कला, प्राचीन कलाएँ—मेसोपोटामिया और क्रीट, अरब, फारस और मुस्लिम कला, भारतीय कला तथा विश्व की मूर्ति कला।

अन्त में परिशिष्ट रूप में विश्व के प्रमुख कला-स्मारक, अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिवाले कलाकारों तथा कला ग्रन्थों की सूची दी गई है।

भारतीय कला वाले अध्याय में सिन्धुघाटी की सभ्यता के समय से लेकर आधुनिक समय तक की कला प्रवृत्तियों का क्रमानुसार विवेचन किया गया है। भारत का विदेशों के

१ 'बेकसी का मज़ार (एक ऐतिहासिक उपन्यास) लेखक—मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव प्रकाशक—भारती प्रतिष्ठान, पी रोड कानपुर, आकार डिमाई, पृष्ठसंख्या २२२, मूल्य १०)।

साथ कला के क्षेत्र में जो सम्बन्ध समय समय पर रहा है उसकी चर्चा भी की गई है।

विदेशी तथा देशी कला के बहुसंख्यक चित्र पुस्तक में यथास्थान दिये गए हैं। इन चित्रों के संकलन में कुछ अधिक कल्पना शक्ति एवं नीर क्षीर विवेक अपेक्षित था। चित्रकला के जो अनेक उदाहरण दिये गए हैं उनमें से कुछ चित्र रंगीन होते तो अच्छा होता। यद्यपि इससे मुद्रण व्यय अवश्य बढ़ जाता, परन्तु पुस्तक अधिक कलापूर्ण होती। अजन्ता, काँगड़ा, राजस्थान आदि के कई उत्कृष्ट चित्र सादे होने के कारण भद्दे लगते हैं और उनसे मौलिक चित्रों का ठीक बोध नहीं होता। कुछ रेखाचित्र भी दिये गए हैं, जो संतोषजनक नहीं कहे जा सकते। अनेक चित्रों के विवरण भी अशुद्ध हैं। उदाहरण के लिए मथुरा से प्राप्त कुषाण कालीन वेदिका-स्तम्भों को ई० पूर्व द्वितीय शती का लिखा है। शुंग और कुषाण-काल को कई स्थानों पर एक ही समझने की त्रुटि हुई है। पृष्ठ २०६ के सामने जो रेखाचित्र प्रकाशित किया गया है वह अजन्ता की हूबहू प्रतिकृति न होकर उसका आधुनिक अनुकरण है। चित्रों के नीचे उनकी क्रम संख्या तथा आरम्भ में सूची देना आवश्यक है।

पुस्तक में कुछ स्थानों पर विवरण सम्बन्धी त्रुटियाँ भी आ गई हैं। पृष्ठ ३२५ पर लिखा है कि "मथुरा और अमरावती की सारी प्रतिमाएँ उजली चित्ती वाले लाल रवादार पत्थरों पर कोरी गई हैं।" मथुरा की मूर्तियाँ निस्सन्देह लाल बलुए पत्थर की बनी हैं, पर अमरावती वाला पत्थर हल्का सफेद संगमरमर है, न कि लाल रवादार। प्रूफ की अशुद्धियाँ भी कुछ स्थानों पर रह गई हैं।

हिन्दी जगत् में इस ग्रन्थ का प्रकाशन स्वागत योग्य है। जैसा कि श्री बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर ने ग्रन्थ के आमुख में लिखा है, "विदेशी कलाओं के सम्बन्ध में हमारे यहाँ कोई अच्छा प्रकाशन नहीं था। इस कमी की पूर्ति प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा की गई है।"

देश विदेश में विभिन्न युगों में जो कलात्मक प्रवृत्तियाँ कार्य करती रहीं, उनका विहंगावलोकन इस ग्रन्थ में मिलेगा। इस कृति के लिए लेखिका का श्रम निस्सन्देह सराहनीय है। यह और भी प्रसन्नता की बात है कि उनकी दूसरी पुस्तक 'भारतीय कलाकार' का प्रकाशन शीघ्र होने वाला है।[1]

कृष्णदत्त वाजपेयी

प्रतिमा-विज्ञान

भारतीय वास्तु शास्त्र पर डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने पाँच ग्रन्थ प्रकाशित करने की योजना बनाई है। पहला ग्रन्थ 'वास्तु विद्या एवं पुरनिवेश' प्रकाशित हो चुका है। प्रतिमा विज्ञान पर यह दूसरा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जो लेखक की पञ्चपुष्पिका माला का चौथा पुष्प है। उत्तर प्रदेश राज्य की आर्थिक सहायता से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमाला प्रकाशित

1 'कला दर्शन', लेखिका—शचीरानी गुर्टू, एम० ए०, प्रकाशक—साहनी प्रकाशन, २७, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली प्रथम संस्करण, १९५६, मूल्य २० रुपये।

हो रही है।

प्रस्तुत ग्रंथ 'प्रतिमा विज्ञान' वास्तु शास्त्र के दो प्राचीन ग्रंथों—'समरांगण सूत्रधार' तथा 'अपराजित पृच्छा'—के अध्ययन पर आधारित है। ग्रंथ में पूर्व पीठिका तथा उत्तर पीठिका शीर्षक दो खण्ड हैं। पूर्व पीठिका में भारतीय प्रतिमा विज्ञान की पृष्ठभूमि दी गई है। इसमें ये अध्याय हैं—विषय प्रवेश, पूजा परम्परा, प्रतिमा पूजा की प्राचीनता (साहित्य एवं पुरातत्त्वात्मक प्रामाण्य), अर्चा, अर्च्य एवं अर्चक (वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन धर्म आदि), अर्चा पद्धति तथा अर्चागृह। उत्तर पीठिका में ग्यारह अध्याय हैं—विषय प्रवेश, प्रतिमा निर्माण परम्परा, प्रतिमा वर्गीकरण, प्रतिमा द्रव्य, प्रतिमा विधान, प्रतिमा रूप संयोग, प्रतिमा मुद्रा, प्रतिमा लक्षण, बौद्ध प्रतिमा लक्षण, जैन प्रतिमा लक्षण और उपसंहार। पुस्तक के अन्त में तीन परिशिष्ट दिये हुए हैं। आरम्भ में पंचध्यानी बुद्ध लक्षण की एक तालिका भी दी गई है।

हिंदी में अपने विषय का यह पहला बड़ा ग्रंथ है, जिसमें मूर्ति विज्ञान का सांगोपांग विवेचन उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला, अभिलेख, मुद्रा आदि के अध्ययन के साथ सम्बन्धित साहित्य एवं धार्मिक मान्यताओं का भी आलोडन किया गया है। विभिन्न मतों में प्रतिमा पूजन के स्वरूप तथा उनके क्रमिक विकास पर लेखक ने प्राचीन साहित्यिक उद्धरण देते हुए विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है। ग्रंथ की उत्तर पीठिका में प्रतिमा विज्ञान का शास्त्रीय सिद्धांत विस्तार से दिया गया है, जो बहुत उपयोगी है।

प्रस्तुत ग्रंथ के कई स्थलों पर लेखक ने जो विचार व्यक्त किये हैं वे युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते। पृष्ठ ६१ पर लिखा है—"महाकवि कालिदास का काल ईसवीय पूर्व प्रथम शताब्दी प्रमाणित हो चुका है। अतः ईसा से बहुत पूर्व शिव का अर्धनारीश्वर रूप प्रसिद्ध था।" कुछ विद्वानों ने कालिदास को ई० पूर्व प्रथम शती का लेखक सिद्ध करने की चेष्टा की है, परंतु यह मत अब समीचीन नहीं माना जाता। कालिदास गुप्तकाल में हुए, यही विचार अब प्रायः मान्य है। अर्द्धनारीश्वर रूप में शिव की प्रतिमाएँ भी ईस्वी चौथी शती से मिलती हैं। पूर्व पीठिका के अध्याय ४ (प्रतिमा पूजा की प्राचीनता) और १० (अर्चागृह) तथा उत्तर-पीठिका का अध्याय ६ (प्रतिमा लक्षण) अनेक स्थानों पर संशोधन की अपेक्षा रखते हैं। वज्रयान के देवताओं का जो विकास सारनाथ और नालंदा में हुआ उसका कुछ विवरण प्रतिमा लक्षण अध्याय में देना आवश्यक था। पुराणादि साहित्य के साथ पुरातत्त्वीय प्रमाणों को जोड़ने का प्रयास कई जगह बहुत लचर है।

पुस्तक में नामों की अत्यधिक अशुद्धियाँ खटकती हैं। उदाहरणार्थ, 'बक्सर' को 'बगसर' (पृ० ४), 'पवाया' को 'पावय' (पृ० ५०), 'परखम' को 'पारखम' (पृ०५१), 'भरहुत' को 'बरहुत' (पृ० ५१), 'हेलियोडोरस' या 'हेडियोदोर' को 'हेलिडोरा' (पृ० ५३), 'पंचाल' को 'पान्चाल' (पृ० ५६) 'गोविन्ददेव' को 'गोविन्ददेवा' (पृ० १६८), 'नाला' को 'कलीं' (पृ० १६६) लिखा गया है। प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ प० माधवस्वरूप वत्स के लिए 'वाटस' शब्द बहुत खटकता है। म्यूजियम के लिए 'स्मारक गृह' शब्द (पृ० ५४) ठीक नहीं। संग्रहालय, कलाभवन आदि प्रचलित शब्दों में से कोई लिया जा सकता था।

लेखक की शैली स्थान स्थान पर बाणभट्ट और दंडी की शैली से टक्कर लेती हुई

दिखाई पड़ती है। "इनमें धर्माश्रयता प्रमुख ही नहीं वह सर्वोत्कर्षेण विराजमाना दृष्टिगोचर हो रही है." इस वाक्य को इतने से भी व्यक्त किया जा सकता था—"इनमें धार्मिकता (या धार्मिक तत्त्वों) की प्रमुखता है।"

पुस्तक में मूर्तियों के चित्रों का अभाव भी खटकता है। ऐसे उपयोगी ग्रन्थ में कुछ मुख्य मूर्तियों के फोटो तथा रेखाचित्र अवश्य दिये जाने चाहिए थे। डॉ० शुक्ल हिन्दी में इस ग्रन्थ को लिखने के लिए बधाई के पात्र हैं। उन्होंने हिन्दी को निस्सन्देह एक बहुमूल्य कृति प्रदान की है। अगले संस्करण में उपर्युक्त कुछ कमियाँ दूर हो सकेंगी, इसकी हमें पूरी आशा है।[1]

मनोहर वर्मा

अन्धा युग

'अन्धा युग' पाँच अङ्कों में समाप्त होने वाला गीति नाट्य है, जिसमें महाभारत के उत्तरार्द्ध की घटनाओं की पृष्ठभूमि पर आज के नये विकलांग कुरूप युग की ह्रासोन्मुख संस्कृति का चित्र खींचा गया है। दो महायुद्धों का जो विनाशकारी प्रभाव विश्व के आन्तरिक एवं बाह्य जीवन पर पड़ा, उसकी आत्मपरक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति 'अन्धा युग' में हुई है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि युद्धकाल की अपेक्षा युद्धोत्तर काव्य अधिक सक्षम और प्रभावशाली रहा है। युद्ध सम्यता की वैज्ञानिक परीक्षा के लिए स्थान और काल की दूरी का 'पसपेक्टिव' मिलना आवश्यक है। यही कारण है कि अधिकांश श्रेष्ठ युद्ध कृतियाँ (प्रथम महायुद्ध के पश्चात्) अमेरिकन कवियों द्वारा लिखी गई। फ्रांस की राज्यक्रांति के सर्वश्रेष्ठ गायक ब्रिटेन ने उत्पन्न किये। विक्टर ह्यूगो का नेपोलियन पर लिखा गई कवितायें घटना के बहुत बाद में प्रकाश में हुईं। युद्ध के भीषण अनुभव को मानसिक पाचन मिलना आवश्यक है। श्रेष्ठ युद्ध काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह उन्हीं के द्वारा लिखा जाय जो उसके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आते हैं। फ्रांसिस स्कार्प ने 'ऑडेन एण्ड आफ्टर' (१९३०-४२) में लिखा है—

> The best war poetry is necessarily written not by those who see war but by those who feel it most intensely'[2]

इस प्रकार स्थान और काल की दूरी के 'पसपेक्टिव' भारती को पूरे पूरे मिले हैं और इसीलिए उनकी युद्ध सम्बन्धी आलोचना में अति भावुकता, तीव्र घृणा, व्यंग्य घातक शोक एवं अमर्यादित रोष की उन्मादपूर्ण प्रतिक्रिया नहीं है। दूरी के दृष्टिकोण ने उनकी लेखनी

1 'प्रतिमा विज्ञान', लेखक—डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रकाशक—वास्तु वाङ्मय प्रकाशन शाला, शुक्ल कुटी, फैज़ाबाद रोड, लखनऊ अगस्त १९५६, मूल्य १५ रुपये।

२ पृ० १७४।

को कलात्मक सयत प्रकाशन का अवसर दिया है। आलोचकों ने 'अन्धा युग' को 'उत्पीड़ित विवेक का विस्फोट' कहा है, किन्तु कोई भी गम्भीर पाठक इस बात से सहमत नहीं होगा कि उसमें कवि का दृष्टिकोण 'यूरॉटिक' है। उत्पीड़ित अवस्था में लेखनी तीक्ष्ण, व्यग्यात्मक, कटु और विक्षिप्त साहित्य का सृजन करती है किन्तु भारती के काव्य में गिरी हुई संस्कृति के खण्डहरों के प्रति तिक्त व्यग्य, कटु आक्रोश या विक्षिप्तता का दृष्टिकोण नहीं मिलता। 'अन्धा युग' के चरित्र निश्चित ही अन्धे और कुण्ठाग्रस्त हैं किन्तु उनको एक सूत्र में बाँधकर चलाने वाली कवि की लेखनी में एक सयत मर्यादा, नैतिकता का आग्रह और आशावादी मानवता की झाँकी मिलती है। विक्षिप्त एव उत्पीड़ित कलाकार आशा, सयम, विश्वास जैसी शात, प्रेम न भावनाओं का सहारा नहीं लेता। वह अपनी प्रतिक्रिया के भावनात्मक झोंके में अतिवादी छोरों का आग्रह करने लगता है। भारती ने 'अन्धा युग' में शुष्क बौद्धिक व्यग्य और घोर ग्लानि पश्चात्ताप से भरी भावुक प्रलाप शैली दोनों से बचने की कोशिश की है। अति बौद्धिकता एव अति भावुकता के दोनों अतिवादी छोरों से अलग भारती की स्थिति मध्य में है, जहाँ संस्कृति का भग्न, जर्जरित रूप उन्हें मानवता के आशामय भविष्य का सन्देश देता है। मानव की मानवता पर से उनका विश्वास घटा नहीं है और यही इस बात का सूचक है कि भारती का 'अन्धा युग' 'उत्पीड़ित विवेक का विस्फोट' नहीं है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि भारती ने युद्ध के औचित्य या अनौचित्य अथवा युद्ध की समस्याओं का कोई दार्शनिक हल नहीं निकाला है। भारती की युद्ध सभ्यता की आलोचना बौद्धिक मस्तिष्क की सवेदनात्मक विचारधारा का परिणाम है, जो युग के जर्जरित, शीघ्रता से बदलते हुए मूल्यों को कोई सुदृढ़ आधार नहीं दे सका है। इस दृष्टि से 'अन्धा युग' निश्चय ही 'कामायनी' जैसी रचना से बहुत पीछे है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि 'अन्धा युग' में दादाइज्म या सुररियलिज्म की भाँति युद्धोत्तर-न्यूरॉटिक प्रतिक्रिया नहीं है। वह सयमित, मर्यादित एव सन्तुलित सवेदनाशील काव्य है। यह मानना पड़ेगा कि 'अन्धा युग' के पात्रों का सशयालु, प्रश्नवाचक व्यक्तित्व इतना अधिक उभार ले गया है कि उसका प्रभाव पाठकों पर आवश्यकता से अधिक पड़ता है और भारती के मानवतावादी आशावाद का स्वर कुछ दब सा जाता है।

'अन्धा युग' के पाँच अक निम्नलिखित शीर्षकों से लिखे गए हैं—

(स्थापना—अन्धा युग)
पहला अङ्क—कौरव नगरी
दूसरा अङ्क—पशु का उदय
तीसरा अङ्क—अश्वत्थामा का अर्धसत्य
(अन्तराल—पख, पहिए और पट्टियाँ)
चौथा अङ्क—गान्धारी का शाप
पाँचवाँ अङ्क—विजय एक क्रमिक आत्महत्या
(समापन—प्रभु की मृत्यु)

'अन्धा युग' में चरित्र चित्रण वैचारिक कोटि का है। चरित्र मानवीय अस्तित्व की अपेक्षा विशेष विचारधारा अथवा विशेष कुण्ठाओं के प्रतीक अधिक हैं। बीसवीं सदी की पतनोन्मुखी संस्कृति के प्रतिनिधि यहाँ उपस्थित हैं। युधिष्ठिर एव धृतराष्ट्र नेतृवर्ग की अन्धी

शक्ति उपासना, सम्पूर्ण विश्व पर एकाधिकार की स्वाभाविक वासना के प्रतीक हैं। एक विजयी वर्ग का है, एक विजित वर्ग का। किन्तु दोनों ही असन्तुष्ट हैं, क्योंकि विजय के पश्चात् आने वाली विषम परिस्थितियाँ, युद्ध के बाद का विषैला वातावरण विजयी-वर्ग को विजित वर्ग से कहीं अधिक सन्तप्त बना देता है। गांधारी मानवता का वह घबराया हुआ वर्ग है, जो युग के बर्बर पशुत्व, अमर्यादित नैतिकता और जीवन के द्वन्द्वमय विरोधाभासी संस्कारों के कारण प्रतिक्रियास्वरूप 'कटु निराशा की उद्धत अनास्था' का मार्ग पकड़ लेती है। अश्वत्थामा, प्रतिहिंसक पशुता और एक न्यूरॉटिक युद्धलिप्सा के अर्धसत्य का पोषक है। वध उसकी 'नीति' नहीं, मनोग्रन्थि है। उसका अमानुषिक अर्धसत्य घृणा के तर्क पर जीवित है। अश्वत्थामा को वध से मानसिक सन्तुष्टि मिलती है, माँसपेशियों का तनाव खुल जाता है, उसकी न्यूरॉटिक मनोग्रन्थियाँ तृप्त हो जाती हैं। अश्वत्थामा उस वर्ग का संकेत देता है, जिस पर महायुद्ध का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। वे सैनिक या उस स्थान के त्रस्त लोग, जहाँ महायुद्ध हुए, इसी घातक प्रतिक्रिया के शिकार हुए। उनके उपचेतन मस्तिष्क में युद्ध के भयंकर अनुभवों का तूफान इतने वेग से भर गया कि उस उन्मादपूर्ण अवस्था का तनाव ढीला करने के लिए उनका रक्त प्यासे पशु की भाँति घूमना अनिवार्य हो गया। महायुद्ध के सीधे प्रभाव में आने वाले राष्ट्रों के मानसिक असन्तुलन की यह विक्षिप्तावस्था अश्वत्थामा के रूप में स्पष्ट रूप से सामने आती दिखाई देती है। यह वर्ग एक ऐसी 'टेन्स टेंशन' की स्थिति में रहा है और है, जिसकी मानसिक कुण्ठाओं की तृप्ति के लिए युद्ध एक आवश्यक पदार्थ है। अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र प्रयोग में अणु विस्फोट का संकेत है।

कृष्ण ज्योति प्रतीक मानवता है, जो महाभारत युद्ध में करोड़ों बार जीवन और मृत्यु को प्राप्त हुए हैं—जो अश्वत्थामा के बर्बर पशुत्व की कोढ़ से पीड़ित हैं—जिन पर युग की विकृति, आत्मघाती, निराश, तटस्थ सत्य की कुरूप काली छाया डोल रही है। ज्योति एवं अन्धकार का द्वन्द्व उनके भीतर है, किन्तु वे प्रभु हैं द्वन्द्व से परे। प्रभु की हत्या व्याध के हाथों होती है। प्रभु की मृत्यु का उल्लेख प्रायः सभी धर्मों की पौराणिक गाथाओं में मिलता है। इस विषय पर धर्मग्रन्थों का पुनर्जन्म का सिद्धान्त एक सर्वमान्य धरातल पर उपस्थित मिलता है। सुमारियन बेबीलोनियन ईश्वर 'तमूज', फोनीशियन ग्रीक एडोनिस, फ्रीजियन एटिस और इजिप्शीयन ओसिरिस आदिम कल्पना प्रसूत देवता हैं, जो जीवन पर ऋतुओं की भाँति शासन करके और फिर मृत्यु की शक्ति के सामने झुक जाते थे, किन्तु यह मृत्यु शाश्वत नहीं थी, उसमें पुनर्जन्म के बीज रहते थे। 'अंधा युग' में कृष्ण का अन्तिम सन्देश महत्त्वपूर्ण है। व्याध प्रभु की मृत्यु की सूचना देता हुआ कहता है कि सृष्टि के प्राणियों का समस्त दायित्व अपने ऊपर लिए हुए थे और अब अपना दायित्व हम सब पर छोड़ गए हैं। उनका एक अंश निष्क्रिय आत्मघाती और विगलित रहेगा, किन्तु शेष व्यक्तियों में उनका दायित्व प्रेरणा रूप में रहेगा जो कि ध्वंस को निर्माण की चुनौती मानेंगे और हर विकृत, अर्ध बर्बर, आत्मघाती, अनास्थामय व्यक्ति जीवन की सार्थकता पा जायगा। समापन में भारती ने लिखा है—

"हम सबके मन में गहरा उतर गया है युग
अँधियारा है अश्वत्थामा है संजय है

है दास वृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की
अंधा संशय है लज्जाजनक पराजय है
पर एक तत्व है बीजरूप स्थित मन में
साहस में स्वतंत्रता में नूतन सर्जन में
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्व युक्त मर्यादित मुक्त आचरण में
उतना जो अंश हमारे मन का है
वह अर्ध सत्य से ब्रह्मास्त्रों के भय से
मानव भविष्य को हरदम रहे बचाता
अंधे संशय दासता पराजय से।''

यही भारती का आशावादी भविष्य स्वप्न है। मानव की मानवता पर विश्वास रखने वाले इस कवि की आस्था की सराहना करनी होगी। इस अंतिम आशावादी भावना का स्वरूप मानववादी कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक एवं राजनैतिक न होने के कारण ही शायद कुछ लोगों को 'अंधा युग' में समाजशास्त्रीय वैज्ञानिकता का अभाव दिखाई देता है। इसको अवश्य ही स्वीकार किया जायगा कि भारती ने युद्ध सम्बन्धी समस्याओं का कोई हल हमें नहीं दिया है, किन्तु क्या समाजशास्त्रीय वैज्ञानिकता हल निकालने तक ही सीमित है?

'अंधा युग' के अन्य पात्रों में युयुत्सु, संजय और विदुर महत्त्वपूर्ण हैं। संजय आस्था अनास्था के द्वन्द्व में त्रस्त, संशयालु, आत्मघाती चरित्र है। आस्था उसकी दृष्टि में एक घिसा हुआ सिक्का है, संजय निष्क्रियता और निरपेक्ष सत्य का प्रतीक है। विदुर के मन में अंतर्द्वन्द्व है, जिसे अपनी मान्यताओं के सहारे वे दबाते हैं। वृद्ध याचक इलियट के 'वेस्टलैंड' की मेडम सोसोस्ट्रिस का स्मरण दिलाता है। दोनों प्रहरी दास्य प्रवृत्ति के प्रतिनिधि हैं।

'अंधा युग' का विचार-क्षेत्र वही है जो इलियट के 'मडर इन दि कैथेड्रल', 'हालोमैन' और 'वेस्टलैंड' का। 'मडर इन दि कैथेड्रल' में आज की विषमता को उपयुक्त पृष्ठभूमि देने के लिए इलियट ने ऐतिहासिकता का सहारा लिया है। 'हालोमैन' का निष्क्रिय नपुंसक युग चित्र 'वेस्टलैंड' की ही छाया है। 'वेस्टलैंड' और 'अंधा युग' दोनों बहुत कुछ समान भूमि पर हैं, किन्तु फिर भी दोनों में बहुत अंतर है। 'वेस्टलैंड' में मिस वेस्टन के 'रिचुअल टू रोमांस' और फ्रेजर के 'गोल्डन बो' की अनुप्रेरणा है। कान्टेमपोरेनिटी एण्ड एंटिक्विटी, (प्राचीनता और सामयिकता) पैगनिज्म एण्ड क्रिश्चयनिटी की द्वन्द्वात्मक पृष्ठभूमि पर युद्धोत्तर पतनोन्मुखी संस्कृति को दर्शाया गया है। 'वेस्टलैंड' में अंधी, निर्बल, खण्डित, आस्था हीन मानव सभ्यता की आलोचना है। इलियट ने इन्फ़र्नो पैराडाइज़ लास्ट लिक इन्स कैओस इनफर्नो एपियरेंस एण्ड रियेलिटी उपनिषद् आदि महत्त्वपूर्ण कृतियों के सन्दर्भों द्वारा मानवीय सभ्यता के समस्त प्राचीन विश्वासों एवं नैतिक निष्कर्षों को, ज्ञान की विरासत को, एक 'विश्वमानव' की भाँति अतीत को सशरीर वर्तमान के 'कण्ट्रास्ट' पर लाकर खड़ा किया है। भारती ने अपनी प्रतीक पद्धति द्वारा काव्य को व्यापक कलात्मक स्वर देने की चेष्टा की है, किन्तु जहाँ इलियट के काव्य में यह गुण स्पष्ट है वहाँ वह भारती के काव्य में

विवादग्रस्त प्रश्न बन गया है। इलियट ने 'ग्रेट लीजेण्ड' के आधार पर पुनर्जन्म का आशावाद व्यक्त किया है। वह मानता है कि अनुभव का सत्य शाश्वत है और उस पर आस्थाहीन संशयालुता ही खण्डित विश्वास और दर्प के सर्पों को पनपा देती है। जीवन और मृत्यु के निश्चित रहस्यों का प्राचीन दृष्टिकोण आज की भौतिकता और विज्ञान ने नष्ट कर दिया है। भारती की विचारधारा बहुत कुछ ऐसी ही है, यद्यपि दोनों के काव्य निष्कर्षों में वही अन्तर है जो दो विभिन्न पौराणिक प्रेरणा-सूत्रों को उपयोग में लाने पर होना चाहिए। भारती के काव्य में आशा है, कामना है और चेतावनी है, क्योंकि महाभारत की पृष्ठभूमि पर साफ उतरी है। इलियट के 'वेस्टलैंड' में व्यंग है, विश्वास है और सांस्कृतिक एकता का प्रभावशाली चित्रण है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर दोनों काव्य ग्रन्थों के पात्र बहुत कुछ एक से हैं, यद्यपि उनमें अपना वैयक्तिक एवं कथा सम्बन्धी विशेष व्यक्तित्व तो है ही।

'अन्धा युग' हिन्दी-काव्य में अपने ढंग की पहली कृति है। 'अन्धा युग' द्वारा आज के सांस्कृतिक ह्रास की ग्लानि और पश्चात्ताप के यथार्थ चित्रों के साथ एक आशावादी भविष्य का सन्देश भी मिलता है। आज जबकि हिन्दी काव्य प्रयोगवाद, प्रभाववाद, प्रतीकवाद आदि बौद्धिक चेष्टाओं द्वारा काव्य को दुरूह और क्लिष्ट आवरण दे रहा है, भारती का यह प्रयास प्रशंसनीय है। उन्होंने वादों की सीमा में अपने काव्य व्यक्तित्व को नहीं आने दिया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। 'अन्धा युग' द्वारा हमारे हिन्दी साहित्य के एक आवश्यक अंग की पूर्ति हुई है और इसमें भारती की लेखनी की सम्भावनाएँ स्पष्ट दिखने लगी हैं।

१ 'अन्धा युग', लेखक—धर्मवीर भारती, प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद, १९५५, मूल्य २॥)।